भारत का आर्थिक विकास

(ECONOMIC DEVELOPMENT OF INDIA)

[भारतीय विश्वविद्यालयों की डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों के निमित्त]

डा० ए० पी० गौड़, एम० ए०, एम० कॉम०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न,
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, वी० एस० एस० डी० कॉलिज, कानपुर।

प्रो० पी० एल० गोलवलकर, एम० ए०, बी० कॉम०,
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कार विजेता)
अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, राजकीय कॉलिज, गुना।

डा० सी० बी० मामोरिया, एम० ए०, एम० कॉम०, पी-एच० डी०;
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कार विजेता)
(सदस्य, फैकल्टी ऑफ कॉमर्स, राजस्थान विश्वविद्यालय)
अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, महाराणा भूपाल कॉलिज, उदयपुर।

प्रो० एस० एम० शुक्ल, एम० ए०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०,
वाणिज्य विभाग, डी० ए० वी० कॉलिज, कानपुर।

चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

आगरा

नवयुग साहित्य सदन,

उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक

मूल्य . ११।) या ११ रु० २५ नये पैसे

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

पुस्तक का तृतीय सस्करण इतनी अल्प अवधि मे समाप्त होकर उसका चतुर्थ सस्करण प्रकाशित होना ही पुस्तक की लोकप्रियता का परिचय देता है। अत. यह सस्करण पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करते समय लेखको एव प्रकाशको को हर्ष हो रहा है।

इस संस्करण मे आरम्भ से अन्त तक अद्यावधि सशोधन किये गये हैं तथा अद्यावधि आँकड़ो का समावेश भी किया गया है। साथ ही, भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

हमें विश्वास है कि पुस्तक मे प्रस्तुत नवीन सामग्री, अद्यावधि आँकडे, सरल भाषा एव विवेचन शैली से यह पुस्तक केवल "भारत के आर्थिक विकास" के पाठकों को ही नही अपितु "भारत की आर्थिक समस्याओ" के अध्ययन अध्यापन-कर्मियो को भी अपनी लोकप्रियता का परिचय देने में सफल होगी।

—लेखकगण

तृतीय संस्करण की भूमिका

ाशको की ओर से पुस्तक के सशोधन की सूचना काफी पूर्व आने के बाद भी उ कठिनाइयो के कारण इसका सशोधित सस्करण तत्काल प्रकाशित न हो सका, सका हमें खेद है। साथ ही साथ हर्ष भी है कि यह सस्करण ऐसे समय में ाशित हो रहा है कि जब विद्यार्थियो मे अध्ययन के प्रति विशेष जागरूकता एव चेतना रहती है।

पुस्तक मे प्रारम्भ से अन्त तक केवल अद्यावधि सशोधन ही नही किये गये हैं, अपितु अनेक अध्याय पूर्णतया बदल दिये गये हैं। साथ ही, पुस्तक में आवश्यक अद्यावधि आँकडो एव सामग्री का समावेश किया गया है। भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। साथ ही, अनावश्यक तालिकाएँ हटा ली गई हैं।

इस सस्करण के सशोधन मे ही नही अपितु कुछ अध्यायो के लिखने मे भी प्रो० बी० पी० श्रीवास्तव गोल्डमेडलिस्ट, सागर विश्वविद्यालय तथा महारानी लक्ष्मीबाई कॉलेज के हमारे साथी ने हमे मौलिक सहायता की है। उनके प्रति किन शब्दो मे कृतज्ञता व्यक्त करें, यही हमारी समझ से परे है।

नवीन सामग्री, अद्यावधि आकडे, सरल भाषा, गहन एव विस्तृत विवेचन ादि से पुस्तक विद्यार्थियो मे अपनी उपयोगिता का परिचय देगी, ऐसा विश्वास है। साथ ही, सामान्य पाठको को भी देश की विभिन्न समस्याओ का परिचय देने मे सफल होगी।

—*लेखकगण*

द्वितीय भाग

पृष्ठ-क्रम

भारत का आर्थिक विकास

प्रथम भाग

प्रास्ताविक

अध्याय १

विषय-प्रवेश

(Introduction)

"भारतीय अर्थशास्त्र" और "भारत का आर्थिक विकास" ये एक ही जीवन के दो अङ्ग हैं, जिनमें से पहला केवल वर्तमान स्थिति का अध्ययन करता है तो दूसरा भूत एव वर्तमान के अध्ययन के साथ ही भविष्य का निर्धारण करने में सहायक होता है।"

"भारत का आर्थिक विकास" इस विषय को कुछ अर्थशास्त्रियो ने 'भारतीय अर्थशास्त्र' नाम दिया है। परन्तु वास्तव मे भारतीय अर्थशास्त्र नाम ठीक नही है, क्योकि भारतीय अर्थशास्त्र मे अर्थशास्त्र के नये सिद्धान्तो की विवेचना न कर अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तो को ही भारत की आर्थिक स्थिति की पृष्ठ भूमि मे लागू किया जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र *"आर्थिक विचारो के इतिहास"* (History of Economic Thought) की भाँति भारतीय अर्थशास्त्रियो की आर्थिक विचारधाराओ का इतिहास नही है और न इसमे ऐसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन ही किया गया है जो अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तो से भिन्न हो एव भारतीय परिस्थिति मे ही विशेष रूप मे लागू होते हो। अपितु भारतीय अर्थशास्त्र अथवा भारत के आर्थिक विकास के अन्तर्गत हम देश के उपलब्ध नैसर्गिक, मानवी एव आर्थिक साधनो का उपयोग अधिभौतिक उन्नति के लिए किस प्रकार किया गया है, किस प्रकार हो रहा है एव किस प्रकार होना चाहिए, इसका विवेचन करते है। दूसरे शब्दो मे, भारत की राजनैतिक, सामाजिक एव आर्थिक पृष्ठ-भूमि में भारत का आर्थिक जीवन किस प्रकार विकसित होता गया, उसकी आर्थिक समस्याएँ तथा उनको हल करने के उपाय एव योजनाओ के अध्ययन को हम "भारत का आर्थिक विकास" कह सकते है। इस प्रकार इस विषय के अन्तर्गत भारत के नैसर्गिक स्रोत एव उनका आर्थिक जीवन पर प्रभाव, हमारी नैसर्गिक रचना एव उसका आर्थिक जीवन पर प्रभाव, हमारी सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ का भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव आदि का अध्ययन किया जायगा। आर्थिक पृष्ठ-भूमि मे हमारा औद्योगिक विकास एव उसकी समस्याएँ, कृषि एव कृषि समस्याएँ, मुद्रा एव बैंकिंग का विकास एव उनकी समस्याएँ आदि विभिन्न विषयो का अध्ययन होगा। इसी प्रकार राजनैतिक पृष्ठ-भूमि मे राज्य द्वारा उद्योग एव अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के लिए कौनसी नीति समय-समय पर अपनाई गई तथा उसके क्या परिणाम हुए, आदि का अध्ययन हम करेगे। इस प्रकार देश की राजनैतिक,

आर्थिक एव सामाजिक पृष्ठ-भूमि में देश की आर्थिक प्रगति का इतिहास ही 'आर्थिक विकास' है।

विषय का क्षेत्र—

अत. स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय का "भारत का आर्थिक विकास" नाम ही अधिक उपयुक्त है। इसमें मानव की क्रियाओ पर भारत की आर्थिक, सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ का प्रभाव, उसकी अधि-भौतिक प्रगति (Material Progress) एव उसमे होने वाले परिवतन तथा उनके कारणो का अध्ययन होता है। प्रत्येक देश की आर्थिक एव आधिभौतिक प्रगति की अनेक सीढियाँ होती हैं, जिनकी अलग-अलग विशेषताएं होती हैं। परन्तु किसी भी दशा मे एक सीढी को दूसरी सीढी से पृथक नही किया जा सकता, अपितु प्रत्येक सीढी (Stage) की अपनी विशेषताएं होती हैं, जिनमे एक दूसरी सीढी को पहिचाना जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारत मे ही १७ वी शताब्दी में कुटीर-उद्योगो की प्रधानता थी तथा कृषि पर जन सख्या का प्रभार कम था। परन्तु १९ वी शताब्दी में भारत के कुटीर-उद्योग प्राय नष्ट होते गये और कुटीर उद्योगो से विस्थापित कारीगर कृषि पर निर्भर होते गये। फलत कृषि ही देश का प्रमुख उद्योग हो गया। अब यह परिवर्तन किस प्रकार हुआ एव इसकी पृष्ठ-भूमि क्या था, इसका अध्ययन हमको इस विषय मे करना होगा।

इसी प्रकार भारत की विभिन्न आर्थिक पृष्ठ-भूमि मे हमारी आर्थिक प्रगति किस प्रकार होती गई, इसका अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक का विषय है। कुछ भी हो, प्रत्येक देश का आर्थिक विकास विभिन्न सीढियो से होता है, जिनमे समानता होती है, परन्तु देश की परिस्थिति, आर्थिक एव नैसर्गिक स्रोत, सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ के अनुसार उनमें विभिन्नता होती है। इनका परिणाम मानव समाज पर किस प्रकार होता है तथा उसका आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव होता है, इसका अध्ययन भी प्रस्तुत विषय के अन्तर्गत किया जाता है।

आर्थिक पृष्ठ-भूमि मे पिछला आर्थिक इतिहास एव वर्तमान आर्थिक अवस्था के ज्ञान से ही हमारा अध्ययन समाप्त नही होता, अपितु विभिन्न समस्याओ के कारणो का विश्लेषण तथा उनको हल करने के उपायो का अध्ययन भी हमको करना होगा। इन समस्याओ को हल करने के लिए जो आर्थिक नीति अपनाई गई अथवा अपनाई जा रही है उसकी भी उपयोगिता देखनी होगी। इस प्रकार प्रस्तुत विषय का क्षेत्र बहुत व्यापक है, जो भारत के सभी आर्थिक क्षेत्रो से सम्बधित है।

अध्ययन का महत्त्व—

भारत के आर्थिक विकास का अध्ययन केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण न होते हुए व्यावहारिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से आज राजनीति एव अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इतना घनिष्ट हो गया है कि प्रत्येक राजनैतिक चाल आर्थिक पहलू को दृष्टि मे रखकर की जाती है,जैसे अमरीकी और ब्रिटिश सेनाओ

का लेवनान और जोर्डन में प्रवेश। इसी प्रकार प्रत्येक आर्थिक क्रिया का परिणाम राजनैतिक दृष्टि से आंका जाता है। इसलिए राजनैतिक कदम उठाते समय उसके आर्थिक परिणामो को देखने के लिए गत इतिहास का अनुभव उपयोगी होता है। आर्थिक एव औद्योगिक नीति बनाते समय उसके राजनैतिक परिणामो को देखे बिना हम आगे नही चल सकते। इसी प्रकार कृषि नीति अपनाते समय कृषको की वर्तमान स्थिति, उनके आर्थिक स्रोत, उनमें प्रचलित सामाजिक एव धार्मिक रूढियो का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनी आर्थिक उन्नति के लिए भारत स्वय जिम्मेवार है, अत हमारे आर्थिक विकास का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि बिना इस अध्ययन के हम भावी नीति का सफल सचालन नही कर सकते। राज्य की आर्थिक नीति के सचालन तथा देश के आर्थिक जीवन को सुदृढ, उन्नत एव सन्तुलित बनाने के लिए मुद्रा एव चलन सम्बन्धी नीति, राजस्व नीति, कर-नीति आदि का एक दूसरे पर होने वाला प्रभाव भी दृष्टि मे रखना होगा, इसलिए आर्थिक विकास का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इसी अध्ययन के आधार पर भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओ का समुचित हल होकर देश अधिभौतिक कल्याण (Material Welfare) की ओर अधिकाधिक अग्रसर हो सकता है। इसी प्रकार विभिन्न देशो के आर्थिक विकास के अध्ययन से हम भारत की तुलना उन देशो के साथ कर सकते हैं तथा उनके आर्थिक प्रयत्नो की सहायता से अपनी समस्यायें सुलझाने में भी सफल हो सकते हैं।

अध्याय २

भौगोलिक वातावरण एवं आर्थिक विकास

(Geographical Environments & Economic Development)

"भारत का आर्थिक विकास नजरबन्द है।"

—वीरा ऐन्सटी।

"भारतीय समाज की परिस्थितियों के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी स्वयं भारत है।"

—सर एडवर्ड ब्लट।

किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ के मानवी एव नैसर्गिक साधनो पर निर्भर रहता है, इसलिए देश के आर्थिक विकास मे नैसर्गिक साधनो और भौगोलिक वातावरण का प्रभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी देश की जलवायु, धरातल की रचना, खनिज सम्पत्ति एव वन सम्पत्ति पर उस देश का आर्थिक विकास निर्भर होता है, क्योकि इन्ही के विदोहन से मानव अपनी आर्थिक उन्नति कर सकता है, इसलिए यदि भौगोलिक वातावरण को हम देश के आर्थिक जीवन का आधार कहे तो अनुचित न होगा।

देश के आर्थिक विकास के लिए तथा मानव समाज की अधिभौतिक प्रगति के लिए इनका समुचित एव वैज्ञानिक रीति से उपयोग करना आवश्यक होता है तथा इस उपयोग के ढग पर ही देश की आर्थिक उन्नति तथा अवनति निर्भर रहती है। नैसर्गिक साधनो के विदोहन करने का कार्य प्रत्येक देश के मानव समाज द्वारा होता है, इसलिए आर्थिक विकास के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण एव प्रभावशाली घटक (Factor) 'मनुष्य' होता है। इस प्रकार किसी भी देश का आर्थिक विकास नैसर्गिक साधनो की बहुलता अथवा कमी, उस देश की जन-सख्या एव जनता की विशेषतायें तथा काम करने की आदते, वहाँ की सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक सस्थायें तथा वहाँ के वैधानिक एव राजनैतिक वातावरण पर निभर रहता है। इन्ही विशेषताओ के कारण अनेक देशो मे नैसर्गिक साधनो की सम्पन्नता होते हुए भी उनमे से एक देश आर्थिक दृष्टि से उन्नत शिखर पर रहता है तो दूसरा देश आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ होता है। आर्थिक विकास के लिए नैसर्गिक साधनो का विदोहन करने का काम मनुष्य का होता है और वह अपने आर्थिक विकास के लिए उसका विदोहन कहाँ तक कर सकता है, इस पर आर्थिक विकास निभर होता है। उदाहरणार्थ, अमरीका और भारत के आर्थिक विकास की तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि भारत मे नैसर्गिक साधनो

की अधिकता होते हुए भी उनका विदोहन अभी तक पर्याप्त नही हुआ। इसके विपरीत अमरीका का विश्व मे आर्थिक दृष्टि से उच्च स्थान है। इसी कारण भारत को गरीब निवासियो का एक सम्पन्न देश कहा जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि देश की जलवायु का प्रभाव उस देश की जन-सख्या की कार्य क्षमता, बुद्धिमता एव मानसिक विकास पर होता है तो नैसर्गिक साधनो का प्रभाव उस देश का वाणिज्य एव व्यवसाय निश्चित कर जन सख्या के घनत्त्व एव वितरण को प्रभावित करता है। यह मानी हुई बात है कि वर्तमान-युग विज्ञान युग है, जिसमें आये दिन नए-नए आविष्कार होते रहते हैं, जिससे मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है, परन्तु फिर भी वह प्राकृतिक साधनो की उपेक्षा नही कर सकता, अपितु उसे अपनी आर्थिक प्रगति के लिए निसर्ग से ही आधारभूत साधन मिलते हैं। इसीलिए किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए उस देश के भौतिक एव नैसर्गिक साधनो का अध्ययन आवश्यक है।

भौगोलिक साधनो को देखने के पूर्व भौगोलिक वातावरण का मानव जीवन पर तथा आर्थिक विकास पर क्या परिणाम होता है, यह देखना आवश्यक है। किसी भी देश के भौगोलिक वातावरण मे निम्न बातो का समावेश होता है :—

(१) जलवायु (Climate)।
(२) निसर्गदत्त वस्तुएँ अथवा भूमि (Land or Natural Resources)।
(३) धरातल की रचना (Geological Formation)।
(४) वन सम्पत्ति (Forest Resources)।
(५) खनिज सम्पत्ति (Mineral Resources)।
(६) भौगोलिक स्थिति (Geographical Location)।

(१) जलवायु—भौगोलिक वातावरण मे जलवायु का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी भी देश की जनता की कार्यक्षमता, काम करने की तत्परता अथवा सुस्ती, वहाँ की फसल, वन सम्पत्ति, पशु सम्पत्ति, आदि वहाँ की जलवायु से ही प्रभावित होती हैं। मानव समाज की आदतें, उनका रहन-सहन, उनकी कपडे की आवश्यकताएँ आदि जलवायु पर निर्भर होता है। गरम प्रदेशो मे कपडो की आवश्यकता बहुत कम रहती है, इसके विपरीत शीत प्रदेशो में ठण्ड से बचने के लिये कपडे की आवश्यकता अधिक होती है। इसी प्रकार जिन प्रदेशो मे खाद्यान्न की अधिकता है तथा उष्ण जलवायु है वहाँ जनता को अपनी आवश्यक वस्तुओ के लिये श्रम नही करना पडता। फलत वहाँ के मनुष्य आलसी होते हैं तथा आर्थिक उन्नति के लिए अधिक प्रयत्न नही करते। इसके विपरीत जहाँ खाद्यान्न की कमी होती है वहाँ के मनुष्यो को खाद्यान्न एव अपनी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पडता है। इस कारण उनके सारे श्रम दैनिक आवश्यकता को पूरा करने में ही लग जाते हैं तथा आर्थिक विकास के लिये अधिक श्रम करने का उत्साह नही रहता। इस प्रकार शीत तथा उष्ण जल-

वायु दोनो ही आर्थिक उन्नति के लिए बाधक होती हैं। दूसरी ओर समशीतोष्ण जलवायु में मनुष्य को काम करने का उत्साह रहता है, जिसमे ऐसे प्रदेशो का आर्थिक विकास अबाधित रूप से हो सकता है। इस प्रकार जलवायु से मनुष्य की श्रम करने की शक्ति एव उत्साह प्रभावित होता है। इसलिये यह कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सभ्यता का विकास तो उष्ण देशो मे हुआ, लेकिन सबसे अधिक आर्थिक विकास शीत एव सम शीतोष्ण प्रदेशो मे हो हुआ।

जलवायु का प्रभाव मनुष्य के कार्य जीवन ((Working Life) पर भी पडता है। जैसे—शीत देशो के मनुष्य स्वस्थ, दीर्घ जीवी, अधिक कुशल एव परिश्रमी होते हैं तो उष्ण देशो के मनुष्य अस्वस्थ, अल्पजीवी तथा आलसी होते हैं। इसी कारण वे अपना आर्थिक विकास शीघ्र गति से नही कर पाते। जलवायु का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता हैं, क्योकि जहाँ ऋतु परिवतन समय-समय पर होता रहता है वहाँ प्रत्येक मौसमी परिवर्तन के कारण स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है। जैसे-भारत मे शीत, वर्षा एव ग्रीष्म ऋतु मे मौसमी परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न बीमारियाँ होती हैं, जिनसे हमारी कायक्षमता प्रभावित होती है।

प्रत्येक देश की फसलो एव वनस्पति पर वहाँ की जलवायु का प्रभाव पडता है और प्रत्येक देश के उद्योग धन्धे वहाँ की वनस्पति तथा फसलो पर निर्भर रहते हैं। इस कारण प्रत्येक देश का औद्योगिक विकास जलवायु पर निर्भर रहता है, जैसे–भारत मे सूती वस्त्र का उद्योग बम्बई और अहमदाबाद मे अधिक विकसित है, जहाँ भारत के कुल वस्त्र का ७०% वस्त्र निर्माण होता है, क्योकि बम्बई एव अहमदाबाद मे इस उद्योग के लिये आवश्यक उष्ण एव आर्द्र जलवायु है। उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की जलवायु गन्ने के लिए पोषक होने से इन राज्यो मे शक्कर व्यवसाय केन्द्रित है।

यातायात पर भी जलवायु का गहरा प्रभाव पडता है, किसी भी देश की आर्थिक उन्नति यातायात के विकास पर निर्भर रहती है, जैसे—जहाँ पर हिम वर्षा अधिक होती है वहाँ के स्थल मार्ग हिम वर्षा में बन्द हो जाते हैं अथवा शीत प्रदेशो में नदियो का पानी जम जाता है, जिससे नदियो अथवा समुद्र का उपयोग निम्न तापक्रम मे जल यातायात के लिए नही हो सकता। उदाहरणार्थ—बाल्टिक सागर शीत ऋतु मे जल यातायात के लिए निरुपयोगी हो जाता है, इसी प्रकार कनाडा की नदियाँ भी अधिक सर्दी पडने पर जम जाती हैं। वायु-यातायात पर भी जलवायु का प्रभाव होता है, क्योकि वायु-यातायात के लिए निरभ्र आकाश रहना आवश्यक होता है। यदि जलवायु के कारण आकाश स्वच्छ नही रहते, आँधी अथवा कुहरा रहता है तो उससे वायु-यातायात को खतरा बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि देश की जलवायु का प्रभाव वहाँ के निवासियो के स्वास्थ्य, कार्यक्षमता, उद्योग धन्धे, सभ्यता एव यातायात पर होता है।

(२) भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुयें—अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत उन सब वस्तुओ का समावेश होता है जो प्रकृति मानव समाज के उपयोग के लिए उदारता

से देती है। भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुओं पर ही मानव समाज की उत्पादन शक्ति, वहाँ के उद्योग धन्धे एवं आर्थिक प्रगति निर्भर रहती है। किसी भी देश में उत्पादन के लिये भूमि महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसके बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता। इन प्रकृतिदत्त साधनों पर ही जन सख्या का घनत्त्व निर्भर रहता है। जिन प्रदेशों में प्रकृति ने अत्यन्त उदारता से काम किया है वहाँ पर जन-सख्या का घनत्त्व अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक रहेगा। इसलिए भूमि को देश के आर्थिक विकास का केन्द्र कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि इसी पर मानव की आर्थिक क्रियायें निर्भर रहती हैं। इसी प्रकार भूमि का प्रभाव सभ्यता के विकास पर अधिक होता है, क्योंकि जहाँ निसर्ग की उदारता के कारण उसका आर्थिक विकास सम्भव होता है और जन-सख्या का घनत्त्व बढता है, उन्हीं क्षेत्रों में मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा निसर्ग पर विजय प्राप्त कर अपनी अधिक उन्नति कर सकता है। परन्तु किसी भी दशा में उसकी आर्थिक क्रियायें निसर्गदत्त प्रसाधनों से ही सीमित रहेंगी।

(३) धरातल की रचना—धरातल की रचना पर भूमि की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है तथा भूमि में जो रसायनिक मिश्रण पाये जाते हैं उनका प्रभाव उस देश में होने वाली खनिज सम्पत्ति पर पडता है। इसी प्रकार वह प्रदेश कितने अक्षांश एवं रेखांश में बसा हुआ है, इस प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव उस देश में होने वाली वनस्पति तथा फसलों पर पडता है, क्योंकि अक्षांश एवं रेखांश पर ही किसी देश की जलवायु निर्भर रहती है। भूमि के नीचे पाये जाने वाले रसायनिक मिश्रणों पर भूमि की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है, जिस पर किसी भी फसल की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है। इस प्रकार धरातल की रचना पर उस देश की उपज तथा उसमें पाई जाने वाली खनिज सम्पत्ति निर्भर रहती है। इसका प्रभाव देश के उद्योग-धन्धों एवं मानवी आर्थिक क्रियाओं पर होने के कारण धरातल की रचना पर भी देश का आर्थिक विकास निर्भर रहता है।

(४) वन-सम्पत्ति—प्रत्येक देश की वन-सम्पत्ति उस देश के धरातल की रचना एवं जलवायु पर निर्भर रहती है। फिर भी वन-सम्पत्ति का प्रभाव प्रत्येक देश के उद्योग धन्धों पर पडता है, जैसे—नार्वे और स्वीडन के विशाल वन प्रदेशों में लकडी की अधिकता के कारण वहाँ नार्वे कागज, दियासलाई आदि बनाने के उद्योग-धन्धों की अधिकता है। भारत में सिन्धु और गगा नदी के मैदानों में अच्छी एवं उपजाऊ मिट्टी के कारण वहाँ की फसलें अच्छी होती हैं, फलत: वहाँ जन-सख्या का घनत्त्व अधिक है। इसी प्रकार विभिन्न देशों में जलवायु के अनुसार पशु सृष्टि भी होती है। वन प्रदेशों की अधिकता एवं कमी का प्रभाव जलवायु पर होता है तथा उससे भूमि का कटाव (Soil Erosion) भी नहीं होता। इस प्रकार वन-सम्पत्ति एवं पशु सम्पत्ति का प्रभाव वहाँ के उद्योग-धन्धों एवं मनुष्य के आर्थिक जीवन पर पडता है।

इसके अलावा वनों से निम्न लाभ होते हैं —

(१) नदियों की बाढ में कमी,

(२) भूमि की उर्वराशक्ति मे वृद्धि,
(३) वर्षा की पर्याप्तता,
(४) वन-सम्पत्ति पर आधारित उद्योगो का विकास,
(५) इमारती लकडी, ईंधन तथा औषधोपयोगी वनस्पति की प्राप्ति ।

इसी कारण भारत मे प्रति वर्ष वन महोत्सव मनाया जाता है तथा पंच वर्षीय योजनाओं मे वनो के विकास पर काफी बल दिया गया है ।

(५) खनिज सम्पत्ति—किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा उसका जीवन के ढंग पर गहरा प्रभाव पडता है । वर्तमान युग मे किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योकि किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए खनिज सम्पत्ति अनिवार्य है । भारतवर्ष को ही देखे तो यह स्पष्ट होगा कि भारत मे खनिज सम्पत्ति पर्याप्त होते हुए भी उसका पर्याप्त विदोहन नही किया गया है । भारत मे कोयले की खानें होते हुए भी यहाँ का कोयला निम्न कोटि का है तथा कोयले की खानो का वितरण ठीक से नही हुआ है । फलतः भारत को दक्षिण अफ्रीका से कोयला आयात करना पडता है । परन्तु अन्य खनिज सम्पत्ति भारत मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं, केवल उनका आर्थिक विकास के लिए समुचित रीति से विदोहन करने की आवश्यकता है । अन्य देशो की ओर देखने से यह स्पष्ट होता है कि इङ्गलैंड, आस्ट्रेलिया आदि के औद्योगिक एवं आर्थिक विकास का आधार वहाँ की खनिज सम्पत्ति ही है ।

(६) भौगोलिक स्थिति—देश की भौगोलिक स्थिति पर उस देश के वाणिज्य एवं उद्योग का विकास निर्भर रहता है । भौगोलिक दृष्टि से यदि देश विश्व के मध्य मे बसा हुआ है, जहाँ से उसे विश्व के सब देशो से व्यापार करने मे सुगमता होती है तो उस दशा मे उस देश का आर्थिक विकास शीघ्र गति से हो सकेगा । जल, मार्ग की सुगमता, सुरक्षित व्यापारिक मार्ग तथा विश्व मे केन्द्रीय स्थिति होना किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है । उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड की विश्व मे केन्द्रीय स्थिति है, चारो तरफ से जल मार्ग उपलब्ध होने से उसको विश्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध प्रस्थापित करना सुगम हुआ है । भारत की स्थिति आर्थिक विकास की दृष्टि से अनुकूल है । तीन ओर समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण जल-मार्ग भी उपलब्ध है, परन्तु समुद्र तट कटा-फटा न होने से अच्छे बन्दरगाहो की कमी है । इसी प्रकार मध्य पूर्व एशिया से व्यापार करने के लिए अनुकूल स्थिति भी भारत को प्राप्त है, जिसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए हो सकता है ।

इससे स्पष्ट है कि किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ की जलवायु आदि भौगोलिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है । भारत मे अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति उपलब्ध हैं । परन्तु यहाँ के उपलब्ध साधनो का विदोहन भारतीयो ने अपने आर्थिक विकास के लिए नही किया है । सौभाग्य से भारत मे वन सम्पत्ति, पशु सम्पत्ति, खनिज

सम्पत्ति आदि औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक सभी नैसर्गिक साधन उपलब्ध हैं, जिनका विदोहन करने के लिए जन-सख्या की भी अधिकता है। परन्तु हमारे नागरिको मे उत्साह की कमी है। इसके साथ ही एशिया मे केन्द्रीय भौगोलिक स्थिति तथा भारतीय व्यापार एव उद्योग को सहायक राष्ट्रीय सरकार भी उपलब्ध है। इसलिए यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भविष्य में भारत उपलब्ध नैसर्गिक साधनो का अपने आर्थिक विकास के लिए अवश्य ही विदोहन कर अपनी आर्थिक उन्नति से चमक उठेगा।

अध्याय ३

सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ तथा आर्थिक विकास

(Social and Religious Institutions and Economic Development)

"गरीबी और धर्म भारतीय अर्थव्यवस्था के दो प्रमुख तथ्य हैं।"
—ग्रामीण साख समिति की रिपोर्ट, १९५४।

मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति एव विकास पर जिस प्रकार भौगलिक स्थिति का प्रभाव पडता है उसी प्रकार देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सस्थाओ का प्रभाव भी मनुष्य के आर्थिक विकास पर पडता है। मनुष्य जिस सामाजिक वातावरण मे रहता है उससे उसके विचार एव कार्य शक्ति को प्रेरणा मिलती है। धार्मिक सस्थाए एव प्रचलित धार्मिक रूढियो के अनुसार मनुष्य के उद्योग-धन्धे प्रभावित होते हैं, इसलिए आर्थिक विकास मे भारत की राजनैतिक, धार्मिक एव सामाजिक सस्थाओ का बहुत बडा हाथ रहा है। सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ ने जितना हमारे आर्थिक विकास को प्रभावित किया है उतना सम्भवत अन्य देशो मे शायद ही प्रभावित किया होगा। भारत मे प्रत्येक सामाजिक क्रिया के पीछे धार्मिक भावना रहती है। उदाहरणार्थ, मकान की नींव खुदवाने के लिए मुहूर्त देखा जाता है, बीज बोने के लिए अथवा खेती का प्रारम्भ करने के लिए भी मुहूर्त देखा जाता है। स्पष्ट है कि हमारी सामाजिक एव आर्थिक क्रियाओ के पीछे धर्म का कितना हाथ है। आज भी धर्म निरपेक्ष भारत के मन्त्रीगण बद्रीनाथ एव केदारनाथ की यात्रा सरकारी व्यय से करते हैं* और राष्ट्र-

---

* नवभारत टाइम्स—१०-७-५८।

पति विना मुहूर्त के पदग्रहण नही करते। भारत मे समाज द्वारा वर्जित कोई भी व्यवसाय अथवा धन्धा नही किया जा सकता है। यहाँ तक कि जीवन की आवश्यक वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी धर्म का निर्णय माना जाता है। इसी कारण भारत के आर्थिक जीवन एव विकास के अध्ययन के लिए यहाँ की सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ का अध्ययन आवश्यक है।

भारत के आर्थिक विकास मे जिन धार्मिक एव सामाजिक सस्थाओ तथा रूढियो का विशेष हाथ रहा है वे निम्न हैं —

(१) धर्म (Religion)।
(२) जाति-प्रणाली (Caste System)।
(३) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (Joint Family System)।
(४) उत्तराधिकार कानून (Laws of Inheritance & Succession)।
(५) पर्दा प्रथा एव बाल विवाह।
(६) भारतीय दर्शन।

(१) धर्म—भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म का अत्यधिक महत्त्व है। हमारे यहाँ के खान पान के धार्मिक बन्धन, जाति प्रथा का अस्तित्त्व, अहिंसा परमोऽधर्म का अवलम्बन आदि धार्मिक भावनाओ के कारण भारतीय अनेक उपयोगी वस्तुएँ अपने उपयोग मे नही लाते। भारतीय जीवन का आदर्श ही "सादा जीवन एव उच्च विचार" माना जाता है, परन्तु 'सादा जीवन' का यह तात्पर्य नही कि मनुष्य अपनी अधिभौतिक प्रगति के लिए प्रयत्न न करें। इस विचारधारा के कारण ही भारत में एक साधारण नागरिक अपनी वतमान आर्थिक स्थिति मे सन्तोष रखने का प्रयत्न करता है तथा महत्वाकांक्षा अथवा भविष्य के विषय मे कुछ प्रयत्न नही करता। अहिंसा परमोऽधर्म. के तत्त्व के कारण हमारे किसान घुन आदि से अन्न अथवा फसलो की रक्षा के लिए कीटनाशक रसायनो (Insecticides) का उपयोग नही करते और छुआछूत की भावनाओ के कारण वे हड्डी, मैला इत्यादि खादो का उपयोग नही करते। समाज के बन्धनो के कारण किसान मुर्गी इत्यादि पालने के लाभकर धन्धे भी नही करते। इस प्रकार भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म का महत्त्व होने के कारण रूढिवादिता एव सकुचित प्रवृत्ति की प्रधानता हो गई है।'* इस प्रवृत्ति के कारण हम प्रत्येक पहलू को धार्मिक एव सामाजिक दृष्टि से देखते हैं एव आर्थिक विकास द्वारा अधिभौतिक प्रगति के लिए प्रयत्न नही करते।'

फिर भी हमारी पिछडी हुई आर्थिक स्थिति की सारी जिम्मेदारी केवल धार्मिक भावनाओ पर ही नही लादी जा सकती, क्योकि आर्थिक अवस्था के लिए केवल धर्म ही जिम्मेवार न होते हुए हमारी गत आर्थिक परिस्थिति एव राजनैतिक गुलामी

* The Economic Development of India—Vera Anstey, pp 46.

जिम्मेवार है। राजनैतिक गुलामी एव तत्कालीन शासकीय नीति के कारण ही हमारे यहाँ शिक्षा के विकास और आर्थिक विकास के प्रयत्न सच्चे दिल से नही किये गये। यदि भारत मे शिक्षा का पर्याप्त विकास होता तथा धर्म को हम सही अर्थ में समझ पाते[1] तो सम्भवतः भारतीयो की रूढिवादिता एव सकुचित मनोवृत्ति का अन्त हो जाता।

(२) जाति प्रणाली—हमारी सामाजिक सस्थाओ मे सबसे प्रमुख स्थान जाति-प्रणाली का है। भारतीय जातियो का निर्माण यहाँ की धार्मिक परम्पराओ के कारण ही हुआ है, जिन्होने सामाजिक सगठन को अनेक पृथक वर्गों मे (जातियो में) बाँट दिया है। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक सगठन की अपनी विशेषता है, जो अन्य देशो तथा धर्मों मे इस रूप मे नही है। समाज का विभाजन विभिन्न जातियो मे होने से उनकी आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाएँ भी अपनी जातीय परम्पराओ के अनुसार होती हैं, जिससे देश के आर्थिक विकास मे रुकावटें आती हैं, इसलिए भारतीय सामाजिक एव आर्थिक जीवन पर जाति प्रणाली के प्रभावो का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि "जाति प्रणाली तथा सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली ने अनादि काल से कुटुम्ब, समाज तथा किसी व्यवसाय अथवा सघ के सदस्यो का नियमन किया है, जिससे उसका जन्म से सम्बन्ध रहता था।"

परिभाषा—

जिस पद्धति मे एक वश के निवासी अपनी रोटी बेटी व्यवहार आपस मे करते हैं तथा उसका एक ही नाम होता है, उसे एक जाति कहा जाता है। श्री सप्रे के अनुसार, "जो आपस मे रोटी बेटी व्यवहार करते हैं ऐसे समूह" को जाति कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे, "ऐसे व्यक्तियो का समूह जिनको एक नाम से पहिचाना जाता है तथा जो एक ही परम्परागत व्यवसाय करते हैं" उसे जाति कहेगे।[2] इस प्रकार की जातियाँ कई उपजातियो मे भी विभाजित हैं तथा इनमे ऊँच नीच भाव होते हैं, जिससे इनके आपसी रोटी-बेटी व्यवहार भी नही होते।

उगम—

जाति-प्रणाली का जन्म किस प्रकार से हुआ, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। कुछ भारतीय लेखको के अनुसार भारतीय जाति का उगम ऐतिहासिक बताया गया है। भारत के आदि निवासियो को जिन लोगो ने युद्ध मे हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया वे क्रमशः यहाँ के निवासी हो गये। इनमे विजयी लोग अपने को पराजितो से उच्च वर्णीय मानते थे। इस प्रकार जितनी जातियो ने यहाँ पर अपना प्रभुत्व जमाया उतनी जातियाँ यहाँ पर बनी। इसके बाद

---

1 धर्म का सही अर्थ है—यत् धारयते तद् धर्म—समाज के स्थायित्त्व के लिए जो नियम आवश्यक है वह धर्म है।

2 Economic Development of India—Vera Anstey

जब कुछ सुधारको ने जाति प्रथा के विरुद्ध विद्रोह किया तथा दो जातियो मे रोटी-बेटी का व्यवहार किया तब ऐसी जो सन्ताने हुई उनको उन जातियो ने बहिष्कृत किया तथा एक तीसरी जाति का निर्माण हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता के "चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टम गुणकर्म विभागश" उक्ति के अनुसार व्यक्ति के गुण एव कर्मो के अनुसार उनको चार वर्णो—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र—मे विभाजित किया गया। इस प्रकार प्रारम्भ में गुण तथा कर्मो के आधार पर समाज का विभाजन चार जातियो में हुआ तथा इसके बाद वर्णशकर से अनेक उप-जातियाँ सामने आई। इस प्रकार कर्म एव गुण भेद से वर्ण-व्यवस्था निर्माण करने का हेतु समाज की धार्मिक एकता कायम रखना था। "वर्णाना ब्राह्मणो गुरु" उक्ति से तथा ब्राह्मणो की कम निष्ठा के कारण इनका समाज मे सर्वोच्च स्थान था, परन्तु इन्होने स्वार्थ तथा अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए अन्य वर्णो को विद्याध्ययन से दूर रखा तथा मनमानी कर अनेक जातियो का निर्माण किया। गीता के अनुसार केवल समाज के स्थायित्व के लिए वर्ण व्यवस्था निर्माण की गई थी, जिनमे केवल वही व्यक्ति किसी वर्ण का हो सकता था जो उस वर्ण के अनुसार कर्म करता हो। आगे चलकर इन्ही वर्णो को जाति कहा जाने लगा तथा गुण एव कर्मो की प्रधानता केवल नाम मात्र ही रही, जिससे किसी भी व्यक्ति की जाति उसके जन्म से ही निश्चित हो जाती है।

इसके अलावा जाति प्रथा के उगम सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानो के अनेक तर्क हैं। श्री जे० एस० मिल के अनुसार जातियो का निर्माण श्रम-विभाजन के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार श्री सेनाट के सिद्धान्त के अनुसार जातिया प्राचीन कार्यों के सस्थाओ की विकसित रूप हैं। कुछ भी हो, जाति प्रथा अनेक ऐतिहासिक परिवर्तनो के बावजूद भी अबाधित रही तथा समाज मे अपना अस्तित्व बनाये हुए है और उसका प्रभाव हमारी आर्थिक क्रियाओ पर पडता है।

भारतीय जाति-प्रणाली की तुलना कही कही योरोपीय देशो के शिल्प सघो (Craft-guilds) तथा व्यवसाय सङ्घो (Merchants-guilds) से की जाती है। इसमे शङ्का नही कि प्राचीन-काल मे यहाँ की जातियाँ शिल्प-सङ्घ के रूप मे ही थी और उनका सगठन भी व्यावसायिक आधार पर ही था, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के वचनो से स्पष्ट है। कर्म के अनुसार जाति का विभाजन चार वर्णो मे किया गया तथा प्रत्येक का विभाजन उनकी क्रियाओ के अनुसार अनेक उप-समूहो में हुआ, जैसे—लोहे का काम करने वाले लुहार, चमडे का काम करने वाले चर्मकार (चमार) आदि। परन्तु इनमे जातीयता नही थी। कोई भी व्यक्ति एक सङ्घ से दूसरे सङ्घ मे जा सकता था तथा रोटी बेटी व्यवहार भी होते थे। इस प्रकार योरोपीय सङ्घ वास्तव मे राज्य एव सामन्तवादियो के अत्याचारो से बचने के लिए बनाये गये सगठित दल थे, लेकिन हमारे देश मे जातिया फूट और अनेकता के कारण बनी।

जाति प्रथा के आर्थिक परिणाम—

गुण—(१) जाति-प्रणाली के अस्तित्व से श्रम-विभाजन की प्रगति हुई

है तथा प्रत्येक जाति अपने पैतृक व्यवसाय को अबाधित रखती है, जिससे कुशलता की वृद्धि हो कर भारतीय कार्य कुशलता आज भी बनी हुई है। जाति प्रथा के कारण ही हमारे यहा कुटीर उद्योगो का अस्तित्व आज भी देखने को मिलता है।

(२) प्राचीन काल मे जब राज्य द्वारा शिक्षा सस्थाओ की स्थापना नही होती थी, उस समय जाति-प्रणाली ने शिल्प शिक्षा एव व्यावसायिक शिक्षा द्वारा सहायता की। उदाहरणार्थ, पिता अपने पुत्र अथवा कुटुम्बियो को अपने व्यवसाय अथवा शिल्प की शिक्षा नि शुल्क एव बडी लगन के साथ देता था।

(३) पैतृक व्यवसाय परम्परागत चालू रहने के कारण व्यावसायिक एव शिल्प सम्बन्धी कुशलता की वृद्धि होने मे जाति प्रथा सहायक होती थी एव हुई है। इसके साथ ही कुटुम्ब की किसी व्यवसाय अथवा शिल्प की ख्याति उसके व्यावसायिक उन्नति मे सहायक होती थी तथा उसे विज्ञापन आदि की आवश्यकता नही पडती थी।

(४) जाति प्रथा मे प्रत्येक जाति की उन्नति के प्रयत्न उनकी पचायतो द्वारा किए जाते थे तथा ये पचायतें उन जातियो के वृद्ध अथवा अयोग्य व्यक्तियो के पालन-पोषण के लिए जिम्मेवार थी। इसके अलावा जाति पचायतो द्वारा जातीय व्यवसाय का नियमन भी होता था।

(५) जाति प्रथा के कारण प्रत्येक व्यक्ति का धन्धा उसके जन्म से ही निश्चित हो जाता था, जिसकी तैयारी वह अपने बचपन से ही करता था। इससे उसे बडा होने पर व्यवसाय अथवा नौकरी की खोज मे नही भटकना पडता था।

(६) जाति प्रथा से विभिन्न जातियो में सहकारिता रही, क्योकि प्रत्येक जाति एक दूसरे पर निर्भर थी।

सामाजिक दृष्टि से जाति प्रथा ने हिन्दू समाज की बाह्य आक्रमणो से सुरक्षा करने मे तथा अपनी आन्तरिक एकता बनाये रखने मे सहायता पहुचाई है। कुकर्मों के फलस्वरूप जाति से बहिष्कृत हो जाने के भय से प्रत्येक जाति की अवनति से रक्षा भी हुई है।

जाति प्रथा के दोष—परन्तु जाति प्रथा के उपर्युक्त आर्थिक गुण होते हुए भी जाति प्रथा के कारण व्यक्तिगत उत्साह एव प्रारम्भण वृत्ति (Initiative) को गहरी ठेस पहुँची है। जाति प्रथा से उपरोक्त लाभ प्राचीन काल मे मिलते रहे, परन्तु आज जातीयता अपने नग्न एव विकृत स्वरूप मे है। इस कारण हमारी आर्थिक उन्नति के लिए वह आज किसी भी प्रकार से सहायक नही है। जाति प्रथा के आर्थिक दुष्परिणाम निम्न हैं :—

(१) जाति प्रथा का महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि जाति प्रथा श्रमिको की गतिशीलता मे बाधक होती है। एक जाति के लोग अन्य जाति का व्यवसाय नही कर सकते, जिससे समाज मे अप्रतियोगी-समूहो का निर्माण हो गया है, जिससे आर्थिक विकास मे रुकावट आती है। मनुष्य केवल अपने जातीय शिल्प अथवा व्यवसाय को ही कर सकता है। इस कारण श्रमिको मे व्यावसायिक गतिशीलता नही रहती।

(२) जाति प्रथा मे केवल जातीय-व्यवसाय करना पडता है। इससे व्यक्तिगत रुचि का व्यवसाय से कोई सम्बन्ध नही रहता। फलत प्रारम्भण वृत्ति एव अन्वेषण, सुधार आदि के लिए जाति प्रथा मे कोई स्थान नही है। इससे औद्योगिक एव आर्थिक विकास मे रुकावटें आती हैं। ब्राह्मण की रुचि किसी शिल्प मे भले ही हो, परन्तु उसे ब्रह्म कर्म ही करना पडेगा। इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति एव उत्पादनशीलता प्रभावित होती है।

(३) जाति प्रथा की धार्मिक भावनाओ के कारण ही विदेश यात्रा (समुद्र यात्रा) भारत मे वर्जित है। इसी कारण विदेशी व्यापार को अधिकाश भारतियो ने नही अपनाया। फलत. देश का विदेशी व्यापार विदेशियो के हाथ मे चला गया, जिससे भारत को आर्थिक हानि हुई।

(४) श्रम की गतिशीलता के साथ ही जाति प्रथा पूंजी की गतिशीलता मे भी बाधक होती है, क्योकि प्रत्येक जाति का व्यवसाय सीमित रहता था। एक जाति के लोग दूसरे व्यवसाय में पूंजी नही लगाते थे। फलत देश की पूंजी की गतिशीलता मे जाति प्रथा बाधक होने के कारण देश के औद्योगिक विकास के लिए भी जाति प्रथा बाधक रही। इससे देश में बडे पैमाने वाले उद्योगो की स्थापना मे बाधा आई, क्योकि ऐसे उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे विदेशी पूंजी द्वारा ही स्थापित किए गए।

(५) जाति प्रथा के कारण श्रम के महत्त्व को भी गहरा धक्का लगा है, क्योकि ऊंचे वर्ण की जातियो मे शारीरिक श्रम करना, यहा तक कि हल का छूना भी पाप समझा जाता है। इस कारण ऐसे लोग कोई भी उत्पादन का काम नही करते हैं, जिससे देश की श्रम शक्ति का एक बडा भाग बेकार हो जाता है और राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि के लिए निरुपयोगी हो जाता है। ब्राह्मण का लडका "ओ३म् भवति भिक्षादेहि" का आधार लेकर भीख मांगना पसन्द करेगा, परन्तु अपने श्रम से अपनी रोटी नही कमावेगा।

(६) जाति प्रथा ने जहाँ प्रारम्भिक अवस्था मे समाज मे एकता एव सहकारिता की भावना भरी, उस जाति प्रथा से आज हिन्दू समाज का विघटन हो रहा है तथा परस्पर घृणा, द्वेष एव फूट की भावना बढ रही है। इससे सामाजिक अव्यवस्था के साथ ही आर्थिक अव्यवस्था भी बढती है। विभिन्न जाति वालो की पूंजी, बुद्धिमत्ता एव व्यापारिक तन्त्र सहकारिता से काम नही कर सकते। भारत के आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ होने का यह भी एक कारण है। इसके अलावा जीव शास्त्रियो के अनुसार एक ही जाति में परस्पर विवाह होने से जातीय अवनति होती है, जिससे कार्यक्षमता का ह्रास होता है।

(७) सामाजिक एव राष्ट्रीय दृष्टि से सम्पूर्ण समाज मे एकता होना राष्ट्रीयता के लिए पोषक होता है। इसके विपरीत जाति प्रथा से समाज का विभाजन अनेक वर्गों मे हो गया है, जिससे राष्ट्रीय एकता मे बाधा आती है।

(द) जाति प्रथा से फिजूल खर्ची को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि प्रत्येक जाति मे शादी, जन्म, मृत्यु आदि विशेष अवसरो पर विशेष प्रकार की दावतें देनी आवश्यक होती हैं। इन सस्कारो पर खर्चा होता है, जिससे फिजूल खर्ची को प्रोत्साहन मिलता है तथा ऋण भार बढता जाता है।

जाति प्रथा की अवनति—

आज-कल आधुनिक शिक्षा के कारण जाति प्रथा को गहरा धक्का लगा है तथा विचारशील व्यक्ति जाति प्रथा की सामाजिक एव आर्थिक बुराइयो के कारण इस प्रथा का अन्त करने के लिये प्रयत्नशील हैं, अत जाति प्रथा का अस्तित्व आज अत्यन्त शिथिल रूप में है। छुआ छूत के विचार का लगभग अन्त हो गया है तथा अन्तर्जातीय विवाह आज खुले आम हो रहे हैं। इसी प्रकार एक जाति अपने जातीय व्यवसाय अथवा शिल्प के अलावा अ य व्यवसाय करती हुई दिखाई देती है, जिससे यह स्पष्ट है कि व्यवसाय एव जाति का प्राचीन काल मे जो सम्बन्ध था वह सम्बन्ध अब टूट गया है। केवल खान-पान एव विवाह सम्ब धी बन्धन रह गये हैं, जिसमे भी शिथिलता आती जा रही है।

जाति प्रथा की शिथिलता के लिये आधुनिक महाविद्यालयीन शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता से सम्पर्क एव उसका प्रभाव, शहरो का विकास, विकसित यातायात के साधन तथा सम्पूर्ण समाज की वैधानिक समता, ये प्रमुख कारण हैं। इसके अलावा आर्य समाज आदि सुधारक सम्प्रदायो ने छुआ छूत और जाति-पाँति के बन्धन को गहरी चोट पहुँचाई है। राष्ट्रीय आन्दोलनो के कारण जाति-पाँति के बन्धन टूट गये तथा वर्तमान शासन जाति-पाति के भेद-भाव को मिटाने के लिये प्रयत्नशील है।

इतना होते हुए भी जाति पाति के बन्धनो की शिथिलता हमको केवल शहरी जीवन में ही दिख ई देती है। गाँव मे जातीय बन्धन शिथिल तो अवश्य हुए हैं, परन्तु वहाँ पर अब भी जातीयता का प्रभाव खान-पान, विवाह एव छुआ-छूत मे देखने को मिलता है। कारण, हिन्दू-समाज मे जाति-प्रथा की जड़ें इतनी गहरी जा चुकी है कि उनको सरलता से उखाड फेंकना आसान नही है। यह काम धीरे-धीरे ही पूरा हो सकेगा। इसमे न तो देशव्यापी आन्दोलन ही सफल हो सकता है और न किसी कानून से ही जाति प्रथा का अन्त हो सकता है। अपितु मानसिक विकास के साथ ही यह पूर्ण होगा।

(३) सयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली (Joint Family System)—

यह हिन्दू समाज की दूसरी विशेषता है। यह प्रथा अन्य किसी समाज मे बहुत ही कम देखने को मिलती है। सयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली के अन्तगत परिवार के सब व्यक्ति पीढियो तक एक ही कुटुम्ब में रहते हैं तथा उनका खान-पान, सम्पत्ति आदि सब कार्य सयुक्त रूप में होते हैं। इन पद्धति मे कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति का अपने निजी परि-

वार से अलग रहना बुरा समझा जाता है। सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में कुटुम्ब के सदस्यो की समुचित व्यवस्था के लिए कुटुम्ब का कर्त्ता, जो साधारणत सबसे बुजुर्ग होता है—जिम्मेदार होता है। कुटुम्ब के सदस्य अपनी सम्पूर्ण आय इसी व्यक्ति के पास जमा करते हैं, जो उसका उपयोग कुटुम्ब के व्यय के लिए समुचित रीति से करता है। इस पद्धति मे पैतृक सम्पत्ति का पीढियो तक विभाजन नही होता तथा शादी आदि सस्कारो को करने की जिम्मेदारी कर्त्ता की ही होती है। इस प्रकार हम सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को हिन्दू कानून का आधार कहे तो अनुचित न होगा। इस प्रकार सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे एक ही प्रकार के धार्मिक विचार रह सकते हैं तथा इसमें मतभेद के लिए कोई स्थान नही है।

इस प्रथा के उगम के सम्बन्ध मे मतभेद हैं। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि अपने कुटुम्ब के साथ मनुष्य के सबसे घनिष्ट सम्बन्ध होते है, अतएव कुटुम्ब के सभी व्यक्ति एक ही स्थान पर रहे तो अच्छा है। सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की सफलता सदस्यो की सहकारिता पर निभर होती है, क्योकि कुटुम्ब की भलाई एव उन्नति के लिए प्रत्येक को ही थोडा थोडा त्याग तथा 'कुटुम्ब के लिए प्रत्येक एव प्रत्येक के लिए एक'' (कर्त्ता) इस भावना से ही काम करना पडता है। इस परस्पर सद्भावना एव सहायता के कारण कुटुम्ब की एकता बनी रहती है। हमारे विचार से कुटुम्ब प्रणाली का निर्माण कृषि-युग मे हुआ होगा, जब मनुष्य स्थायी रूप से अपनी कृषि भूमि के आस-पास घर बनाकर रहने लगा। इसमे कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है तथा सारी कमाई कर्त्ता के पास एकत्रित होती है और कर्त्ता कुटुम्ब के अधिकतम हित के लिए उसका विनियोग करता है। इस प्रकार समाज के विभिन्न घटको के एकीकरण के लिये कुटुम्ब प्रथा का विकास हुआ होगा। इसीलिये यह एक सामाजिक सस्था के रूप मे आज भी प्रचलित है। सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को भारत की तत्कालीन आर्थिक एव राजनैतिक स्थिति से और भी बल मिला है।

सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के आर्थिक परिणाम—

गुण—(१) सयुक्त प्रणाली का सबसे बडा लाभ है एकता, क्योकि एकता के कारण महान् कार्य भी सुगम हो जाते हैं।

(२) एक कुटुम्ब के सदस्य यदि अपनी पत्नी तथा बच्चो सहित अलग-अलग रहते हैं तो उनकी जीविका का व्यय बढ जाता है, परन्तु सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे रहने से सबका व्यय एकत्रित होने से मितव्ययिता आती है। साराश मे, वृहत् परिमाण उत्पादन की भाति एकत्रित कुटुम्ब पद्धति मे भी मितव्ययिता होती है।

(३) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे परिवार के सदस्यो को कर्त्ता के अनुशासन मे रहना पडता है तथा कुटुम्ब के लिये स्वार्थ त्याग भी करना पडता है। इस कारण परिवार के सदस्यो मे अनुशासन, स्वार्थ त्याग तथा सहकारिता की उन्नति होती है।

(४) कुटुम्ब के सभी व्यक्तियो के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है

तथा योग्य एव अयोग्य सभी व्यक्तियो के पालन पोषण की जिम्मेदारी कर्त्ता पर होती है। इस कारण अनाथ, विधवा एव अयोग्य व्यक्तियो को अपनी चिन्ता नही करनी पडती। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली एक प्रकार से सदस्यो को सामाजिक बीमे की सुविधायें देती है। दूसरे देशो मे ये सुविधायें सरकार द्वारा दी जाती है, जिससे राज्य का व्यय बढता है।

(५) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति एकत्र रहने से सम्पत्ति का किसी प्रकार बँटवारा नही होता तथा बँटवारे के आर्थिक दुष्परिणामो से देश बच जाता है और भूमि के टुकडे टुकडे होकर कृषि की हानि नही होती।

(६) इस प्रणाली से श्रम-विभाजन को भी बल मिलता है, क्योकि प्रत्येक सदस्य को कुटुम्ब के भिन्न-भिन्न कार्यों की जिम्मेदारी सौपी जा सकती है।

(७) प्राचीन काल में एकत्र कुटुम्ब प्रणाली की वजह से सयुक्त-स्कन्ध कम्पनियो की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती थी। सयुक्त परिवार ही अधिकतर बडे-बडे उद्योगो एव व्यवसायो का सचालन करते थे। यह इसलिये सम्भव था कि सयुक्त परिवार मे पूँजी एव श्रम दोनो की ही अधिकता होती है।

दोष—सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली से उपर्युक्त लाभ होते हुये भी इस आर्थिक विकास के युग में वह आर्थिक विकास के लिये बाधक हो रही है। ये आर्थिक दुष्परिणाम निम्न है—

(१) प्रयत्नो के अनुसार फल की चाह प्रत्येक मनुष्य करता है, परन्तु सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे प्रत्येक के परिश्रम का पूरा फल न मिलने के कारण सदस्यो को अधिक कमाने के लिये प्रोत्साहन नही मिलता, जिससे उनकी प्रारम्भण प्रवृत्ति (Initiative) का अन्त हो जाता है।

(२) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में कुटुम्ब के सभी सदस्यो को आश्रय मिलता है। इस कारण कुटुम्ब के सदस्य अपनी जीविका कमाने के लिये विशेष प्रयत्न नही करते, जिससे आलस्य की प्रवृत्ति बढती है तथा परिश्रम को प्रोत्साहन नही मिलता है। इससे देश एव समाज की आर्थिक प्रगति को धक्का लगता है। इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के कुटुम्ब के ऊपर निर्भर रहने के कारण उसमे अपने विकास के लिये आत्मविश्वास का विकास नही होने पाता।

(३) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के सम्बन्ध मे बेफिकरी होने के कारण घर छोड कर बाहर जाने की चिन्ता नही होती। इतना ही नही, प्रत्युत कुटुम्ब एव गाँव छोड कर कोई बाहर नही जाना चाहता। इससे श्रम की गतिशीलता बाधित होती है तथा घर रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) सयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली में व्यक्तिगत विकास के लिये कोई प्रोत्साहन नही मिलता, क्योकि वह कुटुम्ब की इच्छा के विरुद्ध—विशेषत कर्त्ता की—कोई कार्य नही कर सकता। इसके साथ ही ऐसा नवीन कार्य करने मे उसे कुटुम्ब की प्रतिष्ठा का सदैव ध्यान रखना पडता है। इसमे रूढिवादिता बढती है और परिवर्तन एव नवीनता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नही मिलता।

(५) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे कुटुम्ब के पालन-पोषण के बाद जो शेष रहे वही सचित किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होता है। कि सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में पूँजी सचय नही होने पाती, जिसमे बहु परिमाण उद्योगो की स्थापना एव विकास में बाधा आती है। क्योकि बहु-परिमाण उद्योगो के लिये अधिक परिमाण मे पूँजी की आवश्यकता होती है।

(६) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली मे स्वार्थ त्याग की भावना होना आवश्यक होता है, परन्तु मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी होता है। इस कारण सम्पूर्ण कुटुम्ब के लिये वह अपना स्वार्थ त्याग नही करना चाहता। फलत. आपस मे वैमनस्य बढ जाता है तथा कुटुम्ब के सदस्यो का जीवन शान्तिपूर्ण नही रहता है।

उक्त दोषो के कारण यह प्रथा आर्थिक विकास के मार्ग मे बाधक होती है। इसके अलावा कुछ ऐसी आधुनिक प्रवृत्तियाँ आ गई हैं जिनसे सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का विघटन हो रहा है तथा प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चाहता है। पाश्चात्य सभ्यता एव सस्कृति का सम्पर्क, विश्वविद्यालयीन शिक्षा तथा यातायात की सुविधाओ के कारण सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का आजकल लोप हो रहा है और ऐसे केवल इने-गिने कुटुम्ब ही देखने को मिलते हैं। इसके अलावा आजकल रोजगारी के विभिन्न स्थानो के अवसरो के कारण भी सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है।

(८) उत्तराधिकार-कानून (Laws of Inheritance & Succession)—

सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का उत्तराधिकार कानून से घनिष्ट सम्बन्ध है। हिन्दू समाज मे उत्तराधिकार कानून सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को प्रोत्साहन देता है, क्योकि यदि कुटुम्ब की सम्पत्ति सयुक्त हो तो वह कुटुम्ब भी अविभक्त (सयुक्त कुटुम्ब) माना जाता है। इसी प्रकार जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि सम्पत्ति का कानून से बँटवारा हो गया है तब तक ऐसी पैतृक सम्पत्ति भी सयुक्त समझी जाती है। भारत मे दो प्रकार के उत्तराधिकार कानून प्रचलित है मिताक्षरा तथा दयाभाग। दयाभाग उत्तराधिकार कानून केवल बङ्गाल मे प्रचलित है तथा शेष भारत मे मिताक्षरा कानून हिन्दू समाज की सम्पत्ति के सम्बन्ध में लागू होता है। मिताक्षरा कानून के अनुसार प्रत्येक पुरुष सन्तति (Male child) को जन्म से ही (अर्थात् गर्भ मे आते ही) पैतृक सम्पत्ति मे भाग लेने का अधिकार मिलता है। किन्तु जब तक ऐसी पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा कानूनन न माँगा जाय तब तक उस सम्पत्ति का स्वामित्व सयुक्त समझा जाता है। पिता की सम्पत्ति का बँटवारा केवल उसके लडको मे ही समानता से किया जाता है। कोई लडका चाहे तो पिता के जीवन काल मे ही अपना हिस्सा ले सकता है। दयाभाग पद्धति मे पुत्र केवल पिता की मृत्यु के बाद ही सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करते है, उसकी जीवित अवस्था मे नही। इन दोनो कानूनो मे एक अन्तर स्पष्ट है कि जब तक कुटुम्ब का विभाजन नही होता तब तक सम्पत्ति के बँटवारे का प्रश्न ही उपस्थित नही होता,

अपितु सभी सदस्यो का पैतृक सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है परन्तु कुटुम्ब के सदस्य का अपनी कमाई हुई सम्पत्ति पर अधिकार होता है, जिस पर उसे कानूनी रूप मे अधिकार प्राप्त करना आवश्यक होता है। अन्यथा वह सयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति ही मानी जाती है।

इसी प्रकार भारत मे मुसलमानो की पैतृक सम्पत्ति मॉहोम्मेडन लॉ के अनुसार केवल पुरुष सदस्यो मे ही विभाजित न होते हुए पुरुष एव स्त्री सभी सदस्यो मे विभाजित की जाती है। इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान दोनो के ही समाजो मे सम्पत्ति का विभाजन होता है, जिसका प्रभाव देश के आर्थिक विकास पर पडता है।

उत्तराधिकार नियमों के आर्थिक प्रभाव—

उत्तराधिकार नियमो के अनुसार कुटुम्ब का विभाजन होने पर सम्पत्ति का विभाजन भी कुटुम्ब के सदस्यो मे हो जाता है।[1] यद्यपि यह बँटवारा कभी-कभी केवल आपसी वैमनस्य को दूर करने के लिये होता है तथा वैधानिक दृष्टि से वह सम्पत्ति सयुक्त ही रहती है। परन्तु इससे उसके आर्थिक परिणामो मे कोई अन्तर नही पडता, क्योंकि सम्पत्ति के टुकडे-टुकडे हो ही जाते है। इङ्गलैंड आदि योरोपीय देशो में प्रचलित उत्तराधिकार नियम के अनुसार सम्पत्ति पर केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही अधिकार मिलता है तथा अन्य छोटे भाइयो को अपनी आजीविका स्वय ही खोजनी पडती है। योरोपीय उत्तराधिकार नियमो के सम्बन्ध मे डॉ० जॉनसन ने कहा था "इस पद्धति मे केवल एक ही मूर्ख को कुटुम्ब मे सदैव बनाये रखने का गुण है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि हमारे उत्तराधिकार कानून से कुटुम्ब में अनेक मूर्खों का निर्माण होता है और उन्हे स्थिरता मिलती है। इसके विपरीत हम यह कहेंगे कि हमारे उत्तराधिकार कानूनो मे सम्पत्ति का विभाजन कुटुम्ब के सदस्यो मे समानता से होता है, इसलिए हमारे यहाँ साम्यवाद को बल मिलता है। योरोपीय उत्तराधिकार नियम से पूँजीवाद की प्रवृत्ति बढती है तथा पूँजी का एकत्रीकरण केवल कुछ व्यक्तियो तक ही सीमित रहता है। इसस यह तात्पर्य नही कि हमारे उत्तराधिकार कानूनो के आर्थिक दुष्परिणाम नही होते।

गुण—

(१) भारतीय उत्तराधिकार नियमो के अनुसार कुटुम्ब के प्रत्येक पुरुष व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार मिलता है, जिससे उसे अपनी जीवन नौका को ससार सागर मे छोडने के लिए कुछ न कुछ आधार हो जाता है। इससे उसे अपना जीवन

---

१ देशी राज्यों मे और कुछ जमींदारों में सम्पत्ति का बँटवारा न होते हुए वह केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलती है, जैसे—इङ्गलैंड के उत्तराधिकार कानून से होता है।

2 It has the merit of perpetuating only one fool in the family.

आरम्भ करने के साधन मिल जाते हैं, जिनको वह अपने परिश्रम एव कुशलता से बढा सकता है।

(२) सम्पत्ति का वितरण सभी भाइयो मे अथवा सदस्यो मे समानता से होने से सम्पत्ति के वितरण मे समानता आ जाती है तथा पूँजीवाद की प्रवृत्तियो को कोई स्थान नही मिलता।

दोष—

(१) भूमि का विभाजन अनेक टुकडो मे कर दिया है, जिससे कृषि योग्य भूमि बिखरी हुई है तथा टुकडो मे बँट गई है। इस कारण कृषि का व्यवसाय नही हो सकता और न उसमे कोई स्थाई सुधार ही किये जा सकते हैं। भारत मे जनता का जीवन-स्तर गिर गया है, कृषि-उद्योग किसी प्रकार लाभकर नही रहा है और न कृषि कार्यों के लिये यन्त्रो का उपयोग ही सफलता से किया जा सकता है। फलत. भारत की अधिकतर जन सख्या दरिद्रता एव ऋणो मे फँसी हुई है। डॉ० मुकर्जी ने लिखा है —"भारत मे दरिद्रता भूमि एव मनुष्य के अनुपात का परिणाम है।"* क्योकि भारत की कृषि भूमि का विभाजन एक ओर छोटे छोटे एव बिखरे हुये टुकडो मे होता है और दूसरी ओर कृषि पर निर्भर जन-सख्या बढती जाती है। इसी कारण भारत मे चकबन्दी का अभाव है।

(२) सम्पति का बँटवारा हो जाने से पूँजी सग्रह नही होने पाती तथा बहु-परिमाण उद्योगो की स्थापना पूँजी के अभाव के कारण रुक जाती है।

(३) पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के लिए आपस मे मुकद्दमेवाजी होती है, जिसमे धन की फिजूल खर्ची होती है।

(४) सम्पत्ति का बँटवारा होने के कारण मनुष्य को उपजीविका का साधन मिल जाता है, जिससे वह अपनी उपजीविका कमाने के लिये अथवा उपलब्ध साधनो को बढाने के लिये प्रयत्न नही करता। परिणामस्वरूप साहस एव प्रारम्भण वृत्ति (Initiative) के लिए कोई प्रोत्साहन नही मिलता।

सम्पत्ति पर अधिकार होना न्याय है, परन्तु उसके बँटवारे का अधिकार होना आर्थिक दृष्टि से हानिकारक है, इसलिये उत्तराधिकार नियमो में परिवर्तन आवश्यक है। विशेषत. इस दृष्टि से कि भूमि का विभाजन कुछ सीमा के बाहर न जाने पावे।

(५) पर्दा एव बाल-विवाह—

उक्त सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ के अतिरिक्त भारत मे पर्दा एव बाल-विवाह भी प्रचलित हैं, जिससे समाज मे अनेक बुराइया आती हैं तथा उसके कारण आर्थिक दुष्परिणाम भी होते हैं। पर्दा प्रथा के कारण भारत में औरतें जीवन-सग्राम मे सक्रिय भाग नही ले सकती हैं, जिससे पर्दानशीन स्त्रियो को उपलब्ध बुद्धि एव श्रम

* "Poverty is a matter of the man-land ratio in India"—Economic Problems of Modern India by Mukerji

का सम्पूर्ण उपयोग नही होता है। पर्दा पद्धति का अवलम्बन भारत में मुसलमानो के हमलो के कारण ही किया गया था, परन्तु अब परिवर्तनशील परिस्थिति मे इसका अन्त होना ही लाभकर है और वह शिक्षा प्रसार के साथ होता भी जा रहा है। पर्दा प्रथा के कारण पति स्त्रियो को अपने साथ शहरो में नही ले जाते, फलत: वे दुर्गुणो मे फँस जाती है। इससे सामाजिक बुराइयाँ तो आती हैं, परन्तु साथ ही उनकी आर्थिक शक्ति का भी अपव्यय होता है। पर्दानशीन औरतो को खुली हवा एव स्वच्छ प्रकाश न मिलने से उनकी सन्तान का मानसिक एव शारीरिक विकास प्रभावित होता है, जिससे आर्थिक दृष्टि से देश को कार्यक्षम एव स्वस्थ प्रजा नही मिलती।

बाल विवाह दूसरी सामाजिक कुरीति है, जो शारदा-कानून होने पर भी भारत के गाँवो और शहरो में भी प्रचलित है। हिन्दू समाज मे सन्तानहीन व्यक्ति का (स्त्री अथवा पुरुष का) मुँह देखना भी पाप समझा जाता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति योग्यता एव अयोग्यता का विचार न करते हुए विवाह बन्धन मे पड जाता है तथा विवाह बचपन मे ही हो जाते है। आज भी गाँवो मे तथा शहरो मे बाल विवाह होते हैं। इससे जन-सख्या बढती है तथा अल्पायु मे होने वाली सन्तान का मानसिक एव शारीरिक विकास भी ठीक से नही होने पाता। इसी कारण भारत मे प्रसूति-काल मे स्त्रियो की अधिक मृत्यु होती है तथा बाल मृत्यु की सख्या अन्य देशो की अपेक्षा अधिक है। दूसरे, बचपन मे विवाह होने के कारण स्त्रियो का शारीरिक एव मानसिक ह्रास हो जाता है, जिससे वे कार्यक्षम एव स्वस्थ प्रजनन के लिए अक्षम हो जाती हैं।

यद्यपि शिक्षा-विकास एव समाज सुधारको ने इन प्रथाओ एव कुरीतियो का अन्त करने के लिए प्रयत्न किए हैं, फिर भी अभी तक वाछनीय सफलता नही मिली है। इन कुरीतियो का अन्त होना देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल में समाज की स्थिरता के लिए ये प्रथाएँ आवश्यक थी, इसलिए इनका विकास हुआ। परन्तु अब समाज की स्थिरता एव आर्थिक विकास के लिए इन प्रथाओ का उन्मूलन ही आवश्यक है और इसी मे हमारा आर्थिक एव सामाजिक हित है। इन प्रथाओ के कारण जन सख्या की अधिकता, फिजूल खर्ची, भूमि का टुकडो मे विभाजन, आर्थिक साहस एव विनियोग पूँजी का अभाव, मानसिक एव शारीरिक अस्वास्थ्य आदि आर्थिक दुष्परिणाम देखने को मिलते हैं। इसलिए इन बुराइयों से बचने के लिए इनका या तो अन्त ही हो जाना चाहिए अथवा इनमें इस प्रकार आवश्यक सुधार हो, जिससे इन आर्थिक दुष्परिणामो से देश की रक्षा होकर देश का आर्थिक विकास समुचित रीति से हो सके।

भारतीय दर्शन का आर्थिक परिणाम—

कुछ विद्वानो के अनुसार भारत की आर्थिक अवनति का प्रधान कारण यहाँ की दार्शनिकता और सासारिक जीवन के प्रति हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण है। भारतीय दर्शनो ने पारमार्थिक उन्नति एव पारलौकिक जीवन को महत्त्व दिया है तथा अधि-

रही है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण, सेवाश्रम, आदि के प्रभाव से समाज व्यवस्था बहुत परिवर्तित हो गई है। जनता में भौतिक उन्नति के प्रति उत्साह और आर्थिक लाभ की आशा से कार्य करने की प्रवृत्ति बढ रही है। अब किसी व्यवसाय पर किसी जाति विशेष का एकाधिकार नही है।

साराश यह है कि आज का आर्थिक जीवन, धर्म और समाज से प्रभावित न होकर उनके सुधार करने के लिये प्रयत्नशील है, जिससे हमारी धार्मिक एव सामाजिक सस्थायें आर्थिक विकास के लिए बाधक न होकर पोषक बनें।

द्वितीय खण्ड

भारतीय कृषि

अध्याय ४

ग्राम संगठन—प्राचीन एवं आधुनिक

(Village Organisation—Ancient and Modern)

"यह प्राचीन ग्राम-समाज मनु के समय से आज तक बराबर चला आया है और अनेक राजवंशों तथा साम्राज्यों के पतन के बाद भी जीवित है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

"तीस कोटि सन्तान नग्न तन, अर्धक्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन।
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी।
भारतमाता ग्रामवासिनी।"

—सुमित्रानन्दन पंत।

भारतीय प्राचीन गांव और आधुनिक गांव मे अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन काल मे गांव एक पूर्ण इकाई के रूप मे था, किन्तु आज उसका वह रूप नही रहा, आज प्रत्येक गांव एक बड़ी इकाई का केवल एक भाग है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि प्राचीन गांव अन्य गांवो, कस्बो व शहरो से पूर्ण रूप से पृथक था। अपितु वर्तमान अवस्था के विपरीत प्राचीन काल मे भारतीय जीवन अधिक सहयोगी और प्रजातन्त्रात्मक था। हर गांव अपनी अलग स्थिति रखता था और दैनिक आवश्यकताओ के लिए वह बाहरी दुनियां पर निर्भर नही था। अपनी उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुएं वह स्वय पैदा करता था और उपभोग के बाद जो कुछ बचता था उसे विशेष अवसरो के लिए भण्डारो मे जमा करता था। खाद्य पदार्थ केवल उसी मात्रा में बाहर भेजे जाते थे जितना सरकारी और अन्य सरकारी कार्यों के लिए आवश्यक होते थे। इसमें से भी अधिकतर भाग सरकारी आज्ञानुसार गांव में ही सरकारी कर्मचारियो मे वितरण के लिए जमा रखा जाता था। गांव में भोज्य पदार्थो के अलावा कपास भी प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होती थी। खेतो से कपास चुनने के पश्चात् औरतें घर पर उसकी रुई निकाल लेती थी और फिर सूत कातती थी। इसी सूत से गांव के जुलाहे कपड़ा बुनते थे। इस प्रकार कपड़ा तैयार होने पर स्थानीय दर्जी या घर की स्त्रियो द्वारा उसकी साधारण पोशाकें तैयार की जाती थी। यदि रंगीन कपड़े की आवश्यकता होती तो रंगरेज द्वारा सूत या कपड़ा रंगवा लिया जाता था। यह सही है कि किसानो को जो कपड़ा उस समय मिलता था वह आज की भांति अच्छी किस्म, रंग और डिजाइन का नही होता था फिर भी उन्हे आवश्यकता के अनुसार प्रचुर मात्रा मे कपड़ा मिल जाता था।

भूमि का विभाजन—

उस समय प्रत्येक गाँव की सीमा होती थी और वहाँ की सम्पूर्ण भूमि पर गाँव वालो का सामूहिक अधिकार था, व्यक्तिगत स्वामित्त्व की प्रथा न थी। गाँव के बूढे लोग वहाँ रहने वाले परिवारो की आवश्यकतानुसार भूमि का बँटवारा कर देते थे। जमीदारी प्रथा से लोग पूर्ण अनभिज्ञ थे और खेती मे किसी का भी विशेषाधिकार मान्य नही था। भूमि गाँव की सामूहिक सम्पत्ति होती थी और उसका वितरण वहाँ के परिवारो मे एक निश्चित अवधि के लिए होता था। पशुओ के चरने के लिये बडे बडे चरागाह रखे जाते थे और उनकी नस्ल पर पूरा ध्यान दिया जाता था। दूध व दूध सम्बन्धी वस्तुएँ बच्चे व बूढे, किशोर व नौजवान, अपग और सहायक आदि प्रत्येक के लिए प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होती थी। वनस्पति घी और ऐसे अन्य पदार्थ न तो मिलते ही थे और न बाहर से मगवाये ही जाते थे। दूध देने वाले पशुओ को बाहर शहर मे नही भेजा जाता था, जिससे वे कसाईखाने के शिकार नही हो सकते थे। यद्यपि यह सही है कि पशुओ का उस समय बाहर भेजना आसान न था, गमनागमन मे कई दिक्कतें थी। कोई ग्रामवासी उस समय जनमत की अवहेलना नही कर सकता था। अगर कोई व्यक्ति पशुओ का ठीक रीति से पालन नही कर सकता था या नस्ल को खराब कर देता था तो ग्राम समाज उसको सहन नही कर सकता था। प्रत्येक गाँव धन-धान्य से पूर्ण था, प्रकृति दयावान थी। उन्हे खेतो को तीन वर्षो मे एक वर्ष से अधिक जोतने की आवश्यकता न थी। यहा यह मान लेना असगत न होगा कि अकाल के समय किसी भी तरह की बाहरी सहायता मिलना सम्भव नही था। दूर के स्थानो से नाज लाना अत्यन्त कठिन था, कि तु अकाल की जो अवस्थाएँ आज हम देखते हैं वे शायद उन्हे कभी अनुभव ही नही करनी पडी थी। यदि कभी अनाज की कमी हो भी जाती तो वे लोग इतना अनाज इकट्ठा रखते थे कि आसानी से उस कठिनाई को पार किया जा सके। पैदावार का एक निश्चित भाग राजा को दिया जाता था और कुछ भाग मन्दिरो, शिक्षा सस्थाओ व सामाजिक अवसरो के लिये रखा जाता था।

गाँव की आवश्यकताएँ—

गाँव की अन्य आवश्यकताएँ बहुत ही साधारण और कम थी, जिनकी पूर्ति स्थानीय-वस्तुओ से आसानी से हो जाती थी। उनकी पूर्ति के लिए कभी बाहर नही देखना पडता था। कुम्हार तालाब से मिट्टी खोद कर अपने चक्के पर बर्तन बना लेता था, फिर उन्हे आग मे पका कर गाव वालो की पूर्ति कर देता था, किन्तु उसे कभी नकद पैसा नही मिलता था, क्योकि वह भी एक गाँव का सदस्य होता था, अत उसे फसल पर उसके परिवार के पोषण के लिए काफी अनाज दे दिया जाता था। मृत जानवरो की खाल को उतारने का काम चमार करता था और उसका चमडा बना कर जूते व अन्य वस्तुयें तैयार करता था। धोबी अपने साधारण ढङ्ग से गाँव वालो के कपडे साफ कर लाता था। तेली तेल निकाल देता और इस तरह वह भी एक जरूरी आवश्यकता को पूरी कर देता था।

चोकीदार—

चौकीदार गाँव का वैतनिक नौकर होता था। वह गाँव मे शान्ति और व्यवस्था, चोरी व डकैती और हत्या आदि बातो के लिए जिम्मेदार था। यदि गाव में किसी के यहाँ चोरी हो जाती तो उसके लिये उसे जिम्मेदार होना पडता था और जितना भी नुकसान होता उसे स्वय पूरा करना पडता था। उसे मुखिया की आज्ञा का पालन करना होता था और जब कभी उसे पचायत बुलाने का आदेश दिया जाता, तो वह पचो को बुलाकर इकट्ठा करता था। इन सेवाओ के बदले मे उसे कुछ जमीन दी जाती थी, जिस पर कर नही लिया जाता था, बल्कि वह ग्राम कोप से चुकाया जाता था।

पटवारी—

पटवारी या गाँव का खजाञ्ची व्यवस्थित रूप से गाँव का हिसाब रखने के लिए जिम्मेदार होता था। वह कृषि योग्य भूमि के टुकडो तथा खेती करने वाले किसानो आदि का लेखा रखता था। सम्मिलित कोप तथा राजा को दिए जाने वाले कर का हिसाब भी वह रखता था। उसे खेती करने के लिये कुछ भूमि मिलती थी और फसल पर कुछ अनाज दिया जाता था।

वास्तव मे गाँव का काम चलाने में ये ही व्यक्ति मुख्य होते थे। इनकी नियुक्ति गाव के लोगो द्वारा होती थी, अत स्वाभाविक रूप से इन्हे गाँव के लोगो के प्रति वफादारी के साथ काम करना पडता था। दूसरे रूप मे वे प्रजा के सेवक थे, जो प्रजा द्वारा चुने जाते थे और वफादारी के साथ जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाते थे। गाँवो मे निम्न प्रकार के व्यवसायी रहते थे, जैसे—कुम्हार, मोची, धोबी, नाई, तेली, लुहार, सुनार, बढई, ग्वाला, वैद्य, सगीतकार इत्यादि।

चौकीदार, मुखिया और पटवारी गाँव के मुख्य स्तम्भ होते थे। मुखिया या सर-पच गाँव की सरकार का प्रमुख व्यक्ति होता था। चौकीदार उसके आधीन नौकर होता था और पटवारी उसको गाँव का हिसाब तथा अन्य रेकार्ड रखने मे सहायता देता था। प्रत्येक गाँव में एक पचायत थी, जिसके आधीन ये तीनो अधिकारी प्रजा के सेवक की भाँति काम करते थे।

मुखिया और उसकी नियुक्ति—

मुखिया का एक विशिष्ट स्थान होता था और गाँव के लोग यह स्थान उसी को देते थे जो लोकप्रिय होता था था। मुखिया का चुनाव सारे गाँव की जाति मिल कर करती थी और जब कभी वह लोगो का विश्वास खो देता तो उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति चुन लिया जाता था। लेकिन यह स्थान ऐसा नही था जिसके पीछे लोग मत प्राप्त करने के लिए आज की भाँति उचित और अनुचित साधन काम में लाते। यह श्रेय तो केवल उसी को प्राप्त होता था जिसे सब लोग चाहते हो। अधिकाश मत प्राप्त करना कोई महत्त्व नही रखता था। चुनाव की पद्धति तथा उसकी

अनुकूलता को देखने के लिये किसी बाहर के व्यक्ति की आवश्यकता नही होती थी। गाँव वाले स्वय यह भली प्रकार जानते थे कि हमे इस उच्च स्थान के लिए किसे चुनना है ?

मुखिया की न्याय-प्रियता हमेशा सशय से परे होती थी। इस पद के लिये मजिस्ट्रेट की आज्ञा या पुलिस अधिकारी की सिफारिश भी कुछ काम नही देती थी। बडे बडे आदमियो का पक्ष प्राप्त कर लेना व्यर्थ था। उसका चरित्र ही उसका सबसे बडा सहयोगी होता था और इसी से वह हर परिस्थिति मे अपने आपको सही मार्ग पर चला पाता था। उसके कर्त्तव्य भी उतने ही विशाल होते थे। छोटे-छोटे मामलो का निपटारा तो वह स्वय ही बिना किसी कानूनी रूप और कोर्ट फीस के हल कर देता था। उस समय की शासन व्यवस्था की सफलता और सुखी जीवन का कारण यह था कि लोग अपने अधिकारो की अपेक्षा कर्त्तव्यो का अधिक ध्यान रखते थे।

प्राचीन गावो की व्यवस्था के बारे मे मुख्य बात यह है कि सभ्यता के उदय के उन दिनो मे जब मानव मस्तिष्क का पूर्ण रूप से विकास भी नही हो पाया था, भारतीय गाँवो के प्राचीन निवासी अपने गाँव की व्यवस्था इस कलात्मक ढङ्ग से कर लेते थे कि जिसे जान कर आश्चर्य होता था। समस्त झगडो का निपटारा, चाहे वे सामाजिक, धार्मिक, दीवानी, फौजदारी और कर सम्बन्धी कैसे भी क्यो न हो, लोग स्वय बैठ कर कर लेते थे। उन्हे वकीलो व वर्तमान खर्चीली न्याय व्यवस्था की कभी आवश्यकता ही नही हुई।

ग्राम पंचायतें—

ग्राम पचायतें अपना कार्य भिन्न-भिन्न समितियो द्वारा किया करती थी, लेकिन आज हमारे पास उनका कोई विवरण नही है। फिर भी चिंगलपुर जिले के एक गाँव के मन्दिर मे प्राप्त दो शिला लेखो के विवरण के अनुसार ६ कमेटियाँ होती थी — (१) वार्षिक कमेटी, (२) उपवन कमेटी, (३) तालाब कमेटी, (४) स्वर्ण कमेटी, (५) न्याय कमेटी तथा (६) अन्तिम पचवरा कमेटी। अन्तिम कमेटी का कोई स्पष्टीकरण नही दिया गया, फिर भी उसके दो अर्थ लगाये जाते हैं (अ) यह ग्राम निरीक्षण के लिए थी और (ब) यह विशेष प्रकार के कर एकत्रित करने के लिए होती थी।

इन कमेटियो के सदस्यो का चुनाव साधारण सभा द्वारा किया जाता था, जिसमें बच्चे व बूढे सब शामिल होते थे। परन्तु मताधिकार केवल युवक लोगो को ही होता था। इस प्रकार सारी व्यवस्था एक प्रजातन्त्रात्मक ढङ्ग पर आधारित थी। यह हो सकता है कि जो तरीके अपनाये गये थे वे इतने स्पष्ट और निश्चित नही थे जैसे आज हैं। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि प्रजातन्त्र व चुनाव की मुख्य बातें विधान में भली-भाति विद्यमान थी। चुनाव का ढङ्ग बहुत ही रुचिकर होता था, उसके विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में गाँव के लोग

प्रजातन्त्र तथा सरकार के वर्तमान तरीकों से बिल्कुल अनभिज्ञ न थे। "एक गाँव जिसमें १२ गलियाँ होती उसे ३० वार्डों में बाँटा जाता था, फिर जो व्यक्ति इन वार्डों मे रहते थे वे एक टिकट पर अपना नाम लिखा देते थे। पहले टिकट वार्डों के अनुसार अलग-अलग बण्डल में जमा किये जाते, फिर हर एक बण्डल पर वार्ड का नाम लिख दिया जाता था। फिर बण्डल इकट्ठे कर उन्हे एक घडे मे रख कर ग्राम सभा के सामने रखा जाता था। एक पुरोहित घडे को लेकर खडा हो जाता था, जिससे कि सब लोग उसे देख सकें। वह एक किशोर बालक को उस घडे मे से एक बण्डल निकाल लेने के लिए अपने पास बुलाता था। इस बण्डल में जो भी टिकट होते वे फिर दूसरे घडे में रख दिए जाते थे। इसके पश्चात् वह लडका उस घडे मे से एक टिकट निकाल कर एक अधिकारी के हाथ मे दे देता था जो अपने हाथ को पाचो अँगुलियाँ फैलाकर उसे ग्रहण करता था। वह फिर उस टिकट का नाम पढ कर सुना देता था। तब पुरोहित सारी सभा मे उसकी सूचना कर देता था। इस प्रकार हर एक वार्ड का प्रतिनिधित्व करने वाले तीस नाम छाटे जाते थे। तीस में से १२ वार्षिक कमेटी, १२ उद्यान कमेटी और ६ तालाब कमेटी के लिए नियुक्त कर दिये जाते थे।"*

पंचों की योग्यताएँ—

उक्त कमेटियो के लिए गाँव के हर एक व्यक्ति को नही चुना जाता था। केवल योग्य व्यक्ति ही इसमे लिए जाते थे। पुरुषो तथा स्त्रियो के लिए सदस्यता खुली थी। पचो की योग्यताएँ निम्न प्रकार निश्चित होती थी.—(१) उसके पास गाँव की एक-चौथाई से भी अधिक भूमि हो, जिसका वह कर देता हो। (२) उसके पास अपने ही मुहल्ले मे मकान होना आवश्यक है। (३) उसकी उम्र ७० वर्ष से कम और ३५ वर्ष से अधिक होनी चाहिए। (४) उसे मन्त्रो और ब्राह्मणो के बारे मे ज्ञान होना चाहिए। विशेष धार्मिक पुस्तको का ज्ञान होने पर सम्पत्ति सम्बन्धी कई अयोग्यताएँ दूर हो सकती थी। (५) उसका व्यापार से परिचित होना जरूरी था। (६) उसका भाग्यशाली होना तथा उसकी आय ईमानदारी की आय होना आवश्यक थी। (७) जो व्यक्ति पिछले तीन वर्ष किसी भी कमेटी में न रहा हो। (८) जो पहले सदस्य रह चुका हो, लेकिन उचित हिसाब न रख सका हो, उससे सब सम्बन्ध हटा लिए जायँ। (९) जो व्यक्ति किसी विशेष दोष के अपराधी हो, वे चुनाव मे नही लिए जा सकते थे।

यहा इन कमेटियो के कार्य के बारे में विस्तृत प्रकाश डालना असङ्गत होगा, लेकिन इतना तो सही है कि इन कमेटियो की नियुक्ति गाँव की तमाम गति विधियो तथा समस्याओ का समाधान करने के हेतु ही होती थी। उन्हे ही इन छोटे गण राज्यो की व्यवस्था का ध्यान रखना पडता था। भिन्न-भिन्न बातो का निर्णय या तो अलग-अलग

---

* The Villa Government in British India.

कमेटियो द्वारा होता था या पचायतो द्वारा जो इसी काम के लिए बुलाई जाती थी। अगर किसी काम को पूरा करने में कोई कठिनाई होती थी तो मुखिया द्वारा गाँव के योग्य, अनुभवी व्यक्तियो को बुला लिया जाता और उनकी सलाह से निर्णय दिया जाता था। निर्णय करने का ढङ्ग ऐसा नही था जैसा कि आजकल बहुमत द्वारा होता है। बहुमत के विपरीत वे लोग सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करते थे और इसमे प्राय वे सफल भी होते थे।

पचायत द्वारा दी गई आज्ञाओ और सजाओ को मूर्त रूप देने के लिए उन दिनो जेलो एव अधिक कर्मचारियो की आवश्यकता नही थी। अपराधी स्वय अपना दोष स्वीकार कर पचायत द्वारा दी गई आज्ञाओ का पालन करते थे। यह उस समय के उच्च सामाजिक सगठन का परिणाम है। उस समय एक अपराधी के लिए सबसे बडी सजा यही होती थी कि समस्त गाँव का समाज उसका सामूहिक रूप से बहिष्कार करे। जो अपराधी गाँव के समाज का निर्णय नही मानता था, उसे 'ग्राम द्रोही' कहा जाता था। इस प्रकार यह सजा उस समय की सबसे बडी सजा होती थी। जो व्यक्ति समस्त गाँव के जनमत का निरादर करता था उसे जाति से अलग कर दिया जाता था और कुछ विशेष धार्मिक विधियो पर रोक लगा दी जाती थी। इन सामाजिक बन्धनो और निष्कासन से वह थोडे ही समय मे ऊब जाता था और अन्त मे उसे गाँव के अधिकारियो के सामने झुकना पडता था। उस समय जातीय कर्त्तव्य और जनमत के प्रति आदर की भावना इतनी उच्च थी कि नियम भङ्ग करना कोई जानता ही न था और पञ्चायत की आज्ञाओ का पालन बिना किसी कठिनाई के हो जाता था।

पचायत के अन्य कार्य—

पचायतो का काय न्याय सम्बन्धी शासन तथा सामाजिक झगडो के निर्णय करने तक ही सीमित नही था अपितु वे गाँव की सफाई की ओर भी ध्यान देती थी और व्यापक रोगो को दूर करने मे भी कम सहायक न थी। गाँव मे स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होती थी और इसीलिए गाँव की गलियो की सफाई तथा कूडा करकट को दूर फेंकने के लिये महतरो का उपयोग किया जाता था। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी तो उसको जलाया जाता था, क्योकि आरोग्यता की दृष्टि से यह व्यवस्था ही सबसे उत्तम थी। मुर्दो को जलाने का स्थान गाँव से काफी दूर या नदी के किनारे रखा जाता था। जानवरो की मृत देहो को भी चमार लोग गाँव से दूर ले जाते थे और वे उनका चमडा उतार कर जाति के उपयोग के लिए प्रदान करते थे। यद्यपि आज वे सब व्यवस्थायें हैं, किन्तु गाव का वह सहयोगी जीवन नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिये तालाबो को खुदवाना, कुँए बनवाना और गाँव की सब सडको को व्यवस्थित रखने का कार्य भी गाँव की जाति द्वारा ही किया जाता था।

यह विवरण पचायतो के काम तथा उनके उद्देश्य प्राप्ति के साधनो की झलक देता है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि प्राचीन काल मे ऐसी कौनसी शक्ति थी,

जिसने इस सामाजिक सस्था को अक्षुण्य बनाये रखा और किस प्रकार गाँव के लोग एक सूत्र मे बँध कर सहयोगी जीवन बिता सके। उत्तर हम आरम्भ में ही दे चुके हैं कि उस युग के लोगो मे एक मूल भावना यह भरी हुई थी कि वे हमेशा अपने व्यक्तिगत लाभ के विपरीत समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो पर अधिक ध्यान दे। फिर भी एक जाति जो व्यक्तिगत अधिकारो के प्रति उदार भावना लेकर अपने आपसी कर्त्तव्यो को ईमानदारी के साथ पूरा करने को तत्पर रहे वह क्या नही कर सकती। इसी भावना से वे विश्व के इतिहास में आश्चर्यजनक कार्य कर सके हैं।

दूसरी भावना जो ग्राम निवासियो के जीवन को प्रभावित करती थी, वह थी कि ईश्वर ही उनके भाग्य का निर्णय करता है। चूँकि पचो मे ईश्वर की शक्ति निवास करती है, अत उनके हाथो मे अपना भाग्य सुरक्षित है। यही एक कारण है कि आज भी समस्त देश मे लोग पचायत को बडी आदर की दृष्टि से देखते हैं और जब कभी उसके सामने जाते हैं तो पूर्ण सच्चाई का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा एक और भी कारण है जो पचायत की सफलता के लिए विशेष था। उस समय की पचायतें प्राय॰ एक ही स्थान की जनता द्वारा बनाई जाती थी, अत॰ सब लोग एक दूसरे से भली प्रकार परिचित होते थे। इसलिये जब कोई भी मामला पचायतो के सामने आता तो उसकी सच्चाई वे सरलता से मालूम कर लेते थे और जब एक बार सच्चाई प्रकट हो जाती है तो फिर न्याय करने मे तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता नही रहती थी।

गाँवो का स्वावलम्बन—

रेल व सडकें बनने से पहले गाव वालो का बाहर से बहुत कम सम्बन्ध था। उनकी आवश्यकताएँ सीमित थी, जिनकी पूर्ति गाँवो मे ही हो जाती थी। कभी-कभी किसी मेले या बाजार से कुछ विलासिता की चीजें या नमक आदि ऐसी वस्तुएँ, जो गाँव मे नही मिलती थी, खरीद ली जाती थी।

आवागमन के साधनो के अभाव मे गाँवो का स्वावलम्बन और उनका एकाकी-पन अनिवार्य था। १६ वी शताब्दी के मध्य तक भारत में आवागमन के मार्गों में केवल गगा और सिंधु नदियाँ मुख्य थी। कुछ सडकें थी, परन्तु वे कच्ची थी, जिन पर बरसात मे बैलगाडियो का आना-जाना बडा कठिन था। नदियो पर पुलो का अभाव था, इसलिए बरसात मे उन्हे पार करना एक कठिन समस्या थी। सडको पर यातायात की कठिनाई इससे और भी बढ जाती थी कि वे सुरक्षित नही थी। उन पर प्राय॰ चोर और डाकुओ के अड्डे हुआ करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी सडको के बनाने या उनकी मरम्मत कराने की ओर ध्यान नही दिया, क्योंकि उसका काम तो व्यापार करना और अपने हिस्सेदारो को अधिक से अधिक लाभाश देना था, अतएव आवागमन की कठिनाइयो के कारण आन्तरिक व्यापार की वृद्धि होना कठिन था। इससे हर एक गाँव को स्वावलम्बी होना पडता था। साधारणत गाँव वालों का एकाकीपन उनके

सुख समृद्धि मे सहायक था, परन्तु दुर्भिक्ष के समय उन्हे बाहरी सहायता की आवश्यकता पडती थी, जो यातायात के साधनो के अभाव मे कठिनाई से पहुँच पाती थी। फलस्वरूप गाँव के बहुत से निवासी काल के गाल मे चले जाते थे। यही कारण था कि एक गाँव से दूसरे गाँव के मूल्य मे बहुत अन्तर रहता था। गाँव वालो की आवश्यकतायें जीवनोपयोगी साधारण वस्तुओ तक ही सीमित थी। इसी से गाँव के शिल्पी भी साधारण कोटि की चीजे ही बनाया करते थे और उनके धन्धो मे श्रम विभाजन का अभाव था। प्राचीन काल मे भारत की जिस शिल्प कला की इतनी प्रशसा की जाती है वह नगरो मे पाई जाती है, गाँव मे नही।

मुद्रा का अभाव—

प्राचीन गाँव सगठन की विशेषता मुद्रा का अभाव थी। स्वावलम्बन के कारण विनिमय बहुत कम होता था। हर एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति या तो स्वय करता था या दूसरो को अन्नादि देकर उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तुयें ले लेता था। अतएव प्रत्यक्ष विनिमय का बाहुल्य था और मुद्रा की आवश्यकता कम पडती थी। मुद्रा की आवश्यकता केवल राज-कर देने मे होती थी, जो प्राचीन काल मे उपज के रूप मे ही लिया जाता था। अँग्रेजी राज्य की स्थापना से जब मुद्रा के रूप मे भूमि कर देना अनिवार्य हो गया तब कृषक को अपनी उपज सस्त दामो मे बेचकर लगान जमा करना पडता था। ऐसे अवसरो पर व्यापारियो की बन आती थी, क्योंकि वे मनमाने भाव पर किसान की उपज खरीदते थे और किसान को आवश्यकता उसे सस्ता बेचने को बाध्य करती थी। फिर भी वस्तुओ का भाव प्राय परम्परा से निश्चित होता था। प्रतियोगिता का अभाव और रूढि की प्रबलता थी, श्रम की अगतिशीलता और कूप-मडूकता भी ग्राम सगठन की विशेषतायें थी।

रूढ़ि और परम्परा का आर्थिक जीवन पर प्रभाव—

ग्राम्य आर्थिक जीवन मे रूढि और परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रतियोगिता के अभाव मे परम्परागत नियमो का पालन होना स्वाभाविक ही था। किसान जो लगान बहुत दिनो से देता आ रहा था उसमे जमीदार वृद्धि नही करता था। इसी प्रकार जमीदार जो भेट बेगारी आदि किसान से लेता था उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता था। आजकल की भाँति न तो किसान जमीदार के विरुद्ध आवाज उठाता था और न जमीदार ही लगान बढाने के लालच से एक किसान से जमीन लेकर दूसरे को देता था। इसका कारण यह भी था कि देश की जन-सख्या कम और भूमि पर्याप्त थी, इसलिए भूमि के लिए किसान उतने उत्सुक नही थे जितने आज है। इस कारण उनमे प्रतियोगिता नही थी। उस अशान्ति और अव्यवस्था के युग मे किसान और जमीदार का मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक भी था, क्योकि एक को दूसरे के सहयोग की आवश्यकता थी। किसान की आवश्यकता जमीदार को इसलिए थी कि लडने के लिए सेना की आवश्यकता पडती थी और किसानो मे से ही

सैनिक आते थे। उधर किसान भी जानता था कि जमींदार ही हमारे जान माल का रक्षक है। उसकी शक्ति और समृद्धि मे ही हमारी समृद्धि है। इसी से वह जमींदार की आज्ञा मानने को वाध्य था।

इस प्रकार मजदूरी भी परम्परा से चली आती थी। देहातो में जो मजदूर काम करते थे उन्हे मजदूरी अन्न के रूप में मिलती थी। अन्न की मात्रा निश्चित् थी और परम्परा से चली आती थी। भिन्न भिन्न कार्यों के लिए विभिन्न दर थी, जैसे खेत जोतने, काटने, पानी चलाने आदि के लिए अलग-अलग दर निश्चित थी। ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ वर्ग के लोगो को, जैसे कुम्हार, लोहार, बढई आदि को फसल काटने पर अन्न दिया जाता था, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सेवाओं के लिए भी फसल काटने पर अन्न दिया जाता था, जैसे नाई, धोबी, पानी भरने वाले कहार, चमडे का सामान देने वाला मोची आदि। बहुत से भागो मे अब भी यह प्रथा चली आती है और परम्परागत मजदूरी अन्न के रूप मे दी जाती है। इसमें एक सुविधा यह थी कि मुद्रा का मूल्य चढने या गिरने से मजदूर पर कोई प्रभाव नही पडता और मजदूर की ओर से मजदूरी बढाने की माँग भी नही होती। वस्तुओ का मूल्य भी परम्परागत था। प्रतियोगिता का अभाव होने के कारण हर एक चीज का निश्चित् मूल्य चला आता था। उसमे परिवर्तन की आवश्यकता नही समझी जाती थी, क्योंकि मूल्य मुद्रा मे नही चुकाया जाता था। प्रत्यक्ष विनिमय की प्रधानता थी, इसलिए किसी वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु की निश्चित संख्या या मात्रा दी जाने की प्रणाली थी और उसमे परिवर्तन नही होता था। परन्तु मूल्य की यह परम्परा भिन्न-भिन्न स्थानो या प्रान्तो के लिए भिन्न-भिन्न थी। सारे देश मे एक मूल्य कभी न था, क्योंकि देश के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने की कठिनाई थी। परम्परागत मूल्य मे कभी-कभी परिवर्तन भी होता था, परन्तु ऐसा तभी होता था जब दुर्भिक्ष, महामारी या किसी प्रकार की दैवी आपदा के कारण माँग और पूर्ति के अनुपात में अन्तर हो जाता था।

नगर—

जन गणना के अभाव मे यह कहना कठिन है कि जन-संख्या का कितना प्रतिशत नगरो में और कितना गाँवो मे बसता था, परन्तु १९ वी शताब्दी के आरम्भ मे अनुमानतः १० प्रतिशत जन-संख्या नगरो मे बसती थी। यह ध्यान मे रहे कि उन दिनो यहाँ पर उद्योग-धन्धे केवल नगरो में ही केन्द्रित नही थे, वरन् गावो की जनता मे भी शिल्पी थे, जिनकी जीविका उद्योग-धन्धो से चलती थी। खेती पर निर्भर रहने वालो की संख्या ६० प्रतिशत से अधिक नही थी।

उन दिनो के प्रमुख नगर या तो तीर्थ स्थानो मे, जैसे—काशी, प्रयाग, गया, पुरी इत्यादि या राजधानी मे थे, जैसे—दिल्ली, लखनऊ, आगरा, लाहौर, पूना इत्यादि। ये व्यापारिक केन्द्र थे, जैसे—मिर्जापुर, मदुरा, बगलोर इत्यादि। इनमे से तीर्थ-स्थानो में केवल पडे या तीर्थ-यात्रियो की ही वस्ती नही थी, वरन् व्यापारी और शिल्पी भी

वहुत थे, जैसे—वनारस मे पीतल और ताबे के वर्तन भी वनते थे, जो तीर्थ-यात्रियो की आवश्यकता की पूर्ति करते थे। राजधानियो वाले नगर भी कम महत्त्वपूर्ण नही थे। राजाओ और नवावो का आश्रय पाकर अनेक शिल्पी वहाँ वसते थे, जो अपनी अपूर्व कला का वरावर प्रदर्शन करते रहते थे। भारतवर्ष की जो प्राचीन कलायें समार भर में प्रसिद्ध थी उनके प्रोत्साहन का पूरा श्रेय इन राजाओ और नवावो को ही था। अग्रेजी राज्य की स्थापना से ज्यो ज्यो उनका पतन होता गया त्यो-त्यो ये नगर उजडते गए। विजयनगर, बीजापुर, मुर्शिदावाद, देवगिरी, ढाका आदि नगरो का ह्रास इन्ही कारणो से हुआ।

नगरो का जीवन देहाती जीवन से भिन्न था। नगरो के लोग उद्योग धन्धो और व्यापार से अपनी जीविका चलाते थे। उनमे शिल्पियो के सघ थे, जिनका सगठन वहुत अच्छा था। प्रत्यक्ष विनिमय कम था और मुद्रा का व्यवहार अधिक होता था। साख-पत्रो में हुन्डी का प्रचार अधिक था। देश के एक कोने मे दूसरे कोने तक रुपये का लेन-देन हुन्डियो से होता था। इससे व्यापार मे वडी सुविधा थी और महाजनी प्रथा का पर्याप्त विकास हो चुका था,

ग्राम्य जीवन मे परिवर्तन के कारण (Village in Transition)—

ग्राम्य जीवन मे धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया, जिसके निम्न कारण थे —

(१) देश के शासन का केन्द्रीयकरण—अग्रेजी राज्य की स्थापना होने पर ग्राम पचायतो का महत्त्व जाता रहा। अनेक न्याय सम्बन्धित अधिकार आधुनिक युग की कचहरियो और न्यायालयो ने ले लिये। पुलिस कर्मचारियो ने रक्षा तथा अपराधियो का पता लगाने का काम अपने हाथ मे लिया। इस प्रकार मालगुजारी वसूल करने का काम जो गाँव का मुखिया या जमीदार करता था, अब सरकारी कर्मचारी करने लगे। सक्षेप में, पञ्चायतो को किसी प्रकार के अधिकार नही रहे अतएव धीरे-धीरे उसका लोप हो गया। यह सच है कि अंगरेजी राज्य की स्थापना के पूर्व देश मे शान्ति और सुव्यवस्था का अभाव था। केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली नही थी और आवगमन के साधन भी नही थे। इन्ही कारणो से ग्राम-पञ्चायतों की दृढता और शासन का केन्द्रीयकरण अनिवार्य था।

(२) व्यक्तिवाद की वृद्धि—अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व समूह का अधिक प्रचलन था। सम्पति पर अधिकार सामूहिक अधिकार था। गाँवो मे भूमि पर ग्राम-वासियो का सम्पूर्ण सयुक्त अधिकार था। अतएव व्यक्तिवाद का प्रचलन नही था। अग्रेजी राज्य मे व्यक्तिगत अधिकार की प्रधानता स्वीकार की गई और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति समूह से पृथक करने की स्वतन्त्रता दी गई। अतएव ग्राम सगठन की नीव हिल गई। सामूहिक सम्पत्ति का लोप हो गया और भाईचारे का सम्बन्ध भी समाप्त हो गया।

(३) आवागमन के साधनो मे क्राँति—रेल और सडको के निर्माण से

आवागमन की सुविधायें बढ गई, जिससे एक गाँव का दूसरे गाँव से सम्बन्ध बढने लगा। इतना ही नही, गाँवो का सम्बन्ध नगरो से भी बढ गया और गाँव का जीवन नगर से प्रभावित हुए विना न रह सका। ग्राम का एकाकीपन नष्ट हो गया और वे बाहरी विश्व के सम्पर्क मे अधिकाधिक आने लगे। फलतः प्राचीन ग्राम सगठन अस्तव्यस्त हो गया।

ग्राम्य जीवन मे इन कारणो से निम्न परिवर्तन हुए:—

(१) ग्रामों का स्वावलम्बन नष्ट होना—

ग्राम-सगठन के टूटने का सबमे बडा परिणाम यह हुआ कि गाव का स्वावलम्बन नष्ट हो गया। अब उसकी आवश्यकता की सभी वस्तुयें बाहर से आती हैं। धीरे-धीरे रहन सहन का ढग भी परिर्वातित हुआ है और जीवन का स्तर ऊँचा उठता जा रहा है। दूसरी ओर ग्राम केवल अपनी आवश्यकता की ही वस्तुयें नही उत्पन्न करता, वरन् बाजार की माँग के अनुसार दूसरो की आवश्यकता के लिए भी चीजें उत्पन्न करता है। ग्राम का एकाकीपन नष्ट होने से दुर्भिक्ष की तीव्रता कम हो गई। अब देश के एक भाग में अन्न की कमी होने पर दूसरे भाग से या विदेश से अन्न मँगा कर उसकी पूर्ति की जाती है, जिससे मनुष्यो की प्राण हानि कम होती है। देश के विभिन्न भागो मे जो विभिन्नता रहती थी वह भी अब कम हो गई है। ग्राम सगठन के टूटने से मुद्रा का अधिकाधिक प्रयोग भी होने लगा है। प्रत्यक्ष विनिमय का लोप हो रहा है और परम्परागत मूल्य, मजदूरी आदि के बदले देश के अन्य भागो में समान मूल्य का प्रचलन हो गया है। यातायात के साधनो की वृद्धि से गाँवो की जनता गतिशील हो गई है। अब लोग घर का मोह छोड कर जीविका की खोज मे दूर-दूर जाने लगे हैं, सम्मिलित कुटुम्ब टूटने लगा है और जाति-प्रथा की कट्टरता कम होने लगी है। जो गाव नगरो के समीप हैं वहाँ के निवासी नगर मे काम करके आय बढा लेते हैं। इस प्रकार ग्राम-सगठन के टूटने से लोगो की आर्थिक दशा मे सुधार भी हुआ है।

(२) ग्रामीण व्यवसायो और धन्धो मे परिवर्तन—

(१) कृषि—ग्रामीण व्यवसायो मे सबसे मुख्य कृषि है, अतएव पहले उसी पर विचार करना आवश्यक है। खेती के ढङ्ग मे तो कोई परिवर्तन हुआ नही। वही पुराना हल और वही पुराना ढङ्ग अब तक चला आ रहा है। कृषि विभाग और सहकारिता विभाग के प्रयत्नो के फलस्वरूप कुछ नए औजार और बीजो का प्रचार हुआ है। खाद बनाने का ढङ्ग भी कुछ सुधरा है और रसायनिक खादो का उपयोग बढ रहा है, परन्तु अभी तक देश के अधिकाँश भागो मे पुराना ढङ्ग ही प्रचलित है।

भारतीय कृषि मे जो परिवतन देखने मे आ रहे हैं। वे निम्न प्रकार के हैं—
(क) कृषि का व्यवसायीकरण, (ख) किसानो की बेदखली और उनकी भूमि का महाजनो के हाथ मे जाना, (ग) भूमि का बँटवारा और बिखरी खेती तथा (घ) मजदूरों की कमी और नगरो की वृद्धि।

(क) कृषि के व्यवसायीकरण का मुख्य कारण यातायात के साधनो की वृद्धि है। स्वेज नहर के बन जाने से इगलैंड से व्यापार अधिक होने लगा है, जिससे यहाँ की उपज अधिकाधिक मात्रा में निर्यात होने लगी। सन् १८६१ के लगभग अमेरिका मे गृह युद्ध छिड जाने से वहाँ की रुई का निर्यात बन्द हो गया, अतएव लङ्काशायर की मिलो को मिश्र और भारत से रुई मँगाना आवश्यक हो गया। रुई का भाव चढ गया और कपास उत्पन्न करने वाले देश सम्पन्न हो गये। तिलहन की माँग भी विदेशो मे बढ रही थी, अतएव विदेशी बाजार की माग की पूर्ति करने में भारत के किसान अधिक तत्पर हुए। उधर पजाब और उत्तर-प्रदेश आदि मे नहरो का विस्तार होने से खेती की उन्नति होने लगी और अखाद्य पदार्थों की खेती दिन पर दिन बढने लगी। उपज का स्थानीयकरण भी होने लगा। बम्बई और बरार मे रुई, मध्य प्रान्त मे कपास और तिलहन, पजाब मे गेहूँ, उत्तर-प्रदेश मे गन्ना और बगाल मे पटसन की खेती का अधिक प्रचार होने लगा। सक्षेप में, अब किसान अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति प्रत्यक्ष नही वरन् अप्रत्यक्ष रूप से करता है। अब वह जिसमे लाभ देखता है वही फसल बोता है और नगद दाम पाने पर आवश्यकता को अन्य वस्तुएँ मोल ले लेता है।

मुद्रा के अधिकाधिक व्यवहार के फलस्वरूप अब किसान को लगान, कर, सूद, मजदूरी आदि मुद्रा मे ही देना पडता है, जिससे उसे अपनी फसल की उपज बेचने को बाध्य होना पडता है। अतएव अन्न का लेन-देन करने वाले महाजनो और विदेश भेजने वाले व्यापारियो की सख्या भी बहुत बढ गई है। इस प्रकार बहुत से नए व्यवसायी उत्पन्न हुए हैं।

(ख) किसानो की बेदखली का कारण उनकी ऋणग्रस्तता है। भूमि के बँटवारे और उसके मूल्य मे वृद्धि होने आदि के कारण उन्हे ऋण लेने मे अधिक सुविधा होने लगी है। धीरे-धीरे ऋण बढ जाने पर महाजन कानून की सहायता से किसान को खेत से बेदखल करा देता है।

(ग) भूमि का बँटवारा और बिखरी खेती दिन पर दिन अधिक होती जा रही है, क्योंकि आधुनिक प्रवृत्तियो के कारण सयुक्त परिवार प्रणाली का अन्त हो गया है तथा वह नाम मात्र के लिए शेष रह गई है।

(घ) नगरो में नए-नए धन्धो के खुलने से देहाती जनता उधर आकर्षित हो रही है और जीविका के लिए गाँव छोड कर नगरो मे जाने लगी है। जिनके पास भूमि नही है उनके लिए गाँव छोड कर नगर मे मजदूरी करना लाभदायक होता है, अतएव खेती के लिए मजदूरो की कमी का अनुभव होने लगा है। इसके अतिरिक्त जीवन स्तर बढ जाने से कुछ सम्पन्न किसान अब छोटा काम करने में हिचकने लगे हैं। जो काम वे स्वय कर लेते थे उसके लिए अब मजदूर रखने लगे हैं और मजदूरो का अभाव होता जा रहा है।

(२) शिल्पी—यद्यपि आज भी गाँवो में शिल्पी और अन्य श्रमिक उसी प्रकार ग्राम की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और बदले मे परम्परागत मजदूरी पाते हैं फिर भी उनके कार्य मे बहुत परिवर्तन हो गया है। बढई, लुहार, कुम्हार, कहार, नाई, धोबी आदि अब भी पुराने ढङ्ग से कार्य करते हैं, परन्तु इनमे से बहुत से ऐसे हैं जो अधिक आय के लोभ से घर से दूर चले जाते हैं। बहुतो ने अपना व्यवसाय छोड कर दूसरे व्यवसाय अपना लिये हैं या नौकरी करने लगे हैं। यातायात की सुविधाओ के कारण दूर जाना कठिन भी नही है। उधर किसान को भी सब शिल्पियो और ग्राम सेवको की आवश्यकता नही रही। लोहे, लकडी की बहुत सी चीजें, जो गाँव के लुहार, बढई बनाया करते थे, अब बाहर से बनी बनाई आ जाती हैं। मिट्टी के बर्तनो के बदले धातु के बर्तनो का अधिक व्यवहार होने लगा है, अतएव इन ग्राम-शिल्पियो का ग्राम मे रहना आवश्यक ही नही अपितु असम्भव हो गया है।

ग्राम-शिल्पियो मे से कुछ तो ऐसे हैं जिनका व्यवसाय अब भी कुछ न कुछ चलता ही है, जैसे—जुलाहे, सुनार, कुम्हार आदि। सूती कपडे की उत्पत्ति मिलो मे अधिक होने लगी है तथा विदेशो से भी कपडा आता है, फिर भी कर्घे के बुने कपडे की माँग बहुत है और ६० लाख से ऊपर जुलाहे इससे अपनी जीविका अर्जन करते हैं। अनुमान है कि इन जुलाहो की वार्षिक आय ५० करोड रुपए के लगभग है। सुनार के व्यवसाय को सबसे कम धक्का लगा है। उसके व्यवसाय मे यन्त्रो का प्रवेश नही हुआ है। केवल आभूषणो की माँग कम होने के कारण उसका व्यवसाय कुछ सकुचित हो गया है। फिर भी अधिकाश ग्राम शिल्पी या तो गाँव को छोड कर नगरो मे चले गये हैं या गरीबी में अपने दिन बिता रहे हैं। उनकी आर्थिक दशा पहले से अच्छी नही है।

(३) रूढि और परम्परा के स्थान मे प्रतियोगिता की प्रधानता—ऊपर कहा जा चुका है कि पहले रूढि का कितना प्रभाव था। मजदूरी और मूल्य आदि का निर्धारण परम्परा एव रूढियो द्वारा होता था। परम्परागत मूल्य से अधिक माँगना सामाजिक अपराध था। मजदूरो की मजदूरी भी माँग और पूर्ति के नियमो द्वारा निर्धारित नही होती थी, वरन् रूढिगत मजदूरी की प्रधानता थी, परन्तु आजकल ये रूढियाँ टूट गई हैं। अब मजदूर श्रम की माँग मे वृद्धि से लाभ उठाता है और अधिक मजदूरी माँगता है। गाँवो मे भी फसल के समय अन्न के रूप मे मजदूरी लेने की प्रणाली समाप्त हो रही है। अतएव प्रतियोगिता द्वारा मजदूरी का निर्धारण होने लगा है। मुद्रा के बढते हुए उपयोग के कारण इस प्रवृत्ति को बल मिला।

इसी प्रकार मूल्य में भी परम्परागत रूढियो का लोप हो गया है। अब मूल्य स्थानीय नही रहा, वरन् समस्त देश और कभी-कभी ससार मे मूल्य की दर लगभग एक हो रही है। जो वस्तुयें स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं उनका मूल्य बाहर की परिस्थितियो से प्रभावित नही होता, परन्तु जिन वस्तुओ का बाजार विस्तृत है उनके मूल्य मे प्रतियोगिता की प्रधानता है और माँग

मे यातायात एव सम्वादवाहन साधनो का सबसे पहिले विचार करना होगा। क्योकि इन साधनो के विकास एव उन्नति पर ही देश का आर्थिक एव औद्योगिक कलेवर निर्भर रहता है। श्री० मॉन्मिन ने कहा है —"जब जल यातायात असम्भव हो तथा स्थलवाहक धीमे एव अविश्वसनीय हो, उस दशा मे विनिमय केवल उन्ही वस्तुओ तक सीमित रहता है जो मनुष्यो द्वारा एव जानवरो द्वारा सुगमता से ले जाये जाते हो।" १६ वी अर्द्ध शताब्दी मे, अर्थात् सन् १८५० के पहिले भारत मे जल-यातायात के थोडे से नैसर्गिक साधन उपलब्ध थे, जैसे—गङ्गा तथा सिन्ध नदी,- लेकिन स्थल यातायात दोषपूर्ण था। सडकें यातायात के लिए दोषपूर्ण थी और उनकी वही स्थिति थी, जो इङ्गलैड की सडको की १८ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे थी।* समुचित सडको का लगभग अभाव था। मुगल शासको द्वारा बनाई गई कुछ सडकें अवश्य थी, परन्तु उनकी स्थिति विशेष सन्तोषप्रद नही थी और उन पर सदैव डाकुओ एव लुटेरो का भय बना रहता था। इस सकीर्ण एव अस्तव्यस्त परिस्थिति के कारण भारत का आन्तरिक व्यापार नाम मात्र का था, जिससे बाध्य हो कर ही जन-सख्या छोटे-छोटे असम्बद्ध समुदायो में बँट गई थी तथा वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति अपने समुदाय मे ही कर लेते थे। दूसरे शब्दो मे, गाँवो मे आत्मनिर्भरता थी। ऐसी स्थिति मे गाँवो की आत्म-निर्भरता का प्रभाव हमारे कृषि सगठन पर पडे बिना न रह सका, जिसकी निम्न विशेषताये थी :—

(१) जनता के प्रत्येक समूह मे अथवा गाँव मे एक ही प्रकार की फसलो की उपज होती थी। प्रत्येक गाँव को अपने खाद्यान्न अपने गाँव मे ही उपजाना आवश्यक था। इस कारण भूमि की उर्वरा शक्ति एव उपयोगिता की उपेक्षा करते हुए प्रत्येक गाँव की अधिकांश कृषि-भूमि खाद्यान्न की फसलो के लिए काम मे लाई जाती थी, जिससे उपज कम होती थी।

(२) किन्ही भी विशेष स्थानो मे कृषि उत्पादन का मूल्य वहाँ की माँग एव पूर्ति की स्थिति पर निर्भर रहने के कारण विभिन्न गावो मे एक ही वस्तु की कीमतो मे आश्चर्यकारी अन्तर था। इतना ही नही, अपितु उसी गाँव मे समयानुसार कीमतो मे अन्तर भी बहुत अधिक रहता था। कीमतो के इस अन्तर एव अनिश्चितता के कारण कृषि उद्योग खतरे से खाली नही था तथा जनता की खाद्य स्थिति मे भी खतरनाक अनिश्चितता थी। इसलिए प्राचीन भारत के इतिहास मे भीषण एव विस्तृत अकालो का होना कोई आश्चर्य नही था, अपितु कृषि अवस्था का एक साधारण लक्षण था।

(३) गाँवो की आत्म-निर्भरता एव परिस्थिति-वश असम्बद्धता से ग्रामीण उद्योगो की सुरक्षा हुई तथा वे भविष्य मे भी जीवित रह सके। इस

* Indian Economics Vol 1—Jather & Beri p 104,

कारण कृषि आय मे होने वाले उतार चढाव एव अनिश्चितता के परिणामो से ग्रामीणो को रक्षा हुई।

(४) सीमित बाजार क्षेत्र होने से विनिमय माध्यम के लिए धातु मुद्रा की आवश्यकता प्रतीत नही हुई, क्योकि मानव समाज का चरम लक्ष्य अपनी आवश्यक मांगो की पूर्ति था। इस कारण खाद्यान्नो ने ही अधिकतर क्रय-विक्रय व्यवहारो मे विनिमय माध्यम की सुविधा दी, जिससे वस्तु विनिमय ही उस काल की विशेषता थी। मानव समाज के आर्थिक सम्बन्ध स्थिति एव परम्परा से ही चलते थे, आज की भांति प्रतियोगिता एव अनुबन्धो से नही।

(५) १६ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे कृषि उद्योग की उपरोक्त विशेषताओ के अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण एव उल्लेखनीय विशेषता राजनैतिक अस्थिरता के कारण कृषि-उद्योग का आर्थिक कलेवर बहुत प्रभावित हुआ, क्योकि ऋण देने मे जनता सशक थी तथा उनके जीवन एव धन सम्पत्ति की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध नही था। ब्याज की दर अधिक होती थी, जिससे कृषि मे पूंजी का विनियोग बहुत कम होता था और कृषि उद्योग को आवश्यक पूंजी नही मिलती थी। कृषि पर दुर्लभ एव मँहगी साख सुविधाओ के भयानक परिणामो की हम कल्पना ही नही कर सकते।

(६) युद्धो की अधिकता, अकालो की आकस्मिकता एव अधिकता का गहरा परिणाम हमारे कृषि-उद्योग पर विपरीत दिशा मे हुआ। इन नैसर्गिक आपदाओ मे जन सख्या की वृद्धि पर लौह नियन्त्रण रहा तथा भारतीय कृषि-कलेवर अस्त-व्यस्त नही हुआ। सारांश मे, सन् १८५७ के पूर्व भारतीय कृषि की अवस्था स्थिर एव पिछडी हुई दशा की प्रतीक थी।

सन् १८५७ के बाद कृषि—

१६ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भिक दस वर्षो में अर्थात् लार्ड डलहौजी के समय यातायात एव सवादवाहन के साधनो में सुधार हुआ। इसका कारण १६ वी शताब्दी मे इङ्गलैंड के सभी क्षेत्रो में—औद्योगिक, कृषि एव यातायात—क्रान्ति होना था, जिसका प्रसार क्रमश अन्य देशो मे हुआ। सन् १८४८ के पहिले लार्ड बैंटिक ने अपने शासन-काल मे उत्तरी भारत की सडको मे सुधार किया, परन्तु यातायात एव सवाद-वाहन मे विशेष परिवर्तन लार्ड डलहौजी के शासन-काल (सन् १८४८ से १८५४) में ही हुए, जिनका प्रभाव कृषि उद्योग पर भी पडा। इस अवधि मे केवल सडको मे ही सुधार एव विकास नही हुआ, बल्कि डाकखानो का भी सगठन किया गया तथा तार व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार सडको के विकास एव सुधार के लिये सार्वजनिक निर्माण विभाग (P W D) भी स्थापित किया गया। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य

युद्ध (जिसको अंग्रेजो ने गदर कहा है) के कारण अंग्रेज शासको को देश में राजनैतिक सत्ता मजबूत रखने के लिए रेल के विस्तृत जाल की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप १९ वी शताब्दी के अन्त तक २५,००० मील रेल-मार्ग तथा १,७३,००० मील स्थल मार्ग बनाए गये, जिसमे ३७,००० मील पक्की सडके तथा १,३६,००० मील कच्ची सडके थी। इसी प्रकार सन् १८६९ मे स्वेज नहर खुल जाने से भारत मे जहाजी एव बन्दरगाह की सुविधाओ मे भी सुधार हुआ।[1]

१९ वी अर्द्ध शताब्दी मे दूसरा उल्लेखनीय एव महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देश की राजनैतिक सत्ता का ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ मे केन्द्रित होना था। राजनैतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण एव यातायात सुविधाओ के सुधार तथा विकास के कारण देश में जनता और सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा हो गई। इन दो बातो के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था मे ऐसे शक्तिशाली घटको का प्रादुर्भाव हुआ, जिनसे हमारे कृषि उद्योग में महत्त्वपूर्ण परिवतन हुये।

यातायात के साधनो के विकास के कारण हमारा विदेशी व्यापार बढ गया। भारतीय कच्चे माल के लिए विदेशो से भी मांग आने लगी। व्यापार की वृद्धि के साथ ही रेल यातायात की सुविधाओ ने बगीचा उद्योग तथा बडे पैमाने के उद्योगो की आधुनिक ढग पर स्थापना होने मे बढावा दिया तथा भारत मे आधुनिक उद्योगो का विकास होने लगा। यातायात सुविधाओ के कारण गांवो का एकाकीपन नष्ट हो गया, जिससे कृषि उत्पादन के मूल्यो मे होने वाले उतार-चढाव कम हो गये तथा विभिन्न बाजारो के मूल्यो में समानता रहने लगी।[2]

इस परिवतन का परिणाम कृषि के व्यवसायीकरण के रूप मे हुआ, क्योकि यातायात के साधनो मे सुधार एव विकास के साथ भारतीय गांवो की पृथकता नष्ट होकर उनका सम्बन्ध बाहरी विश्व से भी होने लगा। साथ ही व्यापारिक विस्तार के कारण बाजारो का भी विकास होने लगा। फलस्वरूप भारतीय किसान केवल खाद्यान्नो की ही उपज न करते हुए अन्य वस्तुओ की भी उपज करने लगे, जिनकी अन्य बाजारो मे मांग थी। इससे भारतीय कृषि उत्पादन लगभग विश्व के सभी देशो मे जाने लगा। कृषि के व्यवसायीकरण का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण था अमरीकी गृह युद्ध, जो सन् १८६३-६४ के लगभग हुआ। इस युद्ध से भारतीय किसानो को यह ज्ञात हुआ कि वे पश्चिमी बाजारो के कितने पास थे और इसी कारण उनको विदेशी बाजारो की महत्ता का ज्ञान हुआ।[3] अमरीकी गृह-युद्ध के कारण लकाशायर की कपड-मिलो को रुई मिलना बन्द हो गया, इसलिए वे भारत एव मिश्र पर रुई की पूर्ति के लिए निर्भर हो गई। फलस्वरूप भारत का रुई का निर्यात बढ गया तथा कीमतें ऊँची होने से भारतीय किसानो एव निर्यातकर्त्ताओ ने काफी लाभ कमाये। इस अवधि मे रुई की कीमत भी

1 Economic Development of India—Vera Anstey, p 179
2 V W E Wold India's Demand for Transportation
3 D R Gadgil-Industrial Evolution of India

२७ आने प्रति पौंड (सन् १८५९) से ११ ५ आने प्रति पौंड (सन् १८६४) हो गई तथा रुई का निर्यात सन् १८५९ मे ५,०९,६९५ गांठो से बढकर सन् १८६४ मे १३,९९,५१४ गांठ हो गया। इस परिस्थिति के करण भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे भूमि की उर्वरा शक्ति एव जलवायु के अनुसार कृषि उपज का विशेषीकरण होने लगा, जिसका परिणाम कृषि उद्योग की समृद्धि मे हुआ।

इसी प्रकार पजाव, उत्तर-प्रदेश तथा अन्य राज्यो मे सिचाई की स्थिति मे सुधार होने के कारण कृषि भूमि का भी विस्तार हो गया तथा कृषि फसलो के विशेषीकरण को बढावा मिला। उदाहरणार्थ, वम्बई तथा मध्य-प्रदेश मे रुई, उत्तर प्रदेश एव पजाव मे गेहूँ आदि। इस प्रकार कृषि का विशेषीकरण हुआ तथा खाद्य फसलो के स्थान पर पटसन, गन्ना, तिलहन आदि औद्योगिक फसलो की उपज की खेती को अधिक महत्त्व दिया गया। सिचाई के साधनो की उन्नति के साथ इन फसलो की उपज बढने लगी।

यातायात सुविधाओ के साथ प्रतियोगिता का वोलवाला हुआ। फलस्वरूप जहाँ कृषि उत्पादन एव उसके वितरण पर अच्छे परिणाम हुए, वहाँ कृषि कलेवर को प्रतियोगिता के कारण गहरी चोट पहुँची, क्योकि प्रतियोगिता के कारण विदेशी (विशेषत. इङ्गलैड की) यन्त्र निर्मित माल भारत आने लगा, जिससे प्रतियोगिता करने मे भारत के कुटीर-उद्योग असमर्थ थे। फलत प्रतियोगिता एव अन्य विदेशी प्रभावो के कारण यहाँ के कुटीर-उद्योगो की अवनति होने लगी, जिससे किसानो के सहायक उद्योगो के नष्ट होने के साथ ही कृषि पर जन सख्या का प्रभार वढने लगा तथा कृषि सगठन का कलेवर वाधित हुआ। इसके अलावा नैसर्गिक अवरोधो (Positive Checks) की तीव्रता कम हो जाने के कारण जन सख्या में वृद्धि होने लगी। भारत मे इस अवधि मे सगठित उद्योगो का विकास होते हुए भी उनमे अतिरिक्त एव विस्थापित जन सख्या को काम नही मिल सकता था। फलस्वरूप कृषि भूमि की तृष्णा वढ गई तथा किसान अपनी जीविका कमाने के हेतु कृषि-भूमि को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकने लगे।

भारतीय सरकार की कृषि नीति इस अवधि मे उपेक्षापूर्ण ही रही। हाँ, कृषि कार्यों की देख-रेख के लिए सन् १८७० मे एक शाही कृषि विभाग (Imperial Department of Agriculture) खोला गया। यह सन् १८७८ मे वन्द कर दिया गया, जो सरकार की कृषि सम्वन्धी उपेक्षापूर्ण नीति का परिचायक है। इस विभाग को वन्द करने का प्रमुख कारण राज्य सरकारो के उचित सहयोग का अभाव था।

किसानो द्वारा कृषि योग्य भूमि की अनवरत माँग के कारण भूमि की कीमतें वढने लगी तथा जमीदारो की स्थिति मजवूत हो गई, जिन्होने इस परिस्थिति का अच्छा लाभ उठाया। लगान व्यवस्था मे भी शासको द्वारा ऐसे अनेक परिवतन किये

गये[1] जिनसे किसानो को किसी भी प्रकार का लाभ न होते हुए उनसे मध्यस्थ पनपने लगे और किसानो की आर्थिक दशा बिगडती गई।

कुटीर-उद्योगो की अवनति एव अन्य उपरोक्त स्थिति का महत्त्वपूर्ण प्रभाव कृषि भूमि पर पडा, क्योकि कुटीर-उद्योगो की विस्थापित जन सख्या के लिए कृषि के अलावा दूसरा कोई साधन न था। इसके अलावा भारतीय उत्तराधिकारी कानून भी दोषपूर्ण थे, जिससे कृषि भूमि का विभाजन टुकडो मे होता गया, जो इधर-उधर बिखरे हुए होते थे। फलस्वरूप ऐसे छोटे-छोटे एव बिखरे हुए खेतो पर खेती करना अनार्थिक हो गया।

अनार्थिक कृषि सगठन के कारण किसानो की निभरता साहूकारो पर बढ गई, क्योकि उनकी उपज गिर गई। इससे कृषि उद्योग मे विशेष लाभ न रहा। फलतः उनको अपने कृषि कार्यो के लिए ही नही, अपितु अन्य कार्यो के लिए भी साहूकारो से ऋण लेने पडे और साहूकार यह एक ऐसा भूत है, जिसकी छाया से बचना कठिन है। क्योकि उसका मूलधन ब्याज के साथ बढता जाता है। इस प्रवृत्ति को सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वत्वो की मान्यता से बल मिला, क्योकि कृषि भूमि का हस्तातरण किसी भी व्यक्ति को अबाधित हो सकता था।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से कृषि के व्यवसायीकरण से किसानो को लाभ हुआ, यह कहा जा सकता है। परन्तु वास्तव मे कृषि व्यवसायीकरण से बहुत कम लाभ हुआ, क्योकि हमारे यहाँ की कृषि उपज की विक्रय प्रथा दोषपूर्ण थी और आज भी है तथा उसमे यातायात की कठिनाइयो का सामना भी करना पडता था। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि-भूमि का हस्तान्तरण किसानो से साहूकारो को हुआ, जो कृषि से अनभिज्ञ थे।

सन् १८७० से १८८० की अवधि में अनेक राज्य अकाल से पीडित रहे, जिससे कृषि व्यवसाय को गहरी चोट पहुची। इस परिस्थिति की जाँच के लिए सन् १८८० की अकाल जाच समिति ने सरकार से अनुरोध किया कि कृषि विभाग का काय पुन आरम्भ किया जाय, परन्तु सन् १८८६ तक कृषि के सुधार के लिए कोई उल्लेखनीय सरकारी कायवाही नही की गई।[2] हाँ, किसानो की ऋण-ग्रस्तता को दूर करने तथा उनको स्थायी कृषि-सुधार के लिए भू सुधार कानून (Land Improvements Act, 1888) तथा कृषक ऋण-कानून (Agriculturist's Loans Act, 1884) से तकावी ऋणो की सुविधायें दी जाने लगी। परन्तु ऋण देने की ये प्रथायें इतनी दोषपूर्ण थी कि इनसे किसानो को बहुत कम लाभ हुआ, क्योकि इन ऋणो के सम्बन्ध में अनेक जिलो के किसानो को तो जानकारी भी नही दी गई थी। इस प्रकार सन् १८९५ तक किसानो की आर्थिक स्थिति मे बहुत ही कम परिवतन हुए।

---

1 लगान व्यवस्था का विवेचन आगे किया गया है।

2 Industrial Evolution of India—D R Gadgil

कृषि परिवर्तन युग—

सन् १८९५ से सन् १९१४ के बीस वर्ष मे कृषि अवस्था मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस कारण इस युग को कृषि परिवर्तन युग (Transition in Agriculture) कहते हैं। इन परिवर्तनो का निश्चित विकास क्रम संक्षेप मे देना कठिन है, परन्तु इस युग में निम्न प्रमुख परिवर्तन हुए :—

(१) फसलो को उगाते समय उनके व्यावसायिक महत्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

(२) किसानो को फसलो का व्यावसायिक महत्त्व अनुभव होते ही उन्होने कृषि भूमि का खाद्यान्न एव व्यावसायिक फसलें उगाने मे उचित वितरण किया।

(३) किसानो की आर्थिक स्थिति मे पर्याप्त सुधार हुआ।

(४) यातायात साधनो के विकास के कारण किसानो को कृषि उत्पादन विभिन्न बाजारो में बेचना अधिक सुविधाजनक हो गया।

(५) इस अवधि मे जन-सख्या मे काफी वृद्धि हुई, परन्तु देश मे ऐसे उद्योग-धन्धो की कमी थी, जिनसे इस जन सख्या को काम मिलता। फलतः जन-सख्या का प्रभार कृषि भूमि पर बढ गया तथा भूमि का छोटे छोटे एव बिखरे हुए खेतो मे विभाजन हो गया।

(६) कृषि भूमि की माँग बढने के कारण कृषि भूमि की कीमते बढ गई तथा ऋण-ग्रस्तता के कारण उनका हस्तान्तरण गैर कृषिको मे हो गया। ये लोग इस भूमि को अनेक किसानो में खेती के लिए बाँटते थे, जिससे उन्हे अधिक लगान मिलता था।

(७) भारत प्रमुख रूप से कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया, क्योकि जहाँ पहिले कच्चा माल केवल देशी कुटीर-धन्धो की पूर्ति के लिए ही उगाया जाता था, वहाँ कुटीर-उद्योगो की अवनति से तथा विदेशी सम्पर्क से वह निर्यात के लिए उगाया जाने लगा।

सन् १९१४ से सन् १९३९ तक कृषि की स्थिति मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही हुए, क्योकि सन् १९१८-१९ के भीषण अकाल ने किसानो की कमर तोड दी और देश मे खाद्यान्नो की कमी हो गई। सन् १९२०-२१ में गल्ले की कमी के कारण खाद्यान्नो की कीमते बढ गई। इसलिए सन् १९२७ तक लगभग कृषि उपज मूल्य ऊँचे ही रहे। सन् १९२७ मे विनिमय दर मे परिवतन से कृषि उपज कीमतें फिर गिरने लगी तथा सन् १९२९ मे आर्थिक मन्दी आ गई, जो सन् १९३१ तक रही। इस मन्दी में किसानो को भयङ्कर सकट का सामना करना पडा और उनकी ऋण-ग्रस्तता बढ गई। यह स्थिति सन् १९३९ तक रही।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने तथा कृषि उपज के मूल्य बढ जाने से किसानो को काफी लाभ हुआ और उनका ऋण प्रभार भी कम हो गया। सन् १९४३ से देश मे अन्न धान्यो की कमी के कारण उपज बढाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना बनी, जिससे कृषि-सुधार के लिए काफी प्रयत्न किए गए और आज भी देश को कच्चे औद्योगिक माल एव खाद्यान्न में आत्म निर्भर बनाने के लिए राष्ट्रीय सरकार प्रयत्नशील है। इससे सन् १९३९ के बाद औसत किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि १९ वी शताब्दी के अन्त तक कृषको की स्थिति विशेष सन्तोषजनक नही थी। किसानो की आर्थिक दशा गिरी हुई होने से तथा देश मे सस्ते दर पर समुचित परिमाण मे साख की सुविधा न होने से कृषि-उद्योग मे पूँजी विनियोग का स्तर नीचा रहा। इससे किसानो को सदैव समुचित सिंचाई के साधनो का अभाव ही रहा तथा वे भूमि पर स्थाई सुधार करने मे असमर्थ रहे। वर्षा की अनिश्चितता से भारत की कुल कृषि भूमि मे केवल १९% सिंचित भूमि होना हमारे कृषि उद्योग में पूँजी विनियोग के निम्न स्तर की ओर सकेत करता है। इसी दोष के कारण कृषि उद्योग एक अनिश्चित व्यवसाय है। पूँजी विनियोग के निम्न स्तर का दूसरा प्रभाव कृषि मे स्थायी सुधारो का अभाव है, जैसे—खेतो की सीमा-बद्धता तथा समुचित खाद का अभाव आदि। भारत की १९ वी शताब्दी की वन नीति का प्रमुख अङ्ग 'जङ्गल सफाई' (Deforestation) रहा है, जिससे भूमि का कटाव होता है तथा मरुभूमि पैदा होती है। इस अदूरदर्शी नीति के फल आज भी हमको स्पष्ट दिखाई देते हैं। तीसरे, पूँजी की कमी के कारण ही कृषि कार्यों की पद्धति एव यन्त्रो मे किसी भी प्रकार का सुधार नही हो सका, क्योकि किसान अपने सीमित साधनो से आधुनिक कृषि यन्त्रो को अपनाने मे असमर्थ था। पूँजी की कमी का चौथा प्रभाव हमारी पशु-सम्पत्ति पर हुआ। भारत मे जहाँ कृषि-शक्ति के लिए पशुओ का अधिक उपयोग होता है वहाँ उनकी नस्ल (Breed) सुधारने के लिए कोई भी प्रयत्न किसान स्वय नही कर सकता और न सरकार ने ही १९ वी शताब्दी मे ऐसे कोई प्रयत्न किए। इस स्थिति मे किसान को विवश हो कर अपनी जीविका कमाने के लिए काम करना पडा, जिससे वह शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से उत्साहहीन एव निराशावादी बन गया। ऐसी स्थितियो में कृषि भूमि मे विस्तार होते हुए भी यदि भारत की प्रति एकड उपज कम रही तो आश्चर्य नही, क्योकि यह परिस्थिति का दोष था किसान का नही।

योजना काल—

परन्तु आजकल भारत को राष्ट्रीय सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए जो विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित हो रही है, उनसे कृषि का उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट प्रतीत होता है और हम कह सकते हैं कि कल का किसान वास्तव मे भारत का भाग्य विधाता होगा।

भारतीय कृषि की वर्तमान दशा—

भारत की ८२·८ प्रतिशत जन-सख्या प्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर है, इसी से कृषि का महत्त्व स्पष्ट है। गांवो मे किसानो के अतिरिक्त खेत-मजदूर, बढई, लुहार इत्यादि जो कारीगर हैं, खेती पर निर्भर रहते हैं। ससार मे चीन के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश मे इतने अधिक मनुष्य खेती पर निभर नही हैं। यदि किसी वर्ष वर्षा की कमी से अथवा अन्य प्राकृतिक कारणो से फसलें नष्ट हो जाती हैं तो भारत का आर्थिक ढांचा हिल जाता है। फसलो के नष्ट हो जाने से कृषि निर्यात कम हो जाते हैं। किसान के पास रुपया नही होता। इसी कारण वह विदेशो से आने वाला माल तथा भारतीय मिलो में तैयार माल को खरीद नही सकता। दूसरे शब्दो मे, भारतवर्ष का व्यापार कम हो जाता है और उद्योग-धन्धे शिथिल पड जाते हैं तथा सरकार को पूरी मालगुजारी नही मिलती। रेलो को कम माल ढोने के लिए मिलता है तथा किसान मेले और यात्राओ को कम जाते है, जिससे घाटा होता है। इससे स्पष्ट है कि देश का सम्पूर्ण ढांचा खेती पर ही निभर है।

जिस उद्योग पर देश की लगभग तीन-चौथाई जन-सख्या निर्भर है, उसकी दशा अत्यन्त गिरी हुई है। भारतवर्ष मे भिन्न-भिन्न फसलो की प्रति एकड पैदावार अन्य देशो की अपेक्षा बहुत ही कम है।

सन् १६३० की मन्दी के अवसाद के पश्चात् तथा सन् १६३१ के पश्चात् जन-सख्या मे वृद्धि के कारण देश में खाद्य-स्थिति बडी शोचनीय हो गई थी। इसके पश्चात् ब्रह्मा के अलग हो जाने से यह समस्या और कठिन हो गई। द्वितीय महायुद्ध ने तो खाद्य सकट ही उपस्थित कर दिया। फलस्वरूप लगातार १०-१२ साल तक देशवासियो को खाद्य-नियन्त्रण का सामना करना पडा और कई स्थानो पर तो दुर्भिक्ष की समस्या उत्पन्न हुई, किन्तु सम्भवत विपत्तियो का अन्त नही हुआ था। देश के विभाजन ने देश की अर्थ-व्यवस्था की टाँग तोड दी, क्योंकि पजाब और सिन्ध के उपजाऊ भाग पाकिस्तान मे चले गये और विस्थापितो के कारण देश मे खाद्य सकट आ गया। स्वतन्त्र भारत के सम्मुख इस क्षेत्र मे एक विषम परिस्थिति थी, किन्तु भारत सरकार ने बडी सतर्कता तथा दूरदर्शिता से काम लिया। गत वर्षों मे कृषि विकास के लिये निम्न कार्य हुये है, जिनका यथास्थान विवेचन होगा।

(१) प्रथम, द्वितीय एव तृतीय पच-वर्षीय योजना—जिसके अन्तगत खाद्य-सामग्री तथा कच्चे माल के उत्पादन पर विशेष जोर दिया गया है।

प्रथम पच-वर्षीय योजना मे कृषि के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी, खाद्यान्न एव कच्चे माल के उत्पादन पर विशेष बल था। इसमें पर्याप्त सफलता मिली। फलस्वरूप भारत सरकार ने कृषि नीति सम्बन्धी नीति की घोषणा की, जो निम्न बातो पर आधारित है :—

(१) कृषि उपज के मूल्यो का समुचित स्तर बनाए रखना।

(२) कृषि उपज के हेतु विक्रय, भण्डार एव साख सुविधाओ का आयोजन।

(३) भूमि सुधार जिसमे कृषि को अधिक कार्यक्षम बनाने का प्रलोभन एव सामाजिक न्याय प्रदान करने की दृष्टि से कृषि उद्योग के पुनर्गठन का भी समावेश है।

इन उद्देश्यो को लेकर ही दूसरी योजना मे कृषि नियोजन का निम्न आधार अपनाया गया था .—

(१) भूमि-उपयोग का नियोजन।

(२) अल्पकालीन एव दीर्घकालीन उत्पादन लक्ष्यो का निर्धारण।

(३) विकास कायक्रम एव सरकारी सहायता को उत्पादन लक्ष्य एव भूमि-उपयो । नियोजन के साथ सम्बन्धित करना, तथा

(४) समुचित मूल्य नीति का निर्धारण।

जहाँ प्रथम योजना मे खाद्यान्न एव उत्पादन पर विशेप बल दिया गया था वहाँ दूसरी योजना मे कृषि अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अङ्गो के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया है। इससे कृषि उद्योग सुदृढ आधार पर सगठित होकर बढती हुई जन-सख्या एव औद्योगिक विकास के हेतु खाद्यान्न एव औद्योगिक कच्चे माल की पूर्ति करने मे सफल हो सकेगा।

(२) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन—इस आन्दोलन का श्रीगणेश सन् १९४३ मे किया गया।[1] इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारो की निश्चित योजनाओ को सहायता दी गई। इनमें कुँए, तालाव, छोटे बाँध, नलकूप एव नहरो का निर्माण एव दुरुस्ती, खाद एव बीजो के वितरण का समावेश होता है। इसी दृष्टि से केन्द्रीय रसायनिक खाद्य कोप (Central fertilizer Pool) का निर्माण हुआ है, जहा से अमोनियम सल्फेट का समान कीमतो पर कृपको को वितरण होता है।

(३) चावल उत्पादन का जापानी ढङ्ग—उक्त आन्दोलन के अन्तर्गत सन् १९५३ से चाँवल के हेतु जापानी पद्धति का उपयोग आरम्भ किया गया। फल स्वरूप चावल का कृषि क्षेत्र सन् १९५३-५४ के ४ ०२ लाख एकड से सन् १९५६-५७ मे २३ ८४ लाख एकड तथा चावल प्रति एकड औसत उत्पादन १३ ३३ मन से १९ ०९ मन हो गया।[2]

(४) भूमि का कृषिकरण एव केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन (Tractorization)—बेकार एव काँसयुक्त भूमि का कृषिकरण करने के लिए केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन स्थापित हुआ, जिसके पास प्रारम्भिक अवस्था मे २०० ट्रैक्टर थे तथा सन् १९५१ मे २४० नए ट्रैक्टर खरीदे गये। इस कायक्रम के अन्तर्गत प्रथम पच-वर्षीय योजना मे १० ८४ लाख एकड भूमि का केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन द्वारा तथा १७ लाख एकड भूमि

---

१ देखिए 'खाद्य समस्या' अध्याय।

2 India—1958

का राज्य ट्रैक्टर सगठनो द्वारा कृषिकरण किया गया। सन् १९५७-५८ के अन्त मे केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन द्वारा कुल १६ लाख एकड भूमि कृषि के अन्तर्गत लाई गई तथा आसाम और मध्य-प्रदेश मे क्रमश: २,३८७ और २६,८८८ एकड भूमि जगल की सफाई की गई।

(५) भूदान एवं ग्रामदान आन्दोलन—अनुमान है कि देश मे ४५ लाख भूमिहीन कृषि मजदूर हैं, जिनके लिए जमीदारी उन्मूलन के बाद भी कोई आशा किरण नही थी। इस हेतु आचार्य विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन आरम्भ किया और उसी का विस्तृत रूप ग्रामदान आन्दोलन है। इस कार्य मे विनोबाजी को काफी सफलता मिली है तथा इस आन्दोलन को शासकीय एव राजनैतिक समर्थन भी है। क्योकि इस आन्दोलन मे राजनैतिक अखाडेबाजी के लिए कोई स्थान नही है। "ग्राम आन्दोलन के अन्तर्गत ४,३२० गाँव मिले हैं, जहाँ एक पक्षहीन, सजीव और सक्रिय लोकतन्त्र स्थापित करने की कोशिश की जा रही है।"[1] इसी प्रकार भूदान आन्दोलन मे दिसम्बर सन् १९५७ तक ४३,८१,८७१ एकड भूमि प्राप्त हुई, जिसमे से ६,५४,६४१ एकड भूमि का वितरण किया गया है।[2] इस आन्दोलन की सफलता इसी बात से प्रमाणित होती है कि सरकारी तौर पर ग्रामदान आन्दोलन तथा सामुदायिक विकास आन्दोलन को सम्बन्धित करने की योजना बन चुकी है, जो दूसरी योजना काल मे प्रयोगात्मक रूप मे कार्यान्वित हो रही है।[3]

(६) भूरक्षण (Soil Conservation)—भूमि के कटाव एव रेगिस्तान के विस्तार की समस्या का हल करने के लिए भारत सरकार ने केन्द्रीय भूरक्षण सभा की स्थापना की है। इस सभा ने सन् १९५३ से भूमि-कटाव रोकने एव मिट्टी के पृथक्करण की समस्या (Soil analysis) के हल का काय आरम्भ किया। सभा के अन्तर्गत देहरादून, कोटा, बेल्लरी, उटकमण्ड तथा बसाड मे खोज, परीक्षण एव प्रयोग केन्द्र हैं। इसके अलावा जोधपुर मे रेगिस्तान जगलीकरण (Afforestation) स्टेशन है, जहाँ पर रेगिस्तान का प्रसार रोकने एव भूमि-कटाव सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। सन् १९५६-५७ मे इसके अन्तर्गत प्रयोग एव खोज के हेतु दो उप स्टेशन चण्डीगढ एव आगरा में स्थापित किये गये हैं।

इन विविध प्रयत्नो से भारत का कृषि उद्योग क्रमश: उन्नति कर रहा है।

---

१ भूदान-यज्ञ १८-७-५८, पृष्ठ ३।

२ भूदान-यज्ञ १४-३-५८, पृष्ठ ११।

३ येलवाल ग्रामदान सम्मेलन सितम्बर, १९५७ तथा सामुदायिक विकास सम्मेलन १५-१८ दिसम्बर, दिल्ली।

प्रमुख फसलो का कृषि क्षेत्र तथा उपज[1]

फसल	क्षेत्र हजार एकड	उपज हजार टन	क्षेत्र (हजार एकड)		उपज (हजार टन)	
	१९५८–५९	१९५८–५९	१९५१-५२	१९५६–५७	१९५१-५२	१९५६ -५७
चावल	८१६	२९७ २	७३,७१३	७८,१७४	२०,९६४	२८,१४२
ज्वार	४२६	८६ ९	३९,३९९	४१,३१४	५,९८१	७,४२७
बाजरा	२७९	३७ ९	२३,५२२	२७,५४२	२,३०९	२,९२६
गेहूँ	३१०	९६ ९	२३,४०४	३२,८९१	६,०८५	९,०६८
जौ	८२	२६ ४	७,८०७	८,५९४	२,३३०	२,७४४
चना	२४८	६८ ३	१६,८७६	२३,९९०	३,३३४	५,९३०
अन्य दालें	२४२	५३ ८	२३,४७३	२७,६०९	३,१५२	३,४५८
अन्य धान्य	३८३	६७ ६	३१,४०५	३२,८२३	७,०२०	८,९९१
कुल खाद्यान्न	२,७८६	७३५ ०	२३९,५९९	२७२,९३७	५१,१७५	६८,६८६
रुई	१९८	८ २	१६,२०१	१९,८४३	३,१३३[2]	४,७२३[2]
पटसन	१८	९ २	१,९५१	१,८८३	४,६७८[3]	४,२२१[3]
चाय			७८२	७३८	६४१[4]	१,४७४
कॉफी			२३०	—	५५[4]	—
रबर			१४८	—	३२[4]	—

इस प्रकार कृषि-उत्पादन का सूचनाक जो सन् १९५५-५६ मे ११५ ९ था वह सन् १९५६-५७ मे १२३ ६ तथा सन् १९५८-५९ में १३१ ० हो गया, जो कृषि की प्रगति का परिचायक है।

———

1 India 1958 & Commerce Annual number 1959
2. In '000 bales of 392 lb each
3 In '000 bales of 400 lb each
4. In lakh lbs —is the production for the calander year

अध्याय ६

भारतीय कृषि की समस्याएँ

(Agricultural Problems in India)

"भारतीय कृषि की समस्याओं का कारण कृषक का अज्ञान और निरक्षरता न होते हुए वे कठिन परिस्थितियां हैं जिनमें उसे अपना उद्योग करना पड़ता है। भारतीय कृषकों की कष्टमय स्थिति का कारण दृश्य कठिनाइयाँ हैं, मनोवैज्ञानिक नहीं।"

"भारत एक सम्पन्न देश है, जिसमे निर्धनता वास करती है।" यह कहावत भारत पर पूर्णतः लागू होती है। भारत की भूमि उपजाऊ है और जलवायु खेती के लिए अनुकूल होते हुये भी भारत मे कृषि उद्योग की दशा अच्छी नही है। अन्य देशो की तुलना मे यहाँ की प्रति एकड उपज बहुत ही कम है :—[1]

	गेहूँ	चावल	गन्ना	मकई	कपास	तम्बाकू
अमरीका	८१२	२१८५	४७५३४	१५७९	२६६	८८२
जर्मनी	२०१७	—	७०३०२	२८२८	—	२१२७
इटली	१३८३	४५६८	—	२०५९	१७१	११४९
मिश्र	१९२८	२९९८	—	१८९१	५२५	—
जावा	—	—	४३२७०	—	—	—
जापान	१७१३	३४४४	—	१३२९	१५६	१६६५
चीन	९८९	२४३३	११६७०	१२८४	२०४	१२८८
भारत	६६०	२२४०	१४५८८	८०३	८९	९०७

भारत में प्रति एकड उपज ही अन्य देशो की तुलना मे कम नही अपितु विभिन्न राज्यो की प्रति एकड उपज मे भी भिन्नता है तथा प्रति वर्ष इसमें भिन्नता रहती है।[2]

उपज	मद्रास	बम्बई	मध्य-प्रदेश	बिहार	उत्तर-प्रदेश	बंगाल	पंजाब	भारत का औसत
गेहूँ		३८२	३९९	८२७	७१७	५६५	८०४	६२८
चावल	१०२३	८८७	५९६	६७१	५९२	८३०	५६५	७४८
मकई	७७८	६३१	९९६	६३६	८००	७२१	७८०	७२४
ज्वार	५४१	३४१	४९८	५६२	४८१	७०७	१९०	४३८
चना	४३१	३३१	३८५	७१७	६२६	५९४	४३०	५५५

1 Datar Singh—Indian Farming No XI, 1951, Page 479
2. Our Economic Problems—Wadia & Marchant, Page 209.

कृषि की इस स्थिति के लिए कतिपय कारण जिम्मेवार है, अत: इस अध्याय मे कृषि उद्योग की इन समस्याओ पर विचार करेगे । क्योकि कृषि भारत का प्रमुख व्यवसाय होने के साथ ही लगभग $\frac{2}{3}$ जन सख्या की उपजीविका का साधन है ।

कृषि की अविकसित दशा के कारण—

भारतीय कृषि की अच्छी स्थिति न होने का कारण कृषक की मूर्खता एव अज्ञान न होकर वे कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण भारतीय कृषि-उद्योग अविकसित रहा है तथा प्रति एकड उपज कम रही है । विश्व के महत्त्वपूर्ण देशो की तुलना में भारतीय कृषि का उत्पादन ८६% तथा अधिकांश यूरोपीय देशो की तुलना में ५०% भी कार्य-क्षम नही है ।[1] कृषि की इस स्थिति को सुधारने के लिए इस स्थिति के जिम्मेदार कारणो को देखना आवश्यक है ।

भारतीय जनता का जीवन स्तर तब तक उन्नत नही हो सकेगा जब तक भारतीय कृषि आधुनिक बाजार के मान-दण्ड के अनरूप नही होगी । भारत मे आर्थिक विकास के हेतु आवश्यक नैसर्गिक साधनो की कमी नही है, परन्तु इनका पूर्ण उपयोग करने के लिए सही एव सतुलित आर्थिक योजना के अन्तर्गत प्रयत्नो की आवश्यकता है ।

जन-सख्या की वृद्धि और उत्पादन मे कमी के कारण भारतीय जीवन-स्तर का ह्रास हो रहा है । भारत की साधारण स्थिति मे ही ३५% जन-सख्या को सन्तुलित आहार नही मिलता । बहुत अधिक मनुष्य और बहुत कम पूंजी के कारण कृषि भूमि पर जन-सख्या का प्रभार बढा,[2] जिससे गरीबी मे वृद्धि हुई और कृषि भूमि से उपज कम होने लगी । इस हेतु क्षेत्रीय साधन तथा क्षेत्रीय जन-सख्या की गति में सामजस्य लाकर जन-सख्या का प्रभार कृषि भूमि पर कम करना होगा । साथ ही, कृषको की उपभोग शक्ति बढाने के लिए उद्योग धन्धो का पुनर्वितरण करना होगा ।

रॉयल कृषि कमीशन का यह निष्कर्ष कि सम्पूर्ण दोष भारतीय कृषक के दृष्टिकोण का है और वह एक उच्च जीवन स्तर प्राप्त नही करना चाहता, सरासर गलत था, क्योकि इसी रिपोर्ट मे यह भी स्वीकार किया गया है कि इतने प्राचीन देश मे, जहा कृषि पद्धति अनुभवो पर आधारित है, सुधार कार्य के लिए वैज्ञानिक खोज की आवश्यकता होना आश्चर्यजनक नही है । रिपोर्ट यह भी स्वीकार करती है कि मुहानो पर धान की खेती पूर्णतया सफलता प्राप्त कर चुकी है और देहाती मुहावरो की सत्यता पर आधुनिक खोजो ने भी सन्देह नही किया है ।[3]

कृषि उत्पादन मे तभी वृद्धि सम्भव है जबकि कृषि मे तान्त्रिक सुधार हो । यह कहना कि हमारी समस्या तान्त्रिक न होकर मनोवैज्ञानिक है, जन सख्या ठीक नही

1 भारत की औद्योगिक कुशलता—रजनीकान्त दास, पृ० सख्या ।

2 Agrarian Problems from the Baltic to the Aegean—E John Russel, Page 10

3 Report of the Royal Commission on Agricultural, 1928, p 14

है—यह विचार हमे एक ऐसी अन्धेरी गली में छोड देता है जहाँ इस दुर्गम[1] समस्या को यह कह कर छोडना होगा कि हमारी आर्थिक कठिनाइयाँ कदाचित ऐसी हैं जिनका कोई हल नही है।[2] हमारा कृषक दृढ सकल्प होते हुए भी यह अपनी कृषि-पद्धति को तब तक नही सुधार सकता जब तक हमारी कृषि के वर्तमान तान्त्रिक एव सस्थागत दोषो का निवारण न हो।

तान्त्रिक कमजोरी के कारण भारतीय कृषि विश्व की प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ-व्यवस्था की गति के अनुरूप अपने को ढाल सकने मे असमर्थ रही है। कृषक बाजार की परिस्थितियो को ध्यान में रखे बिना उत्पादन करता है और कटाई के समय ही फसल को बेच देता है, जब कि मूल्य न्यूनतम मिलता है। इस प्रकार वह न तो व्यय और न भावी माँग की ओर ही ध्यान देता है। फलस्वरूप उसे बहुधा हानि ही होती है, क्योंकि उत्पादन व्यय बिक्री मूल्य से अधिक होता है और वह किसी भाँति अपना जीवन-निर्वाह करता है। इस प्रकार भारतीय कृषि की बहुविधि समस्याएँ हैं, जो निम्न हैं :—

(१) खेतो का छोटा और बिखरा होना—भारतवर्ष में जन सख्या की वृद्धि के कारण अधिकाधिक जन-सख्या खेती पर निर्भर है, क्योंकि यहाँ उद्योग धन्धो की उन्नति नही हुई है। इसका परिणाम हुआ है कि प्रत्येक किसान की भूमि बँटते बँटते बहुत कम रह गई और वह थोडी सी भूमि भी एक चक मे न हो कर छोटे छोटे टुकडो में इधर-उधर बिखरी हुई है। भारत मे औसत खेत ४ एकड का है, जबकि सयुक्त राज्य अमेरिका मे १४५ एकड, डेनमार्क मे ४० एकड, इङ्गलैंड में ६२ एकड, जर्मनी मे २१ एकड, फ्रान्स में २१½ एकड, हालैण्ड में ३६ एकड, बेल्जियम मे १४½ एकड है। बङ्गाल मे प्रति कुटुम्ब पीछे ४ एकड जमीन का औसत आता है तथा मद्रास में ५ एकड, मध्य-प्रदेश मे ८ एकड, उत्तर-प्रदेश में ६ एकड, बिहार उडीसा में ३ एकड, बम्बई में १२ एकड और पजाब मे १० एकड है।

"जन सख्या में वृद्धि, किन्तु उद्योग-धन्धो मे उसी अनुपात में वृद्धि न होना, सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अन्त और मनुष्यो में व्यक्तिक विचारो की उत्पत्ति होना तथा पिता की मृत्यु के बाद जमीन का उसके वारिसो में विभाजन आदि इस स्थिति के लिए जिम्मेवार है।"[3]

खेतो के छोटे होने के कारण खेतो की सीमा बनाने में बहुत अधिक जमीन नष्ट हो जाती है। इन खेतो मे कीमती मशीनें भी काम मे नही लाई जा सकती और न वैज्ञानिक खाद ही दिया जा सकता है। खेतो के दूर दूर होने के कारण किसान को एक खेत से दूसरे खेत तक जाने के लिए अधिक समय नष्ट करना पडता है। खेतो पर अधिक खर्च के कारण कुँए आदि भी नही बनाये जा सकते। इन छोटे छोटे खेतो के

---

1 Economic Development of India—Vera Anstey, p 1
2 Report of Fiscal Commission 1949-50, Vol I, p 89
3 Indian Economics—Jathor and Beri

बीच अक्सर दूसरे व्यक्तियो के खेत आ जाने से प्राय लडाई-झगडे होते रहते हैं। कभी-कभी पडोसियो के पशु फसलो को रौंद डालते हैं। इन्ही कारणो से गरीब किसान अपने खेतो से अच्छी फसल के रूप मे पूरा फायदा नही उठा सकता, अत. खेतो की फसल कम हो जाती है।

(२) कम आय—खेतो के छोटे होने के कारण किसानो की आय भी कम होती है। सैन्ट्रल बैंकिग जॉच कमेटी के अनुसार—"भारतीय किसान की औसत आमदनी लगभग ४२ रुपये प्रति वर्ष है। फलस्वरूप उसे अपनी जमीन और घर-बार बेचने के लिए बाध्य होना पडता है। इसी कारण अच्छी फसल होने पर भी किसान ऋण-ग्रस्त रहते हैं।" सरकारी रिपोर्टों के अनुसार सन् १९११ में किसानो पर कुल कर्जा ३०० करोड रुपये, सन् १९२९ में ५२३ करोड रु०, सन् १९३१ में ९०० करोड रुपये और सन् १९३७ मे यह १,००० करोड रुपये तक बढ गया था। इस प्रकार उसका कर्ज बराबर बढता ही गया। ऋण का बोझ लदा हुआ होने के कारण किसान जब ऋण चुकाने मे असमर्थ हो जाता है तो उसे साहूकार के यहाँ गुलामी की जिन्दगी बितानी पडती है। बम्बई, मद्रास, बिहार, उडीसा और आसाम मे इस तरह की गुलामी प्रथा मौजूद है।

वास्तव मे भारतीय किसान इसलिये खेती नही करता कि उसे कुछ आर्थिक लाभ हो, बल्कि इसलिये कि उसे पेट भर भोजन मिल सके। खेती से मिलने वाली आमदनी प्रति व्यक्ति बहुत कम है। भारतीय किसान की वार्षिक आय सन् १९३१-३२ में ५१), सन् १९३७–३८ में ४७) और सन् १९४२–४३ मे ९१) थी, किन्तु यह आय विदेशी किसानो के मुकाबले मे (जो ९५ पौण्ड=१,४२५ रु०) बिलकुल नगण्य सी प्रतीत होती है। भारतीय किसान प्रति एकड से बहुत ही कम आय प्राप्त करता है। औसत रूप से एक एकड से उसे ३) रु० मिलते हैं, जबकि बेल्जियम, नीदरलैंड, स्विटजरलैंड आदि देशो मे १२ पौंड से १५ पौंड, डेनमार्क मे ९ से १२ पौंड, जर्मनी, फ्रास और इङ्गलंड मे ६ से ९ पौंड तथा रूमानिया, अलबेनिया और यूगोस्लेवेकिया मे ३ पौंड आमदनी होती है। इतनी कम आमदनी वाले किसान से यह आशा नही की जा सकती कि वह अपनी खेती में सुधार करने की कोशिश करे। भला जब किसान अपना पेट नही भर सकता तो खेतो को किस प्रकार उर्वरा बना सकता है। इसलिए सबसे पहले उसकी आर्थिक दशा और रहन-सहन के दर्जे को सुधारा जाय तो स्वय ही खेती की दशा सुधर जावेगी।

(३) कृषक की ऋणग्रस्तता—कर्ज बढने का एक मुख्य कारण यह भी है कि भारत के किसानो को खेती के लिए वर्षा पर निर्भर रहना पडता है। कभी अत्यधिक वर्षा के कारण या बाढ आ जाने से खेती नष्ट हो जाती है, तो कभी उसके बैल मर जाते हैं या अनाज की दर गिर जाने से उसे हानि होती है। कभी-कभी उसे अपने बाल बच्चो की शादी के लिए साहूकार से अधिक व्याज पर रुपया कर्ज पर लेना पडता है। कभी त्योहारो पर या मौत पर अपने पुरखो का श्राद्ध, कथा अथवा अन्य

धार्मिक कार्यों के लिए उसे रुपयो की आवश्यकता पडती है। ऐसी स्थिति मे उसे अपना खेत गिरवी रख कर कर्ज पर रुपया लेना पडता है। इस प्रकार किसान की गाढी कमाई का रुपया जमीदार और साहूकार खा जाते हैं तथा कुछ वकीलो की जेबो मे भी पहुँच जाता है। जैसे—जमीदार ८%, वकील आदि २%, साहूकार ५८% रैयत, ३२%।

जहाँ एक बार ऋण लेना शुरू हुआ कि वह पीढी दर पीढी बढता ही जाता है। सन् १९२६ के कृषि कमीशन के शब्दो में—"भारतीय किसान ऋण मे जन्म लेता है और ऋण मे ही मरता है तथा ऋण को भावी पीढ़ियो के लिए छोड जाता है। यह ऋण पीढी दर पीढी बढता ही रहता है।" गरीबी और ऋण-ग्रस्तता के कारण किसान अपने खेतो की भली प्रकार सेवा नही कर सकता और न वह खेतो की पैदावार बढाने के लिए ही कुछ कर सकता है, जिससे खेतो की पैदावार दिन प्रति दिन कम होती जा रही है।

(४) खेतो को पर्याप्त वनस्पति खाद नही मिलती—भारत की भूमि की उर्वरा-शक्ति बिलकुल ही गिर गई है। इसका मुख्य कारण वनस्पति खाद की कमी है। कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिको का मत है कि यहाँ की भूमि की उत्पादन शक्ति इतनी गिर गई है कि इससे अधिक अब गिर भी नही सकती। जब कोई फसल किसी भूमि मे बोई जाती है तो वह उस भूमि से कुछ निश्चित अश खीच लेती है, जैसे—नाइट्रोजन या लवण आदि। भूमि मे इन अशो की कमी होने से उसकी उर्वरा-शक्ति कम हो जाती है, इसलिए इस क्षति की पूर्ति करने के लिये खाद की आवश्यकता है। जितनी पुरानी भूमि है, उतनी ही उसमे अधिक खाद देना आवश्यक है, जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढे। कभी-कभी तो उत्तम खाद से ५% उत्पत्ति मे वृद्धि हो जाती है। गहरी खेती में तथा एक भूमि मे एक ही वर्ष मे कई फसलें उत्पन्न करने के लिये खाद देना आवश्यक हो जाता है। भारत के कई स्थानो मे तो तीन फसले उगाई जाती हैं, जहाँ खाद देना आवश्यक होता है।

खाद कई प्रकार की होती है :—गोबर, कम्पोस्ट, मल-मूल, खली, रसायनिक एव हरी खाद। भारत में ये सभी प्रकार की खादें उपलब्ध हैं, परन्तु उनका सदुपयोग नही होता। क्योंकि खाद देने का तरीका ठीक नही है। साधारणतः खाद का ढेर खेतो मे कर दिया जाता है, जिसका ३३% अश वर्षा, हवा एव धूप से नष्ट हो जाता है। फलत. श्रम और धन का अप-व्यय होता है।

गोबर अथवा पशुओ का मल-मूत्र एक मौलिक खाद है, जिसे ईधन की कमी के कारण जला दिला जाता है। डॉ० वाल्कर के अनुसार—"कुल गोबर का ४०% खाद देने में, ४०% जलाने मे तथा २०% अनुचित तरीके से नष्ट होने मे काम आता है।" पशुओ का मूत्र तो साधारणत. व्यर्थ ही जाता है, क्योंकि उसके उपयोग के लिए कोई भी प्रयत्न नही होता।

कम्पोस्ट एव मानव मलमूत्र से खाद का निर्माण होता है तथा नगरपालिकाएँ एव नगर निगम इनकी उपयोगिता बढाने मे सहायक हो सकते हैं। आजकल अधिक "अन्न उपजाओ" आन्दोलन के कारण कम्पोस्ट खाद का उपयोग बढ रहा है। सन् १९५६ ५७ मे २२ ६ लाख टन कम्पोस्ट खाद का निर्माण हुआ तथा १९ १ लाख टन का वितरण किया गया। शहरो के गन्दे पानी का खाद के हेतु उपयोग करने की २४ योजनाएँ सन् १९५७ के अन्त तक कार्यान्वित की गई हैं, जिससे लगभग ३४,००० एकड भूमि को लाभ पहुँचेगा। इसके साथ ही सन् १९५७-५८ मे स्थानीय खाद स्रोतो को विकसित करने की दो योजनाएँ स्वीकृत की हैं। इस प्रकार की खाद का सन् १९५६-५७ मे १,९१० हजार टन वितरण किया गया।

तिलहन की खाद यह दूसरे प्रकार की खाद है, जिसका उपयोग कीमती फसलो के लिए किया जाता है, जैसे—गन्ना, चाय, तम्बाकू आदि। परन्तु भारतीय खेतो को खली नही मिलती, क्योकि भारत से तिलहन का निर्यात अधिक परिमाण मे होता है, जो वस्तुत देश की उवरा शक्ति का निर्यात है। इसके साथ ही खली का उपयोग आजकल पशुओ को खिलाने मे भी अधिक किया जाता है। इसी प्रकार उरद, मूँग, मटर आदि कुछ फसलें ऐसी हैं जो भूमि के नाइट्रोजन आदि अशो का शोषण करती हैं। यदि फसलो को हेर-फेर से बोया जाय तो उर्वरा शक्ति में ह्रास नही होगा, परन्तु कृषि के व्यवसायीकरण के कारण फसलो का पुराना हेर फेर बदल दिया गया है। जैसे—उत्तर-प्रदेश मे गन्ना, बगाल मे पटसन और गुजरात मे रुई की खेती पर ही अधिक जोर दिया जाता है। इससे उर्वरा शक्ति का ह्रास होता है।

वनस्पति खाद जैसे मूँगफली, ज्वार आदि की पत्तियो के उपयोग से भी खेतो की उर्वरा शक्ति बढाई जा सकती है। परन्तु पर्याप्त चारे के अभाव मे वनस्पति खाद का उपयोग हमारे यहाँ पर बहुत ही कम परिमाण मे होता है।

रसायनिक खाद का उपयोग आजकल विश्व के सभी देशो मे हो रहा है और भारत भी इस दिशा मे प्रयत्नशील है। रसायनिक खादो मे अमोनियम सल्फेट, नाइट्रोजन आदि का समावेश होता है। इनका उपयोग बढाने के लिए सिन्द्री मे खाद कारखाने की स्थापना हो चुकी है तथा दूसरी योजना मे बगाल मे भी खाद कारखाने की स्थापना होने वाली है। भारत मे सन् १९५६ मे ६ ७६ लाख टन अमोनियम सल्फेट तथा सन् १९५७ मे ७ २० लाख टन अमोनियम सल्फेट, ६४,००० टन युरिआ (Urea), ३५,००० टन अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट तथा तथा ९,००० टन केलशियम अमोनियम नाइट्रेट का वितरण किया गया, परन्तु विभिन्न प्रकार की खादो का आज भी भारत मे अभाव है।

(५) खेती मे स्थायी उन्नति की कमी—भूमि मे स्थायी उन्नति का न होना एक बडी कमी है। उदाहरणार्थ, खेतो की घेराबन्दी नही की जाती, जिसमे खेतो मे जानवर, मवेशी तथा चोरो के जाने मे रुकावट नही होती। खेतो की सीमा के सम्बन्ध मे हमेशा झगडा हुआ करता है। खेतो मे पुश्ते नही बनाये जाते, इसलिए

बरसात का पानी धीरे-धीरे खेतो को काटता रहता है। पश्चिमी बगाल तथा उत्तर-प्रदेश मे तो लाखो एकड भूमि नदियो के कटाव के कारण नष्ट हो गई है। पानी के बहाव का भी ठीक प्रबन्ध नही होता है और किसी-किसी स्थान पर पानी रुक कर दल दल हो जाती है। खेतो पर इमारतें नही बनाई जाती, जिससे बहुत हानि होती है।

(६) खेती के पुराने तरीके – किसान परम्परागत ढग से खेती करता है और जो नये तरीके है, उनको निर्धनता, अज्ञान के कारण नही अपनाता। खेत जोतने के लिए लकडी के हल का प्रयोग किया जाता है, जिसमे लोहे का फल लगा रहता है। इससे केवल ७"—८" जमीन खुदती है। खेत बराबर करने के लिए लकडी का पटरा होता है तथा बीज या तो छिडक दिए जाते है या जुताई के साथ-साथ डाल दिए जाते है। 'सीडड्रिल' या 'सीडहोयस' यन्त्रो का प्रयोग बहुत कम होता है। निराई तथा गुडाई के लिए खुरपी ही काम मे लाई जाती है। काटने मे भी किसी मशीन का प्रयोग नही किया जाता, बल्कि हँसिया से फसल काटी जाती है। पशुओ द्वारा खलियान माँडा जाता है और हवा मे उडा कर भूसा अलग निकाला जाता है। थ्रेशर्स (Threshers), विनोवर (Winnower) आदि का प्रयोग नही होता। इस प्रकार उसके सब यन्त्र पुराने हैं। नये यन्त्रों के प्रयोग से, जैसे—हल, पानी खीचने के पम्प आदि से काय-कुशलता अधिक बढ सकती है।

(७) उत्तम बीजो की कमी—किसान उत्तम बीजो का प्रयोग नही करता और बहुधा उसको मिलता भी नही है। वह गाँवो के बनियो या महाजनो से बीज लेता है, जो अच्छा नही होता, जबकि अच्छी उपज के लिए अच्छा, मोटा तथा स्वस्थ बीज आवश्यक है। परन्तु भारत के कुछ ही राज्यो मे प्रगतिशील बीजो का प्रयोग १५% से अधिक नही है।[1] अच्छे बीजो का उपयोग बढाने के लिए भारत सरकार ने सन् सन् १९५७ ५८ मे २ ०३ करोड रु० की आर्थिक सहायता तथा १ ८४ करोड रु० का ऋण विभिन्न राज्यो मे २५-२५ एकड के १,४१६ बीज फार्मों की स्थापना के लिए स्वीकृत किया। इसके साथ ही सघ-प्रदेशो (Union Territories) मे १२ बीज फार्मों की स्थापना के लिए ३·८० लाख रुपए स्वीकृत किए,[2] जिससे अच्छी किस्म का बीज पर्याप्त मात्रा मे वितरण के लिए उपलब्ध हो सके।

भारतीय कृषक बीजो के सम्बन्ध मे भी बेफिकर है और वह अच्छे बीजो को रखने के लिए प्रयत्नशील नही है। वास्तव मे परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पडता है और फिर उसे महाजनो या बनियो से ऊँचे दाम पर अच्छे किस्म का बीज नही मिलता, जिसका परिणाम फसलो पर होता है।

---

1 देखिये Grow More Food Enquiry Committee Report (1952) p 127.

1 India 1958

(८) पशुओ की दशा—यद्यपि भारतीय कृषि मे गाय और बैल का बहुत अधिक महत्त्व है। उनके बिना खेतो की जुताई नही हो सकती, कुंओ से सिंचाई नही हो सकती और न फसलो के भण्डार ही भरे जा सकते हैं और न हमारे भोजन के लिए दूध जैसा पौष्टिक पदार्थ ही मिल सकता है। किन्तु फिर भी हमारे यहाँ पशुओ की दशा अच्छी नही है। समस्त भारत मे २९.१ करोड पशु हैं। इनमे से आधे प्रायः गिरी हुई हालत मे हैं, जो खेती को किसी प्रकार की सहायता नही पहुँचा सकते।

पशुओ की खराब अवस्था होने का मुख्य कारण चरागाहो की लापरवाही, दोषपूर्ण जनन (Breeding), किसानो की निर्धनता एव अशिक्षा है। उदाहरणार्थ, उत्तर-प्रदेश मे जगलो को काट कर पहाडियो पर भी खेत बनाये गये हैं। चरागाहो के ठीक न होने से पशुओ की कमी होती जा रही है। इसके अलावा कृषि भी ऐसी की जाती है जिससे भूसा आदि अधिक नही मिलता, ताकि पशुओ की वृद्धि हो सके। साधारणतया चरागाहो मे ५ महीने पशुओ की चराई हो सकती है। इसी तरह बगाल मे प्राय सभी स्थानो पर रास्तो के किनारे, तालाबो के आस-पास, खेतो की मेडो पर ही पशु अपनी गुजर कर सकते हैं। जमीन का कोई भी भाग ऐसा नही है, जो कृषि के उपयोग मे न लाया गया हो। फसल काटने के वक्त कुछ समय के लिए अवश्य उन्हे खाने को मिल जाता है, किन्तु बाकी समय मे उनका कुछ भी प्रबन्ध नही होता। परिणामस्वरूप पशुओ की दशा गिरती जा रही है।

चारे की कमी के कारण पशुओ की नस्ल भी बहुत खराब है, क्योकि हमारे शहरो व गाँवो मे जो बेकार तथा खराब जाति के साड घूमा करते हैं, उनसे ही सन्तानोत्पत्ति होती है। फलस्वरूप नई नस्लें बिगडती जाती हैं। इसके अतिरिक्त इसमें पशुओ की बीमारी भी सहायक होती है। इन्ही कारणो से हमारे पशु खेतो के कार्यों के लिए पूर्ण रूप से लाभदायक सिद्ध नही होते। इसीलिए भारत मे पशुओ की प्रति १०० एकड सख्या ७५ है, जबकि हॉलैंड मे यही सख्या ३८, मिश्र मे २५ है।

(९) जन-सख्या मे वृद्धि, और बोई हुई भूमि मे कमी—भारत की जन-सख्या बडे वेग से बढ रही है, अतएव जब तक इस पर रोक थाम न हो, तब तक हिन्दुस्तान की खाद्य-समस्या हल नही हो सकती। सच बात तो यह है कि पहले की अपेक्षा सभी देशो की जन-सख्या मे काफी वृद्धि हुई है, लेकिन साथ ही उन देशो में खाद्य-सामग्री का उत्पादन भी बढा है। उत्पादन ही क्यो, बल्कि इन देशो म शक्ति को सचित रखते हुए थोडी मेहनत से अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के साधनो मे भी उन्नति हुई है। निम्न आकडो से स्पष्ट है कि भारत के किसानो के पास जमीन कितनी कम है :—

देश	जन सख्या लाख	फसल का क्षेत्रफल (लाख एकड)	प्रति मनुष्य पीछे भूमि का हिस्सा (एकड)
जापान	६६० ३०	२३० ९०	० ३६
चीन	४,५०० ०	२,०५० ०	० ४४

भारतवर्ष	३,५६६'०	३,०२५ १०	१'२
सोवियत रूस	१,६५०'०	७,००० ०	४ २
अमेरिका	१,२५० ०	४,१३०'२०	३'३
कनाडा	१००'३०	३,००० ०	२'८१

किन्तु नीचे की तालिका से स्पष्ट है कि भारत की जन-सख्या की वृद्धि के साथ खाद्य उत्पादन कम होता गया :—

वर्ष	जन-सख्या (लाख)	क्षेत्रफल (लाख एकड़)	प्रति व्यक्ति बोया गया (क्षेत्रफल)	अनाज (लाख टन)
१९११-१२	२,३६० ६	१,५०० ५०	० ९	—
१९२१ २२	२,३३० ६	१,५८०'६०	० ८८	५४०'३०
१९३१-३२	२,५६० ८	१,५६० ६०	० ८२	५०० १०
१९४१-४२	२,९५० ८	१,५६० ५०	० ७२	४५०'७०
१९५१*	३,५६८ २	१,२६६ ६४	० ३५	५१२ ००

यह भी उल्लेखनीय है कि एक ओर तो कुल कृषि भूमि के साथ खाद्यान्न के अन्तर्गत कृषि भूमि का अनुपात तो कम हो रहा है और व्यापारिक फसलों के उत्पादन क्षेत्र मे वृद्धि हो रही है।

(१०) सहायक उद्योग-धन्धों की नितान्त कमी—भारत मे ऐसे व्यक्ति अधिक है, जो बिना जमीन के है और जो मेहनत मजदूरी करके पेट पालते है। उन्हें खेतों मे काम साल के कुछ ही महीनो मे, जब फसलें बोई और काटी जाती हैं, मिलता है : बाकी वर्ष के अन्य समय मे वे बिलकुल बेकार रहते है, क्योकि कृषि के साथ साथ चलने वाले धन्धो की बडी कमी है। फलत: यह समय ये मजदूर व्यर्थ में खो देते हैं। फसल नष्ट होने या ओले पडने या अकाल होने पर तो इनकी दशा और भी बुरी हो जाती है, क्योंकि खेतो में पूरे साल भर भी इनको यथेष्ठ काम नही मिल सकता। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार—"उत्तरी भारत मे केवल २०० दिन के लिए खेतो मे काम मिलता है।" डा० स्लेटर के मतानुसार—"साल भर मे केवल ५ महीने ही मद्रासी काश्तकार खेती मे लगे रहते हैं।" मैजर जैक के कथनानुसार—"बगाल मे जब किसान जूट नही बोता है तब वह ९ महीने फालतू रहता है, किन्तु अगर वे जूट और चावल बो देते हैं तो उन्हे जुलाई और अगस्त मे ६ सप्ताह के लिए और काम मिल जाता है।" श्री कीटिंग का कहना है—"दक्खिन बम्बई मे १८०-१९० रोज के लिए खेतो मे अधिक कार्य रहता है।" पजाब मे श्री कैलवर्ड के अनुसार—"साल भर मे सिर्फ १५० दिन का ही काम रहता है।" रॉयल कृषि कमीशन (सन् १९३८) के अनुसार किसानो को साल भर मे ४ महीने तक कोई काम नही रहता।

* सन् १९५१ के पूर्व के अङ्कों में पाकिस्तान के आँकड़े भी सम्मिलित हे।

वे इस समय को व्यर्थ ही शादियो, झगडो और आलस्य मे गवाँ देते हैं, अतः भूमि पर और भी अधिक भार बढ जाता है ।

(११) फसल के रोग और शत्रु—यदि खेत अच्छी तरह से न जोता जाय, अच्छी खाद न डाली जावे या कम खाद डाली जावे, आवश्यकता से अधिक या कम पानी दिया जावे तो फसल निर्बल हो जाती है और उसमे कीडे लग जाते हैं। उदाहरण के लिए, चावल मे फूट रॉट (Foot rot) और ब्लास्ट (Blast) कीडे, गन्ने मे मोसेक (Mosaic) और रेड रॉट (Red rot), मकई में स्मट्स (Smuts), मूंगफली मे विल्ट (Wilt) आदि। इन कीडो से फसल को बडा नुकसान होता है। एक जगह फसल मे कीडे लग जाने से अन्य स्थानो की फसल पर भी प्रभाव पडता है। ये कीडे पौधो की जडो से मिलने वाले भोजन को खा जाते हैं, जिससे पौधा अच्छी तरह नही बढ पाता। कई प्रकार के अन्य कीडे, जैसे – टिड्डियाँ, घास टिड्डे (Grass Hoppers), छोटे-छोटे चीटे तथा दीमक आदि भी फसल को समूचा ही नष्ट कर देते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि कीडे समस्त पृथ्वी की दस प्रतिशत फसलो को नष्ट कर देते हैं। केवल भारत मे ऐसी हानि सन् १९२१ मे १३,६०,००,००० पौंड की कूती गई थी।

कही-कही बन्दर, सूअर, गीदड, चूहे तथा जगली जानवर भी खेतो को बहुत हानि पहुँचाते हैं। रॉयल कमीशन के अनुसार बम्बई प्रान्त मे इनसे प्रति वर्ष ७२० लाख रुपये का नुकसान होता है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे यह नुकसान और भी अधिक होता है। परीक्षा से मालूम हुआ है कि एक चूहा साल मे ६ पौंड अनाज नष्ट करता है और भारत में कुल ८० करोड चूहे माने जाते हैं। अत उनसे एक वर्ष मे २२ करोड रुपये की हानि होती है। फसलो के इन शत्रुओ से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि खेतो मे बाडे लगाई जावें और कीटाणुनाशक द्रव्यों का उपयोग किया जाय।

(१२) प्राकृतिक कारण—भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है, अत जिस वर्ष मानसून ठीक समय पर नही आते तो हमारे कृषि कार्य बिल्कुल रुक जाते हैं और कभी-कभी तो अकाल पड जाता है। अनुमान है कि प्रति पाँच वर्ष मे एक वर्ष अच्छा, एक बुरा और तीन अनिश्चित वर्ष होते हैं। अत हमारी फसले कभी तो अच्छी और कभी औसत से भी कम होती हैं। कई बार अधिक वर्षा होने, असामयिक वर्षा होने, ओले गिरने या बाढ आने के कारण भी फसलें नष्ट हो जाती हैं। ऐसी अवस्था मे किसान के लिए अधिक ब्याज पर ऋण लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नही होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमको सन् १९५८ की वर्षा से मिलता है, जिसमे फसलो को अत्यधिक हानि हुई है।

(१३) पर्याप्त सिचाई सुविधाओ का अभाव—भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर रहती है, अत मानसून का कृषि कार्यो मे विशेष महत्त्व है। अच्छे वर्ष मे पानी

की विशेप आवश्यकता नही होती, किन्तु सूखे समय में सिंचाई आवश्यक हो जाती है। सरकारी आँकडो के अनुसार भारत मे लगभग ५६ ३ मिलियन एकड भूमि मे ५०% नहरो, से २५% कुओ से, १५% तालाबो से और १०% अन्य साधनो से सिंचाई होती है। यद्यपि भारत में सिंचाई का क्षेत्रफल ५६३ लाख एकड भूमि है, जबकि सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे २०० लाख एकड, रूस में ८० लाख, जापान मे ७० लाख, मिश्र मे ६० लाख, मेक्सिको मे ५७ लाख और इटली मे ४० ५ लाख एकड भूमि है। फिर भी यह मात्रा हमारे लिये पर्याप्त नही है, अत: देश के विभिन्न भागो मे ठीक समय पर फसलो को पानी न मिलने से प्राय एक न एक फसल नष्ट होकर खाद्यान्नो की कमी हो जाती है।

(१४) क्रय-विक्रय की असुविधाये—साधारणत खेती की पैदावार देश मे ही खप जाती है, क्योकि अभी तक हमारे यहाँ खेती व्यावसायिक पैमाने पर नही होती। इसके अलावा हमारे यहाँ अन्य देशो की तरह मिश्रित खेती भी नही होती, ताकि कई तरह की पैदावार मिल सके। ऐसी स्थिति मे यह सम्भव नही कि बडी मात्रा मे कृषि उत्पादन विदेशो को भेजे जा सकें। मोटे रूप में हमारे यहा पैदा होने वाली चाय और कॉफी का तीन-चौथाई भाग, कपास का दो-तिहाई भाग, जूट का एक-तिहाई भाग, अलसी का आधा भाग और मूँगफली का पाँचवा भाग विदेशो को निर्यात होता है। आम तौर पर किसान अपने खाने के लिए रखकर बाकी पदार्थों को अपने पुराने कर्ज चुकाने, लगान देने तथा अन्य आवश्यक कार्यो के लिए बेच देते हैं। यही अतिरिक्त पदार्थ नगर-वासियो का भरण-पोषण करते है।

भारत का कृषि उद्योग ऐसे करोडो व्यक्तियो के हाथ में है, जिन्हे न तो इस बात की शिक्षा ही मिली है कि अच्छे ढग से और सुचारु रूप से विशेष लाभ के लिए किस प्रकार उत्पादन किया जाय और न वे अपनी दरिद्रता के कारण खेती सम्बन्धी वैज्ञानिक तरीको, सूचनाओ तथा वस्तुओ के भाव ताव सम्बन्धी बातो से ही परिचित होते हैं। फलत. किसान के अज्ञान का लाभ व्यापारी उठाते हैं। हमारे निर्यात व्यापार मे इतने अधिक दलालो का हाथ रहता है कि वे किसान से मनमाना फायदा उठाते हैं। गरीब किसान अपने खेतो और गिरी हुई आर्थिक अवस्था के कारण इतना अधिक उपज नही कर पाता कि वह बडी-बडी मण्डियो मे जाकर अच्छे भाव पर बेच सके। दलालो की अधिकता और माल बेचने मे कई अस्वस्थ तरीको का प्रयोग होने से गरीब किसान को अपने एक रुपये की फसल मे से सिर्फ नौ आने ही मिल पाते हैं और बाकी रुपया दलालो, तुलावटियो, धर्मादा, पल्लेदारो, म्यूनिसिपल टैक्स आदि खर्चो मे ही समाप्त हो जाता है। विशेपकर बगाल, बिहार, उडीसा, उत्तर-प्रदेश व पजाब मे अधिकतर माल इन दलालो की सहायता से बेचा जाता है। कभी-कभी तो महाजन किसानो को इस शर्त पर रुपया देते हैं कि फसल पकने पर उनको ही बेची जायेगी।

इस प्रकार के कार्यों मे गरीब किसान को आर्थिक नुकसान बहुत होता है, क्योंकि उसे अपनी फसल का पूरा लाभ नही मिलता। इसका मुख्य कारण माल बेचने की पर्याप्त सुविधाओ का न होना है। बाजारो मे कई प्रकार के बाँट काम मे लाये जाते हैं। कभी-कभी तो खरीदने और बेचने के बाँट भी अलग-अलग होते हैं। इसके अलावा किसान से माल खरीदते समय कई प्रकार की कटौतियाँ की जाती हैं, जैसे— तुलाई, बिनाई, पल्लेदारी, धर्मादा, खाता दलाली, आढत, करदा आदि। इनके अलावा चौकीदार, भगी, मुनीम, भिश्ती, आदि सभी को इसमे से कुछ न कुछ चुकाना पडता है। फलत किसानो को काफी हानि होती है और उसकी उपज का ४२ ३ से ५७ ७ प्रतिशत दलालो और आढतियो की जेब मे चला जाता है। १ अक्टूबर सन् १९५८ से बाँटो की नई प्रणाली लागू की गई है, इसका सभी क्षेत्रो मे उपयोग होने पर ऐसी आशा है कि नापतोल की सभी असुविधाये दूर हो जावेगी।

(१५) कृषि पूँजी का अभाव—कृषक के पास कृषि मे विनियोग के लिए पर्याप्त पूँजी नही होती। इस कारण वह खेतो के लिए खाद नही खरीद सकता है और न पशुओ को खिला-पिला ही सकता है। सिंचाई के लिये पानी प्राप्त नही कर सकता है और न अधिक उपयोगी कीमती औजार ही खरीद सकता है। भारतीय किसान विस्तृत खेती करता है। चीन और जापान के किसानो की तरह गहरी खेती नही कर सकता। इन कारणो से भारत मे खेती की औसत उपज कम है।

(१६) भारतीय किसान साधक या बाधक—भारत मे कृषि की अवनत अवस्था के कारण कृषक की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ लोग इसका मुख्य कारण किसान को मानते हैं। भारतीय किसान को मूर्ख, अपने धन्धे के विषय मे कुछ भी न जानने वाला और अत्यन्त रूढिवादी कहा जाता है। आरम्भ मे कृषि-विभाग भी समझता था कि भारतीय किसान खेती करना नही जानता, किन्तु सर्वप्रथम कृषि विशेषज्ञ डा० वोयेल्कर ने भारतीय किसान की प्रशसा करते हुए कहा—"भारतीय किसान खेती के सम्बन्ध मे पूरा ज्ञान रखता है और जिन विपरीत परिस्थितियों मे उसे उद्योग चलाना पड रहा है, उनको देखते हुए वह श्रेष्ठ किसान है। भारत का किसान ब्रिटेन के किसान की बराबरी नही करता, किन्तु वह उससे कुछ बातो में बढ जाता है। उनका कहना है कि उन्होने भारत जैसा मेहनती और होशियार किसान नही देखा, जो इतनी लगन और सावधानी से खेती करता हो।" क्रमश. अब तो कृषि-विभाग के अधिकारी भी इस बात को मानने लगे हैं कि भारतीय किसान को साधारणत खेती-बारी के सम्बन्ध में कुछ और नही सीखना, परन्तु वैज्ञानिक खेती के लिए उसे कुछ नई आवश्यक बातें अवश्य सीखनी होगी।

उत्तम बीज, खाद, हल, बैल, गहरी जुताई और चकबन्दी के लाभ को वह न जानता हो, यह बात नही है, किन्तु जिस निर्धनता और उपेक्षा के वातावरण मे वह जीवन व्यतीत कर रहा है, उसमे वह खेती की उन्नति नही कर सकता। इन विषम

परिस्थितियो के कारण वह निराशावादी और भाग्यवादी हो जाता है। फिर भी जिस सहनशीलता और लगन का वह परिचय देता है, वह केवल सराहनीय ही नही अपितु इस बात की सूचक है कि पूर्ण सुविधाएँ होने पर वह अन्य देशो की तुलना में भी सफल हो सकता है।

यह सर्व विदित है कि आज का किसान सर्वथा अपढ और अशिक्षित है तथा उसके खेती करने का ढग अत्यन्त पुराना है। वह सफाई की ओर विशेष ध्यान नही देता। फलस्वरूप वह अनेक रोगो का शिकार हो जाता है तथा उनसे ग्रसित होकर अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर लेता है और उसकी कार्यशक्ति में बहुत कमी आ जाती है।

समस्या का हल—

सयुक्त-राष्ट्र-सघ (U N O) के कृषि और खाद्य विभाग के (F.A O) डाइरेक्टर श्री एन० सी० डॉड ने भारत की कृषि उन्नति के लिए निम्न सुझाव दिये हैं:-(१) जगलो को काटने की प्रणाली पर कडा नियन्त्रण कर भूमि कटाव (Soil Erosion) को रोका जाय। (२) नल कूपो द्वारा सिचाई के क्षेत्रो मे वृद्धि करना। (३) रसायनिक खाद के उपयोग मे वृद्धि करने की अपेक्षा दाल वाली (Clover Crops) फसलो का अधिक उपयोग किया जाय, जिससे उनके द्वारा नाइट्रोजन सग्रह करने तथा पानी को अधिक समय भूमि मे रहने की प्रणाली का विकास हो। (४) खेती में मशीन का प्रयोग खेतो के नये टुकडे तक ही सीमित कर देना। भारत की सम्पूर्ण कृषि मे मशीनो का प्रयोग करना एक मूर्खता का कार्य है, क्योकि इससे भारत में एक लम्बे समय मे प्रचलित खेती के उपयोग मे बाधा उपस्थित हो सकती है।

इस स्थिति का सामना करने के लिए उचित उपाय तो यही है कि देश मे काफी उत्पादन किया जाय और देश को खाद्यान्नो की वृद्धि से आत्म निर्भर बनाया जाय। यह कार्य तीन प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढाकर।

(२) भूमि की प्रति इकाई से उत्पादन बढाकर।

(३) वर्तमान कृषि योग्य भूमि को अनुत्पादक होने से बचाकर।

(१) कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढाकर—कृषि के अन्तर्गत भूमि में वृद्धि करने का अर्थ यह होगा कि बेकार भूमि और कृषि-योग्य भूमि पर (जो २५% होती है) कृषि की जाय। निस्सन्देह यह वाञ्छनीय है, अत इस प्रकार की भूमि पर खेती करने के पहले यह मालूम करना होगा कि किन कारणो से वह बेकार थी। सम्भव है किन्ही भागो में कम वर्षा, किन्ही में अधिक और किन्ही में कीडे मकोडे या बीमारियो के अथवा घास-फूँस के कारण खेती न की जा सकी हो। अत इन कारणो का पता लगाकर कौनसे तरीके काम मे लाये जायें, इसको सोचना होगा ? इसके अतिरिक्त बेकार जमीन पर खेती करने का उपाय होना जरूरी है। ऐसी भूमि

को जो नदियो, तालावो और रेल मार्गो के दोनो ओर वेकार पडी है, उसका पूरा व्यौरा मालूम कर किसानो को या ऐसे व्यक्तियो को दे दी जाय जो उस पर शीघ्र से शीघ्र खेती कर सकें अथवा वहा जल्दी उगने वाले वृक्षो को लगा कर बढती हुई ई धन की समस्या को हल करें। केन्द्रीय सरकार की ट्रैक्टर व्यवस्था कमेटी ने इस सम्बन्ध में काफी सराहनीय कार्य किया है। अब तक तराई, मध्य-भारत और राजस्थान सवो के एक बडे भाग की भूमि को ट्रैक्टरो द्वारा कृषि योग्य बना दिया गया है। ऐसा अनुमान है कि यदि वेकार और बजर भूमि के कम से कम चौथाई भाग पर ही खेती की जाय तो हमारी खाद्यान्न उत्पत्ति काफी हद तक बढ सकेगी।

कुछ लोगो का अनुमान है कि इस प्रकार की कुल भूमि वास्तव मे देश की जन सख्या की तुलना मे बहुत थोडी है, जिसमे अधिकाँश की दशा ऐसी है कि उस पर कृषि करने से कोई बचत नही होगी। दूसरे, इस प्रकार की भूमि का उचित रूप से विकास करने के लिए दीघकालीन कायक्रम बनाने पडेंगे। उनके अनुसार यदि इस प्रकार की सारी प्राप्य भूमि कृषि के अन्तर्गत कर ली जाय तो भी इन पर उत्पन्न होने वाली फसलो से देश के उत्पादन में कोई वृद्धि नही होगी और न खाद्य समस्या मे ही सुधार होगा।

(२) भूमि की प्रति इकाई से उत्पादन बढा कर—इससे निश्चय ही लाभ होने की सम्भावना है। भारत मे प्रति एकड चावल की उपज सिर्फ ८५० पौंड ही होती है, जबकि थाईलैंड मे इसकी उपज ९५० पौंड, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १,६८० पौंड, मिश्र मे २,००० पौंड, जापान मे २,१५० पौंड, स्पेन मे ३,५०० पौंड और इटली मे ३,००० पौंड एकड है। इसी प्रकार अन्य फसलो की भी यही दशा है। फिर यह प्रश्न उठता है कि दूसरे देशो मे प्रति एकड उत्पादन का स्तर इतना ऊँचा है तो यह भारत मे ही क्यो नही हो सकता। इस प्रश्न पर विचार करके हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि फसलो को उगाने की प्रणाली मे ही कोई बडा दोष है, जो न्यून उत्पादन के लिये उत्तरदायी है। जब तक इन दोषो को दूर नही किया जा सकता तब तक खाद्य समस्या के हल करने की आशा करना व्यर्थ है।

सभी प्रान्तो मे सिंचाई के पर्याप्त साधन प्राप्त नही हैं, अतएव सबसे बडी आवश्यकता इस बात की है कि जिन-जिन भागो मे वर्षा कम होती है वहा सिंचाई के साधन प्रचुर मात्रा मे प्रस्तुत किये जायें। उदाहरण के लिये, दक्षिण भारत में भूमि के असमतल होने के कारण पहाडियो के बीच बाँध बना कर वर्षा का पानी रोका जा सकता है। पहाडी भागो मे भी सोतो, नदियो तथा नालो को रोक कर तालाब की आकृति के बाँध बनाये जा सकते हैं अथवा सरकार अपनी ओर से तकावी देकर ट्यूब-वैल बनाने मे मदद कर सकती है। इसके अतिरिक्त वतमान कुँओ की मरम्मत की जानी चाहिए अथवा उसके निकाले जाने वाले पानी का उपयुक्त उपयोग किया जाय, जिससे सींची हुई भूमि से थोडे ही समय में दो फसलें मिलने लगेंगी और प्रति एकड उपज मे काफी वृद्धि होगी।

वर्षा की कमी सूखी खेती की प्रणाली (Dry Farming) को अपनाकर भी दूर कर सकते हैं। इस तरह के प्रयोग इण्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च द्वारा पंजाब मे रोहतक, बम्बई, शोलापुर, बीजापुर, हैदराबाद, रायपुर और मद्रास मे हजारो केन्द्रो पर किये गये हैं। इस प्रणाली से न सिर्फ औसत वर्ष मे ही उत्पत्ति की जा सकती है, अपितु सूखे वर्षों मे भी कुछ न कुछ पैदा किया जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि अन्य बातो मे सुधार करने से भी इस प्रकार की सफलता मिल सकती है। प्रत्येक फसल के साथ कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनका पूर्व उपयोग फसल की अधिक से अधिक प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है, जैसे खाद इसका दूसरा उदाहरण है। भिन्न-भिन्न कमेटियो और विद्वानो ने बार-बार इस ओर संकेत किया है। कि भारतीय मिट्टी मे नेत्रजन की कमी है। डा० बर्न ने अनुमान लगाया है कि भारत मे प्रति वर्ष २६ लाख टन नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है। यह पूर्ति १३२ टन अमोनियम सल्फेट अथवा ५२·६० लाख टन गोबर की खाद से पूरी की जा सकती है।

डा० आचार्य के अनुसार यदि बबूल, खेजड़ा आदि जल्दी पनपने वाले वृक्षो को लगाकर गोबर को जलाने से बचाया जा सके तो प्रति वर्ष हमको इस अतिरिक्त गोबर की खाद से १०० प्रतिशत नाइट्रोजन मिल सकता है, जिससे खाद्यान्नो मे १०० लाख टन की वृद्धि की जा सकती है।

इसके अलावा किसान खाद की कमी अपने खेत और पशुओ के बाड़े मे मैले और कूड़े कर्कट से कम्पोस्ट बनाकर स्वय खाद की पूर्ति कर सकते हैं। डा० सी० एन० आचार्य के अनुसार—"भारत के ५,००० शहरो मे लगभग ६ करोड़ व्यक्ति रहते हैं, यदि उनके मैले को कम्पोस्ट बनाने मे उपयोग किया जाय तो प्रति वर्ष १०० लाख टन उत्तम खाद मिल सकती है, जिससे उत्पादन मे १० लाख टन की प्रति वर्ष वृद्धि होगी।"

कम्पोस्ट के अलावा तिलहन की खाद भी काम मे लाई जा सकती है। इसके अलावा खेती मे हरी खाद, ढेंचा, गवार, सनई, नील, सोयाफली आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है। विदेशो में खेतो की उर्वरा-शक्ति बढाने के लिए बनावटी खादो का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु भारत मे उनका प्रयोग खर्चीला और मुश्किल होता है। कई विद्वानो का कहना है कि खेतो को बनावटी खादो से दूर रखा जाय। अमेरिका मे डा० क्लार्क और रोलट, इङ्गलैण्ड के डोलमेट और मोकरोड तथा भारत में डा० मैकरीसन तथा बी० बी० नाथ का तो कथन है कि खेतो में निरन्तर बनावटी खाद देने से यद्यपि दो फसलें पैदा होती हैं फिर भी उनमे उतने पोषक तत्त्व नही होते, जितने गोबर और अन्य खादो से तैयार की गई फसलो मे होते हैं। फिर भारत के किसान गरीब हैं, उनके लिए इस खाद का उपयोग असम्भव है। अत. वर्तमान समय मे खेतो से अधिक से अधिक उपज प्राप्त करने के लिए सब प्रकार के प्रयत्न करने

चाहिए। इस सम्बन्ध में चीन और जापान मे जो किया जाता है वह भारतीय किसानो के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। वहाँ खाद की कमी को पूर्ण करने के हेतु— पेड-पौधो की पत्तियाँ, उनकी शाखायें, घास, चिथडे, अन्य सडे-गले पदार्थ, राख, चूना आदि सभी प्राप्य वस्तुयें खाद बनाने के काम मे लाई जाती हैं। भारत मे भी इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए कि जो खाद बनाई जावे उसका वितरण म्युनिसपैल्टियो, ग्राम पचायतो और सरकारी समितियो द्वारा हो।

कृषि के लिए उन्नत किस्मो की फसलो को अपनाना चाहिए। उदाहरण के लिए, अमेरिका में अब तक गेहूँ की ५० नई जातियाँ निकाली गई हैं, जो बीमारियो, पशुओ, अनावृष्टि अथवा सर्दी के कोहरे के अन्तर से मुक्त हैं। इस उन्नत जाति के बोने से वहाँ पिछले ४ वर्षों मे (सन् १९४२-४६) ८,००० लाख टन बुशल की वृद्धि हुई है। सर रसल का कहना है कि उन्नत बीजो द्वारा पैदावार मे कम से कम- ९० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। भारत मे गेहूँ, गन्ना, चावल और कपास की कुछ सुप्रसिद्ध उन्नत जातियो को विस्तृत रूप से सफलतापूर्वक अपनाना भी यह प्रकट करता है कि अन्य फसलो मे भी इस प्रकार के परिवतनो की सम्भावनायें हैं।

विशेष जाति का चुनाव करते समय केवल उपज प्राप्ति का ही नही बल्कि रोग, अनावृष्टि तथा बाढ सहन करने की प्रवृत्तियो पर भी विचार करना चाहिए। ऐसा अनुमान है कि उन्नत जाति के बीजो को बोने से गेहूँ, चावल व जूट की पैदावार मे औसतन २ मन की वृद्धि हुई है। इस प्रकार ज्वार व बाजरा मे १ मन, मूगफली मे १ ७५ मन, बिनौला मे ० ५ मन तथा गन्ने मे २०० मन की वृद्धि हुई है।

कीड़ो व पशुओ से फसल का बचाव—

वर्तमान समय मे अनेकानेक कीडो, चिडियो, टिड्डियो, दीमक अथवा पशुओ द्वारा भी हमारी फसल मे कमी हो रही है, अत. इनको रोकने के उपाय होना आवश्यक है। दीमक आदि कीडो को रोकने के लिए खेतो मे फसलो को हेर-फेर के साथ बोया जाय अथवा गहरे हल चला कर व्यर्थ घास-फूस को खेतो से निकाल दिया जाय। पानी के लिए उपयुक्त नालियाँ बनाई जायें और जो पौधे सूख जायें उन्हे शीघ्र ही हटा दिया जाय। फसलो को जगली पशुओ से बचाने के लिए खेत के चारो ओर कटीले तारो की मजबूत बाढ लगाई जावे, परन्तु रात मे फसलो की रखवाली करना भी जरूरी है। फसलो में कब कीडे लगते हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है, इसके लिए देख-रेख आन्दोलन चालू किया जाय, जो समय-समय पर किसानो को इससे सूचित करते रहे। इन कार्यों से फसल की सुरक्षा होकर उत्पादन मे वृद्धि अवश्य होगी।

आस-पास के लगे हुए खेतो के किसान आपस मे मिलकर सम्मिलित खेती करें तो औजार, पशु आदि के खर्चे में कमी आ जायगी तथा इस बचे हुए धन को भूमि के सुधार मे लगाया जा सकता है।

किसान अपने काम मे पूरी रुचि ले, इसलिए यह जरूरी है कि जिस जमीन को वह जोतता है उस पर उसका हक हो, तभी वह अपनी खेती समझ कर सुधार कर सकता है। इस तरह खेतो की प्रति एकड पैदावार अधिक हो कर हमारी खाद्य-समस्या का हल हो सकेगा तथा विदेशी विनिमय की बचत हो सकेगी।

कृषि व्यवस्था के उत्थान के लिए देश की पच-वर्षीय योजनाओ मे कृषि उद्योग के विकास एव सुधार को पर्याप्त स्थान दिया गया है। फलस्वरूप कृषि उत्पादन मे वृद्धि हुई है। तीसरी योजना मे भी कृषि नीति का लक्ष्य यही है कि बढती हुई जन-सख्या को पर्याप्त खाद्यान्न उपलब्ध हो सके तथा विकसित औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक कच्चा माल उपलब्ध हो एव कृषि-पदार्थों का विदेशो को निर्यात सम्भव हो। योजना कालीन कृषि नीति के प्रमुख तत्त्व निम्न हैं :—

(१) भूमि-उपयोग का नियोजन।

(२) दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन लक्ष्यो का निर्धारण।

(३) योजना के अनुसार विकास कार्यक्रमो, भूमि-उपयोग योजना, खाद का बँटवारा, उत्पादन लक्ष्यो की पूर्ति के लिए सरकारी सहायता को सम्बन्धित करना, तथा

(४) समुचित कृषि मूल्य नीति का निर्धारण।

इस प्रकार कृषि आधार को मजबूत बनाकर उत्पादन वृद्धि के लिए कृषि उद्योग को नया तान्त्रिक मोड दिया जा रहा है, जिससे निश्चय ही कृषि उद्योग की समस्याओ का निवारण होकर कृषि उद्योग का सन्तुलित विकास हो सकेगा।

———

परिशिष्ट

भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के सुझाव—

कृषि और पशुपालन मण्डल की "फसल और मिट्टी" का चार-दिवसीय सम्मेलन ११ जून सन् १९६० को राँची मे हुआ। इस सम्मेलन ने भूमि की उत्पादकता बढाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की, जिनका प्रभाव दूरगामी सिद्ध होगा। सम्मेलन की प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

(१) पानी का अधिक से अधिक उपयोग कर सकने के लिए यह जानकारी एकत्र करना आवश्यक है कि किस स्थान की मिट्टी कैसी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सिंचाई आरम्भ होने के पहले और सिंचाई आरम्भ होने के बाद भूमि का सर्वे

किया जाय। पानी जमा होने के सम्बन्ध में यह सुझाव है कि निश्चित भूमि के लिए निश्चित मात्रा में नहरों से पानी छोड़ा जाय तथा किसानों के लिए गूलें बनाना अनिवार्य कर दिया जाय। इसके अलावा नई सिंचाई योजनाओं से जिस प्रदेश में सिंचाई होने लगे उसमे जनता को सही ढङ्ग से बसाने के लिए एक अखिल भारतीय मन्डल सगठित किया जाय।

(२) सम्मेलन की धारणा है कि कृषि को व्यावसायिक धन्धे का रूप दिया जाय। क्योंकि अनुसन्धान के परिणामों का उपयोग न करने का कारण यह भी है कि खेती को उद्योग के रूप में नहीं लिया जाता। अत. उद्योगों के विकास व उनकी सहायता के लिए जो प्रगतिशील नीतियाँ और प्रोत्साहन के उपाय अपनाये गये हैं, उन्हे खेती के सम्बन्ध में लागू किया जाना चाहिए।

वैज्ञानिक पद्धति से कृषि होने के लिए कुछ बातें आवश्यक हैं, जैसे कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये कृषि-पदार्थों के भाव स्थिर हों, उचित समय पर और काफी परिमाण मे ऋण का प्रवन्ध हो आदि। अतः इन बातों की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये।

(३) सम्मेलन की सिफारिश है कि रसायनिक खाद, कीडे व खरपतवार नाशक दवाओं, औजार और कृषि सम्बन्धी मशीनों के उद्योगों को शीघ्र विकसित किया जाय, जिससे कृषकों की आवश्यकतायें पूरी होने लगें। यह भी आवश्यक है कि कृषि-अनुसन्धानों के परिणामों की उपयोगिता की जाँच जल्द से जल्द की जाया करे, जिससे उसका लाभ अविलम्ब उठाया जा सके।

(४) सम्मेलन की सिफारिश है कि अमेरिका के "सिक्स्टी बुशल क्लब" के आधार पर भारत मे भी किसानों के शक्तिशाली सगठन का विकास किया जाना चाहिए।

(५) रसायनिक खाद की समस्या पर विचार करते समय सम्मेलन ने यह अनुभव किया कि नेत्रजनीय खाद के उत्पादन एव माग का अन्तर धीरे-धीरे बढता जा रहा है और सरकारी क्षेत्र के कारखाने द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे निर्धारित लक्ष्य पूरा नही कर सकेंगे। अत निजी क्षेत्र को रसायनिक खाद के कारखाने खोलने की छूट देनी चाहिए। खाद्य-उत्पादन को जो उच्च प्राथमिकता दी गई है उसे दृष्टि मे रखते हुए रसायनिक खाद कारखानों की स्थापना को भी उतनी ही उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। अनुमान है कि तीसरी पच-वर्षीय योजना मे अब तक १२५ लाख टन नेत्रजनीय खाद की आवश्यकता होगी।

सम्मेलन ने यह भी सिफारिश की है कि ४,००० जन सख्या के ऊपर के सब गावों और पचायतों में कम्पोस्ट खाद का निर्माण अनिवार्य किया जाय। छोटे गाँवों मे भी पचायतों को बिक्री के लिए कम्पोस्ट खाद का प्रोत्साहन दिया जाय। यह भी अनुभव किया गया कि ईंधन प्राप्त करने के लिए यदि बजर भूमि मे वृक्ष आदि लगाये

जायें तो गोवर की बरबादी रोकी जा सकती है। सम्मेलन ने यह सिफारिश की है कि खर-पतवार नष्ट करने के बारे मे देश व स्थान के अनुकूल अनुसन्धान किये जायें।

(६) सम्मेलन की धारणा है कि सिंचाई, खाद व अन्य साधनो से अधिकतम लाभ उठाने के लिए फसल प्रणाली शुरु करने की आवश्यकता है। यह काम शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न किया जाय और यदि आवश्यक हो तो कानून भी बनाये जांय और किसानो को प्रोत्साहन दिया जाय।[1]

इन सिफारिशो के कार्यान्वित होने पर कृषि-उपज की वृद्धि होने मे सफलता मिलेगी।

अध्याय ७
भारत में कृषि-जोत
(Units of Holdings in India)

"कृषकों की पूंजी प्रति वर्ष सिकुड़ती जा रही है और वे आहत तथा अचम्भित से खड़े देख रहे हैं।"

—ए० जी० स्ट्रीट।

"ग्रामीण भारत का अध्ययन करते समय तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है जनता, भूमि और उपज।[2]

भारत की भूमि छोटे-छोटे किसानों की भूमि है, जहां प्रति व्यक्ति उपयोग मे लाई गई भूमि का आकार केवल छोटा ही नही, अपितु आर्थिक दृष्टि से अलाभकर भी है। देश के बहुत से भागो मे खेत इतने छोटे छोटे पाये जाते हैं कि उनका क्षेत्रफल $\frac{1}{160}$ एकड या ३१$\frac{1}{4}$ वर्ग गज है। भारत मे खेती की जोत केवल छोटी ही नही, परन्तु वह कई टुकडो मे बँटी हुई भी है। साधारणतया खेतो के उप-विभाजन और बिखरे हुए (Fragmentation) होने के कारण भारतीय कृषि पर बुरा असर पडा। इस कारण कृषक का जीवन-स्तर केवल निम्न ही नही रहा, अपितु वह अपने खेतो से न तो पूरा उत्पादन ही प्राप्त कर सकता है और न उसकी आय ही बढ पाती है। सत्य

1. भारतीय समाचार—१ जुलाई सन् १९६०, पृष्ठ ३६३-३६४।

2 Report of Committee of Direction of the All India Rural Credit Survey, 1954 Vol II

तो यह है कि जब तक खेतो का आकार छोटा है और वे बिखरे हुए हैं, तब तक कृषि के उत्पादन और आय मे वृद्धि की आशा करना व्यर्थ है।

सबसे पहले श्री कीटिंग्ज का ध्यान खेतो के उप विभाजन और अप-खण्डन की ओर आकर्षित हुआ, जिन्होने इस बात की ओर इशारा किया। मोटे रूप मे बम्बई प्रान्त मे—विशेषकर कोकण, पश्चिमी तथा दक्षिणी गुजरात के हरे-भरे चावल के खेतो और बगीचो मे जोत के टुकडे एकदम असह्य सीमा तक पहुँच गये। इन भागो के कुछ क्षेत्रो में खेतो की जोत आधे एकड से भी कम पाई गई। श्री कीटिंग्ज के अनुसार भारत के लिए जोत सम्बन्धी दो प्रमुख समस्याएँ हैं —(१) जोत का छोटा होना और (२) जोत की चकबन्दी न होते हुए उनका भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे बिखरे हुए होना।[1] शाही कृषि आयोग सन् १९२६ ने भी इन्ही समस्याओ की ओर ध्यान दिलाया है। इस सम्बन्ध मे सन् १९४६ मे सरैया सहकारी आयोजन समिति ने लिखा था —"अलाभकर खेत कृषि उत्पादन वृद्धि में सबसे बडी बाधा है।" समस्या के दो पक्ष हैं—खेतो का केवल आकार ही छोटा नही होता बल्कि एक ही किसान के खेत एक चक मे न होकर दूर-दूर फैलते जा रहे हैं।[2]

उप-विभाजन का अर्थ (Meaning of Sub-Division)—

जोत के उप-विभाजन से हमारा आशय खेतो के छोटे-छोटे टुकडो मे बँटे होने से है। उदाहरणार्थ, यदि एक किसान के पास ४० एकड भूमि है और उसके पाँच लडके हैं, तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी यह भूमि आठ आठ एकड के ५ टुकडो में बँट जायेगी। जबकि अप खण्डन से हमारा आशय जोतो के भिन्न-भिन्न टुकडो मे बँटे होने के अतिरिक्त उनका विभिन्न भागो मे बिखरे होने से है। उक्त उदाहरण मे यदि किसान की ४० एकड भूमि पहिले ही से तीन टुकडो मे बँटी हुई है तो उसकी मृत्यु के बाद प्रत्येक भाग की भूमि भिन्न-भिन्न प्रकार की होने के कारण पाँच-पाँच टुकडो मे बँट जायेगी, जिससे सारी जोत एक क्षेत्र मे न रह कर गाँव के विभिन्न भागो मे होगी।

रॉयल कृषि आयोग सन् १९२६ के अनुसार हम जोत की समस्या का अध्ययन निम्न आधारो पर कर सकते हैं :—[3]

(१) भू-स्वामियो (Right-holders) की जोत का उप-विभाजन।
(२) कृषको की जोत का उप विभाजन।

(१) भू स्वामियो की जोत—भारत के विभिन्न भागो मे जोत के सम्बन्ध समय-समय पर हुई जाँच से स्पष्ट है कि देश के सभी भागो मे जोत का आकार मान नही है।

---

1 Keatings Agricultural Problems in Western India, pp 1 65

2 Report of the Co-operative Planning Committee, p. 24

3 Report of the Royal Commission on Agriculture, pp 132-33.

पंजाब में भू-स्वामियों की जोत—[1]

भू स्वामी	औसत जोत	कुल जोती गई भूमि का %
१७·६%	१ एकड से कम	१ %
४० ३%	१ से ५ एकड	११ . %
२६·२%	५ से १५ एकड	२६ ६%
११ ८%	१५ से ५० एकड	३५ ६%
३·७%	५० एकड से अधिक	२५ ७%

इसी प्रकार सन् १९३९ की जाँच के अनुसार ६३ ७ भू स्वामियो के पास ५ एकड से कम की जोत थी, जो कृषि भूमि के १२% थी।[2] फलस्वरूप पजाब मे ० ३४ टन प्रति एकड उपज थी, जो औसत आकार के खेत मे केवल ३ टन थी।

इसी प्रकार सन् १९१७ मे बम्बई प्रान्त में डाक्टर मान ने पूना जिले के पिपला सौदागर गाँव में जाँच की। उनके अनुसार—सन् १७७१ मे प्रति जोत का क्षेत्रफल लगभग ४० एकड था, लेकिन सन् १८१८ मे वह १७॥ एकड रह गया और सन् १९१४-१५ मे केवल ७ एकड ही रह गया। ७७% जोतें २० एकड से कम की थी और ४८% तो १० एकड से भी कम की थी। डा० मान के अनुसार गत ५०-६० वर्षों में खेतो के आकार में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ।[3] सन् १९३६-३७ मे ४९% जोतें ५ एकड से कम, २९% ५ से १५ एकड तक, ११% १५ से २५ एकड तक और १०% २५ से १०० एकड तक की थी। इन आँकडो के अनुसार औसत जोत ११·७ एकड की होती है और प्रति एकड पीछे केवल ०·१९ टन अनाज पैदा होता है।[4]

मद्रास प्रान्त मे भी खेतो की जोत बहुत ही छोटी है। तिन्नावेली जिले (मद्रास) मे अधिकांश जोत (४८%) तो दो एकड से भी कम की थी। परन्तु सन् १९१६ के बाद तो जोतो के आकार मे और भी कमी हो गई।[5]

फ्लाउड आयोग के अनुसार बगाल में जिनके पास २ एकड से भी कम भूमि है ऐसे परिवार ४२% हैं तथा जिनके पास २ से ४ एकड तक भूमि है, उनका प्रतिशत २१ से भी कम है।[6]

---

1 श्री कैलवर्ट की जाँच सन् १९२५।

2 Report of the Punjab Board of Economic Enquiry 1939

3 H Mann Land and Labour in a Deccan Village, Vol 1. p 43

4. Nanawati & Anjaria . The Indian Rural Problem, p 153.

5 Thomas & Ramkrishnan Some South Indian Village A Resurvey, pp 71-72

6. Report of the Bengal Land Revenue Commission, Vol. 1, p. 86.

(२) कृषकों की जोत—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि स्वामियों की जोतें बहुत ही अनार्थिक हैं—

सन् १९२८ में श्री कैलवट ने पंजाब के किसानों की जोत का अध्ययन किया था। इस जाँच के अनुसार :—२२% किसानों के पास १ एकड़ से कम के खेत थे, ३३% के पास १ से ५ एकड़, ३१% के पास ५ से १५ एकड़, १२½% के पास १५ से ५० एकड़ और शेष १% के पास ५० एकड़ से अधिक के खेत थे। पूरे पंजाब का क्षेत्रफल २९ से ३० करोड़ एकड़ था, जोकि २० करोड़ खेतों में बँटा हुआ था।[1]

उत्तर-प्रदेश में खेतों की जोत, ज्यों-ज्यों पश्चिम से पूर्व की ओर तथा दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ते हैं, कम होती जाती है।[2] उत्तर-प्रदेश बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार :—उत्तर-प्रदेश के दक्षिणी जिलों में औसत जोत १०½ से १२ एकड़ थी और उत्तरी जिलों में ६ से ७ एकड़ थी। पश्चिमी भागों में ८ से १०½ एकड़, पूर्वी जिलों में ३½ से ४½ एकड़ और दक्षिणी जिलों में ५ से ५½ एकड़ थी, जबकि सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश के लिए औसत जोत ६ एकड़ मानी गई है।[3] इस अनुमान के आधार पर यह निर्धारित किया गया है कि प्रान्त के अधिकांश खेत २½ एकड़ से ४ एकड़ के बीच में हैं।[4] गोरखपुर जिले में (सन् १९४३ की अकाल जाँच समिति) अधिक उपजाऊ भूमि की इकाई ४.८ एकड़ है, किन्तु झाँसी जिले में, जो कम उपजाऊ है, खेतों का आकार १२ एकड़ है। इस विषय में सन्त समिति का कहना है कि उत्तर-प्रदेश के खेतों का औसत आकार २.९८ एकड़ से ३.३६ एकड़ है। इससे स्पष्ट है कि ९४% किसानों के खेत अनार्थिक हैं, जो सम्पूर्ण खेतों के क्षेत्रफल का ५४.८ एकड़ है। ३७.८% जोतें कुल खेतों के क्षेत्रफल का ६% हैं, जबकि इतनी जोतें १ एकड़ से भी कम ही हैं।[5]

बंगाल के ¾ किसानों की जोत ४ एकड़ से भी कम है। लगभग ४६% किसानों के खेत २ एकड़ से कम, २८% किसानों के खेत २ से ५ एकड़, १७% किसानों के ५ से १० एकड़ और ९% किसानों के १० से अधिक एकड़ में खेत हैं।[6]

बम्बई राज्य के कुछ भागों में भी जोत सम्बन्धी जाँच की गई है—थाना जिले के भिवण्डी तालुका सन् १९३७ में ६९% जोत ५ एकड़ से कम, २५.५% की ५ से २५ एकड़, ४½% को २५ से १०० एकड़ और १% की १०० से २०० एकड़ की थी।[7] बम्बई में सन् १९३६–३७ में २% किसानों की जोतें १५ एकड़ से कम

---

1 H Calvert Wealth & Welfare of the Punjab, p 74
2 B Singh Whither Agriculture in India, p 66
3 Report of the U P Banking Enquiry Committee
4 U P Agrarian Distress Committee Report 1931, p 30
5 U P Zamindari Abolition Committee Report, p 24
6 Bengal Land Revenue Commission Report, vol II, pp 114 115
7 M G Bhagat the Farmer, His Wealth & Welfare, p 93.

थी ।[1] मद्रास में भी खेतो की जोत अनार्थिक है, वहाँ ४% खेतो का आकार केवल २ ४% ही है ।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देश में खेतो का औसत आकार एकसा नही है । सन् १९३१ की जनगणना के आधार पर प्रति किसान पीछे कृषि भूमि और खेत का आकार निम्न था[3] :—

प्रान्त	प्रति किसान कृषि भूमि एकड	खेतो का औसत आकार एकड
बम्बई	१६ ८	११ ७
मध्य-प्रदेश	१२ ०३	८ ५
पंजाब	८ ८	७ २
मद्रास	५'६६	४ ५
बङ्गाल	३'६७	२ ४
असम	३ ४	२
युक्त-प्रान्त	३ ३	६ ०
बिहार-उडीसा	२ ६६	४ और ५ के बीच

जोतो का उप-विभाजन केवल भारत मे ही नही, किन्तु विदेशो मे भी पाया जाता है । उदाहरण के लिये, जापान में खेतो की जोत बहुत ही छोटी है । दो करोड किसानो के खेत १¼ एकड से भी कम हैं और अन्य २ करोड के १¼ से २½ एकड के खेत है । चीन मे भी खेतो की जोत बहुत छोटी होती है । फ्रास में हमारे देश की तरह उप-विभाजन के कारण कभी-कभी तो खेतो का आकार अंगूर की बेल तक छोटा हो जाता है । बाल्कन प्रायद्वीप मे दक्षिणी-पूर्वी बल्गेरिया के एक गाव मे १२½% जोत २ हैक्टर से कम, ४२% के २ से ५ हैक्टर, २२½% के ५ से ७½ हैक्टर, ११½% के ७½ से १० हैक्टर और १०% के १० से १५ हैक्टर के हैं ।

यदि भारत की तुलना अन्य देशो से करें तो ज्ञात होगा कि जोतो के सम्बन्ध में हमारी स्थिति दयनीय है, जो निम्न तालिका से स्पष्ट होगी :—

देश	जोत (एकड मे)
अमेरिका	१४५
इङ्गलैड	२०
डेनमार्क	४०
हालैंड	२६

1 Nanawati & Anjaria Indian Rural Problem, p. 153
2 Woodhead Committee Report, p 156
3 World Agriculture, p 27

स्वीडन	२५
जर्मनी	२१ ५
फ्रान्स	२० ६
वेल्जियम	१४ ५
भारत	६

जोत के अपखण्डन का अर्थ (Fragmentation of Holdings)—

खेतो के छोटे-छोटे होने के साथ ही उनके एक चक में न होने के दोष को अपखण्डन कहते हैं। यह देश के सभी कृषि भागो मे है।

भारत मे खेतो के अपखण्डन की कल्पना निम्न तालिका से होगी :—

भारत मे भूमि की जोत (कुटुम्बो का प्रतिशत)

प्रान्त	२ एकड से कम	२ से ५ एकड	५ से १० एकड	१० एकड से अधिक
आसाम	३८ ६	२७ ४	२१ १	११ ६
पश्चिमी बङ्गाल	३४ ७	२८ ७	२० ०	१६ ६
मध्य-प्रदेश	५९ ०	—	२१ ०	३० ०
उडीसा	५० ०	२७ ०	१३ ३	१० ०
मद्रास	५१ ०	३१ ०	७ ०	११ ०
उत्तर-प्रदेश	५५ ८	२५·४	१२ ८	६ ०
पेप्सू	४५ ४	—	१७ ६	३७ ०
बम्बई (गुजरात जिले)	२७ ५	२५·७	२२ ३	२४ ५
दकन	१९·८	१६ ७	१८ ८	४४ ७
कर्नाटक	१८ २	१९ २	२१ ७	४६ ९
पञ्जाब (अविभाजित)	२० ०	१८ ०	४० ०	२६ ०
	(½ एकड से कम)	(१ एकड से कम)	(२½ एकड से कम)	(८½ एकड)
मैसूर	६६ २	२१ २	—	१२ ६

भूमि के अपखण्डन की समस्या भारत मे ही नही, अपितु कई योरोपीय और एशियाई देशो, विशेषकर फ्रान्स, स्विटजरलैंड, जर्मनी, बलगेरिया, चीन और जापान में भी इतनी ही विकट है। उदाहरणार्थ, चीन मे कई किसानो के खेत ५ से ४० टुकडो तक बँटे हुए हैं, जो कि लम्बे-लम्बे टुकडे, जमीन के कोने और कटार, बिना

* Congress Agrarian Reforms Committee Report, p 14

वाघ के खेत एक मील से अधिक दूरी पर स्थित हैं।[1] इसी प्रकार जर्मनी और स्विटजरलैंड मे भी इस समस्या का जटिल रूप है। स्विटजरलैंड की गत् जन-गणना के समय २,११२ एकड के ५३० ऐसे खेत थे, जो ५० से भी अधिक टुकडो मे वँटे हुए थे।[2]

उप-विभाजन और अपखण्डन के कारण—

(१) जन-सख्या मे वृद्धि—यह इस समस्या का मूल कारण समझा जाता है। पिछली अर्द्ध शताब्दी से भारत की जन-सख्या मे काफी वृद्धि हुई है—सन् १६०१ से सन् १६११ मे जन-सख्या में ६ ७%, सन् १६११-२१ मे ० ६ %, सन् १६२१-३१ मे १० ७%, सन् १६३१-४१ मे १५% और सन् १६४१-५१ मे १३% की वृद्धि हुई। अधिकांश जन-सख्या कृषि पर निर्भर होने से कृषि पर लगे हुए लोगो की जन-सख्या वढ गई है, लेकिन उसी अनुपात में कृषि भूमि के क्षेत्रफल मे वृद्धि नही हुई। फलत· वोई गई भूमि का वितरण प्रति व्यक्ति कम हो गया। सन् १६११ में प्रति व्यक्ति ० ६० एकड भूमि वोई जाती थी, सन् १६२१ मे यह क्षेत्रफल केवल ० ८८ एकड, सन् १६३१ मे ०·८१ एकड, सन् १६४१ मे ० ७२ एकड और सन् १६५१ मे इससे भी कम क्षेत्रफल रह गया। स्पष्ट है कि ज्यो ज्यो कृषि पर निभर जन-सख्या मे वृद्धि होती गई, त्यो-त्यो भूमि की मांग वढी और पुराने खेतो के टुकडे होते चले गये।

(२) व्यक्तिवाद का विकास—भारत मे आधुनिक-काल में व्यक्तिवाद का इतना अधिक विकास हुआ है कि सयुक्त-पारिवारिक प्रणाली प्राय· नष्ट हो चुकी है। कुटुम्ब विघटन मे पुरुष व्यक्ति पृथक-पृथक हो जाते हैं और खेत तथा सामूहिक सम्पत्ति का वँटवारा भी करते हैं, जिससे कृषि भूमि का वँटवारा होता है, क्योंकि वही जीवन निर्वाह का एकमात्र साधन होता है। श्री 'कुलो' का कथन है—"जव वँटवारे का निश्चय हो जाता है तो प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि समानाधिकार के कारण सारी सम्पत्ति मे उसको समान रूप से भाग मिले, यहाँ तक कि घर-द्वार, खेत, वगीचे, तालाव और वृक्ष तक वाटे जाते हैं। कभी-कभी तो वृक्ष पर लगे हुए शहद के छत्तो तक का वँटवारा होता है और कई वार तो केवल वृक्ष की टहनियो और फलो पर ही नही वल्कि उसकी छाया का भी वँटवारा करने के उदाहरण पाये जाते हैं।"[3]

(३) कुटीर उद्योगो की अवनति—भारत की अधिकांश जन-सख्या खेती पर निभर है, इससे खेती से अधिक आय प्राप्त नही होती। साथ ही, देश में कुटीर-धन्धो की अवनति के कारण वढती हुई जन सख्या के लिए कृषि के अलावा उपजीविका का अन्य साधन न रहा। अत· खेती पर जन-सख्या का भार वढ रहा है, जिससे उपयोग मे लाई जाने वाली भूमि का भी वँटवारा होता जा रहा है।

(४) उत्तराधिकार नियम—भूमि का छोटे-छोटे टुकडो मे वँटे होने का

1, R H Tawney Land & Labour in China, p 39
2 Report of the Co-operative Planning Committee, p 45
3 Jather & Beri Indian Economics, Vol I, p 186.

मुख्य कारण देश में उत्तराधिकार के नियमो का होना भी है। कानून की दृष्टि से हिन्दुओ मे सब पुत्र अपनी पैतृक सम्पत्ति मे समान रूप से अधिकार रखते हैं। मुसलमानो मे भी पिता के सब पुत्र-पुत्रियाँ सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं, अतः पिता की मृत्यु के बाद सब सम्पत्ति और भूमि सारे उत्तराधिकारिणो मे बराबर-बराबर बँट जाती है। इससे खेतो का उप विभाजन ही नही, बल्कि उनका अपखण्डन भी होता है। ये नियम शताब्दियो से भारत में प्रचलित हैं, फिर भी उप विभाजन तथा अपखण्डन प्राचीन-काल मे नही था, इसलिए आज उत्तराधिकार नियमो को भूमि विभाजन का मुख्य कारण नही माना जा सकता। इस समस्या ने केवल पिछली चार पाँच शताब्दियो से ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। खेतो के विभाजन की प्रवृत्ति को ग्रामीणो की गिरती हुई आर्थिक स्थिति ने प्रोत्साहन दिया है और उत्तराधिकार नियम इस प्रवृत्ति को बल देने मे सहायक हुए है।"*

(५) भारत मे उद्योगो का धीमा विकास—कुटीर उद्योगो की अवनति होने के बाद कृषि जन सख्या को एक तो सहायक उद्योग-धन्धो का अभाव हो गया। फलत. उनकी कृषि आय कम हो गई तथा बेकार समय के लिए कोई सहायक व्यवसाय नही रहा। साथ ही, भारत में आधुनिक सगठित उद्योगो का विकास भी अत्यन्त धीमी गति से हुआ। परिणामस्वरूप कुटीर उद्योगो पर निर्भर रहने वाली जन सख्या का कोई वैकल्पिक व्यवसाय न रहा। इन सबका परिणाम यह हुआ कि कृषि पर ही जन-सख्या का अभार बढता गया।

उप-विभाजन और अपखण्डन से हानियाँ—

भूमि के उप विभाजन और अपखण्डन से केवल कृषि व्यवस्था का सन्तुलन ही नही बिगडा, अपितु सम्पूर्ण कृषि-व्यवसाय अलाभकर हो गया है। खेतो क छोटे-छोटे होने से निम्नलिखित हानियाँ हुई हैं —

(१) अधिक व्यय—छोटे छोटे खेतो के होने से उत्पादन व्यय बढता है, और प्रति एकड उत्पादन व्यय मे कमी नही आती। खेत के आकार छोटे होते हैं तो उत्पादन की प्रति मात्रा पर उत्पादन व्यय बढता जाता है। खेतो के छोटे होने के साथ-साथ किसान के अन्य खर्च, जो उसे अपने परिवार के भरण-पोषण, एक जोडी बैल और कुछ औजार रखने मे होते हैं, उनमे कमी नही आती। यही नही, खेतो में बाढ लगाना तथा बीज और खाद आदि डालने मे भी अधिक व्यय होता है।

(२) समय की हानि—किसान का बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है, क्योकि उसके खेत छोटे-छोटे और एक चक में न होने से उसे बैल, हल और औजार इत्यादि इधर से उधर ले जाने पडते हैं। अनुमान है कि खेतो के ५०० मीटर दूर होने के कारण खेतो को जोतने और मजदूरो से काम लेने पर ५ २% व्यय बढ जाता है, खाद को ढोने मे २०% से २५% तक और फसलो के ढोने मे १५% से ३२% तक

* Wadia & Merchant Our Economic Problem, p. 244

अधिक व्यय होता है। इसलिए खेत जब एक दूसरे से १ मील की दूरी पर हो तो केवल जुताई पर ही ११% से १७% तक व्यय अधिक हो जाता है।*

(३) कृषि भूमि की हानि— खेतो के छोटे-छोटे होने के कारण वाढ आदि वनाने में केवल खर्चा ही अधिक नही होता, बल्कि ४% तक भूमि का क्षेत्र नष्ट हो जाता है।

(४) स्थायी सुधारो की असम्भवता— कृषि मे स्थायी सुधार नही किये जा सकते, क्योंकि पहिले से ही खेतो का आकार इतना छोटा होता है कि कभी कभी तो पुराने हल भी भूमि मे घुमाये नही जा सकते। ऐसी अवस्था मे आधुनिक ढङ्ग के कृषि औजार, मशीनें, ट्रैक्टर, विनोवर आदि काम मे नही लाये जा सकते।

(५) पर्याप्त सिचाई का अभाव—कभी-कभी तो सिचाई के पर्याप्त साधन होने पर भी खेतो के दूर होने के कारण उनकी सिचाई नही की जा सकती। यदि सिचाई के आधुनिक साधनो के उपयोग के लिए कृषक किसी प्रकार पर्याप्त धन सग्रह कर ले तो भी खेतो के छोटे आकार के कारण कुँओ या नल कूपो का उपयोग नही कर सकता।

(६) वैज्ञानिक खेती का उपयोग न होना—खेत छोटे होने के कारण वह अच्छे बीज, अच्छी खाद और वैज्ञानिक ढगो का पूर्ण उपयोग नही कर सकता, क्योंकि उत्पादन व्यय मे अनुपात से अधिक वृद्धि होने का भी डर रहता है।

(७) खेतो की सीमा नही डाली जा सकती—खेनो के छोटे-छोटे और फैले होने के कारण न तो उनके चारो ओर बाध ही बाधे जा सकते हैं और न सीमा ही बाँधी जा सकती है। परिणामत जङ्गली पशु उनके खेतो का नुकसान करते रहते हैं।

(८) मार्ग बनाने मे अडचन—बिखरे हुए खेतो मे जाने के लिए मार्ग बनाने पडते हैं। इसलिए जुते हुए खेतो मे पगडण्डियाँ बनानी पडती हैं, जिससे कठिन परिश्रम का एक बहुत बडा भाग यो ही नष्ट हो जाता है।

(९) पारस्परिक कलह—किसानो मे पट्टेदारो और पडोस के खेत वालो से सदैव परस्पर कलह होते रहते हैं, जिससे मार-पीट तक की नौबत आ जाती है तथा मुकद्दमेबाजी मे बहुत सा धन एव समय नष्ट होता है।

(१०) उचित देख-भाल का अभाव—छोटे-छोटे खेत होने के कारण कृषक खेतो की देख-भाल स्वय नही कर सकता, इसलिए उसे जितनी सम्हालकर खेती करनी चाहिए उतनी वह नही कर पाता।

(११) गहरी खेती असम्भव—भारतीय कृषक न तो गहरी खेती ही कर

---

* B P Misra Op cit

पाता है और न विस्तृत खेती ही, क्योंकि दोनो प्रकार की खेती के लिए पर्याप्त पूँजी आवश्यक होती है। विदेशो मे कृषक अपनी आय बढाने के लिए खेती के साथ-साथ साग भाजी पैदा करने, अण्डे, दूध, मक्खन और शहद के लिए मुर्गियाँ, पशु और मक्खियाँ भी पालता है, परन्तु भारतीय किसान अपने छोटे खेतो के कारण पशुओ के लिये चारा तक पैदा नही कर सकता, फिर सहायक उद्योगो की बात ही कैसे की जा सकती है ?

(१२) कम-आय—खेतो के छोटे-छोटे होने के कारण खेती एक अलाभकर व्यवसाय हो जाता है। जैसा कि उत्तर-प्रदेश के कुछ भागो की जाँच से स्पष्ट है :—तीन एकड से कम की जोत पर प्रति वर्ष प्रति एकड ४०) रु० व्यय था और उससे प्राप्त आय केवल ४१ रु० १ आना। अर्थात् प्रति एकड शुद्ध आय केवल १ रु० १ आना ही थी।[1]

उप-विभाजन और अपखण्डन के लाभ—

छोटे-छोटे खेतो से केवल हानि ही नही होती, बल्कि इनसे कुछ लाभ भी हैं :—

(१) विभिन्न उर्वरा शक्ति का लाभ—जब खेत छोटे-छोटे और बिखरे हुए होते हैं तो किसान को भिन्न-भिन्न खेतो की उर्वरा शक्ति और जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओ का पूरा पूरा लाभ मिलता है। कारण, जब गाँव के एक भाग मे एक खेत में वर्षा होती है तो गाँव के दूसरे भाग के खेत मे जुताई आदि करके बीज बोया जा सकता है। इस प्रकार किसान के परिश्रम और पशुओ के श्रम का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है।

(२) कृषि आय का सन्तुलन—डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार 'वर्षा की कमी का सभी खेतो पर एकसा असर नही पडता, क्योंकि जब एक खेत की फसल अनावृष्टि या अतिवृष्टि से नष्ट हो जाती है तो दूसरे खेतो की फसल इस आर्थिक हानि को दूर कर सकती है, जिससे कृषक की आय का सन्तुलन हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय किसान अपने छोटे छोटे खेतो पर हेर-फेर के साथ खेती करता है।[2]

(३) माँग और उत्पादन का सन्तुलन—खेतो के छोटे छोटे होने पर उत्पादको और उपभोक्ताओ में परस्पर निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है। इस कारण उत्पादको को उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ का ठीक-ठीक ज्ञान रहता है, जिसके अनुसार कृषि उत्पादन होता है। इससे कृषक को माँग के लिये भटकना नही पडता और न उत्पादनाधिक्य का ही भय रहता है। इतना ही नही, अपितु तेजी और मन्दी के कारण व्यापार मे जो सघर्ष उत्पन्न होते हैं वे भी नही होने पाते। उत्पादको को अधिक

---

1 R K Mukerjee Economic Problems of Modern India, Vol I, p 111

2 R K Mukerjee Problems of Modern India, Vol I, p 111

लाभ न होने से कुछ व्यक्तियो के हाथ मे धन एकत्रित नही होता और न असमान वितरण की समस्या ही आती है।

(४) उपलब्ध श्रम का पूर्ण उपयोग—छोटे छोटे खेतो के उत्पादन में किसान प्राय. अपने बच्चे और स्त्रियो के श्रम का पूरा उपयोग कर सकता है। दूसरे, उन्हे अपनी इच्छा और सुविधानुसार काम करने की स्वतन्त्रता रहती है।

(५) श्रम एव पूँजी मे सहयोग—छोटे-छोटे खेतो के कारण किसान या जमीदारो का अपने मजदूरो से सीधा सम्बन्ध होता है, इसलिए कार्य करने मे सद्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त उनमें परस्पर सहयोग रह कर सघर्ष नही होने पाता।

(६) अनावश्यक देख-भाल—छोटे-छोटे खेतो पर काम करने मे श्रमिक को अपनी योग्यता एव कुशलता के प्रदर्शन तथा उन्नति का यथेष्ट अवसर मिलता है। इस प्रकार की उत्पत्ति मे अधिक देख रेख नही करनी पडती, इसलिए इन पर होने वाले खर्चों मे भी कमी आ जाती है।

यद्यपि उप-विभाजन एव अपखडन से कुछ लाभ होते हैं, फिर भी उससे होने वाली हानियो की तुलना में यह आवश्यक है कि कृषि के इस महत्त्वपूर्ण दोष का निवारण किया जाय।

आर्थिक जोत
(Economic Holding)

भारत मे अधिकाश जोत अलाभकर एव अनार्थिक हैं। अत कृषि मे उत्पादन बढाने एव किसान का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए भारतीय जोत का क्षेत्रफल आर्थिक स्तर तक बढाना आवश्यक है। कृषक और उसके परिवार का श्रम, उसके हल एक बैल की जोडी और औजार एक प्रकार से श्रम और पूँजी की अविभाज्य इकाई है। इसलिए एक कृषक के पास इतनी भूमि होनी चाहिए जिससे वह अपने श्रम और पूँजी का उचित प्रयोग कर सके तथा कृषि की लागत को पूरा करने के बाद उसे अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त आय प्राप्त हो। यदि भूमि कम हुई तो श्रम और पूँजी का उचित उपयोग न हो सकेगा, जिससे उपज की लागत बढ जायेगी।

भूमि की आर्थिक जोत के सम्बन्ध मे अर्थ-शास्त्रियो के भिन्न भिन्न मत हैं। श्री कीटिंग्ज[1] के अनुसार—"जोत की आर्थिक इकाई वह है जो किसी व्यक्ति को आवश्यक लागत को निकाल कर अपना और अपने परिवार का उचित आराम के साथ निर्वाह कर सके इसका अवसर दे।" उनके अनुसार ४० से ५० एकड की जोत आर्थिक होगी। डा० मैन के अनुसार—"जोत की आर्थिक इकाई वह होती है, जो एक औसत कुटुम्ब के लिए सन्तोषजनक न्यूनतम स्तर प्रदान कर सके।" इनके अनुसार दक्षिणी भारत के गाँवो के लिए २० एकड पर्याप्त होगे।[2] स्टेनले जैवन्स के अनुसार—

---

1 Keatings Rural Economy in Bombay Deccan, p 52-53.
2 H Mann Op Cit., p 43.

"आर्थिक इकाई वही है जो एक कृषक को न्यूनतम-स्तर प्रदान करके एक ऊँचे जीवन-स्तर को सम्भव बना सके।" इनके अनुसार उत्तर-प्रदेश के लिए ३० एकड़ भूमि आर्थिक जोत होगी।[१]

उत्तर-प्रदेश कांग्रेस कृषि समिति के अनुसार—"न्यून कीमतों के समय जोत की इकाई १५ से १० एकड़ तक होनी चाहिए, किन्तु यदि कृषि वस्तुओं का मूल्य काफी ऊँचा, लगान कम तथा सिंचाई और कृषि के साधन उपलब्ध हो तो जोत का क्षेत्रफल कुछ कम भी किया जा सकता है।"[२]

श्री डार्लिंग के अनुसार—"पंजाब से एक किसान को न्यूनतम स्तर प्रदान करने के लिये कम से कम ८ से १० एकड़ भूमि चाहिए, यदि उसके पास आय के अन्य साधन न हो। अनुमान है कि पंजाब मे जो कृषक बँटाई प्रथा के अनुसार खेती करता है ऐसे औसत दर्जे के एक परिवार के लिए कम से कम १० से १२ एकड़ भूमि आवश्यक होती है।"[३]

फ्लाउड कमीशन के अनुसार "बङ्गाल मे औसत जीवन-स्तर के ग्रामीण कुटुम्ब के लिए ५ एकड़ भूमि आवश्यक है। किन्तु जिन भागो मे भूमि पर दो फसलें पैदा की जाती हैं वहाँ २½ एकड़ भूमि आर्थिक जोत हो सकती है तथा जिन भागो मे भूमि की कम उर्वरा शक्ति के कारण केवल एक फसल पैदा होती है वहाँ कम से कम १० एकड़ भूमि होनी चाहिए।"[४]

मध्य-प्रदेश के लिये कुमारप्पा उद्योग जाँच समिति ने २० एकड़ वाले खेत को लाभकर जोत माना है, क्योंकि इस आकार वाले क्षेत्र से किसान का साधारण जीवन-निर्वाह हो सकता है और उसको पूरा रोजगार मिलकर उसकी एक जोड़ी बैल का भी पूरा उपयोग हो सकता है।[५]

सर टी० विजयराघवाचारी के अनुसार "मद्रास मे भूमि की आर्थिक जोत कम से कम ४ से ६ एकड़ होनी चाहिए।"[६]

राजस्थान के पश्चिमी भागो के लिये जहाँ भूमि रेतीली, कम उपजाऊ और कम वर्षा वाली है, एक किसान को कम से कम १५ से २० एकड़ भूमि आवश्यक होगी, किन्तु पूर्वी भागो मे यह जोत १२ एकड़ तक की हो सकती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि जो जोत देश के एक भाग मे आर्थिक हो सकती है वही अन्य स्थानो मे अनार्थिक भी हो सकती है। इसलिये आर्थिक जोत का क्षेत्रफल निर्धारित करने मे निम्न बातो पर ध्यान देना आवश्यक है—

---

1 Dr C B Mamoria Agricultural Problems of India, p 123
2 Quoted in Agricultural Problems of India, p 123
3 Darling Punjab Peasants in Prosperity & Debt
4 Floud Commission Report
5 Congress Agrarian Reforms Committee Report, p 36-37
6. Kumarappa C. P. Industrial Enquiry Committee Report

(१) भूमि की उर्वरा शक्ति—जो भूमि अधिक उपजाऊ है उसका थोडा सा क्षेत्र ही पर्याप्त हो सकता है, किन्तु यदि भूमि कम उपजाऊ है तो उसी परिवार के लिये अधिक भूमि की आवश्यकता होगी। पजाब के जालन्धर जिले मे केवल ६ एकड भूमि अथवा उत्तर-प्रदेश मे ७–८ एकड भूमि कृपक परिवार के लिये पर्याप्त हो सकती है। किन्तु राजस्थान मे २५ एकड भूमि भी पर्याप्त न होगी। भूमि की उर्वरा-शक्ति के साथ-साथ सिचाई के साधनो की सुलभता भी होनी चाहिए, अन्यथा खेती के लिए वर्षा पर निभर रहना पडेगा और एक परिवार के लिये अधिक भूमि की आवश्यकता होगी।

(२) फसलो के प्रकार—यदि किसी क्षेत्र मे ऐसी फसले पैदा की जाती हैं जिनके लिये जल की अधिक आवश्यकता होती है, जैसे—धान, किन्तु थोडे ही क्षेत्र में पैदावार अपेक्षाकृत अधिक होती है तो आर्थिक इकाई का क्षेत्र छोटा होगा और यदि गेहूँ की पैदावार की जाती है तो आर्थिक जोत का क्षेत्र अधिक होगा। इसी प्रकार सब्जी, गन्ना और कपास पैदा करने के लिए आर्थिक इकाई छोटी होनी चाहिए।

(३) कृपि का ढङ्ग—यदि किसी स्थान पर आधुनिक ढङ्ग मे कृपि होती है तो उसके लिए आर्थिक जोत का क्षेत्र कम से कम १५० से २०० एकड भूमि होनी चाहिए और यदि पुराने ढङ्गो मे तथा व्यक्तिगत रूप से खेती की जाये तो आर्थिक जोत छोटी होनी चाहिए।

काग्रेस कृपि सुधार समिति ने अपनी रिपोर्ट मे तीन प्रकार की इकाइयाँ सुझाई हैं*—

Not Important.

(१) आर्थिक जोत—खेतो की वह जोत है जो एक कृपक को साधारण जीवन-निर्वाह प्रदान कर सके और निरन्तर उसको पूरा काम देती रहे तथा उसके एक जोडी बैलो का पूरा-पूरा उपयोग हो सके।

(२) आधारभूत जोत—खेत का मूल आकार वह माना जायगा जो कुशलता की दृष्टि से अलाभकारी खेतो से भी छोटा हो।

(३) अनुकूलतम् जोत—अनुकूलतम जोत वह होगी जिस पर एक किसान अपना स्वामित्व रख सकेगा और उस पर खेती कर सकेगा। अनुकूलतम् जोत आर्थिक जोत के आकार से तीन गुनी अधिक होनी चाहिये।

उक्त आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्थिक जोत वह जोत होगी, जिसके क्षेत्रफल पर एक सामान्य कृपक परिवार को (५ व्यक्ति) और उसके एक जोडी बैलो को निरन्तर पूरा काम मिले तथा उसकी इतनी आय अवश्य हो जिससे कृपक सुखपूर्वक अपना निर्वाह कर सके।

उपविभाजन एव अपखंडन को दूर करने के उपाय—

विदेशो मे विभाजन और अपखण्डन की समस्या को सुलझाने के लिये कई

* Congress Agrarian Reforms Committee Report, p 21-22.

वम्बई में सन् १९४७ मे, पजाब मे सन् १९३६ एव १९४८ में, दिल्ली मे सन् १९३६ और १९४८ मे तथा जम्मू एव कश्मीर राज्य मे भी स्वीकृत किए गए हैं, जिनके अनुसार चकवन्दी कार्य हो रहा है।

प्रथम एव द्वितीय पच-वर्षीय योजनाओ मे भूमि की चकवन्दी के महत्त्व की ओर सकेत किया गया है। योजना आयोग की यह सिफारिश है कि सामुदायिक विकास के अन्तगत कृषि कार्यक्रम में भूमि की चकवन्दी का प्राथमिक कार्य होना चाहिये। इस दृष्टि से सामुदायिक विकास अधिकारियो ने इस सम्बन्ध की उपलब्ध पद्धतियो का अध्ययन पूर्ण किया है, जिससे इस समस्या के हल के लिये उपलब्ध अच्छे अनुभव की प्राप्ति हो सके।

प्रथम योजना की अवधि मे वम्बई मे २१ लाख एकड, मध्यप्रदेश मे २० लाख एकड, पजाब और पेप्सू मे क्रमश. ४८ और १३ लाख एकड तथा उत्तर-प्रदेश मे ४४ लाख एकड भूमि की चकवन्दी की गई है। द्वितीय योजना काल मे विभिन्न राज्यो मे ४५० लाख एकड भूमि की चकवन्दी का कार्य-क्रम था। निम्न तालिका से इस सम्बन्ध मे प्रगति की कल्पना होगी —

कृषि जोतों की चकवन्दी[1]

राज्य	१९५६–६१ के लिये आयोजन लाख रुपये	१९५६–६१ का लक्ष्य लाख रुपये	३१-१२-५७ को पूरा एकड	३१-१२-५७ को चालू काम एकड
आध्र	२० ५३	५ ००	—	१,९२,३४१
असम	१४ २५	१३ ८२	—	—
विहार	१८ ९७	१८ ००	—	२,५५,८८५
वम्बई	७९·३९	७२ ८१	१३,६५,२७५	११,७९,५४२
मध्य-प्रदेश	५४ २५	१६ २५	२१,९५४,३५	२,१९ ६४२
मद्रास	११ ५०	N F	—	—
मैसूर	१४ ५१	१५·०४	३,८८,३३४	४,५१,११०
उडीसा	५ ००	N F	७३	—
पजाब	१७० ००	१५७ ७२	८५,८०,८७४	५६,१७,४३८
राजस्थान	३२ ५	१० ००	२१,०००	३,६२,११९
उत्तर-प्रदेश	D	५० ००	१३,९८,५९२	३७,३५,१२९
वगाल	१४ २५	N A.	—	—
दिल्ली	२ ८५	०·५९	२,०१,८३४	—
हिमालय प्रदेश	९ ५०	११८	२१,७६२	२६,१०४
मनीपुर	० २९	E	—	—
पाडचेरी	० २०	—	—	—
योग	४४९ ९९	३६० ४१	१,४८,७३,१७९	१,२०,३९,३१०

1 India 1959

D Consolidation scheme was outside the plan, nor it is being included in annual plans

N, F Not fixed.

N A. Not available

E Froposed to be taken up after survey is finished

(३) सहकारी प्रयत्नो द्वारा चकबन्दी—चकबन्दी का काम सन् १९२० में सहकारी विभाग के अन्तर्गत पजाब में शुरू हुआ। इस काम की प्रगति बहुत ही धीरे-धीरे थी। सन् १९४८ तक ७ लाख एकड भूमि की चकबन्दी तब हो सका, जबकि सन् १९४८ का अन्तिम पजाब आराजी (चकबन्दी रात टुकरकरण रोक) अधिनियम पास किया गया। सहकारी विभाग के प्रचार से किसानो पर अनुकूल प्रभाव पडा और सन् १९४७ ४८ के अन्त तक राज्य मे ६,५७३ चकबन्दी समितियाँ थी, जिनकी सदस्यता २ लाख से अधिक थी। इन समितियो द्वारा की गई चकबन्दी के कारण खेतो की सख्या १८ २४ लाख से घट कर २ ८६ लाख रह गई। सन् १९५१ मे गाँवो मे चकबन्दी की माँग बहुत बढ गई, अत सरकार ने चकबन्दी योजना मे परिवर्तन का निर्णय किया। नई योजना अप्रैल सन् १९५१ से लागू हुई, जिसके अनुसार प्रत्येक जिले मे चकबन्दी के लिए एक तहसील चुनी गई। नई योजना के अन्तर्गत अगस्त सन् १९५७ तक कुल ४७ तहसीलो मे से ४० तहसीलो मे चकबन्दी करने का निश्चय किया गया है और बाकी ७ तहसीलो मे सन् १९५९ तक चकबन्दी करने की योजना है। पुरानी योजना के अनुसार आज ४४ तहसीलो मे चकबन्दी होनी थी और बाकी ३ मे सन् १९६१ तक चकबन्दी समाप्त करने का इरादा था। तात्पर्य यह है कि चकबन्दी कार्य का अधिकतर भाग पुरानी योजना की तुलना मे अब ४ वष पहिले पूर्ण हो जायगा और बाकी तहसीलो मे भी पहिले से दो साल पूर्व चकबन्दी समाप्त हो जायगी।

चकबन्दी करने मे कठिनाइया थी, जो कुछ हद तक मानसिक और कुछ हद तक टेक्नीकल थी। औसत भारतीय कृषक की मानसिक प्रवृत्ति के कारण उसमें अपनी भूमि से अलग होने के विचार से घृणा हो गई है। चकबन्दी के लाभ किसानो के सामने व्यवहारिक रूप मे रखकर इस प्रवृत्ति मे परिवतन किया जा रहा है। दूसरी बात, जिस पर इस काय की सफलता आधारित है, वह यह है कि कर्मचारी विचारपूर्ण, स्पष्ट और अपने काम मे दिलचस्पी रखने वाले, शिक्षित, योग्य और इससे भी अधिक ईमानदार होने चाहिये। अधिकतर कठिनाइया उस समय होती हैं, जब भूमि का अधिकार दिया जाता है या घटिया भूमि प्राप्त करने वाले को उसकी बढिया भूमि के बदले मुआवजा देने का प्रश्न आता है। कभी-कभी यह दोष भी लगाया जाता है कि कुछ गुटो और व्यक्तियो की तरफदारी की गई है। यह कहा जा सकता है कि न तो स्वेच्छापूर्वक सहयोग से ही और न कानून द्वारा ही चकबन्दी की समस्या सुलझाई जा सकी है। इसका सबसे बडा कारण यह है कि ग्रामीण लोगो मे शिक्षा का अभाव है, अतः जब तक उनमे शिक्षा का प्रचलन नही होगा तब तक समस्या ठीक प्रकार से हल नही हो सकेगी।

(४) सयुक्त ग्राम व्यवस्था—उपरोक्त सुझावो के अतिरिक्त यह भी सुझाव दिया जाता है कि गाँवो मे सयुक्त ग्राम व्यवस्था लागू की जाय। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक भूमि-स्वामी के भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार को माना जाता है, परन्तु प्रबन्ध के लिए भू-स्वामी अपनी-अपनी भूमि

को देते हैं और इस सम्मिलित भूमि पर गाँव वाले आपस मे मिल कर खेती करते हैं। भूमि से प्राप्त होने वाली आय को दो भागो मे विभाजित किया जाता है —एक तो, वह आय जो काम करने के कारण होती है और दूसरी, जो भूमि स्वामित्व के कारण होती है। विभाजन नकद या किश्त मे किया जाता है, लेकिन प्रतियोगिता के आधार पर भी यह विभाजन हो सकता है, किन्तु साधारणत' यह व्यवस्था रिवाजी होती है। खेत की सम्पूर्ण आय काम करने वालो मे बँट जाती है तथा शेष आय से लगान आदि चुका दिये जाते हैं और जो कुछ बचता है, वह भू-स्वामियो मे बाँट दिया जाता है। वास्तव मे सयुक्त ग्राम व्यवस्था का सुझाव बहुत अच्छा है, किन्तु उसके अपनाने के पूव सरकार और कृपक के बीच में सम्पर्क स्थापित करने वाले समस्त मध्यस्थो का अन्त होना जरूरी है।

(५) सामूहिक कृषि—कुछ व्यक्तियो का कहना है कि भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिये। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सारी भूमि को बड़े-बडे टुकडो मे विभाजित करके आधुनिक पद्धति से उन पर खेती की जाय। इसमें काम करने वाले व्यक्तियो को उनकी आवश्यकता के अनु-सार आय का भाग देना चाहिए। किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था क्रान्तिकारी होगी, क्योकि इसमे खेती करने वाला व्यक्ति भूमि का स्वामी नही, अपितु एक मजदूर होगा। इस प्रकार की व्यवस्था मे प्रजातन्त्रात्मक भावना नही है और व्यक्तिगत विकास की सम्भावना भी कम है। साथ ही, इसमें बहुत से खेतिहर मजदूर बेकार हो जावेंगे, क्योकि वैज्ञानिक प्रणालियो द्वारा कृषि की जायगी। इसमे सबसे बडी असुविधा यह भी होगी कि प्रत्येक किसान, जिसके पास भूमि के छोटे-छोटे टुकडे हैं, वे सामूहिक खेती के लिए शीघ्र तैयार न होगे, क्योकि ऐसा करने से उनके अधिकार वाली भूमि का पृथक अस्तित्व ही मिट जाता है। वे सोचते हैं कि ऐसा करने पर भविष्य के बन्दोबस्त मे उनकी भूमि उनके स्वामित्व मे न रहकर समिति की हो जायगी। अतः भविष्य में कुछ समय तक सामूहिक खेती भारतीय कृषि क्षेत्र में अपनाना सम्भव नही है।

(६) सहकारी कृषि—जोत के उप-विभाजन एव अपखण्डन के दोषो को दूर करने के लिए यह भी सुझाव है कि किसान सहकारी प्रणाली द्वारा कृषि करें। इस प्रकार की खेती मे सभी मालिक किसान अपने छोटे-छोटे खेतो को एक बडी इकाई मे मिला देते हैं और वे अपनी भूमि, पूँजी तथा पशुओ को एकत्रित करके इन बडी इकाइयो पर सहकारी प्रणाली द्वारा खेती करते हैं। प्रत्येक किसान का इस इकाई मे व्यक्तिगत अधिकार रहता है और इसके लिए उन्हे लाभ का एक अश मिल जाता है। इसके अतिरिक्त खेतो मे काम करने वाले व्यक्तियो को काम के लिए मजदूरी के रूप मे शेप लाभ का अश बाँट दिया जाता है। इस प्रकार की खेती करने से किसानो को कई लाभ होते है, जैसे —बड़े पैमाने पर रुपया उधार लेने की, कच्चे माल

खरीदने तथा उपज को बेचने की सुविधा आदि। इस प्रकार की खेती के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती है, किन्तु भारतीय कृषक इतने दरिद्र हैं कि वे किसी बाहरी सहायता बिना अपना काम नही चला सकते।

सहकारी खेती को अपनाने मे कई कठिनाइयाँ भी हैं :—

(१) किसान को भूमि मे बहुत प्रेम होता है, अत: वह इन्हे किसी भी प्रकार छोडना नही चाहता। ऐसी स्थिति मे और विशेषकर जब गाँव मे अन्ध विश्वास हो और शिक्षा का अभाव हो, सहकारी खेती सफलतापूर्वक नही चलाई जा सकती।

(२) यदि किसी प्रकार छोटे-छोटे खेतो को मिलाकर बडी इकाइयाँ बना भी ली जायँ तो उन्हे सुचारु रूप से रखने के लिए योग्यता और व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता होगी, जिसका मिलना भारतीय ग्रामीणो मे असम्भव है।

इन उपरोक्त कठिनाइयो को परिश्रम से दूर किया जा सकता है। गाँव के कुशल व्यक्तियो को खेती की देखभाल करने के लिये शिक्षा दी जा सकती है। सरकार देश के विभिन्न भागो मे बेकार पडी हुई भूमि को आधुनिक साधनो द्वारा खेती के योग्य बनाकर ग्रामीणो को सहकारी खेती के लिए दे सकती है। सरकार किसानो में सहकारी खेती के प्रति रुचि पैदा करने के लिए अपने खेतो मे प्रदर्शन आदि के द्वारा इस प्रणाली के लाभो को किसानों को प्रत्यक्ष रूप से समझा सकती है। आरम्भ मे एक गाँव से यह प्रयोग आरम्भ किया जा सकता है और किसानो के तैयार हो हो जाने पर प्रदर्शन द्वारा यन्त्रो, वैज्ञानिक खादो, अच्छे बीजो को सस्ती बिक्री द्वारा सहकारी खेतो को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। इस प्रणाली के द्वारा किसानो की जोतें अलाभकारी न रह कर आर्थिक इकाइयो मे बदल जायेंगी।

भविष्य मे भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने और कृषको के आर्थिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम खेतो के सगठन पर विचार करें। परन्तु इस बात पर निश्चय करने से पहिले हमे देश की निम्न परिस्थितियो पर भी ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) हम एक प्रजातन्त्रात्मक विधान मे विश्वास करते हैं, इसलिए हमारा विश्वास विकास मे है, क्रान्ति मे नही।

(२) प्रत्येक प्रकार की भूमि मे सुधार करते समय हमें यथाशक्ति अधिक से अधिक व्यक्तियो को काम देना है। क्योकि भूमि सीमित है और काम करने वाले लोगो की सख्या अधिक।

(३) भारतीय किसान परम्परा से भूमि के व्यक्तिगत उपयोग के अधिकार को अपने प्राणो से भी अधिक समझता है।

(४) कांग्रेस कृषि सुधार समिति के अनुसार हर भूमि सुधार मे तीन बातो

का समावेश होना आवश्यक है—(अ) प्रति एकड उत्पादन वृद्धि, (ब) कृषक का व्यक्तिगत विकास, (स) किसान के वर्तमान सामाजिक स्तर मे उन्नति ।

(५) सहकारी कृषि की सफलता के लिए श्री आर० के० पाटिल के द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन के अनुसार दो प्रमुख बातें आवश्यक हैं—

(अ) सहकारी कृषि को अपनाने में कृषक को पूर्ण स्वतन्त्रता हो, अर्थात् उस पर उसको सहकारी कृषि के हेतु वैधानिक अनिवार्यता न हो ।

(आ) सहकारी कृषि की सदस्यता छोडने के लिये कृषक स्वतन्त्र हो, परन्तु इस स्वतन्त्रता का उपयोग वह केवल फसल की कटाई के बाद ही कर सके, ऐसा बन्धन हो ।[1]

फिर भी दूसरी पच-वर्षीय योजना मे कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए सहकारी कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । प्रथम पच वर्षीय योजना काल मे ही लगभग सभी राज्यो मे सहकारो कृषि समितियो के सगठन के लिए नियम एव उपनियम बनाये गये । दूसरी योजना की अवधि मे राष्ट्रीय विकास परिषद् ने सितम्बर सन् १९५७ मे निर्णय किया कि दूसरी योजना की अवधि मे प्रयोगात्मक तौर पर ३,००० सहकारी कृषि फार्मों की स्थापना की जाय । इस निर्णय के अनुसार दिसम्बर सन् १९५८ तक २,०२० सहकारी कृषि फार्मों की स्थापना हुई है ,जो निम्न हैं —

सहकारी कृषि समितियाँ[2]

राज्य	समितियो की सख्या
आन्ध्र	३१
आसाम	१७०
बिहार	२७
बम्बई	४०२
दिल्ली	२२
जम्मू-काश्मीर	७
केरल	५५
मध्य प्रदेश	१४०
मद्रास	३७
मनीपुर	३
मैसूर	१००
उडीसा	२८

Report on Cooperative farming in China by R K. Patil (June 1957)

India-1959.

पंजाब	४७८
राजस्थान	१०५
त्रिपुरा	१२
उत्तर-प्रदेश	२५५
प० बंगाल	१४८
योग	२,०२०

द्वितीय योजनाकारों के अनुसार "द्वितीय पंच वर्षीय योजना की अवधि का मुख्य कार्य आवश्यक उपकरणों द्वारा सहकारी कृषि के विकास के लिए सुदृढ नींव बनाना है, जिससे लगभग १० वर्षों में देश के अधिकांश क्षेत्रों में सहकारी सिद्धान्तों पर कृषि होने लगे।"

अब चूँकि कांग्रेस के बंगलोर अधिवेशन में सहकारी कृषि का प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका है इसलिये सहकारी कृषि भारतीय कृषि-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग हो गई है। इसको सफलता से कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त "कार्यकारी दल" ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है, जो सारांश में निम्न है —

सहकारी कृषि समिति "*यह कृषकों का स्वेच्छा संगठन है, जिसका उद्देश्य भूमि,* श्रम और कृषि साधनों का उपज बढ़ाने एवं लोगों को काम देने के लिए अच्छी तरह उपयोग करना है और जिसके अधिकांश सदस्य स्वयं कृषि-कार्य करें।"* स्वेच्छापूर्ण सहकारी कृषि को प्रोत्साहन देने के लिये दल का सुझाव है कि जिन प्रदेशों में ऐसे कानून हैं जिनके अनुसार बहुमत यदि चाहे तो सहकारी कृषि संगठन में सम्मिलित होने को बाध्य किया जा सकता है। ऐसे कानूनों को रद्द कर देना चाहिये।

चुने हुये सामुदायिक विकास क्षेत्रों में जहाँ सहकारिता का काम अच्छा है, अगले चार वर्ष में प्रत्येक चार जिलों में एक के दर से ३२० माडेल सहकारी कृषि योजनायें आरम्भ की जायें। चालू वर्ष में ४० योजनायें आरम्भ की जायें, प्रत्येक योजना में १० सहकारी समितियाँ बनाई जायें। इस प्रकार सन् १९६३-६४ के अन्त तक ३,२०० समितियाँ काम करने लगेंगी। इनकी सफलता से यह आशा है कि अन्य क्षेत्रों में भी २०,००० सहकारी कृषि-समितियाँ और बन सकेंगी।

निम्न महत्त्वपूर्ण कदम शीघ्र ही उठाने चाहिये :—

(१) सहकारी कृषि समिति के सदस्य ही इस काम में अगुआ हों,

(२) समिति के सदस्यों के हितों या स्वार्थों में संघर्ष न हो।

(३) सदस्यों की संख्या या समिति का आकार इतना ही होना चाहिये कि लोग एक दूसरे को जानते हों।

(४) प्रत्येक सदस्य को प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार हो।

* Report of the Working Team on Cooperative Farming · सम्पदा १९६० अप्रैल से।

स्वामित्व एव सदस्यता—

सहकारी कृषि मे जो भूमि शामिल हो वह साधारणत: ५ वर्ष के लिए हो। भूमि पर सदस्यो का अक्षुण्ण अधिकार रहे और पृथक होने वाले सदस्य को यदि वह भूमि न दी जा सके तो उतनी ही पैदावार की जमीन उसे वापिस दी जाय।

समिति में ऐसे सदस्यो को सम्मिलित नही करना चाहिए जो स्वय कृषि न करें। इनकी भूमि का सहकारी कृषि मे समावेश करने के स्थान पर उसे पट्टे पर लिया जाय। सदस्यो को अपने एवज मे काम करने के लिए दूसरे व्यक्ति को देने की अनुमति न दी जाय। सहकारी कृषि समितियो को ऐसे कुटीर एव ग्रामीण धन्धे भी आरम्भ करना चाहिए जिनमे सदस्यो को काम मिल कर उनकी पूरी श्रम शक्ति का उपयोग हो।

सफलता—

सहकारी कृषि की सफलता इस बात से आकी जानी चाहिए कि उसके सदस्यो की सम्मिलित या कुल आय कितनी हुई, न कि दैनिक मजदूरी से। योग्य और परिश्रमी कार्यकर्त्ताओ को अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए। सहकारी कृषि के लाभ से कृषि के विकास, सुरक्षित कोष, भोजन कोष आदि के लिए यथोचित धन रखकर बाकी रकम सदस्यो मे उनके काम के अनुसार बोनस के रूप म बांटना चाहिए। बोनस भूमि के हिसाब से भी दिया जा सकता है। ऐसी मशीनो को काम में लिया जाय जिनसे बेकारी न बढे, जैसे सिंचाई के लिये पम्प आदि।

सहकारी कृषि की सफलता के लिए कृषको, सहकारी मन्त्रियो, शिक्षको, विशेष अधिकारियो, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ एव सम्बन्धित कर्मचारियो को नई ट्रेनिंग देने तथा अनुसधान करने के लिए सहकारी कृषि की राष्ट्रीय सस्था स्थापित की जाय।

आर्थिक सहायता—

बैंको आदि द्वारा सहकारी कृषि का महत्त्व न समझने, सहकारी कृषि समिति द्वारा जमीन आदि की जमानत देने मे असमर्थता के कारण इन समितियो को काफी कठिनाई हुई है। इसलिए सरकार को चाहिये कि प्रत्येक समिति को उपज के कार्यक्रमो के अनुसार अधिकतम ४,००० रु० तक का काम देना चाहिए। जो ऋण अल्प काल में ही चुकाया जाने वाला हो उसे सरकार की गारन्टी बिना ही केन्द्रीय सहकारी बैंको से सीधे मिलना चाहिए।

भूमिपतियो की सामर्थ्य बढाने के लिए प्रत्येक सोसाइटी से अधिकतम २,००० रु० के शेअर ले। ये शेअर समिति की शक्ति बढाने के लिये हैं उन पर नियन्त्रण करने के लिए नहीं।

सहकारी खेती के कार्यक्रम पर लगभग ३५ २६ करोड रु० व्यय होगा, जिसमें से २८ ६५ करोड कृषि समितियो की सहायता के लिये, ४ २४ करोड ट्रेनिंग और शिक्षा के लिए तथा २ ३७ करोड रु० कारीगरो पर व्यय किया जाय।

(६) भूमि का ग्रामीणीकरण—श्री विनोबा जी के प्रवर्तन मे चलाया गया भू-दान आन्दोलन का स्वरूप क्रमश. ग्राम-दान या भूमि के ग्रामीणीकरण मे दिनाक २३ मई सन् १६५२ को किया गया है, जिस दिन मगरौठ (उत्तर-प्रदेश) का पहिला गाँव ग्राम-दान मे मिला। इस आन्दोलन के कारण ३१ अगस्त सन् १६५८ तक ४,४४० ग्राम ग्राम-दान मे मिले हैं। इस सम्बन्ध मे मैसूर (एलवाल) मे सब पक्षो व राजकीय नेताओ की परिषद् मे ग्रामदान को भारत की भूमि समस्या का सही हल प्रस्तुत करने वाला प्राथमिक स्थान माना गया। फलस्वरूप नये राष्ट्रीय विस्तार सेवा खड और सामुदायिक विकास योजनायें ग्राम दान क्षेत्रो मे ही प्रारम्भ होगी। क्योकि इन गांवो मे विकास कार्य की सफलता हेतु जो जन-सहयोग एव स्वामित्व का त्याग, आदि प्राथमिक बातो की आवश्यकता होती है, वे पूर्ण हो गई हैं।

इन ग्रामदानी क्षेत्रो मे गांव की पूर्ण बेकारी दूर करने के लिए व सरकारी व्यवस्था के अनुरूप सामूहिक, सहकारी व व्यक्तिगत व्यवस्था मे कृषि की व्यवस्था के भिन्न-भिन्न प्रयोग परिस्थिति के अनुरूप किये जायेंगे। इन क्षेत्रो में भू स्वामित्व के विसर्जन के कारण भूमि का हस्तान्तरण ऋण व बिक्री की दृष्टि से न हो सकेगा, परन्तु भूमि पर कार्य न करने अथवा उसका समुचित उपयोग न करने पर भूमि-व्यवस्था मे हेर-फेर हो सकेगा। इस प्रकार भारत के गरीब व अशिक्षित कृषको के लिए यह ग्रामीणीकरण गतिशील एव प्रजातन्त्रीय योजना का भाग होने के साथ ही उसमे व्यक्तिगत विकास के लिए लाभकर होगा।

इस पद्धति के निम्न लाभ है .—

(अ) गाँव की ग्राम सभा या पचायत या सहकारी सस्था की ऋण लेने एव भुगतान करने की तथा सहकारी सहयोग प्राप्त करने की शक्ति मे वृद्धि होगी, जो ग्रामीण उन्नति की आधार शिला है।

(ब) कृषक को उसकी उपज का उचित मूल्य मिलेगा, क्योंकि विक्रय की जिम्मेदारी ग्राम सभा आदि की होगी।

(स) इस प्रकार की व्यवस्था मे फसलो का योजनाकरण सम्भव होगा, जिससे खाद्यान्न समस्या को प्राथमिकता मिलेगी।

(द) सभी कृषि कार्य सामूहिक ढङ्ग पर होने के कारण उत्पादन व्यय मे कमी और प्रति एकड उपज मे वृद्धि होगी।'*

ग्राम-दान आन्दोलन के व्यय के हेतु भारत सरकार ने सन् १६५६-५७ मे ११ ६२ लाख रु० तथा सन् १६५७-५८ मे १० लाख रु० का आयोजन किया था।

मध्य-प्रदेश मे चकबन्दी—

गत वर्षों की भाति मध्य-प्रदेश के केवल महाकौशल क्षेत्र में ही चकबन्दी योजना कार्यान्वित हो रही है। इस योजना को अन्य क्षेत्रो मे लागू करने के प्रस्तावों

---

* भूदान यज्ञ साप्ताहिक से।

का परीक्षण हो रहा है तथा इस हेतु वैधानिक एव प्रशासकीय औपचारिक कार्य पूर्णता की ओर है। सन् १६५८-५६ में इस हेतु १० १६ लाख रु० का आयोजन था, जिसमें से केवल ३ ८० लाख रु० व्यय हुआ।

महाकौशल क्षेत्र की चकवन्दी योजनाओ के लिए पच-वर्षीय योजना का कुल आयोजन ३१ ५० लाख रु० था, जिसमे से प्रथम तीन वर्ष मे केवल ७ ७८ लाख रु० व्यय हुआ। इसी प्रकार सन् १६५८-५६ मे ८ २० लाख एकड भूमि की चकवन्दी प्रस्तावित थी, परन्तु केवल २ १४ लाख एकड भूमि की ही चकवन्दी हुई है तथा ० ५६ लाख एकड भूमि की चकवन्दी के लिए प्रारम्भिक कार्यवाही हो चुकी है।*

उपसहार—

उक्त तथ्यो पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक किसान उत्पादन के लिए अपनी भूमि का उपयोग स्वेच्छानुसार करने के लिए स्वतन्त्र हो। इसलिये जब तक वह भूमि के एक टुकडे को जोतता रहे तब तक भूमि पर उसका अधिकार स्वामित्व के समान ही स्थायी रूप से बना रहे। उसका यह अधिकार चाहे कानून के आधार पर हो अथवा उसे इच्छानुसार भू-स्वामित्व अधिकार खरीदने की स्वतन्त्रता हो। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागो के लिए आर्थिक जोत का क्षेत्र-फल निर्धारित किया जाय तथा कृषि भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकतम सीमा (Ceiling) निश्चित की जाय। आर्थिक जोत का क्षेत्र न्यूनतम १० एकड हो और किसी भी दशा मे आर्थिक जोत से कम भूमि का उप-विभाजन न हो। इस सम्बन्ध मे यद्यपि विभिन्न राज्यो मे अधिनियम लागू हो गये हैं, फिर भी उनमे कडाई से पालन होने की आवश्यकता है। आर्थिक जोत रखने वाले कृषक अपने उत्तराधिकारियो की वयस्कता तक उनके भरण-पोषण के लिए जिम्मेवार हो। इस हेतु उत्तराधिकार नियमो में आवश्यक सशोधन किये जायें। गाँव की बेकार भूमि को कृषि योग्य बना कर उसका वितरण अनार्थिक जोत वाले कृषको एव भूमि हीन कृषको को किया जाय। वर्तमान समय मे भारत मे प्रति व्यक्ति कृषि भूमि केवल ० ३६ एकड है, जो इस सम्बन्ध में शोचनीय अवस्था की सूचक है, अत भूमि विहीन एव अनार्थिक जोत वाले कृषकों के आर्थिक साधन बढाने के लिए सहायक उद्योगो की स्थापना एव विकास किया जाय।

कृषि की मूल समस्या अनार्थिक जोत की है और पूर्ण चकवन्दी के अभाव मे स्थाई एव वास्तविक प्रगति की कल्पना नही की जा सकती, अत चकवन्दी को प्राथमिकता देनी होगी है। ग्रामीण क्षेत्रो की आर्थिक उन्नति के लिए कृषि उद्योग के इस सर्वव्यापी दोष को दूर करना होगा। अर्थात् उत्तराधिकार नियमो मे परिवर्तन करना होगा, जिससे "प्रत्येक उत्तराधिकारी को सभी खेतो मे बराबर-बराबर भाग मिलता

* Progress Report of 2nd Plan for 1958-59, page 68 of Madhya Pradesh Government

है।"[१] तभी हम कृषि भूमि को उप-विभाजन एव अपखण्डन रूपी 'आर्थिक भूकम्पो'[२] के दुष्परिणामो से बचा सकेंगे।

परिशिष्ट

भूमि के चकबन्दी की प्रगति[३]

प्रदेश	१९५६-६१ के लिए आयोजन (लाख रु०)	१९५६-६१ लक्ष्य (लाख एकड)	३०-६-५९ चकबन्दी कार्य की पूर्ति (लाख एकड)	चकब दी चालू है (लाख एकड)
आन्ध्र	२० ५३	५ ००[४]	—	२ ३६
असम	१४ २५	१३ ८२	—	आरम्भ नही
बिहार	१८ ९७	९ ५०	—	० ७२
बम्बई	७९ ३९	७२ ८१	१८ १२	१८ ९५
जम्मू-कश्मीर	—	—	—	आरम्भ नही
केरल	—	—	—	"
मध्य-प्रदेश	५४·२५	१६ २८[५]	२३ ३९	२ ६०
मद्रास	१४ २०	—	—	आरम्भ नही
मैसूर	१४ ५१	१५ ०४[६]	७ ४९	४ ०१
उडीसा	५ ००	—	—	आरम्भ नही
पजाब	९५ ००	१५८ ७२	९५ ५५	४२ ८३
राजस्थान	३२ ५०	१० ००	३ ९७	७ १६
उत्तर-प्रदेश	"	५० ००	३० ७०	२६ ४५
पश्चिमी बगाल	१८ २५	—	—	आरम्भ नही
दिल्ली	२ ८५	० ५९	२ ०२	३१-८ ५५ से काम बन्द है
हिमाचल-प्रदेश	९ ५०	१ १८	० ६३	० २०
मणीपुर	० २९	—	—	आरम्भ नही
योग	३ ५ ४९	३५१ ९१	१९१ ८७	१०५ २८

1 Consolidation of agricultural holdings—C F Strickland, page, 3.

2, Economic Development of Overseas Empire, Vol —I C A Knowles

3 India—1960 Table 143.

४ केवल तेलगाना जिले में।

५ महाकौशल क्षेत्र में ही।

६. पहिले के बम्बई राज्य के ४ जिलों में।

* योजना मे समाविष्ट नहीं।

अध्याय ८

भारत में सिंचाई

(Irrigation in India)

"भारतवर्ष मे सिंचाई ही सब कुछ है। पानी भूमि से मूल्यवान है, क्योंकि जब भूमि पर जल पड़ता है तो उपज शक्ति में कम से कम छः गुनी वृद्धि होती है और वह भूमि भी उपजाऊ हो जाती है, जो बन्जर थी, अतः भारत मे सिंचाई ही सब कुछ है।"

—सर चार्ल्स ट्रेवीलियन

"भारतवर्ष के सिंचाई के साधनों से विशाल साधन किसी अन्य देश में नहीं हैं और इससे पवित्र निर्माण कार्य ससार में कभी नहीं किया गया है।"

—सर जे० स्ट्रैची।

भारत की कृषि प्रमुख रूप से वर्षा पर ही निर्भर है। भारत के अनेक भाग ऐसे हैं, जहाँ पर केवल नाम मात्र की ही वर्षा होती है, जैसे—राजपूताना, दक्षिणी-पश्चिमी पंजाब। इसलिए ऐसे क्षेत्रो मे जब तक सिंचाई के स्रोत उपलब्ध नहीं हैं, तब तक कृषि व्यवसाय होना असम्भव हो जाता है। भारतीय जलवायु की विशेषता है कि कई भागो मे वर्षा देर से होने के कारण या बिलकुल न होने के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं, जैसे—चावल, गन्ना आदि। कुछ फसलें ऐसी भी होती हैं, जिनके लिए पानी का अधिक परिमाण मे होना आवश्यक है। डॉ० वॉयल्कर के शब्दो मे—"पानी और खाद ये दोनो ही कृषको की प्रमुख आवश्यकताएँ होती हैं।"* इसी दृष्टि से वर्षा की पर्याप्तता के अभाव मे भूमि की सिंचाई के लिये नदियो का तथा वर्षा से उपलब्ध पानी के उचित उपयोग के लिए कृत्रिम साधनो का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय वर्षा की अनिश्चितता, वर्षा का असमान वितरण अवर्षा अथवा अति वर्षा आदि के कारण सिंचाई के कृत्रिम साधनो का अस्तित्व एव उनकी पर्याप्तता कृषि उद्योग की सफलता के लिए आवश्यक है।

अर्थ—

सिंचाई से अभिप्राय है कि जिन प्रदेशो मे प्राकृतिक साधनो से कृषि के लिए पानी की व्यवस्था नहीं है वहाँ नदी, तालाब, नहरो आदि कृत्रिम साधनो से पानी पहुँचाने की व्यवस्था करना। अथवा "जहाँ कृषि योग्य भूमि पर होने वाली फसलो के

* Water and manure together represent in brief the ryot's main wants—Dr Voelker.

लिए वर्षा से होने वाला पानी का प्रदाय कम है, वहाँ कृत्रिम साधनो द्वारा पानी के नियन्त्रित प्रयोग को सिंचाई कहते हैं।"

सिंचाई का महत्व—

भारत जैसे देश मे जहाँ पर मरु-भूमि तथा अर्द्ध मरु-भूमि क्षेत्र कुल भूमि के अनुपात से अधिक है, वहाँ पर्याप्त खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल के प्रदाय एव राष्ट्रीय समृद्धि के दृष्टिकोण से सिंचाई के पर्याप्त साधनो का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे श्री० नोल्स का कथन है—"सिंचाई के कार्यों ने जीवन की रक्षा का प्रबन्ध किया है, क्योकि भूमि की उपज, उसके मूल्य तथा उससे प्राप्त आय मे वृद्धि हुई है। इस कारण दुर्भिक्ष के समय मे इस सहायता की आवश्यकता पडती है। अतः ये सम्पूर्ण क्षेत्र को सभ्य बनाने मे सहायक हुए हैं। जिन्होने दुर्भिक्ष देखा है, उन्हे सिंचाई के विषय मे यह बात स्पष्ट है कि इनसे सुरक्षा और हित मे वृद्धि हुई। जो सुरक्षा का प्रभाव समझ सकते हैं—योग्य व्यक्तियो की सहायतार्थ कार्यों मे रोजगारी, स्त्रियो का मिट्टी ढोना, बच्चो का दुर्बल और क्षीणकाय होना, पशुओ का मरना और खेतो का तृण रहित होना—वे सिंचित क्षेत्र में जाते ही अन्तर अनुभव कर सकते हैं क्योकि वहाँ हरी-भरी फसलें, अन्न का आधिक्य और सुसम्बद्ध कुटुम्ब दिखाई देते हैं तथा बच्चो में इधर-उधर खेलने की शक्ति होती है, इसलिए इन दो परिस्थितियो मे प्रसन्नता का अन्तर मुद्रा के मापदण्ड से नही आँका जा सकता।"

सिंचाई से केवल कृषि और कृषक की ही उन्नति नही होती है, बल्कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विकास, व्यापार मे उन्नति, उत्पादन मे वृद्धि, उद्योगो का विस्तार, क्रय-शक्ति मे वृद्धि, सरकारी आय मे वृद्धि, दुर्भिक्ष-सहायता व्यय मे कमी तथा जन सख्या के रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि होती है। सिंचाई साधनों के निर्माण से बेकारी कम होती है। सक्षेप मे, देश मे आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता का साम्राज्य छा जाता है।

सिंचाई के साधनो से सरकार और कृषक दोनो को ही लाभ होता है, क्योकि इससे दोनो की ही आय बढती है। सन् १६५०-५१ मे सरकार को १४ करोड रुपये की आय केवल सिंचाई के साधनो से हुई थी। बर्नार्ड डार्ले के शब्दो मे—"भारत की वृद्धिगत जन-सख्या को खाद्यान्न पूर्ति होना अत्यावश्यक है। वह समय दूर नही जब प्रत्येक भू-भाग पर कृषि करना अनिवार्य होगा तथा जनता को खाद्यान्न पूर्ति के लिए और भी अधिक भूमि की आवश्यकता होगी।" इसलिए सिंचाई को महत्ता अत्यधिक है।

भारत मे सिंचाई का क्षेत्र—

भारत के कुल कृषि-क्षेत्र मे से लगभग १८% कृषि-क्षेत्र को सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हैं। सन् १६५५ ५६ मे समाप्त होने वाले ७ वर्षों के सिंचित क्षेत्र मे ६६ लाख एकड भूमि की वृद्धि हो गई है:—*

---

* India—1958

(लाख एकड मे)

सिंचाई का साधन	१९४७-४८	१९५५-५६	कुल वृद्धि या कमी
नहरें	१९८	२३२	+ ३४
तालाब	८०	१०५	+ २५
कुंए	१२५	१६८	+ ४३
अन्य	६४	५८	— ६
योग	४६७	५६३	+ ९६

भारत मे कुल कृषि योग्य भूमि ७१ ८३ करोड एकड है, जिसमे से ३८ २४ करोड एकड भूमि पर प्रति वर्ष खेती होती है। इस भूमि मे ५६३ एकड भूमि अथवा लगभग १/५ भाग को ही सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध हैं, जो विश्व के किसी भी देश के सिंचित क्षेत्र से अधिक हैं। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे २०० लाख एकड, रूस मे ८० लाख एकड, जापान मे ७० लाख एकड, मिश्र मे ६० लाख एकड, मैक्सिको मे ५७ लाख एकड तथा इटली मे ४५ लाख एकड भूमि मे सिंचाई होती है। भारत में सिंचाई का महत्त्वपूर्ण साधन 'नहरें' हैं, जिनमे १२५ करोड रु० से अधिक पूंजी लगी हुई है। इसी कारण भारत 'नहरो का देश' माना जाता है।

भारत मे सिंचित क्षेत्र विश्व के सभी देशो से अधिक होने के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) नहरो को खोदने के लिये सबसे अच्छे मार्ग उत्तरी भारत मे गङ्गा-यमुना के मैदान और दक्षिणी भारत मे पूर्वी किनारे की नदियो के डेल्टा हैं, जो समतल हैं। इन भागो मे भूमि का ढाल इतना धीमा है कि नदियो के ऊपरी हिस्सो से निकलती हुई नहरो का पानी सारे मैदान मे सरलता से फैल जाता है।

(२) उत्तरी भारत वा गगा-यमुना का मैदान और दक्षिण भारत के पूर्वी किनारो की नदियो के डेल्टाओ की भूमि नदियो द्वारा लाई गई मिट्टी के बने हुए हैं, जो बहुत ही उपजाऊ है। अत. सिंचाई होने पर उत्तम फसलें पैदा होती हैं।

(३) इन भागो मे चट्टानें बहुत कम और मिट्टी मुलायम है। इसलिए नहरें खोदने मे बडी आसानी होती है तथा खर्च भी अधिक नही होता।

(४) उत्तरी भारत के मैदान में हिमालय पर्वत की वर्फ से ढकी चोटियो से निकलती हुई बडी-बडी नदियां साल भर पानी से भरी बहती हैं, जिनमे अथाह पानी रहता है।

(५) देश की अधिकाश जन-सख्या खेती मे सलग्न है, अत. खेती के लिये सिंचाई की अधिक मांग है।

सिंचाई के विभिन्न साधन—

भारत मे सिंचाई के लिये भिन्न भिन्न साधन काम में लाए जाते हैं। कारण, देश के विभिन्न भागो मे प्राकृतिक दशा की विभिन्नता है, जैसे—उत्तरी भारत में विशेषकर नहरो और कुंओ से तथा दक्षिण के पठारो मे तालाबो से सिंचाई की जाती है। कुल सिंचित भूमि की ४१ प्रतिशत नहरो, ३० प्रतिशत कुंओ, १९ प्रतिशत तालाबो और अन्य साधनो द्वारा सिंचाई होती है।*

* Hindusthan Year Book 1959.

सिंचित क्षेत्र[1]

सिंचाई के साधन	१९४७–४८ (लाख एकड)	%	१९५२–५३ (हजार एकड)	%	१९५४–५५ (लाख एकर्ड)	%	१९५५–५६ (लाख एकड)	%
(१) नहरें .								
सरकारी	१५३	३२	१८,६१८	३७	२२३·००	४१	२३२	४१
प्राइवेट	४५	१०	३,२३९	६				
(२) तालाब	८०	१७	७,८७२	१५	९८	१८	१०५	१९
(३) कुँए	१२५	२७	१६,०१४	३१	१६४	३०	१६८	३०
(४) अन्य श्रोत	६४	१४	५,७१७	११	५९	११	५८	१०
(५) कुल क्षेत्र	४६७	१००	५१,७५१	१००	५४४	१००	५६७	१००
कुल बोया गया क्षेत्र			३,०२,४७२		३,१४९		३,१९८	

इस तालिका से स्पष्ट है कि कुल सिंचित क्षेत्र मे वृद्धि होते हुए भी नहरो द्वारा अधिक सिंचाई होती है। इन विभिन्न साधनो की उपयोगिता अब हम देखेंगे .—

नहरे (Canals)—

यह भारत का एक प्रमुख सिंचाई का साधन है, जिसकी कुल लम्बाई ६७,००० मील है।[2] नहरे भारत मे बहने वाली नदियो अथवा बडे बडे सग्राहको (तालाबो) से पानी लेकर खेतो तक पहुँचाती हैं। नहरें ज्यादातर उत्तरी भारत मे ही बनाई गई हैं, कारण यहाँ की नदियाँ साल भर बहती हैं, इसलिए नहरो मे भी प्राय. साल भर पानी रह सकता है। सग्राहको से पानी लेने वाली नहरे दक्खिन, मध्य-प्रदेश और बुन्देलखण्ड (मध्य-प्रदेश) मे बनाई गई हैं। कारण, इन प्रदेशो मे बहने वाली नदियाँ साल भर नही बहती, जिससे नहरो को वर्ष

1 India—1956, 1957 and 1958.
2. Hindustan year Book 1958.

भर पानी नही मिलता। लेकिन नदियो की वाढ के समय उनका पानी वडे-वडे सग्राहको मे इकट्ठा कर लिया लाता है, जिससे नहरें उनसे पानी लेकर वर्ष भर खेतो तक पहुँचाने का कार्य करती रहती हैं।

नहरें दो प्रकार की होती हैं—(१) अनित्यवाही, (२) नित्यवाही।

(१) अनित्यवाही नहरे (Inundation)— ऐसी नहरो मे पानी केवल उस समय ही मिलता है जव नदियो मे वाढ आती है। लेकिन ये अक्टूवर से अप्रैल तक वन्द रहती हैं, क्योकि इन दिनो नदियो मे वाढ नही आती, जिससे पानी कम वहता है। ऐसी नहरे उन प्रदेशो के काम की हैं, जहाँ वर्षा ऋतु मे भी फसलो को पर्याप्त पानी नही मिलता तथा जो मिलता है, वह अनिश्चित समय पर। जहाँ पर अनित्यवाही नहरें हैं, वहाँ या तो एक ही फसल पैदा की जाती है अथवा कुँओ आदि से सिचाई की जाती है।

(२) अनित्यवाही नहरे (Perennial)—ऐसी नहरें उन नदियो से पानी लेती हैं, जो वर्ष भर पानी दे सकती हैं। कभी-कभी नदियो के मार्ग मे वाँध बना दिये जाते हैं। नदी का पानी जो वाँध के रूप मे इकट्ठा कर लिया जाता है, उसको नहरो द्वारा आस पास के प्रदेशो के खेतो की सिचाई के लिये पहुँचाया जाता है। उत्तर-प्रदेश की नहरे इसी प्रकार की हैं। आज-कल इसी प्रकार के वाँध वना कर वहुत सी अनित्यवाही नहरो को नित्यवाही नहरो में वदलने के कार्य हो रहे हैं। नहरो द्वारा सिंचाई के कारण वहुत सी अर्द्ध रेगिस्तानी भूमि लहलहाते हुए खेतो मे परिणित कर दी गई है। मद्रास प्रदेश मे लगभग ७०,००,००० एकड भूमि तालावो से नहर निकाल कर सिंचाई की जाती है। इस प्रदेश मे जितनी भूमि मे खेती होती है, उसकी ३०% भूमि मे इस प्रकार की सिंचाई होती है।

सन् १६१६ के पूर्व सरकारी सिंचाई कार्य तीन श्रेणियो मे थे —(१) उत्पादक, (२) सरक्षक अर्थात् दुर्भिक्ष निवारण (Protective), (३) गौण अर्थात् छोटी योजनायें। पहली श्रेणी मे वे योजनायें हैं जो पूर्ण होने पर दस-वर्षीय विनियोजित पूँजी पर लगने वाले व्याज के वरावर आय दे सकें। इस प्रकार की नहरें उत्तरी भारत और मद्रास मे हैं। दूसरी श्रेणी मे वे योजनायें हैं जो अनावृष्टि के क्षेत्रो मे थी और जिनकी पूर्ति के फलस्वरूप उन स्थानो मे दुर्भिक्ष की आशङ्का कम हो जाती थी। इन कार्यों से आय होने की आशा तो नही थी, परन्तु अप्रत्यक्ष लाभ यह था कि दुर्भिक्ष निवारण के लिए व्यय करने की आवश्यकता कम हो जाती थी। इस प्रकार दुर्भिक्ष निवारण कोष मे वचत होने की आशा थी। इस श्रेणी की योजनाओ के लिये दुर्भिक्ष निवारक कोष से धन देने की व्यवस्था की गई थी। तीसरी श्रेणी में छोटे-छोटे तालावो और झीलो के निर्माण की व्यवस्था थी। इन योजनाओ पर व्यय करने के लिए ऋण नही लिया जाता था, वरन वार्षिक आय मे से ही उन पर व्यय किया जाता था। सन् १६२१ से यह विभाजन तोड दिया गया था और अव केवल उत्पादक और

अनुत्पादक दो भाग रखे गए हैं तथा सभी प्रकार की योजनाओ के लिए ऋण लिया जाता है।

गत ६७ वर्षों से सिचाई मे स्थिर रूप से विकास हो रहा हैं—सन् १८७८ मे सिचाई के अन्तर्गत १०'५ मिलि० एकड क्षेत्र था। सन् १६१६–२० में २८ १ मिलि० एकड सन् १६२२-२३ मे ३३ मिलि० एकड, सन् १६२६-२७ मे ३१'६ मिलि० एकड, सन् १६२६-३० में ३२ ५ मिलि० एकड, सन् १६३६–३७ मे ४८'२ मिलि० एकड, सन् १६४५-४६ तथा सन् १६४७-४८ में ४८ ६२ मिलि० एकड तथा सन् १६५०-५१ मे लगभग ५१'५ मिलि० एकड था।

गत वर्षों से नवीन योजनाओ से सारे देश मे सिंचाई और विद्युत शक्ति की दिशा मे पर्याप्त कार्य हुआ है। थोडी बहुत प्राथमिक गवेषणा के बाद कई नवीन योजनाओ पर निर्माण कार्य आरम्भ हो चुका है। कुछ का निर्माणोद्देश्य सिर्फ सिचाई है तथा उनसे विद्युत प्राप्ति भी की जायगी, जो बहुमुखी योजनायें होगी। आज १३५ भिन्न-भिन्न योजनायें, जिनकी कुल लागत ५६० करोड रुपया है, देश के भिन्न-भिन्न भागो में चालू हैं।

नई योजनाओ के समाप्त हो जाने पर न केवल जल-विद्युत शक्ति के उत्पादन में ही वृद्धि होगी, बल्कि इनसे सिंचाई के क्षेत्रफल और परिणामत: अन्न उत्पादन मे भी निम्न प्रकार से वृद्धि होगी—

वर्ष	सिंचित क्षेत्रफल (००० एकड)	अतिरिक्त खाद्यान्न (१० लाख टन में)
१६५१–५२	६४७	०'२
१६५२–५३	१,११४	०४
१६५३–५४	१,१६७	०७
१६५४–५५	४,३१५	१४
१६५५–५६	५,४६६	१'८
१६५६–५७	६,६८५	२२
१६५७–५८	७,५०२	२५
१६५८–५६	८,५२७	२८
१६५६–६०	६,१६०	३१
अन्तिम वर्ष	१२,६४६	४३

कुँये (Wells)—

भारत में कुँओ द्वारा सिंचाई प्राचीन काल से होती रही है गरीब किसानो के लिए कुँए ही सिचाई के उपयुक्त साधन हैं, क्योकि उनके खेत छोटे-छोटे और बिखरे

हुए होते हैं तथा पर्याप्त मात्रा में वे खाद भी दे नही सकते। कुँए दो प्रकार के होते हैं—कच्चे और पक्के। कच्चे कुँए बहुत थोडे व्यय मे बनाए जाते हैं और पक्के कुँओ मे अपेक्षाकृत अधिक निर्माण व्यय होता है।

कुँओ द्वारा उन्ही भागो मे सिंचाई लाभकर होती है जहाँ पानी धरातल के निकट हो। इसलिए गङ्गा का मैदान कुँओ द्वारा सिंचाई के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योकि यहा सभी भागो मे भूमि की धरातल से थोडी गहराई पर जल मिल जाता है। दूसरे, जिन भागो मे अधिक वर्षा होती है वहाँ भी थोडी गहराई पर ही जल मिल जाता है, परन्तु जिन क्षेत्रो में वर्षा कम होती है वहाँ अधिक गहराई पर कुँओ मे जल मिलता है। इसी कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश मे १०-१५ फीट गहराई पर जल मिल जाता है, जबकि पश्चिमी उत्तर-प्रदेश मे ५०-६० फीट पर तथा पश्चिमी राजस्थान मे २००-३०० फीट गहराई पर जल मिलता है। उथले कुँए छिछले होते हैं, किन्तु गहरे कुँओ में सदैव जल मिलता है। वर्षा के दिनो में तो दोनो ही प्रकार के कुओ में पर्याप्त जल मिलता है, किन्तु शुष्क ऋतु मे उथले कुँए शीघ्र ही सूख जाते हैं। सिंचाई की दृष्टि मे कुँओ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग पूर्वी पञ्जाब से बिहार तक का गङ्गा-सिंधु का मैदान है।

कुँओ द्वारा सिंचाई के लिये पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, पूर्वी पजाब, पश्चिमी बगाल, मध्य-प्रदेश, बम्बई और मद्रास अधिक प्रसिद्ध हैं। कुँओ द्वारा उत्तर प्रदेश मे ५१ ५% पूर्वी पजाब मे २५ ४%, मद्रास मे १७ ८% और बम्बई में १४% सिंचाई होती है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार मे तो कुँए ही सिंचाई के मुख्य साधन हैं। कारण, यहाँ पर जल भूमि के निकट ही मिल जाता है, अत. फसलो को पानी की आवश्यकता कम रहती है, इसलिए इन भागो मे अधिकांशत: कच्चे कुँए ही अधिक बनाये जाते हैं। पश्चिमी बगाल में अधिक वर्षा होते हुए भी सिंचाई की कभी-कभी आवश्यकता पडती है। कुँओ से सिंचाई पाने के लिए मद्रास प्रान्त का दक्षिणी भाग, नीलगिरि और इलाइची की पहाड़ियो का पूर्वी भाग मुख्य है, जो गन्तूर से कोयम्बटूर होता हुआ टिनेवेली तक फैला हुआ है। बम्बई के दक्षिणी पठार से लगा कर पश्चिमी घाट के पूर्वी भागो तक कुँओ द्वारा सिंचाई की जाती है।

कुँओ से सिंचाई के लिए जल कई प्रकार से ऊपर उठाया जाता है। पूर्वी भागो के अधिक वर्षा वाले स्थानो मे कुँओ से पानी ऊपर लाने के लिए प्राय. हल्के पानी उठाने के साधन (मनुष्य, ढेंकली आदि) काम मे लाए जाते हैं, किन्तु पश्चिमी भागो मे चरस, रहट आदि के अलावा यान्त्रिक साधनो का भी प्रयोग किया जाता है।

कुँओ से सिंचाई मे कई दोष हैं —

(१) यदि लगातार अधिक समय तक कुँओ से पानी निकाला जाता है तो

वे शीघ्र ही सूख जाते हैं अथवा जिस वर्ष वर्षा कम होती है, उस वर्ष तो पानी और भी कम हो जाता है।

(२) कुंओ द्वारा सिंचाई करने में व्यय और परिश्रम दोनो ही अधिक होते हैं।

(३) कुंओ से केवल सीमित क्षेत्रो मे ही सिंचाई हो सकती है, इसलिए कच्चा कुंआ अधिक से अधिक तीन एकड और पक्का कुंआ १५ से ५० एकड भूमि तक ही सींच सकता है।

(४) बहुत से कुंओ का पानी खारा होता है, जो सिंचाई के लिए उपयुक्त नही होता ।

(५) कुंओ के जल मे खनिज मिश्रण का अभाव रहता है, क्योकि वह एक स्थान से निकलता है।

भारत मे कुंओ द्वारा सिंचाई को और भी अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। रॉयल कृषि आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि सरकारी संस्थाएं कुंओ को बनाने मे मदद करें। इसके अलावा सरकार को भी कुंओ को खुदवाने के लिए किसानो को तकावी ऋण आदि उदारतापूर्वक देना चाहिए। कुंओ से सिंचाई करने वाले किसानो पर सिंचाई का भार अधिक न पडे, इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसी आशा है कि निकट भविष्य में कुंओ द्वारा सिंचाई बढने की अधिक सम्भावना है, जिससे जन-साधारण पर भाषा भार, जो जन संख्या की वृद्धि के साथ-साथ बढ रहा है, कम हो जावेगा।

सन् १६०३ के प्रथम भारतीय सिंचाई आयोग का मत था कि देश मे कोई भी ऐसा सिंचाई का साधन नही हैं जो कुंओ द्वारा सिंचाई से होने वाले लाभो की तुलना मे खडा रह सके। वास्तव मे कुंओ की सिंचाई नहरो की सिंचाई से उत्तम है। इस कारण अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तगत कुंओ के निर्माण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। सन् १६४४ के दुर्भिक्ष आयोग ने राज्यो मे कुंओ की वृद्धि के लिए निम्न सिफारिशें की थी —(अ) भूमि से पानी की प्राप्ति का पूरा अनुसन्धान करना ! (आ) ऐसे सुव्यवस्थित कर्मचारियो के समुदाय की, जो ग्रामीण जनता को कुंओ को खोदने की मदद एव सलाह दें। (इ) तकावी ऋण आदि दिये जावें। (ई) पानी निकालने के उत्तम तरीके की सुविधा (विशेषत. उन क्षेत्रो मे जहाँ पर पानी की सतह काफी गहरी है) दी जावे।

नल-कूप—

कुछ ही वर्षा से सिंचाई के लिए विद्युत शक्ति द्वारा चालित कुंओ से अभ्यान्तरिक जल उपलब्ध किया जाने लगा है। नल-कूप की योजना चालू करने का सबसे पहिला प्रयास श्री विलियम स्टैम्प ने किया था। नल-कूपो द्वारा सबसे अधिक

सिंचित क्षेत्र उत्तर-प्रदेश मे पाया जाता है, जहाँ पर २,३०० नलकूप हैं।* इसके निम्न कारण है :—

(१) यहाँ के अधिकांश कुंओ में पानी का स्रोत पृथ्वी की ऊपरी सतह से ३० फीट से भी कम गहराई पर मिलता है। इन कुंओ मे केन्द्रो-पसारी पम्प लगाये जाते हैं, जो एक यूनिट बिजली से २,५०० से ४,५०० गैलन तक तक पानी खींच लेते हैं।

(२) यहाँ पर पूरे ही वर्ष सिंचाई की आवश्यकता रहती है। कारण, खरीफ मे गन्ना, चरी, कपास आदि तथा रबी मे गेहूँ, चना, चारा आदि की फसलो के लिए पानी की अधिक आवश्यकता होती है।

उत्तर-प्रदेश के नल-कूप क्षेत्र दो भागों मे विभक्त हैं—(१) गङ्गा नदी के पश्चिम की ओर के वे भाग जिनमे सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर और अलीगढ सम्मिलित है जहा वर्षा कम होती है, लेकिन पानी का स्रोत भूमि के धरातल से २५-३० फीट की गहराई पर ही मिल जाता है। (२) गंगा नदी के पूर्व की ओर के वे भाग जिनमे बिजनौर, मुरादाबाद और बदायूं के जिले सम्मिलित हैं, जहाँ जल स्रोत भूमि से १५-२० फीट की गहराई पर ही मिल जाता है। गगा की नहरो से उत्पादित सस्ती बिजली इन कुंओ को चलाने के लिए उपलब्ध है, जिससे प्रत्येक कुंए से १½ वर्ग मील भूमि की सिंचाई की जाती है।

नल-कूपो द्वारा सिंचाई करने से कई लाभ हैं:—

(१) नल कूपो में केवल एक बार ही व्यय करना पडता है तथा इसके प्रबन्ध का व्यय भी बहुत कम होता है।

(२) प्रत्येक नल-कूप पर एक कर्मचारी नियुक्त होता है, जो कृषक को आवश्यकतानुसार जल नाप कर देता है। इसलिए कृषको को नहरो के पानी की तरह प्रतीक्षा नही करनी पडती और न खेतो मे व्यर्थ पानी ही बहता है।

(३) कुंओ का जल नहरो के जल की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है।

नल-कूप योजना की प्रारम्भिक दशा मे यह भय था कि अभ्यान्तरिक जल को अधिक मात्रा मे प्राप्त करने से कही उसका जलस्रोत इतना नीचा न हो जाय कि साधारण कुंए भी सूख जाएं और कृषि को नुकसान हो। परन्तु विशेषज्ञो का विचार है कि इसके द्वारा जितना जल प्राप्त किया जावेगा, उससे कही अधिक जल वर्षा द्वारा भूमि में रिस कर अभ्यान्तरिक जल स्रोत को प्राप्त होता रहेगा। भारत मे नल कूप अभी हाल ही मे अधिक परिमाण मे फैले हैं, इसलिए सरकार द्वारा इस कार्य के लिये अधिक सलाह व सहायता की आवश्यकता है तथा कुछ ऋण आदि की भी सुविधा मिलनी चाहिए।

साधारणतया ट्यूबवैल योजना को सफल बनाने के लिए चार बातें आवश्यक

* Second Five Year Plan,

है:—(१) वह पानी जो भूमि पर वहा कर लाया जाता है, धरातल के लिए पर्याप्त हो, जिसमे वह स्थायी रूप से पानी की मांग को पूरा कर सके। (२) पानी का धरातल ५० फीट से अधिक गहरा न हो तथा उसका तल साधारण तल से नीचा हो। (३) सिचाई की मांग औसत रूप से साल भर मे ३,००० घन्टे हो। (४) विद्युत शक्ति की सुविधा हो, जिसका मूल्य दो पैसे प्रति इकाई से अधिक न हो।

भारत अमेरिका टेक्निकल सहयोग कार्यक्रम तथा अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत प्रथम योजना मे क्रमश २,६५० और ७०० तथा राज्य सरकारो की योजनाओ के अन्तर्गत २,४०० नल कूपो का निर्माण उत्तर-प्रदेश, पेप्सू और विहार मे होना था। इसका वितरण एव प्रगति नवम्वर सन् १९५७ तक इस सम्वन्ध में निम्नवत् थी :—

		उ० प्र०	विहार	पञ्जाव	पेप्सू
(१)	भारत अमेरिका तांत्रिक सहयोग कार्यक्रम	आवटित १,२७५	३९५	५३०	४६०
		निर्मित १,२७५	३९५	५३०	४६०
(२)	अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन	आवटित ४२०		१५०	१३०
		निर्मित ९३[१]		—	—
(३)	राज्य की योजनाएं	आवटिन १,४००	४२४	२५६	—
		निर्मित १ १६५[१]	४०४[१]	२५६[१]	—

वम्वई राज्य की प्रथम योजना मे ४०० नल कूपो के निर्माण का लक्ष्य था, जिसमें से दिसम्वर सन् १९५५ तक १९८ नल कूपो का निर्माण हो चुका है।[२] इसके अलावा नवम्वर सन् १९५७ तक पजाव, उत्तर-प्रदेश, उत्तरी गुजरात मे अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत १,००९ नल कूप खोदे गये हैं। इसी प्रकार दूसरी योजना के अन्तर्गत उतर-प्रदेश और असम में ३९९ नल कूप खोदे गए हैं। फलस्वरूप नलकूप और लघु-सिचाई योजनाओ से सन् १९५७-५८ मे लगभग २२ लाख एकड भूमि को सिचाई की सुविधाएं उपलब्ध हो जावेंगी।[*] दूसरी योजना मे विभिन्न राज्यो मे १० करोड की लागत से ३,५८१ नल कूपो के निर्माण का लक्ष्य है, जिससे लगभग ९१६ हजार एकड भूमि सिचाई के अन्तगत आ सकेगी।

तालाव—

भारत मे तालाओ से १६ लाख एकड भूमि की सिंचाई होती है और ये तालाव दक्षिणी भारत की विशेषता के परिचायक हैं।

तालाव दक्षिण की विशेष परिस्थिति के द्योतक हैं। क्योकि,

(१) दक्षिण की नदियाँ वर्फीली नही हैं, इसलिए वे सिर्फ वर्षा के पानी पर ही निर्भर हो कर वहती हैं। दक्षिण मे ऐसे वहुत से झरने अख्यात हैं, जो वर्षा के वेग से प्रभावित हो कर वहते हैं, परन्तु वर्षा के वाद सूख जाते हैं।

---

1 Second Five Year Plan, p 329
2 दिसम्वर सन् १९५५ तक।
* India—1958.

(२) इस प्रकार नदियो व जल प्रपातो की अस्थायी दशा तथा दक्षिण का पहाडी धरातल, दोनो स्थितियाँ इस बात के लिए एक बडी भारी बाधा उपस्थित करती हैं कि वहाँ नहरो का निर्माण कैसे हो।

(३) इसके अलावा वहाँ की दृढ चट्टानें भी पानी को सोख नही सकतीं, इसलिए कुँओ का निर्माण होना असम्भव है। परन्तु बडे बडे जलाशयो और जल भण्डारो का जल आसानी से बाध बना कर, तालाबो का निर्माण करके खेतो को निरन्तर पानी पहुँचाया जा सकता है।

(४) साथ ही वहाँ की जन सख्या बिखरी हुई है, इसलिए वह स्वय बाध की योजना के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करती है। अतः यही एक सुव्यवस्थित और सुविधाजनक उपाय है, जिससे वर्षा का पानी सग्रह द्वारा सिंचाई के प्रयोग मे लाया जा सकता है, अन्यथा वह यो ही बह कर बेकार चला जावेगा। बाध निर्माण योजना, विशेषत. मद्रास में अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुकी है।

बाध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। यह बम्बई की फाइफ झील और विटिंग से लेकर पेरियर झील तक बडे हो सकते हैं। एक छोटे ग्राम मे छोटे बाध द्वारा ५ एकड भूमि की सिंचाई की जा सकती है। बडे बडे बाध बहुत कम हैं, क्योंकि उनमे चतुर इञ्जीनियरो, वैज्ञानिक यन्त्रो और धन की आवश्यकता होती है, इसलिए केवल सरकार ही इतने बडे कार्यो का सम्पादन कर सकती है। परन्तु जिस प्रकार देश के छोटे छोटे क्षेत्रो को समुचित रूप मे रखना कठिन कार्य है, उसी प्रकार सरकार छोटे छोटे बाधो के काय को कठिन समझती है। यद्यपि विशेषज्ञो द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि लम्बे समय मे ये बाध मूल्यवान् सिद्ध होंगे, भार रूप नही। इसलिए इनके निर्माण का भार ग्राम की जनता पर ही छोडा जा सकता है, जो अपना ध्यान इस ओर केन्द्रित कर सकती है। इसके लिए एक बोर्ड बनाने और एक ऐसी निर्धारित नीति द्वारा सचालन की आवश्यकता है, जिससे यह कार्य सरल हो।

भारत सरकार की सिंचाई नीति (Irrigation Policy of the Government of India)—

भारत मे सिंचाई बहुत प्राचीन युग से होती आ रही है, जिसका प्रमाण पुराने कुँओ और बाधो के अस्तित्व से मिलता है। उदाहरण के लिए, मद्रास के चिंगलपुर जिले में दो बाध हैं, जो कि ८/९ वी शताब्दी के बतलाये जाते हैं, और अभी भी एक बहुत बडे भू भाग की सिंचाई करते हैं। प्राचीन-काल मे जो बाध आदि बनाये जाते थे, वे छोटे पैमाने पर ही बनाये जाते थे, इसलिए आर्थिक दृष्टि से समाज के अनुकूल भी होते थे, परन्तु बडे बडे बाधो का अभाव था। नहरें भी बनवाई जाती थी, जैसे— पश्चिमी यमुना नहर १४ वी सदी मे बनवाई गई थी। पूर्वी यमुना नहर मुगल बादशाहो द्वारा बनवाई गई थी। 'कावेरी नदी के डेल्टा मे सिंचाई की नहरें दूसरी शताब्दी की बनी हुई हैं, जोकि कुलियो द्वारा बनवाई गई थी, लेकिन मुगल साम्राज्य

के पतन के पश्चात् सन् १८०० के आस-पास नहरो की मरम्मत वन्द सी हो गई। डा० वीरा एन्सटो के अनुसार—"पूँजी एव इञ्जीनियरिङ्ग योग्यता का अभाव, ऋण की अस्थिरता और वाह्य व विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक उपद्रवो ने सिंचाई के विस्तार को रोक दिया।" अत: १८ वी सदी मे यमुना नहर की हालत विगड गई और जगलो से ढँक सी गई। रमेशचन्द्रदत्त के अनुसार रेलवे मे धन का अपव्यय जितनी वडी वेवकूफी थी, उतनी ही वडी वेवकूफी सिंचाई में कजूसी करना था।*

(१) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सिंचाई कार्य—

(क) पुरानी नहरो आदि का सुधार—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना समस्त ध्यान सिंचाई सुधार की ओर केन्द्रित किया तथा उसने अपनी धन राशि का एक वडा भाग मरम्मत और सुधार कार्य पर व्यय किया। वे महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं :—

(१) सन् १८२० मे पश्चिमी यमुना नहर को सुधारा गया। निर्माण कार्य वहुत जल्दो मे किया गया था, इसलिए इसके आस-पास के भागो में दलदल वन गये। वरनार्ड डार्ले के अनुसार—"दोषपूर्ण एव शीघ्र निर्माण के कारण पानी का उपयोग ठीक से नही हुआ, जिससे देश के अधिकाश भागो में दलदल वन गये, जिसका स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पडा।" सन् १८७३ मे इस नहर का पुन. निर्माण किया गया तथा नालियाँ खोदी गई और उसका कार्य ठीक रूप से पूर्ण किया गया।

(२) सन् १८३० मे पूर्वी यमुना नहर का सुधार किया गया, लेकिन दोषपूर्ण निर्माण कार्य से इसमें भी जल वितरण सम्वन्धी हानि हुई, इसलिए इस नहर का भी पुन निर्माण किया गया।

(३) सन् १८३६ मे सर आर्थर कॉटन ने कावेरी ग्राड एनीकट वाव वनाने के कार्य को अपने हाथ मे लिया। यह वाँघ २,५६२ फीट लम्वा और ५ से ७½ फीट ऊँचा था। नीचे कुँओ का भी निर्माण किया गया, जिसमे २२ छोटे मार्ग वनाये गये, ताकि समय पर मिट्टी वाहर निकाली जा सके। सन् १८४३-४४ मे यह अधिक विस्तृत किया गया तथा कावेरी का वाँघ वनाया गया। यह वाँध सन् १८६६-१६०२ में पुनः निर्माण काय द्वारा पूरा किया गया था।

(ख) नवीन सिंचाई योजना का निर्माण—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नवीन सिंचाई कार्यो का भी निर्माण किया :—

(१) पुरानी नहरो की मरम्मत आदि करने से इञ्जीनियरो को जो सफलता प्राप्त हुई, उससे उत्साहित होकर उन्होने भिन्न भिन्न प्रान्तो मे कई नवीन योजनाओ को वनाने का निश्चय किया, जिससे अकाल की छाया दूर हो। परिणामस्वरूप ऊपरी गगा नहर का निर्माण हो सका, जो सर प्रोवी केन्टले द्वारा सन् १८४०-१८५० में

* R Dutt, "The Economic History of India under the early British Rule, p 550

वनाई गई थी। इस नहर ने अकाल क्षेत्र को एक घनी एव समृद्ध भू भाग मे परिणित कर दिया।

(२) दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य जो कम्पनी द्वारा किया गया, वह ऊपरी बारी दोआव नहर की योजना थी। उसमे हॅसली नहर का कार्य सन् १८४७-१८५४ में समाप्त हुआ।

(३) सन् १८४६ मे गोदावरी नहर का निर्माण किया गया। नदी के बाये किनारे पर पूर्वी डेल्टा का सिर था, जिससे आवागमन बन्द था तथा छोटे-छोटे मार्ग बने हुए थे। दो बाघो (ढोलेस्वरम ४,६४० फुट लम्बा तथा राली बाव २,८५७ फुट लम्बा) ने गोमती व गोदावरी नदी को सुव्यवास्थित रूप से अपने महान् कार्य मे नियोजित कर दिया। उनका केन्द्रीय कार्यालय ११,६४५ फुट ऊँचा तथा डेढ मील के घेर वाला बना, जिनमें ३ नहरें व बाँध योजनाये सम्मिलित थी। यद्यपि यह एक महान् सफलता थी, फिर भी पुराने पदार्थो व यन्त्रो के कारण यह कार्य दोषपूर्ण ही रहा। अत सन् १८६० मे दो नहरो की व तीन मुख्य बाघो की दीवालें बनाकर इसके स्तर मे सुधार किया गया। इससे प्राप्त सिचाई की सुविधा ने गोदावरी के डेल्टा का ग्राम्य-जीवन ही सुखी बना दिया। अत उस प्रदेश मे जहाँ कि अकाल की छाया रहती थी, एक समृद्धशाली भाग बन गया है।

(४) कृष्णा नदी बाँध योजना का काय सन् १८५२ मे आरम्भ किया गया, जो सन् १८५५ मे समाप्त हो गया। इसके अलावा कई छोटे-मोटे और काय भी सुधारे गये। कम्पनी ने पजाव की नहरो को भी सुधारने मे सहायता पहुचाई, जिसमे सबसे महत्त्वपूण कार्य बेगारी नहर और फुलेली नहर का था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रेलो के अभ्युदय से पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों को अपने हाथ में लिया, जिसका प्रमुख ध्येय दुर्भिक्ष का सामना करना था। इङ्गलेंड मे, जहाँ नहरो का निर्माण आवागमन के लिए किया गया, वहाँ भारत मे सिंचाई के उद्देश्य से किया गया।

(२) प्राइवेट कम्पनियो द्वारा निर्माण कार्य—इस प्रकार नहरो की सफलता देख कुछ प्राइवेट कम्पनियो को भी उत्साह हुआ कि वे इस कार्य में सफलता प्राप्त करें, लेकिन उनके कार्य असफल ही रहे। ये उपयुक्त नहर निर्माण काय कम्पनी की आय से किये गये थे, अत उसकी आर्थिक स्थिति पर इनका प्रभाव पडना अनिवार्य था। इसलिए सन् १८५७ मे कोर्ट ऑफ डाइरेक्टस ने यह प्रस्ताव रखा कि नहर निर्माण कार्य प्राइवेट कम्पनियाँ ही करे। सर आर्थर कॉटन ने उत्साहवर्द्धक योजनायें प्रस्तुत की। उसने कई नहरो के निर्माण का प्रस्ताव किया, जो तुङ्गभद्रा और कृष्णा नदी के बीच वाले क्षेत्र को जोडने वाली थी। इस योजना के अनुसार ४ बाँध तुङ्गभद्रा व कृष्णा नदी पर बाँधे गये, जिनके द्वारा ५ नहरो के पानी का वितरण कार्य हो सकता था। इसके साथ ही ६०० मील नहर-मार्ग या नदी-मार्ग सुधार कर यातायात

योग्य बनाये जाने की भी योजना प्रस्तुत की गई और एक तटीय नहर द्वारा कृष्णा नदी का डेल्टा मद्रास से जोड दिया गया। इसके अलावा ६०० मील का कार्य पूना और बंगलोर के मध्य मे भी हुआ, जिसका खर्च २० लाख पौंड था। एक दूसरी योजना संथाल पहाड़ियो से ढाका तक सिंचाई कार्य की थी, जो कानपुर के समीप गंगा की नहर से अलग ५५० मील लम्बी नहर द्वारा जोडी जाय। इसके अलावा २०० मील लम्बी एक नहर गंगा और सतलज को जोडने वाली थी, जिससे उत्तर-प्रदेश, पंजाब और बंगाल में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो सके। उडीसा नहर द्वारा करांची से कलकत्ता और मद्रास के बीच ४००० मील लम्बा जल-मार्ग प्रस्तुत करने की योजना बनाई गई।

दो कम्पनियो ने इस कार्य को अपने हाथ मे लिया। पहली, सन् १८५८ मे स्थापित ईस्ट इण्डिया सिंचाई नहर कम्पनी, जिसने अपना कार्य सन् १८६३ मे चालू किया। इसने उडीसा व मिदनापुर में नहरें बनाईं, परन्तु सन् १८६६ तक इसकी पूंजी समाप्त हो गई, जबकि एक बहुत बडा कार्य अभी पूरा नही हुआ था। लेकिन उसे अति-रिक्त पूंजी प्राप्त न हो सकी, अतः सरकार ने ९,००,००० पौंड देकर इस कार्य को अपने हाथ मे लिया। यह सिंचाई योजना कृषक जनता के लिए लाभदायक प्रमाणित हुई और इनमे नावें चलाने की सुविधा भी प्राप्त हो सकी। परन्तु आर्थिक दृष्टि से यह कार्य सफल नही कहा जा सकता था, क्योंकि जिस समय यह योजना बनाई गई उस समय इस बात का ध्यान नही रखा गया कि यहाँ वर्षा ६०'' होती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी इसी नहर के निर्माण का कार्य अपने हाथ मे लिया, परन्तु पूंजी की कमी के कारण कार्य अधूरा ही रह गया। इसलिए सरकार द्वारा यह कार्य पूरा किया गया। दूसरी कम्पनी सन् १८६२ में मद्रास सिंचाई कम्पनी के नाम से बनी, जिसकी पूंजी १० लाख पौंड थी। इस कम्पनी ने करनूल कडप्पा नहर का कार्य अपने हाथ मे लिया। इसका अनुमानित व्यय ५,५०००० पौंड था, परन्तु जब निर्माण कार्य चालू हुआ तो सारी पूंजी समाप्त हो गई। इसलिए कम्पनी ने सरकार से ६,००,००० पौंड ऋण लेकर इस कार्य को पूरा किया और बाद मे सरकार ने ही इस कम्पनी को ११,८५,५०० पौंड मे खरीद लिया। स्पष्ट रूप से इन कम्पनियो की असफलता आदि का कारण कम्पनियो की तात्कालिक लाभ की इच्छा तथा अनुभव का अभाव एवं स्थानीय दशा थी।

सरकारी ऋणों द्वारा सिंचाई निर्माण कार्य—

सन् १८६६ के अकाल के फलस्वरूप जो हानि हुई, उसको ध्यान मे रखते हुए यह अनुभव किया गया कि सिंचाई कार्यों को जल्दी ही महत्ता प्रदान की जानी चाहिए, अतः भारत सरकार के मन्त्री ने इस सिद्धान्त को मान लिया कि उत्पादक कार्यों के लिए ऋण देकर भी कार्यो को किया जाना चाहिए। इस नवीन नीति के परिणामस्वरूप ५ महत्त्वपूर्ण नहरो का निर्माण उत्तर-प्रदेश, बम्बई, सीमाप्रान्त, पंजाब

मे किया गया।—(१) सरहिन्द नहर (पूर्वी पजाब) (२) निचली गङ्गा नहर (उत्तर-प्रदेश), (३) स्वात की निचली नहर (सिन्ध सीमा-प्रान्त), (४) रेगिस्तान की नहर, (५) मुथा नहर (बम्बई)। इस प्रकार यह एक महत्वपूर्ण कार्य था, जिससे पानी के वितरण का काय सुगम हुआ तथा अकाल से ये क्षेत्र बचे।

पजाब के नहर उपनिवेश तथा अन्य स्थानो मे रक्षात्मक नहरो का निर्माण—

इसी समय सरकार अनुभव करने लगी कि अकाल घोषित क्षेत्रो को सहायता दी जाय। सन् १८८० की दुर्भिक्ष आयोग की प्रकाशित विज्ञप्ति के वाद रक्षात्मक नहर निर्माण कार्य मे पर्याप्त प्रगति हुई। सन् १८१८ से ही सरकार ने दुर्भिक्ष फड आदि के लिये १½ करोड रुपया अलग से निश्चित किया था, जिसमें से ७५ लाख रु० रक्षात्मक रेल्वे और सिंचाई काय पर व्यय होता था। पहिला रक्षात्मक कार्य वेतवा नहर के निर्माण से चालू हुआ, जो उत्तर-प्रदेश मे है। इसके अलावा ऋषिकुल्या वाघ (जिसमे वांध, नहर, जल भण्डार हैं), नीरा नहर (बम्बई प्रान्त मे) और पेरियार नदी (मद्रास प्रान्त में) का निर्माण कार्य हाथ में लिया। सिन्ध मे दो महत्वपूर्ण कार्य हाथ मे लिए गये—जमराव नहर, जो पूर्वी नारा और सिन्ध के वीच मे है तथा पश्चिमी नारा नहर।

इस प्रकार के रक्षात्मक कार्य के अलावा नहरो का निर्माण कार्य पजाब मे आरम्भ किया गया। इस योजना ने वृक्षो से रहित रेगिस्तान और उजडे हुए भू-भागो को हरे-भरे रूप में परिणित कर दिया। झेलम और सतलज नदी के वीच के भाग मे ५" से १५" तक वर्षा होती थी तथा ग्वाले और घसियारे लोग रहा करते थे, अत अन्य स्थानो की सरकार ने नहर निर्माण की एक नवीन योजना आरम्भ की। प्राथमिक गवेषणा कार्य कठिनाइयो से भरा था। मलेरिया के क्षेत्र में किया जाने वाला कार्य और भी असुविधाजनक था। कारण, पूरा कमचारी दल बीमारी का शिकार हो जाता था, जिससे श्रम करना मुश्किल हो जाता था। उस समय केवल श्रम की ही बाधा उपस्थित न होती थी, वरन् ईंटें बनाने तथा चूना पकाने के लिए ईंधन आदि की बाधा उपस्थित होती थी।

पहली उपनिवेश नहर के रूप में सोहाग नहर का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है तथा इसके साथ ही सिधनई नहर मुलतान जिले में खोदी गई। पहली नहर को वाद मे सतलज की नहरो से मिला दिया गया। इन नहरो द्वारा पूंजी लागत पर ४०% लाभ हुआ। परिणामस्वरूप उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई और सरकार ने उत्साहित होकर निचली चिनाव नहर निकाली। झेलम और सतलज के वीच का भाग ठीक रूप से कार्य मे न ला सकने से इन नहरो द्वारा उसका महत्व और भी बढ गया। प्रति परिवार पीछे कृषको को भूमि दी गई। इस प्रकार पजाव मे चिनाव उपनिवेश की सन् १८६३ मे, झेलम उपनिवेश की सन् १९०१ मे, जमराव उपनिवेश की सन् १८९८ मे सिन्ध मे स्थापना हुई।

सिंचाई आयोग के बाद निर्माण कार्य—

सन् १८९९-१९०१ के दुर्भिक्षो के परिणामस्वरूप सरकार ने सिंचाई आयोग की स्थापना की। उत्पादक कार्यों के सम्बन्ध में आयोग का विचार था'—"चुनाव, अर्थ और निर्माण कार्य के अनुसार हर एक उत्पादक कार्य रक्षात्मक है। उनके द्वारा जो प्रत्यक्ष आय होती है, वह एक सम्पदा है। विशेषतः उन अकालो व बाढो के समय जब अन्य दिशा में तनाव होता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि यह राष्ट्र की सम्पदा को बढाने का एक महान् साधन है, जिसके व्यय का बहुत बडा भाग पुनः सरकार को प्राप्त हो जाता है। घनी आबादी वाले भागो की जन-संख्या इस ओर आकर्षित होती है इसके साथ ही अकाल के समय भागे हुए व्यक्ति शरण पाते है। यह नवीन क्षेत्र कृषि कार्य के उपयोग मे आते है, जिससे कृषि का विकास होगा, जन जीवन की सु क्षा मे वृद्धि होगी व रेलवे किराया आदि सस्ते होगे तथा देश के अन्य भागो मे उत्पादन आसानी से पहुँचाया जा सकेगा। इन्ही कारणो से यह सुझाव रखा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र मे उत्पादक कार्य को महत्त्व दिया जाना चाहिए। नए बाँधो के निर्माण के बदले आबादी व बस्ती के अनुसार बाँधो व नहरो का निर्माण होना चाहिए। यदि उस पर भी अधिक आवश्यकता हो व कोष की कमी हो तो उसमे सहकारिता के आधार पर व्यवस्था की जा सकती है।" इस प्रकार सिंचाई आयोग की सिफारिशें बहुत ही मूल्यवान सिद्ध हुई तथा व्यय व कार्य पहले से दूना हो गया। इसी नीति के अनुसार नवीन कार्यो का श्रीगणेश हुआ।

सर्व प्रथम जो काय हाथ में लिया गया, वह त्रिबांध योजना (ट्रिपल प्रोजेक्ट) थी, जिसमे ऊपरी झेलम नहर (१९१५), ऊपरी चिनाब नहर (१९१२) तथा नीचे की बारी दोआब नहर (१९१५) शामिल थी। इसी समय निचली झेलम नहर का भी निर्माण हुआ और ऊपरी स्वात नहर का निर्माण उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त में हुआ। दुर्भिक्ष आयोग की इस दिशा में रुकावट की कोई इच्छा न थी। उसका मन्तव्य इस प्रकार है '—"हमारी यह धारणा नही है कि हम किसी दुर्भिक्ष से पीडित क्षेत्र की उत्पादक सुरक्षा को खतरा पहुँचाये, अत. उन क्षेत्रो मे जहाँ इस प्रकार की सुरक्षा नही है, वहाँ उसके लिये आवश्यक माँग की जा सकती है, परन्तु अन्य के लिए यह सोचा जा सकता है कि उत्पादक भागो की तुलना मे बाह्य आय कम होगी। दूसरे शब्दो मे, पूरी व्यय सम्पत्ति की खालिस आय २० गुनी से अधिक नही है, इसलिये उनके मूल्य के बारे में हमें सम्यक् विचार करना चाहिए तथा जो भाग उत्पादक ढङ्ग से असुरक्षित हैं, वहाँ वह धन राशि व्यय की जानी चाहिए, जो लगान से ३० गुनी से अधिक न हो अथवा लागत पूँजी पर ३% के रूप मे वर्ष भर मे प्राप्त होती रहे। इसके अलावा अप्रत्यक्ष आय व अन्य उत्पादक कार्य इस बात की स्वीकृति दिलवाते हैं कि आशा की गई पूँजी मे कम प्राप्त होता है तो हमे उस पर ध्यान देना चाहिए।

यह विशेष तौर से कार्य की शीघ्रता के सम्बन्ध मे होना चाहिए, अतः ऐसे कार्य मे पूंजी अधिक लग सकती है और बाढ आदि के समय पूरे तौर से प्राप्ति न हो तो ध्यान दिया जा सकता है। इस प्रकार यह गवेषणापूर्ण कार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अप्रत्यक्ष रूप से सिंचाई के कार्य का कितना ही महत्त्व हो, जिसे हम उत्पादक श्रेणी मे पाते हैं, वह प्रत्यक्ष आय से कम होता जायगा, अत. उन क्षेत्रो मे जो अकालग्रस्त हैं, सिंचाई कार्य पूरा महत्त्व रखते हैं।"

इन सुझावो में हम आधुनिक शताब्दी की सिंचाई नीति का जन्म मानते हैं। इस युग मे जो उत्पादन कार्य हाथ मे लिया गया, वह त्रिवेणी नहर का था। अन्य उत्पादन कार्य जो मध्य प्रदेश मे हाथ मे ले लिए गये थे वे महानदी, वैनगगा, तुण्डला और रमेतक नहरो का काय था। बम्बई मे भी इस प्रकार का कार्य हाथ मे ले लिया गया था, जिसमे प्रवीरा और नीरा नहरो का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

युद्धोत्तर सिंचाई निर्माण कार्य मे प्रगति—

सन् १९१९ के पश्चात् सिंचाई प्रान्तीय विषय बन गया, इसलिए प्रान्तीय सरकारें अब नहरो के निर्माण मे उत्साह ले रही हैं, लेकिन ५० लाख रुपये से अधिक की योजना आरम्भ करने पर भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक है। उत्पादक व अन्य कार्यों के लिए ऋण लिया जा सकता है। इसके अलावा प्रान्तीय आय दुर्भिक्ष सरक्षण एव सहायता कार्य मे भी खर्च की जा सकती है। महायुद्ध के पश्चात् कई सिंचाई कार्यों का विकास हुआ है, जैसे—सतलज घाटी बांध, जो कि २१ करोड की लागत से सन् १९३२-३३ में बनाया गया, जिससे राजस्थान के बीकानेर डिवीजन की ५० लाख एकड भूमि पर सिंचाई होने लगी। दूसरा कार्य सक्कर बांध का था, जोकि आज पाकिस्तान मे है। इस पर ४० करोड रुपये खर्च हुए और ७५ लाख एकड भूमि की सिंचाई की जाने लगी।

योजना काल में सिंचाई कार्यक्रम—

भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् सिंचाई कार्यक्रम में तेजी से विकास हुआ है, विशेषत अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत और सन् १९५१ के बाद पञ्च-वर्षीय योजनाओ के फलस्वरूप।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना मे ७२० करोड रु० लागत की सिंचाई योजनाओ का समावेश किया गया था, जिसमे १५० योजनाएँ तो ऐसी थी जिनकी लागत १० लाख रु० से अधिक की थी और २०० योजनाएँ दुर्लभ क्षेत्रो के स्थायी सुधार के सम्बन्ध मे थी। इन २०० योजनाओ में १३ बहुमुखी एव सिंचाई योजनाएँ थी, जिनकी प्रत्येक की लागत १० करोड रु० से अधिक थी। इन योजनाओ मे कुछ तो ऐसी थी जिन पर योजना के आरम्भ के पूर्व ही ८० करोड रु० व्यय किया गया था।*

* Economic Weekly, Aug. 2, 1958

प्रथम योजनाओ मे इन योजनाओ पर ३४० करोड रु० व्यय किए गए तथा शेष राशि दूसरी योजना की अवधि मे व्यय होगी। प्रथम योजना काल मे २२० लाख एकड भूमि पर सिचाई सुविधायें बढाने का लक्ष्य था, परन्तु योजना काल में १६३ लाख एकड भूमि को सिचाई के अन्तर्गत बढाया गया, जिसमे १००लाख एकड सिचाई की लघु योजनाओं तथा शेष ६३ लाख एकड वृहत योजनाओ की पूर्ति से बढा।[1]

दूसरी योजना मे प्रथम योजना की अपूर्ण योजनाओ को पूर्ण करने तथा नई योजनाओ की रीति के लिए ३८० करोड रु० का आयोजन है। इस राशि मे से २२२ करोड प्रथम योजनाओ की पूर्ति के लिए व्यय होगा और शेष दूसरी योजना काल मे समाविष्ट १९५ नई योजनाओ पर व्यय किया जायगा।[2]

अनुमानित लागत	योजनाओ की सख्या	कुल अनुमानित लागत (करोड रु०)	भूमि पर अनुमानित सिचाई लाभ (लाख एकड)
१० से ३० करोड रु०	१०	१९१	८४
५ से १० करोड रु०	७	५४	१५
१ से ५ करोड रु०	३५	८५	३४
१ करोड रु० से कम	१४३	४६	१५
योग	७९५	३७६	१४८

स्पष्ट है कि दूसरी योजना मे मध्यम सिचाई योजनाओ को अधिक महत्त्व दिया गया है। इससे ३५ करोड रु० का आयोजन सिन्ध नदी से भारत को मिलने वाले पानी के हिस्से के उपयोग के लिए व्यय होगा। इन योजनाओ के फलस्वरूप दूसरी योजना की पूर्ति पर २१० लाख एकड से सिचाई का क्षेत्र बढेगा, जिसमे से १२० लाख एकड वृहत मध्यम सिचाई योजना से तथा शेष ९० लाख एकड लघु-सिचाई योजनाओ से लाभान्वित होगा। फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन में सिचाई सुविधाओ के विकास से ४ २ मि० टन से बढेगा, ऐसा अनुमान है।[2]

सिचाई से होने वाली हानियाँ—

सिचाई से भूमि के उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ ही काफी हानियाँ भी हुई हैं। नगरो द्वारा सिंचित क्षेत्र मे भूमि इतनी सतह हो जाती है कि उसमें हर समय पानी भरा रहता है तथा दलदल हो जाता है, जिससे मच्छर आदि पैदा हो जाते हैं। अधिक सिचाई के कारण भूमि का क्षार फैल जाता है, जिससे भूमि कृषि के अयोग्य हो जाती है। पजाब प्रान्त मे ११,२५,००० एकड और बम्बई में नीरा घाटी में

1. Hindustan Year Book, 1958
2 Second Five Year Plan.

५१,००० एकड भूमि जल रेखा के ऊँचे हो जाने तथा भूमि पर क्षार फैल जाने से खेती के अयोग्य हो गई है।

प्रोफेसर वृजनारायण ने इस खतरे की सूचना देने वाली मुख्य बातें इस प्रकार वतलाई हैं :—(१) एक या दो वर्ष तक 'वारनी' की फसलें असाधारण रूप में अच्छी रहती हैं। (२) तीसरे वर्ष इस दोष में भूमि के ऊपर 'कालर' के धब्बे दिखाई देते हैं, जिससे बीज नही उगते। (३) धीरे-धीरे उत्पादन कम होने लगता है और वह धब्बा सारे खेत मे फैल जाता है। (४) नहर के पास के गढ्ढो का पानी मुचैले रग का हो जाता है। (५) धीरे-धीरे पानी ऊपर की ओर वढता जाता है। (६) सोते के पानी वाला स्तर धीरे-धीरे सतह की ओर वढता जाता है। (७) उस क्षेत्र के पीने का पानी स्वाद रहित हो जाता है और उस सारे वातावरण मे एक प्रकार की दुगन्ध फैलने लगती है।

वास्तव मे वात यह होती है कि मिट्टी मे जो नमक या क्षार का अश होता है वह पानी की सतह की मिट्टी के साथ-साथ ऊपर की ओर वढ आता है। नहरो द्वारा वाढ या वर्षा का जल रुक जाता है। दूसरे, नहरो का भी जल वढता है। इसका प्रभाव मिट्टी पर वुरा पडता है और धीरे-धीरे जमीन के नीचे के क्षार पदार्थ ऊपर की ओर वढने लगते हैं। इस प्रकार मिट्टी की उर्वरा शक्ति जाती रहती है।

इस दोष से वचने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिये :—(१) ट्यूववैल तथा नालियो आदि के द्वारा पानी को वाहर निकाल देना। (२) वह भूमि जिस पर नहरें वढती हैं उसको कक्रीट से भार देना, परन्तु इस व्यवस्था से अन्य नालो की स्थिति में कोई सुधार न होगा। (३) रुकी हुई नालियो को खोल देना। (४) नहरो द्वारा सिचाई को रोकना। सिचाई की वर्तमान व्यवस्था मे कभी-कभी अत्यधिक सिचाई हो सकती है। अत: उक्त उपायो द्वारा हम इस दोष से मुक्त हो सकेंगे।

परिशिष्ट

तृतीय पचवर्षीय योजना और सिंचाई सुविधाएँ—

योजना आयोग की राय मे कृषि अर्थतन्त्र के पुनर्निर्माण और औद्योगीकरण का पथ तेजी से प्रशस्त करने के लिए सिंचाई और बिजली साधनो का तेजी से विकास करना बहुत जरूरी है।*

* नवभारत टाइम्स अगस्त १२, १९६०

देश मे प्राप्त नदी जल साधनो के एक अंश का ही उपयोग हो रहा है। सन् १९५० मे इन साधनो का अनुमान १ अरब ३५ करोड ६० लाख एकड फुट लगाया गया था। प्राकृतिक कारणो से सिर्फ ४५ करोड एकड फुट जल साधनो का ही सिंचाई के लिए उपयोग किया जा सकता है।

द्वितीय योजना के अन्त तक नदियो में बहने वाले ११ करोड ९० लाख एकड फुट पानी का ही उपयोग हो सकेगा, जो उपयोग में आ सकने वाले जल साधनो के २६ प्रतिशत भाग के बराबर है। तृतीय योजनाकाल मे उपयोगी पानी का प्रतिशत बढ करके ३६ प्रतिशत हो जायगा।

पहली योजना के आरम्भ मे सिर्फ ५ करोड १५ लाख एकड भूमि की सिंचाई होती थी। सन् १९६०-६१ तक ७ करोड एकड भूमि की सिंचाई होने लगेगी। तीसरी योजना के अन्त में ९ करोड एकड भूमि मे सिंचाई होने लगेगी।* अनुमान है कि पाँचवी योजना के अन्त तक साढे आठ से नौ करोड एकड तक भूमि की सिंचाई होने लगेगी। तृतीय योजना में इस दीर्घकालीन लक्ष्य को सामने रखा गया है।

पहली और दूसरी योजना में सिंचाई की बडी और मध्यम श्रेणी की योजनाओ पर १४ अरब रुपये का अनुमानित व्यय होगा। इन योजनाओ का जब पूरा-पूरा विकास हो जायगा तब ३ करोड ८० लाख एकड भूमि पर सिंचाई हो सकेगी।

पहली और दूसरी योजना अवधि मे जो परिकल्पनाएँ शुरू की गयी उनको पूरा करने के लिए ६ अरब २० करोड रुपये की आवश्यकता होगी। इन परिकल्पनाओ पर ४ अरब ७० करोड रुपया तो तृतीय योजना काल मे तथा शेष चौथी योजना काल में खर्च किया जायेगा।

आयोग का कहना है कि देश के कुछ भागो मे जैसे पजाब मे पनसाट की समस्या गम्भीर रूप धारण कर चुकी है। तृतीय योजना काल मे इस समस्या को हल करने के लिए बडे पैमाने पर कार्यवाई करने का विचार है। इसी प्रकार केरल जैसे राज्यो मे जहाँ समुद्री लहरो से भूमि का कटाव होता है, इस समस्या को हल करने के लिए ध्यान दिया जाना चाहिए।

तृतीय योजना में बाढ नियन्त्रण, पानी की निकासी, पनसाट और जमीन के कटाव को रोकने के कार्यक्रमो पर ८० करोड रुपया खर्च करने का विचार है। यह रकम सिंचाई की मदद से ली जायगी। सिंचाई के लिये तृतीय योजना मे साढे छः अरब रुपया रखा गया है।

घाटे पर—

योजना आयोग ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हाल के वर्षों मे सिंचाई के लिए जो व्यवस्थायें की गयी वे प्रायः सभी राज्यो मे घाटे पर चल रही हैं और

* सम्पदा—अगस्त १९६०

विभिन्न कारणो से उनसे पूरा-पूरा लाभ नही उठाया जा रहा है। आयोग ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार करके निम्न बातें सुझायी।

(१) सिंचाई योजनाओ द्वारा सिंचाई की जिन सुविधाओ की व्यवस्था की गयी है उनका तेजी से उपयोग हो।

(२) आवपाशी की दर मे फेर बदल की जाय और जल उपकर लगाया जाय।

(३) खुशहाली कर वसूल किया जाय।

यह भी जरूरी है कि किसी क्षेत्र के लिए सिंचाई की योजना मजूर होते ही उस समूचे क्षेत्र मे यथाशीघ्र विकास खड स्थापित कर दिये जायें।

जल उप-कर—

आयोग का यह भी सुझाव है कि जिन इलाको के लिये सिंचाई की व्यवस्था की गई है, परन्तु जहाँ इस सुविधा से लाभ उठाना या न उठाना किसान की इच्छा पर निर्भर है, वहाँ समूचे इलाके की जनता पर अनिवार्य जल उप-कर लगाया जाय। इस उप कर की अदायगी के लिये यह जरूरी नही कि कोई किसान सिंचाई सुविधा का उपयोग करता है अथवा नही। यह सभी को देना होगा।

अध्याय ६

बहुमुखी नदी घाटी योजनाएँ

(Multi purpose River-Valley Projects)

"बहुमुखी नदी योजनायें आदि वस्तुत देश के नए तीर्थ हैं, जि हे भारतीय श्रद्धा के साथ तथा विदेशी यात्री आश्चर्य के साथ देखते हैं।

—श्री नेहरू

"बहुमुखी योजना उन कई उद्देश्यों को एक साथ पूरा करने का ढग है जो वास्तव मेंएक ही समस्या के विभिन्न रूप हैं।"

—लुई मम्फर्ड

बहुमुखी-योजनायें

(Multi-purpose Projects)

भारत मे खाद्य पदार्थों की कमी को पूरा करने के लिये सिचाई की सुविधाओ मे और अधिक वृद्धि करने की तत्कालीन आवश्यकता है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत मे सिंचाई के लिये जितना पानी उपलब्ध हो सकता है उसका केवल ६% ही अब तक कार्य मे लाया गया है। शेष पानी व्यर्थ ही समुद्र में बह जाता है और प्रति वर्ष अनियन्त्रित बाढो से इतनी धन और जन की हानि होती है, इसका अनुमान भी नही लगाया जा सकता है।

भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् केन्द्रीय और राज्य सरकारो द्वारा जल शक्ति और सिचाई की वृद्धि के लिये कई योजनाएँ बनाई गई हैं। इन योजनाओ की पूर्ति पर न केवल देश मे सिंचाई के साधनो मे वृद्धि होगी, वरन् जल-शक्ति मे वृद्धि, बाढ नियन्त्रण, जल-मार्ग, आमोद-प्रमोद और मछली पकडने आदि, सभी कार्यों मे सहयोग प्राप्त होगा। ये सभी बहुमुखी योजनायें कहलाती हैं।

"बहुमुखी योजना उन कई उद्देश्यो को एक साथ पूरा करने का ढग है जो वास्तव मे एक ही समस्या के विभिन्न रूप हैं।" इस प्रकार हम न तो किसी पक्ष की उपेक्षा ही करते हैं और न हमारा दृष्टिकोण एकागी रह पाता है। उस क्षेत्र की सभी आवश्यकताओ और सभी साधनो को ध्यान में रखते हुये बहुमुखी योजना विकास कार्य करती है। किसी नदी का सम्पूर्ण अध्ययन इसी ढग के अन्तर्गत सम्भव है। नदी की स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक अर्थव्यवस्था तथा साधनो मे अनावश्यक उलट-फेर न कर उनका इस प्रकार विकास किया जाता है कि समाज को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो

सके। सन्तुलित और समग्र विकास पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है। किसी भी ऐसी योजना के निम्न उद्देश्य हो सकते हैं :—

(१) सिचाई और भूमि का वैज्ञानिक उपयोग एव प्रवन्ध,
(२) विद्युत शक्ति में वृद्धि और औद्योगीकरण,
(३) बाढ नियन्त्रण और बीमारियो की रोक थाम मे सहायता,
(४) जल-मार्ग का विकास तथा क्षेत्रीय आर्थिक प्रगति,
(५) घरेलू कार्य के लिये पानी की व्यवस्था,
(६) मत्स्य-उद्योग का विकास,
(७) जगलो की रक्षा, वृक्षारोपण और ईधन का प्रबन्ध,
(८) भूमि की सुरक्षा,
(९) पशु सम्पत्ति के लिये चारे की व्यवस्था,
(१०) दुर्भिक्ष आदि से मुक्ति दिलाना, और
(११) मनुष्यो तथा साधनो को काम मिलना।

इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भूमि-विशेषज्ञ, कृषक, इन्जीनियर और अर्थ-शास्त्रियो मे सहयोग की बहुत आवश्यकता है, अन्यथा सभी परिश्रम व्यर्थ होने की आशका है।*

प्रमुख बहुमुखी योजनाएँ—

(१) भाकरा-नांगल योजना (पंजाब)—

भाकरा-नागल योजना के अन्तर्गत दो बडे बाँध बनाने की योजना थी, जिससे नहरो का जाल बिछाने का उद्देश्य था। यह योजना सतलज नदी के पानी का सिचाई एव जलविद्युत के लिये उपयोग करने के लिये बनाई गई है। इस योजना के अन्तर्गत चार विद्युत गृह (Power stations) तथा अनेक ट्रासमीशन्स लाइन्स होगी, जो पजाब, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली मे होगे। नागल बराज से १ मील दूरी पर भाकरा और एक कॉक्रीट का वृहत बाध बनाया जायगा, जिसकी ऊँचाई ७०० फीट और लम्बाई १,७०० फीट है। नागल बाध की ऊँचाई ९५ फीट और लम्बाई १,०००\फीट है। भाकरा बाँध मे ७४ मि० एकड फीट 'पानी सग्रहित हो सकता है, जिसका फैलाव ५९.४ वर्ग मील है। प्रमुख नहर की लम्बाई ६५२ मील तथा सहायक नहरो की लम्बाई २,२०० मील है।

इस योजना से ३६ लाख एकड भूमि की सिचाई होगी तथा ५ जलविद्युत केन्द्र होगे, जिनकी विद्युत क्षमता ९०,००० किलोवाट की होगी। इसके अलावा २०,००० किलोवाट के २ विद्युत केन्द्र और ३२,००० किलोवाट के विद्युत केन्द्र कोटला और गगुवाल में होगे।

---

* Lewis Mumford, 'The Culture of Cities'

इस योजना का कार्य सन् १९४६ मे आरम्भ हुआ, जिससे नागल बाघ सन् १९५४ और भाकरा बाघ सन् १९५८ मे पूर्ण हो गया। इसी प्रकार कोटला और गगुवाल पॉवर स्टेशनो का उद्घाटन भी सन् १९५५–१९५६ मे हो गया। इनकी वर्तमान विद्युतक्षमता ९४,००० किलोवाट की है और माँग बढने पर इसको ३६,००० किलोवाट तक बढाया जा सकेगा। भाकरा बाघ पर जल-विद्युत गृहो का निर्माण कार्य चालू है। इस योजना की अनुमानित लागत १७०·०२ करोड रुपया है।

(२) दामोदर घाटी योजना—

दामोदर नदी (इसको शोक नदी भी कहते हैं) ३३६ मील लम्बी है। इसका उद्गम छोटा नागपुर की पहाडियो मे समुद्र तल से २,००० फुट की ऊँचाई पर है। यह बिहार मे १८० मील बहने के बाद पश्चिमी बगाल मे होकर हुगली मे गिर जाती है। दामोदर घाटी की योजना का ध्येय सिंचाई तथा जल मार्ग के लिये पानी प्रदान करना, मलेरिया पर विजय प्राप्त करना तथा वैज्ञानिक व्यवस्था का प्रवेश कर सारी घाटी की आर्थिक स्थिति मे विकास करना है।

उत्तरी दामोदर नदी की घाटी लकडी, लाख और टसर रेशम मे समृद्ध है। नीचे की घाटी यद्यपि बहुत उपजाऊ है फिर भी सिंचाई की उचित व्यवस्था के अभाव मे वहाँ विस्तृत कृषि एव उत्पादन असम्भव है। दामोदर घाटी मे भारत के कोयले का सम्भावित क्षेत्र, काफी मात्रा मे बॉक्साइट और एल्यूमीनियम पाया जाता है। इस घाटी मे फायर क्ले, अभ्रक, चूना, सीसा, चाँदी, सुरमा और क्वार्ट्ज मिलने की सम्भावना है, इसलिये सस्ती दर पर जलविद्युत के वितरण से इन खनिजो का समुचित उपयोग हो सकेगा, इसलिये बहुमुखी योजनाओ मे दामोदर घाटी योजना का विशेष स्थान है।

भारत सरकार ने इस योजना के हेतु एक वैधानिक कॉरपोरेशन का निर्माण किया है, जो सिंचाई, विद्युत का उत्पादन और बाढ नियन्त्रण योजनाओ को कार्यान्वित करेगा।

इस योजना की कुल लागत १०५ ३८ करोड रु० है। दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत ४ बाँध—तलैया, कोनार, मैथॉन, पचेट हिल—बनाये जायेंगे। इनमे से ३ ६६ करोड रु० की लागत से तलैया बाँध दिसम्बर सन् १९५२ मे पूर्ण हो गया है। इस बाघ की सग्रह क्षमता ३,२०,००० एकड फीट पानी की है। इसके साथ ही २,००० किलोवाट क्षमता की दो विद्युत-निर्माण इकाइयाँ भी हैं।

कोनार बाघ का आरम्भ सन् १९५० मे होकर सन् १९५५ मे यह पूर्ण हो गया। इसकी लागत ९ ९४ करोड रु० है तथा पानी की सग्रह क्षमता २,७३,००० एकड फीट है। इस पर ४०,००० किलोवाट विद्युत क्षमता के जलविद्युत केन्द्र का निर्माण होना है।

मैथॉन बाघ, जो बारकर नदी पर है, सितम्बर सन् १९५७ मे पूर्ण हो गया तथा अक्टूबर सन् १९५७ मे २०,००० विद्युत शक्ति निर्माण करने की क्षमता यहाँ के

विद्युत केन्द्र को प्राप्त हो गई। इस केन्द्र की पूर्ण क्षमता ६०,००० किलोवाट तक बढाई जा सकती है।

पचेट हिल पर बाध बनाने का कार्य चालू है, जिसका प्रमुख उद्देश्य बाढ नियन्त्रण है। यहां पर १,३६५ एकड फीट पानी सग्रह होगा तथा इसकी सहायता से ४०,००० किलोवाट बिजली का उत्पादन हो सकेगा। इसकी कुल लागत १८ २५ करोड रु० होगी तथा सन् १९५९ मे पूर्ण होने की आशा थी।

दुर्गापुर बराज आसनसोल से २५ मील और दुर्गापुर रेल्वे स्टेशन से १ मील पर है। इसकी लम्बाई एव ऊँचाई क्रमश २,२७१ और २८ फीट है। इस बाध की नहर पद्धति से १० २६ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधायें उपलब्ध हो गई हैं। इसका उद्घाटन सन् १९५५ में किया गया। इसके अलावा कलकत्ता से कोयले की खानो तक हुगली नदी से जल यातायात की सुविधायें भी वहां की नहर पद्धति से उपलब्ध हो गई। इसकी कुल लागत २२ ६८ करोड रु० है। जल यातायात की सुविधायें सन् १९५९ तक उपलब्ध हो सकेंगी, जिनसे २० लाख टन माल का यातायात हो सकेगा।

बोकारो थर्मल स्टेशन बिहार स्थित कोनार बाध की निचली धारा पर १२ मील दूरी पर है। इसमें ५०,००० किलोवाट विद्युत उत्पादक तीन इकाइया हैं तथा ७५,००० किलोवाट की चौथी इकाई की शीघ्र ही स्थापना होनी है। इस केन्द्र से जमशेदपुर और बर्नपुर के लोह उद्योग, घाटशिला की तांबे की खानों, बिहार और बगाल की कोयले की खानो, सिन्ध्री एव कलकत्ता तथा आसनसोल के आसपास के सीमेंट और इञ्जीनियरिंग कारखानो को बिजली का प्रदाय होगा। इस केन्द्र का उद्घाटन फरवरी सन् १९५३ में हुआ।

(३) कोसी योजना—

यह बिहार की महत्त्वपूर्ण योजना है, जो सिंचाई, विद्युत, जलमार्ग, बाढ नियन्त्रण, मिट्टी के कटाव से सुरक्षा, मलेरिया नियन्त्रण, मत्स्य उद्योग और मनोरंजन की सुविधायें प्रदान करेगी। इस योजना के अनुसार हनुमाननगर (नेपाल) से तीन मील दूरी पर कोसी नदी पर एक बराज बनेगा। दूसरे, कोसी नदी के दोनो तटो पर १५० मील लम्बी दीवारें बनाई जावेंगी। तीसरे, हनुमाननगर बराज से पूर्वी कोसी नहर का निर्माण होगा, जो लगभग १३ ९५ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधायें देगी। इस प्रमुख नहर की सुपॉल, प्रतापगज, पूर्णिया और अरारिया, ये चार शाखायें होंगी। ये सभी कार्य चालू अवस्था मे हैं और १५० मील की तटबन्दी का कार्य पूर्णता पर है। इस योजना की लागत ४४ ६ करोड रु० है।

(४) हीराकुण्ड योजना—

हीराकुण्ड योजना के अन्तर्गत महानदी के पानी का उपयोग सबलपुर और बोलागिर जिले के ६ ७ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएं देने के लिए किया

जायगा। हीराकुण्ड बाँध संभलपुर रेल्वे स्टेशन से ६ मील दूरी पर होगा। इसकी लम्बाई एवं ऊँचाई क्रमशः १५,७४८ और २०० फीट होगी तथा इसमें ६६० मि० एकड़ फीट पानी रहेगा। इससे निकलने वाली नहर एवं उसकी शाखाएँ ६१ ५ लाख मील तथा इसकी सहायक नहरें ४६० मील लम्बी होगी और जलमार्ग (Water Courses) की लम्बाई ६,५०० मील होगी। इस योजना की लागत ७० ७८ करोड़ रु० है।

इस योजना का कार्य सन् १९४८ में आरम्भ हुआ तथा हीराकुण्ड का प्रमुख बाँध और उसके अवरोध सन् १९५७ में पूर्ण किए गए। यहाँ पर एक विद्युत गृह भी बनाया गया है, जिसमें ४०,००० किलोवाट उत्पादन क्षमता की दो इकाइयाँ (Generating units) हैं, जहाँ से हीराकुण्ड अल्यूमिनियम फेक्ट्री, झारसुगुडा, राजगंगपुर, रूरकेला, जोडा, तालचर, चौद्वार और बारगढ आदि स्थानों पर बिजली के प्रदाय की व्यवस्था पूर्ण हो गई है तथा दिसम्बर सन् १९५६ से शक्ति का प्रदाय आरम्भ किया गया। प्रमुख नहर और सहायक नहरों की खुदाई का कार्य पूर्ण हो गया है, जहाँ से सिंचाई की सुविधायें सितम्बर सन् १९५६ से दी जाने लगी हैं। फलस्वरूप इस योजना से नवम्बर सन् १९५७ तक लगभग १ ४५ लाख एकड भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ गई।

डेल्टा सिंचाई की एक १४ ९२ करोड़ रु० की योजना स्वीकृत की गई है, जो सन् १९६० में पूर्ण होने पर कटक और पुरी जिलों की १८७ लाख एकड भूमि को स्थायी सिंचाई सुविधाएँ देगी। इसी प्रकार विद्युत-शक्ति की अधिक माँग की पूर्ति करने की दृष्टि से विद्युत-गृह के विकास की योजना भी स्वीकृत की गई है, जिससे विद्युत गृह की विद्युत उत्पादन-क्षमता २,३२,५०० किलोवाट हो जायगी।

इस योजना की पूर्ति पर दामोदर घाटी का प्रदेश भारत के अत्यन्त समृद्ध भागों में गिना जायगा, क्योंकि यह प्रदेश खनिज पदार्थों से सम्पन्न है।

(५) तुङ्गभद्रा योजना—

यह योजना आन्ध्र और मैसूर राज्य द्वारा आरम्भ की गई है तथा दक्षिण भारत की सबसे बडी बहुमुखी योजना है। इस योजना के अनुसार तुङ्गभद्रा नदी पर ७,९४२ फीट लम्बा और १६२ फीट चौड़ा बाँध बनेगा, जहाँ से नहरें निकाली जायेंगी तथा बाँध के दोनों ओर जल-विद्युत केन्द्र होंगे। यह बाँध द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद आरम्भ होकर जुलाई सन् १९५३ में पूरा हो गया तथा इसमें ३० लाख एकड़ फीट पानी की संग्रहण क्षमता है। इसके दोनों ओर से नहरें निकाली जायेंगी जो १ ३ लाख एकड भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना में तीन विद्युत केन्द्र बनाए जायेंगे, जिनकी उत्पादन क्षमता ९९,००० किलोवाट होगी। बाँध पर स्थित विद्युत-गृह में ९,००० किलोवाट उत्पादन-क्षमता वाली दो बिजली उत्पादक

इकाइयाँ आ गई हैं तथा तीनो विद्युत गृह सन् १९६७ तक पूर्ण होने की आशा है। इस योजना की कुल लागत ६० करोड रु० है।

(६) रिहृड योजना—

यह पूर्वी उत्तर प्रदेश की सबसे महत्त्वपूर्ण योजना है। यह बाँध मिरजापुर जिले में पिपरी के पास रिहृड नदी पर बनाया जायगा, जिसकी ऊँचाई एव लम्बाई क्रमशः २९४ ५ एव ३,०६५ फीट तथा तथा पानी सग्रहण-क्षमता ८६ लाख एकड फीट होगी। इसी बाँध पर प्रारम्भिक अवस्था में २ ५ लाख किलोवाट का विद्युत केन्द्र वनेगा, जिसकी अन्तिम विद्युत उत्पादन-क्षमता ३ लाख किलोवाट होगी। इस योजना से उत्तर-प्रदेश में १४ लाख एकड और विहार मे ५ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी। इसकी अनुमानित लागत ४५ २६ करोड रु० है और सन् १९६१-६२ में पूर्ण होने का अनुमान है।

इस योजना से सोन नदी की घाटी का अज्ञात प्रदेश गगा से सम्बन्धित हो जायगा तथा बडे बडे जहाज हुगली से रिहृड तक चल सकेंगे तथा खनिज पदार्थों के घनी प्रदेशो का औद्योगीकरण किया जा सकेगा। यह योजना पूर्वी रेल्वे के कुछ भागो को विजली की पूर्ति करेगी, जिससे २०,००० डिब्बे कोयले की वार्षिक वचत हो सकेगी।

(७) चम्बल योजना—

चम्बल योजना की प्रथम सीढी पर राजस्थान और मध्य-प्रदेश शासन सयुक्त रूप से कार्य कर रहे हैं। इस योजना के अनुसार तीन बाँधो मे से प्रत्येक पर एक विद्युत केन्द्र, कोटा के पास वराज (Barrage) एव इसके दोनो ओर नहरें बनाई जावेंगी। पहिली सीढी मे गान्धीसागर बाँध वनेगा, जो झालावाद स्टेशन से लगभग ५ मील दूरी पर होगा। इसकी ऊँचाई, लम्बाई एव पानी सग्रहण शक्ति क्रमश २१२ व १,६८० फीट एव ५७ ३ लाख एकड फीट होगी। गाँधी सागर विद्युत केन्द्र पर २३,००० किलोवाट वाली चार विद्युत उत्पादक इकाइयाँ होगी। "इस योजना का अनुमानित व्यय ४९ ४९ करोड रु० होगा तथा इसकी पूर्ति पर यह राजस्थान की १४ लाख एकड और मध्य-प्रदेश की १२ लाख एकड भूमि को सिचाई सुविधाएँ प्रदान करेगी। इसका आरम्भ जनवरी सन् १९५४ मे हुआ तथा प्रथम सीढी जून सन् १९५९ में पूर्ण होने का अनुमान है।"*

(८) कोयना-योजना (बम्बई)—

उत्तरी सतारा जिले के देशमुखवाडी के पास कोयना नदी पर २,२०० फीट लम्बा एव २०७ ५ फीट ऊँचा बाँध बनाया जायगा। इसमे पानी सग्रहण शक्ति ३६,०४५ मि० घन फीट होगी। इसी बाँध पर एक विद्युत केन्द्र होगा, जिसमें

* साप्ताहिक हिन्दुस्तान २८ सितम्बर, १९५८।

६०,००० किलोवाट उत्पादनक्षमता वाली ४ इकाइयाँ होंगी, जिनमे से २ ३ लाख किलोवाट बिजली का प्रदाय बम्बई एव पूना को तथा शेष १०,००० किलोवाट बिजली महाराष्ट्र के अन्य भागो को दी जायगी। इस पर जनवरी सन् १९५४ मे काय आरम्भ किया गया और सन् १९६१ तक यह योजना पूरी हो जायगी। इसकी अनुमानित लागत ३८·२८ करोड रु० है।

(९) काकरपारा योजना (बम्बई)—

यह तापी नदी के विकास का पहिला स्वरूप है। तापी नदी पर काकरपारा के पास ४५ फीट ऊँचा और २,०३८ फीट लम्बा बाध बनाने का कार्य जून सन् १९५१ मे आरम्भ होकर जून सन् १९५३ में पूरा हो गया। इससे नहरें निकालने का कार्य जून सन् १९६० तक पूरा होगा, जिससे सूरत जिले की ५ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी। इस बांध के दाये-बाये से दो नहरे निकाली जावेंगी। उनकी लम्बाई क्रमशः ३४० और ५२० मील होगी। इस योजना की लागत ११ ६५ करोड रु० होगी।

(१०) मयूराक्षी-योजना—

यह पश्चिमी बगाल की प्रमुखत. सिचाई योजना है, यद्यपि इसमे ४,००० किलोवाट क्षमता का विद्युत-केन्द्र भी स्थापित होगा। इस योजना के अनुसार वीरभूमि जिले मे मयूराक्षी नदी पर एक बांध बनेगा, जिसकी लम्बाई २,१७० फीट और ऊँचाई १५५ फीट होगी। साथ ही, बांध की निचली धारा से २० मील दूरी पर १,०१३ फीट लम्बा तिलपारा बराज बनेगा तथा इसके दोनो ओर से ७५ फीट लम्बी दो नहरें निकाली जावेंगी। इसी प्रकार बांध से भी एक नहर निकाली जायगी। इस नहर पद्धति की कुल लम्बाई ८५० मील होगी, जिससे प० बगाल को ७ २ लाख एकड और बिहार की ३५,००० एकड भूमि को सिचाई सुविधाएँ उपलब्ध होगी। इस योजना की प्रथम सीढी का कार्य सन् १९५१ मे पूर्ण हो गया तथा तिलपारा बराज का जून सन् १९५५ मे। साथ ही, २,००० किलो० विद्युत उत्पादक की एक इकाई दिसम्बर सन् १९५६ मे एव दूसरी फरवरी सन् १९५७ मे आ गई है। इससे वीरभूमि, मुर्शिदाबाद और बिहार के सथाल परगना जिले में विद्युत का प्रदाय होगा। इस योजना की लागत १६ १ करोड है।

(११) नागार्जुनसागर योजना (आँध्र)—

इस योजना के अनुसार आन्ध्र देश मे नदीकोंडन ग्राम के पास कृष्णा नदी पर ३०२ फीट ऊँचा एव ३,९०० फीट लम्बा बाध बनेगा। इस बाध की जल ग्रहण शक्ति ९३ ० लाख एकड फीट होगी। इस बांध के दोनो ओर से १३५ और १०८ फीट लम्बी नहरें निकाली जावेंगी, जिससे आन्ध्र प्रदेश की २० ९६ लाख एकड भूमि को सिचाई सुविधाएँ उपलब्ध होकर ८ लाख टन वार्षिक खाद्यान्न का उत्पादन बढेगा।

इस योजना की लागत ८६ ३३ करोड रु० है तथा सन् १९६३-६४ में पूर्ण हो जायगा।

(१२) भद्रा-सघ योजना—

यह मैसूर सरकार की बहुमुखी योजना है, जिससे शिमोया, चिकमगलूर, चितलदुर्ग तथा वेलारी जिले की २ ३४ लाख एकड भूमि को सिचाई सुविधाए उपलब्ध होगी। साथ ही, ३३,२०० किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन कम हो सकेगा। बाध की ऊँचाई एव लम्बाई १०९ एव १,४०० फीट होगी, जिसमें ३६,०३५ मि० घन फीट पानी रह सकेगा। इसके दोनो ओर २१२ मील लम्बाई की दो नहरें निकाली जावेगी। इस योजना का कार्य सन् १९४७-४८ में आरम्भ हुआ था तथा सन् १९६१ तक पूर्ण होने की आशा है। योजना की लागत २४ ४२ करोड रु० है।

(१३) मचकुण्ड योजना—

यह आन्ध्र और उडीसा राज्य की सयुक्त योजना है, जिससे इन प्रदेशो की सीमा पर मचकुण्ड नदी पर १७६ फीट ऊँचा और १,३४५ फीट लम्बा एक वाघ वनाया गया है। इसमे २७,२०० मि० घन फीट पानी सग्रहण-क्षमता है। इस बाध पर जो विद्युत-गृह वनाया गया है उसमे १७,००० किलोवाट वाली तीन विजली उत्पादक इकाइयाँ है। २३,००० किलोवाट वाली तीन और इकाईयाँ बढ ई जावेंगी, जिससे इसकी विद्युत उत्पादन क्षमता १,२०,००० किलोवाट हो जायगी।

इन योजनाओ के अलावा निम्न योजनाए भी हैं —

नाम योजना	लागत (करोड रु०)	सिचाई सुविधा (एकड)	विद्युत शक्ति (किलोवाट)	पूर्णता
मलपुभाह (केरल)	—	३५,०००	—	१९५५
अनीमुथार (मद्रास)	३ ०५	—	—	—
पेरियर (त्रिवाकुर)	१० ४८	—	७,०५,०००	—
लोवर भवानी (मद्रास)	९ ५१	२,०७,०००	—	१९५६
कगसावती (प०बङ्गाल)	२५ ८६	९ ५ लाख	—	१९५७
कुन्दाह (मद्रास)	३३ ४४	—	१८,०००	—
गरावती विद्युत योजना (मैसूर)	२२ ६९	—	१,७१,०००	१९६१
तवा (मध्य-प्रदेश)	१८ ३४	५,८५ ९७२	—	—

उक्त योजनाओ के अलावा अनेक छोटी-मोटी योजनाए देश मे कार्यान्वित हो रही हैं। फलस्वरूप दूसरी योजना की समाप्ति पर सिचाई के अन्तर्गत १ २ करोड एकड भूमि में वृद्धि होगी। प्रथम योजना की चालू योजनाओ की पूर्ति होने पर ९० लाख तथा दूसरी योजना की नवीन योजनाओ की पूर्ति से ३० लाख एकड भूमि

सिचाई के अन्तर्गत बढेगी । फलस्वरूप सन् १९६१ तक भारत की सिंचित भूमि ८·९८ करोड हो जायगी । इस प्रकार पाँचवी पचवर्षीय योजना के अन्त तक अर्थात् सन् १९७५-७६ तक लगभग १८-१६ करोड एकड भूमि के लिए सिचाई सुविधाएँ उपलब्ध हो जावेंगी ।[1]

इस प्रकार प्रथम योजना के आरम्भ मे भारत की विद्युत उत्पादन शक्ति २३ लाख किलोवाट थी, जो योजना की समाप्ति पर ३४ लाख किलोवाट हो गई । दूसरी योजना के अन्त मे यही ६९ लाख किलोवाट हो जायगी और तीसरी योजना की समाप्ति पर १ ६ करोड किलोवाट होगी ।[2] इस विकास से जन गणना कमिश्नर सन् १९५१ की याद आती है कि—विश्वास नही होता है, किन्तु फिर भी सत्य है कि प्रथम पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत उल्लिखित सिचाई के नये साधनो द्वारा सींची जाने वाली कुल भूमि अंग्रेजी राज्य के सौ वर्षों मे निर्मित साधनो द्वारा सिंचित भूमि से अधिक होगी । इसका कारण यह है कि पुराने दिनो मे सिचाई के साधनो का आर्थिक दृष्टिकोण से लाभप्रद होना साधारणतः अनिवार्य था, किन्तु आज यह बन्धन नही रह गया है ।

सिंचाई व्यवस्था के मार्ग मे कठिनाइयाँ—

सिंचाई की बहुमुखी योजनाओ को पूरा करने के लिये भारतवर्ष मे सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और इङ्गलेंड की भाँति कुशल कम्पनियो और विशेषज्ञो का अभाव है । इससे इनके निर्माण मे बाधा पडती है । आधुनिक जल नियन्त्रण योजनाओ के निर्माण मे समय का मूल्य सबसे अधिक है, अत. निर्माण की शीघ्रतम विधियो को कार्यान्वित करना उचित होगा । यदि निर्माण काल अधिक हो गया तो व्यय भी निश्चित ही बढेगा । ऐसा अनुमान किया गया है कि एक वर्ष की देर हो जाने से कुल व्यय मे १०% की वृद्धि आसानी से हो सकती है । इसके अतिरिक्त वह क्षेत्र उतने समय तक सभी सुविधाओ से वंचित रहता है ।

भारत मे सिचाई की व्यवस्था का विकास करने मे निम्न कठिनाइयाँ है —

(१) वित्त की समस्या— सिंचाई योजनाओ को लागू करने मे सबसे बडी कठिनाई वित्त की है, जिसके लिए बहुत अधिक रुपयो की आवश्यकता पडती है । पच-वर्षीय योजना के अनुसार बडी सिंचाई योजनाओ के लिए ३८१ करोड तथा ४२७ करोड रु० की बिजली के लिए आवश्यकता पडेगी । इसके साथ ही कुँओ तथा तालाबो का निर्माण करने के लिए व्यक्तियो और सहकारी समितियो को कुछ अतिरिक्त धन की आवश्यकता होगी । इस धन को प्राप्त करने के लिए पच-वर्षीय योजना मे ऋण लेने, राजस्व की आय से सहायता लेने, विशेष अनुदानो, जल पूर्ति कर और लगान मे वृद्धि

---

१. भारतीय समाचार १५-६ १९६०

2 India.

समिति ने बाढ की रोक-थाम के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :—*

भारत मे बाढ की समस्या के तीन रूप हैं—(१) जमीन का पानी मे डूब जाना, (२) नदियो के किनारो को काटना और (३) नदियो की दिशा या धारा बदलना। स्थिति के अनुसार इनके लिए विशेष उपाय करना होगा।

चार क्षेत्र—

समिति ने बाढ नियन्त्रण के लिए पूरे देश को चार क्षेत्रो में बांटा है :— (१) उत्तर पश्चिम की नदियो का क्षेत्र, (२) गगा नदी क्षेत्र, (३) ब्रह्मपुत्र नदी क्षेत्र और (४) दक्षिण की नदियो का क्षेत्र। काश्मीर मे बाढ का मुख्य कारण यह है कि झेलम का पाट और मुहाना चौडा न होने के कारण उसका पानी चारो ओर फैल जाता है। पजाब मे जल की निकासी ठीक से नही होती। गगा की घाटी मे भी मुख्य समस्या है कि पानी चारो ओर भर जाता है और गाव डूब जाते हैं। कही-कही किनारो के कटाव से और पानी की निकासी ठीक न होने के कारण भी क्षति होती है। कोसी नदी की धारा बदलती रहती है और इसमे बहुत नुकसान होता है। सुन्दरबन के क्षेत्र में बाढ के साथ ज्वार आने के कारण किनारे धसक जाते हैं। ब्रह्मपुत्र तथा उसकी सहायक नदियो की बाढ से किनारे बहुत कटते हैं और कभी-कभी भूमि पानी में डूब जाती है। दक्षिण में मुख्य समस्या नदियो के मुहानो के आस-पास के क्षेत्र का जलमग्न होना है।

समिति ने बाढ से होने वाली क्षति का अनुमान लगा कर बताया कि यदि बाढ न आए तो देश की राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष एक अरब रुपये बढ सकती है। सबसे अधिक क्षति असम में होती है। सन् १९५० से अब तक बाढ से सबसे अधिक क्षति गगा के मैदान मे हुई, इसके बाद ब्रह्मपुत्र की घाटी मे।

क्षति मे वृद्धि नही—

रिपोर्ट मे कहा गया है कि क्षति के आंकडो से यह प्रकट नही होता कि इधर कुछ वर्षों मे बाढ से होने वाली क्षति मे वृद्धि हुई है। सबसे अधिक क्षति फसलो को और उसके बाद गांवो और शहरो की सम्पत्ति को पहुँची। इसके बाद सार्वजनिक इमारतो, सडको, पुलो आदि का नम्बर आता है। क्षति के आकडे भी अभी ठीक से इकट्ठे नही किये जाते। समिति ने इसके लिए विधि बताई है, जिससे क्षति का ठीक अनुमान लग सके।

समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि क्षेत्र विशेष के लिए अलग-अलग बाढ-नियन्त्रण योजनाएँ बनाई जानी चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो, इन योजनाओ का सिंचाई और बिजली योजनाओ से मेल बैठना चाहिए। बहुमुखी योजनाओ पर विचार के समय उनके बाढ रोकने के पहलू पर भी विचार होना चाहिए और सबके लिए एक साथ धन स्वीकार किया जाना चाहिए।

---

* भारतीय समाचार दिनाक जून १५, १९५८—पृष्ठ ३२०।

तटबन्धो की उपयोगिता—

समिति इस नतीजे पर पहुंची है कि बाढ-नियन्त्रण के लिए तटबन्ध बहुत उपयोगी हो सकते हैं, यदि उन्हे ठीक तरीके से बनाया जाये, उनकी डिजाइन सही हो और वे उपयुक्त स्थानो पर बनाये जायें। किन्तु तटबन्धो के साथ साथ बाढ का पानी इकट्ठा करने के लिए जलाशय आदि भी बनाए जाने चाहिए। इनकी मरम्मत भी अवश्य होती रहनी चाहिए। इन कामो मे काफी लागत पड सकती है और नदियो के बहाव और माग के अनुसार इनमे परिवर्तन भी होना चाहिए। समिति ने बाढ-नियन्त्रण के दूसरे उपायो पर भी विचार किया है, जिन्हे दो वर्गो मे बाट दिया गया है—(१) बाढ रोकने के उपाय और (२) क्षति कम करने के उपाय। बाढ रोकने के कई उपाय हैं, जैसे—बाढ का पानी जमा करने के लिए जलाशय बनाना, धारा पर नियन्त्रण, गाँवो, बस्तियो आदि को ऊँचाई पर बसाना और पानी के बहाव का ठीक प्रबन्ध करना।

क्षति घटाने के भी कई उपाय हैं, जैसे—लोगो को बाढ क्षेत्रो से हटाकर दूसरी जगहो मे बसाना, बाढ की पहले से सूचना देना और बाढ का बीमा करना। समिति ने विभिन्न राज्यो मे बाढ-नियन्त्रण के इन उपायो की सफलता और त्रुटियो पर विचार किया है।

भू-सरक्षण—

समिति ने इस बात पर भी जोर दिया है कि बाढ-नियन्त्रण के लिए नदी के तल में बालू, मिट्टी न जमने दी जाए। इसलिए भू-सरक्षण बहुत आवश्यक है। जमीन का कटाव रोकने से धारा में मिट्टी कम बह कर जाती है और इससे बाढ की कुछ रोक होती है।

जमीन का कटाव रोकने के तरीको मे मेढबन्दी, भरको या कटी जमीन को भरना और उन पर पेड लगाना, सीढीनुमा खेत बनाना आदि हैं। ये काम बहुमुखी बाँधो के क्षेत्र मे, हिमालय की तराई मे, गगा के मैदान मे और दक्षिण की पठारी भूमि में होने चाहिए। काम शीघ्रता से और उपरोक्त क्रम से होना चाहिए। राज्य सरकारो को जमीन का कटाव रोकने के काम कराने के लिए विभाग या मण्डल बनाने चाहिए और उन्हे समुचित अधिकार देना चाहिए।

समिति ने राय दी है कि जिन राज्यो मे बहुत बाढे आती हैं, इन्हे इसके रोकने की योजनाएँ बनाने के लिए विशेष टुकडी बनानी चाहिए।

जहाँ बाढ से खतरा बहुत हो, उसके लिए तात्कालिक उपाय किये जायें। इसके बाद ऐसे उपायो और कामो को हाथ में लेना चाहिए, जिनसे आगे चल कर बाढ रुकने और अन्न की पैदावार बढने मे मदद मिले।

बाढ़ रोकने की योजनाओ की जाँच के लिए राज्यो को ऋण—*

भारत सरकार ने राज्यो को बाढ रोकने की योजनाओ की जांच करने के

* भारतीय समाचार १-६-५८, पृ० २६२-२६३।

गाडगिल कृषि उप-समिति के अनुसार ऋण के ये आंकडे विश्वसनीय नही है। 'परन्तु फिर भी उनसे साधारण प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। ग्रामीण साख सर्वे समिति की रिपोट के अनुसार मन्दी के पश्चात् की अवधि मे सन् १९२९-३० की अपेक्षा ऋण की मात्रा मे वृद्धि ही हुई है।[1]

सन् १९२९ की मन्दी का प्रभाव—

सन् १९२९ मे बाजार भाव गिरने के साथ साथ कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत कम हो गये, परन्तु लगान और अन्य मदो मे किसी प्रकार की कमी नही हुई। फलतः किसान की आय कम और व्यय अधिक हुआ। मन्दी का तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि ऋण का मौद्रिक भार ही नही, बल्कि वास्तविक भार भी बहुत अधिक बढ गया।[2]

सन् १९२९ की मन्दी के पश्चात् जो सर्वे हुए उनमे इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।[3] उत्तर-प्रदेश की ऋण निवारण समिति (सन् १९३८) के अनुसार "मन्दी के काल मे सारे राज्य मे ब्याज या ऋण चुकाना स्थगित हो गया था। नए ऋण पर ब्याज की दर बढ गई थी, लेकिन राज्य के समस्त ऋण मे वृद्धि अवश्य हुई।" इसी प्रकार बङ्गाल के आर्थिक आपरीक्षण बोर्ड (१९३५) के अनुसार—"बगाल के प्राय. सभी जिलो में कृषि ऋण मे वृद्धि हुई, फलस्वरूप किसानो के पास कुछ भी नही बच पाता था।" सन् १९३५ मे श्री सत्यनाथ ने मद्रास की जो जाँच की थी, उससे भी स्पष्ट है कि मन्दी के समय किसानो पर ऋण बहुत अधिक बढ गया था। रिजर्व बेंक के कृषि साख विभाग ने भी अपनी रिपोट में इस तथ्य की पुष्टि की है। ऋण का यदि पदार्थों में मूल्यांकन किया जाये तो निश्चित रूप से अब यह सन् १९२९ की मन्दी के बाद पहिले से दुगुना हो गया है।[4] श्री एम० एल० डार्लिग ने भी पजाब मे मन्दी के बुरे प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है —सन् १९२१ में मेरा कृषि ऋण का अनुमान ९० करोड रुपए था, परन्तु ९ वर्ष पश्चात् सन् १९३० मे मेरा अनुमान १४० करोड रुपयो का है।[5]

जहाँ तक कृषि ऋण का प्रश्न है, मन्दी का दूसरा पक्ष भी है। कुछ विद्वानो का मत है कि मन्दी से उत्पन्न परिस्थितियो के कारण ऋण वृद्धि की गति धीमी हुई। मन्दी से किसानो की कठिनाई नि:सन्देह बढी, परन्तु साथ ही उसने ऋण चुकाना भी स्थगित कर दिया था। इससे साहूकार का ऋण देने का सामर्थ्य कम हो गया और ऋण राशि भी घटी। इस समय भूस्वत्त्व का हस्तान्तरण भी बहुत अधिक हुआ, जिससे ऋण मे कमी हुई। अत साहूकार भी वसूली कठिनता से कर पाते थे, इसलिए उन्होने

---

1. Vol 1 Pt 1, page 225-26
2 गाडगिल कृषि अर्थ उप-समिति की रिपोर्ट, पृ० ५।
३ डा० कृष्णकुमार शर्मा रिजर्व बैंक एण्ड रूरल क्रेडिट, पृ० १३।
४ प्रेलिमनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिजर्व बैंक) सन् १९३६, अनुच्छेद १३।
5 Darling Punjab Peasants in Prosperity and Debt, p 17

अधिक छूट देकर ऋण राशि में कमी की। कृषि अलाभकार होने के कारण कम ऋण लिये गये और ऋण भी उतनी सरलता से नही मिलते थे। उक्त युक्तियो मे सत्य का कुछ अंश हो सकता है, परन्तु इन सब बातो ने मन्दी के प्रभावो को रोका हो, ऐसी कोई बात वस्तुस्थिति से सिद्ध नही होती। कृषि पदार्थों के मूल्य जो इस काल मे गिरे उनसे ग्रामीण अर्थ अवस्था मे जो उथल-पुथल मची वह सर्व विदित है।

युद्ध-काल सन् (१९३९–१९४५) मे कृषि मूल्य, विशेषकर खाद्यान्न और तम्बाकू के मूल्य कच्चे माल तथा औद्योगिक पदार्थों के मूल्य की तुलना मे बहुत कम बढे। परन्तु पक्के माल की कीमतें बढती ही जा रही थी। इसलिये कृषक के उत्पादन व्यय में वृद्धि हुई। यद्यपि लगान और सिंचाई की दरें स्थिर थी, फिर भी परिव्यय के अन्य मदो मे वृद्धि होती जा रही थी। अत यह निर्विवाद है कि कृषक की क्रय-शक्ति मे कमी हुई, क्योकि कृषि मूल्यो की अपेक्षा औद्योगिक मूल्यो मे अधिक वृद्धि हुई। फलत कृषक वर्ग, विशेषकर खेतिहर मजदूरो और छोटे कृषको की आय में कमी हुई।

कृषि मूल्यो की इस असाधारण वृद्धि के जो लाभकारी प्रभाव कुछ क्षेत्रो और किसानो के कुछ वर्गों पर हुए, उनके कारण कुछ विद्वानो ने अपने मत प्रकट किये है :—युद्ध-काल मे कृषि ऋण की राशि मे कमी हुई है, इस मत की पुष्टि के लिये सामान्यत. निम्न तथ्य दिये जाते हैं :—

(१) भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act) तथा कृषि ऋण अधिनियम (Agricultural Loans Act) के अन्तर्गत दिये गये ऋण युद्ध-काल में अधिक चुकाये गये हैं और अप्राप्त (Out Standing) ऋण की राशि भी कम हुई।[1]

(२) सहकारी समितियो के आँकडो से पता लगता है कि उनकी कालातीत ऋण राशि जो सन् १९४०-४१ में १०½ करोड रुपया थी, वह सन् १९४२-४३ मे ९ करोड रुपये रह गई।[2] समितियो को पहले की अपेक्षा ऋण भी कम देने पडे।

(३) कृषि भूमि के मूल्य में वृद्धि होने के कारण मद्रास प्रान्त में किसानो ने भूमि बन्धक बैंको के ऋण समय से पूर्व ही चुका दिये तथा बम्बई प्रान्त से भी इसी प्रकार की सूचनायें प्राप्त हुई हैं।

रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सरकारो और अन्य संस्थाओ की सहायता से जो युद्धकालीन कृषि परिस्थिति की जानकारी प्राप्त की है, उससे पता चलता है कि सामान्यत किसानो ने सहकारी समिति का, साहूकार का एव सरकार का ऋण चुकाने का प्रयत्न किया है।

---

1 गाडगिल समिति की रिपोर्ट, पृ० ७।

2 डा० शर्मा रिजर्व बैंक एण्ड सरल क्रेडिट, पृ० १४।

मे से कुछ राशि देहातो मे भेजी है, परन्तु इन सबके विरुद्ध दो बातें ध्यान मे रखनी चाहिए·—छोटे किसान लगान और ऋण चुकाने के लिए अपनी फसल का थोडा भाग ही बेचते हैं और दूसरी ओर उपभोग पदार्थो के मूल्य मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस वर्ग के किसानो के ऋण मे कोई विशेष कमी नही हुई।"[१] गाडगिल कृषि अर्थ उपसमिति का इसी प्रकार का मत सक्षेप मे निम्न है[२] —

(१) सन् १९४४ में ऋण की राशि सन् १९३९ की अपेक्षा कम हो गई, परन्तु इसके पश्चात् ऐसी प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हो गयी जिससे इस राशि मे फिर वृद्धि हुई।

(२) कृषि पदार्थों की मूल्य वृद्धि कुछ रुक गई थी और उत्पादन व्यय की वृद्धि लगभग कृषि मूल्य वृद्धि के बराबर हो चली थी।

(३) बडे-बडे जमीदारो और काश्तकारो को इस मूल्य वृद्धि से अवश्य लाभ हुआ, परन्तु छोटे छोटे अलाभकारी खेतो वाले किसानो को कोई वास्तविक लाभ नही हुआ।

(४) बढी हुई आय का ऋण चुकाने मे उपयोग किया गया हो अथवा इसको उपभोग्य पदार्थो पर खर्च न किया गया हो, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। साथ ही हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भविष्य मे किसानो को इतना लाभ होने वाला नही है, सम्भवत. उन्हे कठिन समय का सामना करना पडे।

ऋण का भार—

केन्द्रीय बैंक जाँच समिति ने ऋण-ग्रस्त कृषक पर ऋण के भार का अनुमान इस प्रकार लगाया है—उत्तर-प्रदेश मे प्रति कृषक औसत ऋण १७२ रु० पाया गया। मद्रास प्रान्त मे लगान के प्रति १ रु० के पीछे लगभग १९ रु० ऋण था। मध्य-भारत मे प्रति एकड ९ रु० ५ आने ऋण आँका गया और प्रति परिवार पर औसत ऋण २२७ रु० था। विहार और उडीसा मे भी प्रति परिवार २५७ रु० से ३०७ रु० तक ऋण पाया गया। बगाल मे प्रति व्यक्ति औसत ऋण लगभग १४७ रु० और १५२ रु० के बीच था। बम्बई प्रान्त मे प्रति परिवार पर ११५ रु० से २२५ रु० ऋण था। ऋण से मुक्त कृषको की भी जाँच की गई, सयुक्त प्रान्त मे लगभग ६१ प्रतिशत कृषक ऋणी नही थे। मध्य प्रान्त में लगभग ४८ प्रतिशत ऋण मुक्त थे और बम्बई मे १३ प्रतिशत। उत्तर-प्रदेश की बैंक जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है—छोटे-छोटे किसान, जिनके पास कुछ खेत हैं, अधिक ऋणी थे, क्योंकि उन्हे अपनी जमीन बेचने की सुविधा प्राप्त थी।

---

१ 'रिपोर्ट ऑफ फेमिन इन्क्वायरी कमीशन" (Final), पृष्ठ ३००।

२ गाडगिल कृषि-अर्थ उपसमिति की रिपोर्ट, पृष्ठ ७८।

प्रति कृपक औसत ऋण के अतिरिक्त व्याज की दर से भी ऋण भार का कुछ अनुमान लगता है—वम्बई प्रान्त मे व्याज की दर ३६ प्रतिशत, मध्य-प्रान्त मे २५ प्रतिशत, उत्तर-प्रदेश मे १८ प्रतिशत, मद्रास मे ३६ से ४८ प्रतिशत, आसाम में १२ से ७५ प्रतिशत और वगाल मे ३७ से ३०० प्रतिशत तक थी। इन दरो से यह स्पष्ट है कि व्याज प्रत्येक दृष्टि से बहुत ऊँची है और महाजन इसके द्वारा निरन्तर सूदखोरी करता रहता है। केन्द्रीय वेंक जाँच समिति ने ऊँची व्याज दर के निम्न कारण वतलाये हैं—

(१) भूमि को छोडकर किसान के पास ऐसी कोई वस्तु नही जिसको रेहन रखकर वह ऋण ले सके। इसलिए महाजन जो कुछ भी ऋण देता है, बडी जोखम पर देता है और वह ऊँची व्याज दर लेता है।

(२) गाँव मे साख सुविधाएँ न होने से महाजन का एकाधिकार है, इसलिए वह इस स्थिति का लाभ उठा कर व्याज दर ऊँची लेता है।

(३) स्वय महाजन के पास भी इतनी अधिक पूँजी नही होती है, इसलिए ज्यो ही किसान अधिक ऋण माँगते हैं, वह सरलता से व्याज दर वढा देता है।

(४) कर्ज की वसूली और प्रवन्ध मे महाजन को काफी खर्च करना होता है, जिसको वह पहिले से व्याज की दर मे जोड देता है।

(५) किसानो की अशिक्षा और अज्ञानता के कारण महाजन को शोषण का अच्छा अवसर मिलता है।

ऋण लेने का उद्देश्य—

ऋण की औसत राशि से ऋण भार का अनुमान लगाना कठिन है। इसके लिये ऋण किन कार्यो के लिए सामान्यत लिया जाता है, इस पर विचार करना आवश्यक है। ऋण लेने से कृपक पर कितना आवर्त्तक व्यय वढता जाता है और किस प्रकार से कृपक इसका प्रवन्ध करता है, यह भी जानना आवश्यक है। एक वार ऋण लेने के पश्चात् क्या वह वढता हुआ चला जाता है? केन्द्रीय वेंक जाँच समिति की रिपोर्ट में इस पर वहुत कुछ प्रकाश डाला गया है। रिपोर्ट के अनुसार—विहार मे पूर्व ऋण चुकाने के लिए १८ प्रतिशत लिया गया, विवाह इत्यादि के लिए १६ प्रतिशत, मकान के लिए १६$\frac{1}{2}$%, लगान के लिए ६%, खेती इत्यादि के लिए ७ प्रतिशत और ढोर इत्यादि के लिए ८ प्रतिशत, व्याज चुकाने के लिए १२ प्रतिशत और मुकद्दमा, व्यापार इत्यादि के लिए ६ प्रतिशत। इन अङ्को से कुछ निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं—(१) प्राय. प्रत्येक प्रान्त मे पूर्व ऋण, ऋण वृद्धि का मुख्य कारण है, इसलिए सारे देश मे कृषि ऋण का सचयी भार कृषि पर पडता है। साधारण परिस्थिति में कृषक उसको नही चुका सकता। अभी ऐसे कोई आँकडे उपलब्ध नही हैं कि जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि कृपक की ऋण चुकाने की क्षमता कहाँ तक है। (२)

हमारा कृषि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए बहुत बडी मात्रा मे लिया गया है। देश के प्रत्येक भाग मे विवाह इत्यादि के हेतु लिए गये ऋण का प्रतिशत काफी ऊँचा है। यह ऋण कृषक की आय मे किसी प्रकार की वृद्धि नही करता, इसलिए उसका सचयी प्रभाव होता है और कृपक को ऋण मुक्त नही होने देता। (३) कृपक के परिवार की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी अधिक राशि मे ऋण लिया गया है। इससे कृषि अलाभकारी बन गई है, विशेषकर छोटे किसान के लिए। उसके कारण वह अपनी साधारण आवश्यकताओ को पूरा करने का भी प्रवन्ध नही कर सकता। (४) भूमि या कृषि सुधार के हेतु लिए गये ऋण का प्रतिशत बहुत ही कम है। इससे यह सिद्ध होता है कि कृषक को विकास योजनाओ की सफलता मे उतना विश्वास नही है कि वह कृषि सुधार के लिये पूँजी उधार ले। अर्थात् कृषि मे एक प्रकार का स्थायित्व और निष्क्रियता आ गई है।

ऋण के कारण (Causes of Debts)—

(१) पैतृक ऋण—सबमे महत्त्वपूर्ण और मुख्य कारण पिछला ऋण है, जो पिता मरते समय अपने पुत्र को सौंप जाता है। किसान शायद इस नियम से परिचित नही होता है कि अपने पूर्वज के छोडे हुए कर्जे को चुकाने का उत्तरदायित्त्व उस पर केवल उतना ही होता है कि जितने मूल्य की वह सम्पत्ति छोड गया था और यदि वह कोई सम्पत्ति नही छोड गया तो ऋण चुकाने की जिम्मेदारी बिल्कुल ही नही रहती। यदि यह नियम समझा भी दिया जाय तो सामाजिक प्रथायें ऐसी उलझी हुई हैं जो उन्हे ऋण अदा करने को दैवी या पवित्र कार्य मानने को बाध्य कर देती हैं।[1] इस प्रकार किसान के सामने ऋण अदा करने का एक ही मार्ग है, जो "एक महाजन का कर्जा चुकाने के लिए दूसरो से कर्जा लिया जाय।" इस प्रकार कर्जे का बोझ और भी बढता है। शाही कृषि कमीशन ने बतलाया है :—"भारतीय किसान ऋण मे पैदा होता है और ऋण मे जीवित रहता है तथा ऋण मे ही मरता है।"[2]

(२) खेतो का बँटवारा—जब भू सम्पत्ति कम होती है, कृषि लाभकारी नही रहती और किसान व उसके परिवार के लिये भी खेत की उपज अपर्याप्त रहती है। फलस्वरूप या तो किसान ऋणी हो जाता है या कठोर परिश्रमी या फिर वह अपनी आय का और कोई प्रबन्ध करता है। इस सम्बन्ध मे डार्लिङ्ग का यह वक्तव्य मनोरजक है - कुछ एकड जमीन द्वारा अपने परिवार को चलाने और ऋणी न होने के लिए कौशल के प्रति अत्यन्त प्रेम, उद्योग और मितव्ययिता की आवश्यकता है। निस्सन्देह यह ठीक इसी प्रकार का होगा कि जैसे एक छोटी खेई जाने वाली नाव अटलान्टिक सागर के तूफान का सामना करे। लेकिन इसके लिए अच्छे खेने वाले और अच्छे बनाने वाले दोनो ही जरूरी हैं, नही तो वह निश्चय ही डूब जाएगी। भारत मे कभी खेत

1 Central Banking Enquiry Committee Report, p 61
2 Royal Commission Report on Agriculture, p 365

एक का रहता है तो कभी दूसरे का और प्रकृति भी भूमि पर उतनी ही नाशकारी सिद्ध हो सकती है, जितनी समुद्र पर।''* खेत इतने छोटे होते है और रक्षा के साधन इतने सीमित होते हैं कि थोडा सा दुर्भाग्य ही उसको ऋण-ग्रस्त बनाने के लिए पर्याप्त होता है, जिससे वह फिर जीवन पर्यन्त छुटकारा नही पा सकता।

(३) जलवायु की अनिश्चितता—भारत में यदि वर्षा ठीक समय पर न हो तो उसका अनिवार्य फल दुर्भिक्ष है, जो किसान को उत्कट भाग्यवादी और सरकार के बजट को जुए का दाँव बना देता है। फसल के नष्ट होने के कारण मुख्यत बाढ, तूफान, आग, अनिश्चित टिड्डी दल आदि हैं। कृषि पर यह अत्याचार गरीब किसान से बदला लेना है, जो उसकी स्थायी विपत्तियो का द्वार खोल देते हैं। इन दुर्भाग्यो से बचने के लिए उसके पास पहिले का कोई सुरक्षित धन नही होता, फलस्वरूप उसे महाजनो के पास जाना पडता है, जो उसे इच्छानुसार नचाते हैं। केवल साधारण किसान ही अच्छे साल मे बिना उधार लिए गुजारा कर सकता है, लेकिन बुरे साल मे तो उसको भी अपनी आवश्यकता की सब चीजे उधार लेनी पडती है, जैसे—बीज, पशु कपडे और यहाँ तक कि भोज्य पदार्थ भी। कृषक के लिए पशुओ की बीमारी सबसे बडी मुसीबत होती है। पशु कृषक के पास सबसे खर्चीली पूँजी है और यह नुकसान उसको सबसे मँहगा पडता है, इसलिए उसको उधार लेना आवश्यक हो जाता है।

(४) कृपकों का अज्ञान और अशिक्षा—कृपकों की दशा और भी खराब बनाने के लिए अशिक्षा और अज्ञान मिल कर जन सख्या को वढाती जा रही हैं, जबकि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन मे उतनी वृद्धि नही हो रही है। अपने सीधेपन और अज्ञानता के कारण वे क्रूर और चतुर महाजन के चगुल मे आसानी से फँस जाते हैं। महाजन उधार देने मे समर्थ होता है तथा मुकद्दमा लडने के लिए उसके पास वकील होता है। लेकिन कृषक के पास इसके विपरीत कोई उपाय नही, अत. वह पराजित हो जाता है।

(५) सहायक धन्धो का अभाव—भारत में ग्रामीण उद्योगो का अभाव और वर्ष में कुछ समय के लिए कृपको का बेकार रहना, ऋणी होने का कारण है, अर्थात् जन सख्या का भार अब केवल भूमि को ही वहन करना पडता है। फल यह होता है कि उदर पोषण के लिए उनको पर्याप्त आय नही मिल पाती और किसान को विवश होकर महाजन की खर्चीली सहायता प्राप्त करनी पडती है। क्योंकि उसे आय बढाने के वैकल्पिक साधन नही मिलते।

(६) कृषक की शारीरिक अयोग्यता और दरिद्रता—भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के अनुसार—भारतीय कृषक की वार्षिक आय अधिक से अधिक ४५ रु० से कुछ कम या ३ पौंड से कुछ कम होती है, जबकि इङ्गलैंड में यही आय ९५

---

* M L Darling Punjab Peasants in Prosperity and Debt, p 262

पौंड है। भारतीय कृषक कभी कभी तो आवश्यक खाद्य-पदार्थों का एक-चौथाई ही प्राप्त कर पाते हैं। खाने के लिए उनके पास पूरा भोजन नही होता, पहनने को पूरे वस्त्र नहीं होते, इसलिए परिश्रम करने के लिए उनमे पर्याप्त शारीरिक योग्यता का अभाव रहता है। कृषको की एक बडी सख्या अत्यन्त निधनता से अपना जीवन व्यतीत करती है। शारीरिक निवलता के कारण वे आसानी से बीमार हो जाते हैं, जिससे और भी कमजोर हो जाते हैं। इसलिए उन्हे वाध्य हो कर ऋण लेना पडता है। इसमे सन्देह नही कि धार्मिक वन्धन और पारिवारिक स्नेह के कारण निधन व्यक्ति भी वडी ऊँची भावनाओ वाला होता है, लेकिन सीमा का अतिक्रमण कर जाने वाली निर्धनता के कारण वह उनको काय मे परिणित नही कर सकता। फलत. इसका ऋण भार वढता जाता है।

(७) महाजन और उसको उधार देने का तरीका—कृषि के लिए अधिकतर पूँजी महाजन या साहूकार से ही प्राप्त की जाती है।[1] कभी कभी तो महाजन वहुत ऊँची दर से सूद लगाता है और व्याज लेने के वहाने प्रति वष फसल का एक निश्चित भाग वाजार भाव से कम कीमत पर ले लेता ह। निधन किसान की सूखी हड्डियो से नोच कर मास की अन्तिम मात्रा तक लेने मे साहूकारो को कोई हिचक नही होती और वे कृषक को निधनता तथा गुलामी का जीवन विताने को वाध्य कर देते हैं। फलस्वरूप कृषक की क्रिया शक्ति पगु हो जाती है, जिससे वह घोर भाग्यवादी वन जाता है। आशा और उत्साह उसके जीवन मे सदैव के लिए विदा हो जाते हैं और वह निष्क्रिय सा जीवन व्यतीत करता रहता है तथा उसके जीवन का कोई उद्देश्य नही रह जाता।[2] वहुत से कृषक फसल वोने के समय महाजन से अन्न का ऋण लेते हैं, जिसको वह वाजार भाव से एक सेर कम देता है। जव कृषक पर वुरे दिन आते हैं तो साहूकार उनकी ओर से लगान देकर उन्हे वेदखली से वचाता है। इसके अलावा किसानो को शादी व्याह, अन्य आवश्यक खर्चों और मुकद्दमा लडने के लिए भी रुपया देता है। असल मे साहूकार सदैव धन प्राप्त करने का एक साधन मात्र है, जिसके पास गरीव किसान राहत पाने को जाता है, लेकिन वह महाजन के चंगुल मे ऐसा फँस जाता है कि फिर कभी नही लौट पाता।

---

१ नीचे तीन प्रान्तों में विभिन्न एजेंसियो द्वारा दिये जाने वाले ऋण का प्रतिशत वतलाया गया है —

(१) यू० पी—शहरी महाजन २८ ३% गांव का वौहरा ५ १%, जमींदार २६ ६%, किरायेदार १३ ७%, सहकारी समितियाँ ५ ३% और सरकार ७ ,%।

(२) मध्य-प्रदेश-महाजन ८२ ७१%, जमींदार ११ ८%, सहकारी समितियाँ २ ८१% और सरकार २ ६%।

(३) मद्रास—महाजन ३१%, रय्यत ४७%, सहकारी समितियाँ १७% और सरकार ३%।

(C B Mamoria "Agricultural Problems of India" pp 523-524)

2 Wolf "Co operation in India," p 3

ऋण की अधिकता, कृषक की तुरन्त आवश्यकता, साख का अभाव और आर्थिक दुर्व्यवस्था कृषक को पूर्णतया साहूकार की मर्जी पर छोड देते हैं। महाजन कृषक को असहाय और अकेला देख कर अपने अधिकार और प्रभाव के जरिये उससे पूरा लाभ उठाता है।

(८) व्याज की ऊँची दर—व्याज की ऊँची दर भी किसान को उधार लेने को बाध्य करती है। व्याज की दरें प्रत्येक प्रान्त मे भिन्न-भिन्न होती हैं और कृषक की आर्थिक दुरावस्था के कारण व्याज प्रति वर्ष जमा होता जाता है।

प्रान्तीय बैंकिंग समितियो की जाँच के अनुसार अनेक प्रान्तो मे महाजन १२ से ३७½% सूद पर ऋण देते हैं। यह सूद की दर कई बातो पर निभर रहती है :—

(१) गिरवी या रहन रखने वाली वस्तु की मात्रा और अवस्था।

(२) ऋण की मात्रा और ऋण देने वालो की सख्या। जब आभूषण गिरवी रखकर ऋण दिया जाता है तो सूद की दर कम होती है और बिना गिरवी रखे जब ऋण दिया जाता है तो ऋण की दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक रहती है, जो कभी-कभी ३००% तक हो जाती है। सूद की दर इतनी अधिक ऊँची होने के निम्न मुख्य कारण होते हैं :—

(अ) अनेक गाँवो मे किसानो को ऋण देने के लिए महाजन के सिवाय अन्य कोई दूसरा नही होता, इसलिए ऐसी अवस्था मे वे अपने एकाधिकार का लाभ उठाते हैं।

(आ) बहुत से ऐसे गाँव होते हैं, जिनमे निकट के कई गाँवो मे भी कोई महाजन नही होता, ताकि किसान अपनी आवश्यकता के समय धन उधार ले सकें। ऐसी अवस्था मे वे पास के गाँवो जहाँ महाजन होता है, वहाँ से रुपये प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, लेकिन महाजन उन किसानो से अपरिचित होता है, अत वह जोखिम की दरों को पूरा करने के लिए सूद की दर को बढा देता है।

(इ) किसानो की माँग के अनुसार ऋण देने की व्यवस्था नही होती, अर्थात् ऋण देने वाले महाजनो की सख्या तथा उनके पास धन की मात्रा इतनी नही होती कि वे सबकी आवश्यकताएँ समयानुकूल पूरी कर सकें, अत सूद की दर अधिक ली जाती है।

(ई) अज्ञानता, अध-विश्वास और ऋण प्राप्त करने के लिए गिरवी रखने के लिए उचित माल के अभाव में भी सूद की दर अधिक हो जाती है।

स्पष्ट है कि ऋण चाहे भोजन या बीज किसी के लिए भी दिया गया हो, सवाया या ड्योढा हो जाता है और यदि दुर्भाग्यवश फसल खराब हो जाती है तो किसान को भूखो मरना पडता है, क्योंकि महाजन तो हर हालत मे पहिले का तय किया हुआ भाग ले लेता है, परन्तु यदि वह ऐसा नही करता है तो व्याज चक्रवर्ती से बढता जाता है, जो पीढियो तक चलता रहता है।

(९) फिजूल खर्ची और सामाजिक कुरीतियाँ—कृषक की अपव्ययिता उसके ऋणी होने का प्रमुख कारण है। भारतीय किसान अपने धन को खर्च करने का तरीका नही जानता और अत्यन्त अव्यवस्थित ढग से खर्च करता है। वह उसका अनुत्पादक रूप से उपभोग करता है, जैसे—शादी व्याह में, जेवर बनवाने मे और अपने पूर्वजो आदि का श्राद्ध करने मे, यद्यपि इतना खर्चा उसकी शक्ति से बाहर होता है। समय-समय पर लम्बे भोज, धार्मिक उत्सव, जैसे कथा आदि और यहाँ तक कि परिवार के खुशी के किसी मौके पर जाति भोज के नाम पर भी ये लोग फिजूल खर्ची करते हैं। आत्मनिर्भरता और मितव्ययिता के अभाव मे ये लोग फसल पकने तक बहुत सा रुपया इधर-उधर के कामो मे खर्च कर देते हैं, जो किसान के ऋणी बनने मे बहुत सहायक होते है।

"एक अच्छे साल मे कृपक अपने अज्ञान के कारण शादी और अन्य उत्सवो पर अपनी सब बचत खर्च कर देता है और अपनी फिजूल खर्ची के कारण उसे अच्छे वर्षों मे महाजन के पास जाना पडता है। अपने बच्चो की शादी या जन्म उत्सवो में किसी भी कृपक की प्रकृति अपने साथियो से अधिक खर्च करने से रोकने की नही होती।"[1] मेजर जैक के अनुसार ऋणी मनुष्यो की एक बडी सख्या ने घर के खर्चों के कारण ऋण लिए और खास तौर से वे शादी के कारण इन उत्सवो पर पूरे अथवा अथवा आधे वर्ष की आय खर्च कर देना कोई बडी बात नही समझते।"[2] दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार शादी और जन्म उत्सव ऋण के मुख्य कारण हैं।

(१०) ब्रिटिश शासन की स्थापना—शक्तिशाली नियमो की स्थापना, व्यापार की उन्नति, आवगमन के साधनो का विकास और शहरो का विकास आदि कारणो से कृपि की वस्तुओ के दाम बढ गये। इसलिए कृपको की उधार लेने की शक्ति बढ गई, जिससे ऋण लेने मे तेजी से वृद्धि हुई। किसान उत्पादक और अनुत्पादक खर्चों के लिए शक्ति से अधिक ऋण लेने लगे। फलत अधिकतर कृषक भूमि रहित हो गये, क्योंकि उनकी जमीन साहूकार ने न्याय की रक्षा के लिए बिकवा ली। कृपि भूमि का बहुत बडा क्षेत्र गत ३० वर्षों मे ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे चला गया, जो स्वय खेती नही करते थे। उदाहरणार्थ, पजाब मे सन् १८३३ और सन् १८७४ के बीच कृपको ने प्रति वर्ष लगभग ८८,००० एकड जमीन बेची, किन्तु इसके आगे के ४० वर्षों में प्रति वर्ष ९२,०००, १६,००० और ३,३८,००० एकड भूमि बेची गई।[3]

कृपको की गरीबी के कारण उतना ऋण नही बढा, जितना कृपि योग्य भूमि की कीमत बढ जाने के कारण, क्योंकि अब जमींदार ऋण के लिए अधिक मूल्य की चीज रहन रख सकता है। पहिले नियम के अनुसार कृपक को अपनी सब बचत दे देनी पडती थी और उस पर ऐसी कोई चीज नही रह जाती थी, जिसके आधार पर

---

1 Indian Famine Commission Report (1880), Vol II, p 133.
2 Jack Economic Life in Bengal Village p 120
3 Central Banking Committee Report, p 59

वह उधार ले सके। लेकिन लगान के रुपयो के निश्चित हो जाने, सडक और रेल का विकास हो जाने, नई मण्डियो के खुलने और कीमतो के बढ जाने से अपने सब खर्चों को निबटा कर भी उसके पास इतनी साख रहती है कि साहूकार खुशी से उधार देने को तैयार हो जाता है। केवल पजाब मे ही ऐसा नही हुआ, वरन् मध्य-प्रदेश के इन दो प्रदेशो—नागपुर और जबलपुर में भूमि के मूल्य की वृद्धि के कारण सारा देश व्यापारिक मार्गो से सम्बंधित हो गया, लेकिन शादी आदि के अवसरो पर फिजूल खर्ची का ठिकाना न रहा। इसलिए बहुत अच्छे वर्षों मे भी वहन करना भूमि की शक्ति के बाहर हो गया। दक्षिण मे यह फिजूल खर्ची रुई के दामो मे वृद्धि के कारण हुई। अमेरिकन युद्ध के कारण और बिना सोचे-समझे ऋण लिया जाने लगा। हाल ही में बडोदा और उडीसा मे भी भूमि के मूल्य मे वृद्धि होने के कारण ऋण बढने लगा था। बर्मा मे चाय के मूल्य तेजी से बढने के कारण स्वभावत फिजूल खर्ची और ऋण बढ गये थे।

(११) मुकद्दमे बाजी—जहाँ पर फसल प्रति वर्ष अच्छी बुरी होती रहती है, वहाँ हर वकील यह भी जानता है कि किसान की आय फसल पर निर्भर है और जब कृषक की जेब में पैसा होता है तो वह अपने को अदालत मे लडने से नही रोक सकता। मि० कालवर्ट ने अनुमान लगाया है कि २½ लाख व्यक्ति प्रति वर्ष अदालत मे या तो गवाही देने के लिए या वादी प्रतिवादी बन कर आते हैं† और इस सम्बन्ध मे न केवल वकील की फीस और स्टाम्प वगैरह के दाम जाते हैं, वरन् बहुत से अफसरो की अच्छी आय हो जाती है।

(१२) भूमि और सिचाई के भारी कर—कृषको को ऋणी बनाने के लिए सरकार की लगान नीति भी दोषी है। सन् १९०१ के दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार—"लगान-प्रबन्ध की कठोरता किसानो को उधार लेने को बाध्य करती है और उनकी कीमती सम्पत्ति उन्हे उधार लेने मे सहायता देती है।" अपने प्रसिद्ध पत्र में श्री आर० सी० दत्त बताते हैं—'भारत एक कृषि प्रधान देश है, जिस पर बहुत अधिक लगान लगाया जाता है, जिससे कृषको की आय कम हो जाती है।" अनेक दुर्भिक्षो मे प्रति एकड उपज मे कमी होते हुए भी लगान मे वृद्धि की गई है, इसलिए विपत्ति के समय के लिए वे कोई रकम नही बचा पाते और शक्ति के बाहर शर्तो पर उन्हे उधार लेना पडता है। श्री डार्लिङ्ग के अनुसार—ब्रिटिश शासन मे लगान कम तो किया गया, परन्तु विशेष नही। सन् १९२९ के पश्चात् बाजार भावो के गिरने पर लगान का भाव बढ गया, जिसको अदा करने के लिए अनेक बार रुपया उधार लेना पडा।

(१३) बिक्री सम्बन्धी सुविधाओ का अभाव—बाजार मे ऊँची कीमतो के होने के कारण किसान एक सकीर्ण बाजार में सस्ते दाम पर अपनी सब फसलो को

† H. Calvert Wealth & Welfare of the Punjab, p 206

बेच देता है, किन्तु आवश्यकता के समय उसको ऊँचे भाव पर अनाज खरीदना पडता है। असमय में लगान की वसूली और फसल के समय महाजन द्वारा अपनी पूरी फसल बेचने के लिए बाध्य होने के कारण कृषक अपना सर्वनाश करने के लिए बाध्य है।

ऋण से होने वाली बुराइयाँ—

(१) निम्न जीवन स्तर—ऋण ने किसानो को बहुत बुरी दशा मे पहुँचा दिया है। उनकी बहुत सी बुराइयाँ, जिनसे वे कष्ट उठाते हैं, ऋण का ही परिणाम हैं। कृषको की गरीबी, उनका अज्ञान और निम्न जीवन-स्तर तथा आय ऋण के कारण है। इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी लिखती है—"अच्छी फसल के दिनो मे भी ऋण निम्न जीवन स्तर तथा कृषको की उन्नति मे बाधा डालने वाले कारणों मे प्रमुख है। यह कम आय और गरीबी, खेतो मे काफी पूँजी लगाने मे बाधा डालती है और समाज के नैतिक स्तर को गिराने के प्रमुख कारणो मे है। यह कृषको को शारीरिक व मानसिक रूप से निर्बल करती है। ये सब कारण कृषि मे अयोग्यता उत्पन्न करते हैं और ऋण इन कारणो के मूल मे रह कर इन्हे बढाता है।

(२) कृषि उपज की विक्रय मे असुविधा—कृषि की उत्पादित वस्तुओ के ठीक-ठीक विक्रय मे भी ऋण बाधा डालता है। एक छोटे से प्रतियोगिता रहित बाजार मे ऋणी कृषक को अपनी सब फसल उस महाजन को बेच देनी पडती है, जो निश्चय ही बाजार भाव से कम मूल्य चुकाता है।

(३) राष्ट्रीय आय के लिए हानिकर—जब लम्बी रकम पूँजी लगाने या पुराना ऋण चुकाने के लिए ली जाती है तो उसको वापिस करने का समय अधिक नही दिया जाता। मध्य-प्रदेश मे यह समय साधारणतया ३ साल का होता है। इसका फल यह होता है कि कृषक की अधिकतर आय ऋण चुकाने मे ही चली जाती है, जिससे जीवन-निर्वाह के लिए बहुत थोडे पैसे बचते हैं। राष्ट्रीय आय के लिए यह बहुत हानिकारक होता है और इस प्रकार अनुत्पादक कृषि शुरू हो जाती है।

(४) कृषि-उन्नति मे बाधा—ऋण के कारण सम्पत्ति का नाश होता है और भूमि कृषक के पास से खेती न करने वालो के पास चली जाती है। मारवाडी बनिये और इसी तरह की अन्य जातियाँ कृषको से उनकी भूमि तेजी से छीन रही हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति कृषि की उन्नति मे बाधा डालती है तथा भूमि रहित किसानो की सख्या बढती जा रही है। इससे अकुशलता मे वृद्धि होती है। महाजन इतने अधिक लगान पर भूमि को उठाता है कि उसको देने के बाद कृषक के पास अच्छी फसल उगाने के लिए कुछ भी पूँजी नही बचती। इस अकुशलता के कारण कृषक न तो पूँजी लगा सकता है और न अच्छी फसलें ही पैदा कर सकता है।

(५) कृषक की समता—इसका सबसे बुरा सामाजिक और नैतिक प्रभाव यह होता है कि यह ऋणी को महाजन का गुलाम बना देता है। यदि महाजन एक

प्रभावशाली व्यक्ति है और उसकी अपनी निजी जमीन भी है तो ऋणी को मुफ्त में उसके खेतो पर काम करना पडता है। कुछ प्रान्तो में ऋण इस शर्त पर लिया जाता है कि वह महाजन के घर और खेतो पर मुफ्त काम करेगा और उसकी मृत्यु के बाद उसके लडको से भी यही शर्तनामा लिखा लिया जाता है। जब तक महाजन का कार्य पूरा नही हो जाता, कृषक को और कोई काम नही करने दिया जाता। इसके बदले मे उसे पुराने कपडे, रद्दी खाना बहुत थोडी मजदूरी तथा उत्सवो आदि पर पुरस्कार के रूप मे नये कपडे दे दिये जाते है।

ऋण कानून से भारतीय कृषक का सरक्षण—

यह आवश्यकता कई वर्षो से महसूस होने लगी है कि भारतीय कृषक ऋण मुक्त हो और उनके लिए साख उपलब्ध होने के ऐसे साधन प्रस्तुत किये जाय जिनसे उन्हे व्याज पर ऋण मिल सके। इस हेतु ऋण भार कम करने के लिए कानून बनाए गये थे।

ब्रिटिश शासन के पूर्व के कर्ज सम्बन्धी कानून दोषपूर्ण थे। वे दोष इस प्रकार थे—

(अ) ऋण के इतिहास पर विचार विनियम करने के लिए कोई स्थान नही था।

(ब) जो व्याज की दर तय की जाती थी, (चाहे वह अवैधानिक ही हो) वही ली जाती थी।

(स) भूमि बदलाव का अधिकार न होकर ऋण पर डिग्री का अधिकार था।

प्रथम प्रकार के कानून से बडे भूपतियो को ऋण से मुक्ति मिली, जिसके द्वारा उनकी भूमि महाजनो के हाथो मे जाने से बची। सन् १८७६ का जायदाद मुक्ति कानून (Encumbered Estates Relief Act), सन् १८९६ का सिंध जायदाद कानून और सन् १९०३ का बुन्देलखण्ड कानून। बडे भूपतियो को ऋण से मुक्ति दिलाने के लिये इन कानूनो के अन्तर्गत मैनेजर लोग नियुक्त हुये, जिन्हे इस बात का अधिकार दिया गया कि गिरवी, बेचान व अन्य किसी प्रकार से ऋण चुकायें। मद्रास और बगाल कोर्ट ऑफ वार्ड एक्ट इनके समय मे ही था।

सन् १८७९ में दक्षिणी भारत के कृषको का मुक्ति कानून (Deccan Agriculturists Relief Act) पास हो चुका था। वह पूरा कानून दक्षिण भारत रायट कमीशन सन् १८७८ की सिफारशो पर आधारित था। उसमे कर्ज के इतिहास की जाँच पर बल दिया गया और कृषक व महाजन के आपसी समझौते पर जोर डाला गया।

सरकार ने कृषको की दशा सुधारने के लिए कर्ज देने की व्यवस्था की। भूमि-सुधार कानून सन् १८८३ (Land Improvements Loans Act) के अन्तर्गत सरकार ने उन व्यक्तियो को कर्ज देना स्वीकार किया, जिनका सरकारी अधिकारियो

द्वारा निरीक्षण कर लिया गया था। विशेषत: कुँओ को खुदवाने, भूमि को उपजाऊ बनाने तथा पशुओ और कृषि के अन्य औजारो के लिए ऋण दिये गये। सन् १८८४ के कानून ने पूर्व के कानून के अभावो का निराकरण बहुत कुछ अंश मे किया, अतः कर्ज कुछ अन्य आवश्यक वस्तुओ के लिए भी दिये जाने लगे।

परन्तु जब हम इन कानूनो की ओर दृष्टिपात करते हैं तो यह अनुमान होता है कि ये कानून कृषको के हित के लिए नही थे, क्योकि इससे उन्हे बहुत कम रुपया मिलता था। इसके साथ ही, कर्ज की स्वीकृति मे देर लगने का कार्य किसानो को पसन्द न था। महाजन के यहाँ इतनी वैधानिक कार्यवाही की आवश्यकता न थी तथा सरकार के कानून भी किसान को उसकी कर्ज-बद्धता मे मुक्त न कर सके, अतः वह महाजन के चंगुल मे फँसा रहा। कर्जदाता मुक्ति कानून सन् १९०८ इस निश्चय पर पहुँचा कि ब्याज की दर तय करना आवश्यक है, इसलिए उसने सबसे अधिक ब्याज दर तय कर दी। केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हुये लिखा है कि इससे व्यक्तिगत नकद लेन-देन में अवश्य कुछ लाभ हुआ है, परन्तु इससे सारा द्रव्य-बाजार अधिकार में न आ सका।

महाजनो पर नियन्त्रण—

जब सरकार ने यह समझ लिया कि उनका कर्ज मुक्ति कानून कुछ गलत है तो उन्होने महाजनो के कार्यो पर नियन्त्रण करने की ओर ध्यान दिया। महाजनो द्वारा भूमिपतियो या किसानो का शोषण उस स्थिति पर निर्भर था, जिसमें कि वे रहते थे और जिस अविकसित अवस्था का अनुचित लाभ उठाकर महाजन अपना कार्य चलाता था। सन् १९२७ का ब्रिटिश महाजन कानून और सन् १९३० का पंजाब कानून इस दिशा की ओर सुनिश्चित (उपाय) कदम थे। प्रथम कानून के द्वारा महाजन के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपना हिसाब कर्ज के सम्बन्ध मे नियमित रूप से रखे। यदि हिसाब नही रखा गया तो वह रुपया देने पर ब्याज न पा सकेगा। दूसरे कानून के द्वारा महाजनो को लाइसेन्स दिया गया, जिसमे चक्रवर्ती ब्याज पर निषेध था। इसके साथ ही, हर एक का कानूनी पत्र व्यवहार आवश्यक था, जो सरकार की तरफ से एक नवीन प्रयोग था।

भूमि बदलाव कानून (Land Alienation Act)—

इस प्रकार पूर्णरूपेण रुपया देने का कार्य अपने हाथो मे लेकर महाजन वर्ग ने एक वर्ग भेद पैदा किया। ये कृषि न करने पर भी कृषि के मालिक थे व दूसरी तरफ गरीब किसान थे, जो अपनी जीविका चलाने मे असमर्थ थे। इस विचार से कि कृषको से भूमि न छीनी जाय, इस प्रकार के कानून बने। पंजाब का भूमि बदलाव कानून सन् १९०० मे और बुन्देलखण्ड मे सन् १९१६ मे इस प्रवृत्ति से लागू किये गये ताकि कृषको से भूमि न छीनी जाय। यदि भूमि किसी महाजन के पास गिरवी है तो उस हालत मे कुछ दिनो वह महाजन के पास ही रहेगी और पुनः किसान को दे दी

जायगी, जिसमे उमे कुछ भी देने को वाध्य न होना पडेगा। पजाव कानून के अन्तर्गत कृपक उन्ही लोगो को भूमि वेच सकता है जो सरकार की ओर से कृपक मान लिए गये हैं। इस प्रकार का कार्य इस वात को ध्यान मे रखते हुए किया गया था कि महाजन वर्ग अधिक न वढे, परन्तु इसका प्रत्यक्ष कारण ग्रामो की दरिद्रता का ऋण पर प्रतिवन्ध लगाना था। लेकिन उनका खास उद्देश्य तो वहाँ असफल होता था जहाँ महाजन भूमिपति थे। कुछ समय जरूर उन्हे वाधित किया जाता था कि वे कृपक वनें। दूसरे प्रकार का कार्य जो ये महाजन करते थे वह था कि वे वेनामी रुक्के लिखवा लेते थे, जिससे कभी भी ऋणी कृपक की जमीन लेकर वे दूसरे कृपक को दे देते थे, ताकि या तो उससे लगान आदि वसूल कर लें या उत्पादन ही पूरा कर लें।

आधुनिक ऋण सन्नियम—

सन् १९३० की आर्थिक मन्दी देश मे (विशेप तौर से कृपको मे) एक असन्तोष पैदा करने वाली घटना हुई। इसके कारण भुगतान शक्ति वढ गई और फसलो का भाव गिर गया, फलत. किसानो पर ऋण की रकम वढ गई। महाजनो ने न्यायालय की मदद चाही, ताकि किसानो पर दवाव डाल कर ऋण वसूल कर सकें। इस प्रकार भूमि हीन कृपक की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। अत. प्रान्तीय सरकारो ने इस प्रकार के आधार व उपाय खोज निकाले जिससे कृपको का ऋण भार कम हो गया और कुछ अशो मे तो बिल्कुल ही हट गया।

प्रान्तीय ऋण मुक्ति कानून के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

(अ) वर्तमान ऋण की मात्रा घटा दी जाय।

(व) ऋण देने की सुविधा के लिए ग्रामीण आर्थिक सहायता देने वाली शाखाओ की स्थापना की जाय।

(स) महाजनो की अनुचित शोपण रीति से कृपको को वचाने के लिए कुछ आवश्यक साधन अपनाये जायें।

अल्प-कालीन कर्ज कानून—

कृपको को शीघ्र ही राहत पहुँचाने के लिए तीन प्रकार के कानून वनाये गये—

(अ) मोरेटोरियम कानून।

(व) ऐसे उपायो का अवलम्बन, जिनके द्वारा व्याज का भार हटा दिया जाय।

(स) मूलधन मे कमी करने और उसके भुगतान के सुगम उपाय।

(अ) मोरेटोरियम कानून—कीमतो का अत्यधिक गिरना कृपक की स्थिति को डावाडोल कर देता था, इसलिए वह इस स्थिति मे न था कि अपने ऋण का भुगतान कर सके। महाजन न्यायालय की शरण ले रहे थे, ताकि उन्हे उनका ऋण पूर्ण रूप से मिल जाय। यह खतरा वढता ही जा रहा था कि जमीनें देनदारो (महाजनो)

को वेच दी जायेंगी। जमीनें न वेची जायें और साथ ही कृपकों को ऋण भुगतान मे सुगमता हो, इस कारण मोरेटोरियम कानून कई प्रान्तो मे लागू किये गये।

उत्तर-प्रदेश का सन् १९३४ का स्थायी कानून इसलिए वनाया गया था कि जिससे कृपको को व्याज आदि की सुगमता हो। उसमे यह भी कहा गया कि कर्ज का भुगतान किश्तो में हो और वह भी सन् १९३७ मे। साथ ही, कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल ने उन व्यक्तियो के कर्ज का भुगतान आगे के लिये वटा दिया जो १०,०००) रुपया लगान देते थे और जो आय-कर से मुक्त थे। वे व्यक्ति जो २५०) रुपया से अधिक लगान देते थे, उसका ½ हिस्सा जमा करा कर लिये गये कर्ज की बिक्री ठहरा सकते थे। इस प्रकार कानून से दूसरा लाभ यह हुआ कि वे कृपक जो कर्ज के भुगतान न करने पर जेल मे डाल दिये जाते थे, मुक्त किये गये।

मद्रास सरकार ने इस विल को स्वीकृत करने के लिए सन् १९३७ मे प्रयत्न किया, परन्तु कर्ज मुक्ति विल की वजह से वह स्थगित कर दिया गया। वम्बई मे छोटे कृपको के भुगतान सम्वन्धी कानून से वे कृषक, जिनके पास ६ एकड सिंचाई भूमि व १९ एकड विना सिंचाई की भूमि थी, सुरक्षित रहे। मध्य-प्रदेश मे भी इसी प्रकार का कानून वनाया गया।

(व) व्याज की दर कम करने के उपाय—कर्ज के परिणामस्वरूप कृपक को भूमि न वेचनी पडे, इस सम्वन्ध मे जव कानून वन गये तव सरकार ने उसके व्याज सम्वन्धी उत्तरदायित्व पर ध्यान दिया। लगभग सभी प्रान्तो ने सन् १९१८ के अधिक व्याज लेने वाले कानून मे आवश्यक सशोधन का कार्य-भार उठाया।

उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, वम्वई और मद्रास प्रान्तो ने आर्थिक मन्दी के पूर्व के कर्ज को ध्यान मे रखते हुए विशेष व्याज दर निर्धारित की। उत्तर प्रदेश के कृषि मुक्ति कानून (सन् १९३४) के अन्तर्गत १ जनवरी सन् १९३० से जो तारीख स्थानीय सरकार नियत करे, उसमे व्याज दर उस वस्तुस्थिति पर आधारित होगी, जिस दर पर वह केन्द्रीय सरकार से कर्ज लेती है। इसके पश्चात् सन् १९३९ मे उत्तर-प्रदेश सरकार ने कृषि कर्ज भुगतान सम्वन्धी विल के अन्तर्गत यह निर्णय किया कि अदालतें सुरक्षित कर्ज के लिए ४½% व्याज दर और ६% असुरक्षित कर्ज के लिये निर्धारित करें।

वगाल महाजन कानून (Bengal Money-lender Act)—

सन् १९३८ के अनुसार सुरक्षित कर्जों के लिए १०% और असुरक्षित के लिए १२% व्याज दर निश्चित हुई। मध्य-प्रदेश मे कर्ज मुक्ति कानून के अन्तर्गत यह निर्णय किया गया कि १२ साल से पूर्व के कर्जों पर पुन विचार किया जायगा। सन् १९३२ की १ जनवरी से व्याज की दर निम्नलिखित होगी :—चक्रवर्ती व्याज की दर ५%, साधारण व्याज की दर ७% सुरक्षित कर्ज पर और साधारण व्याज की दर १०% असुरक्षित कर्ज पर।

बम्बई कृषि सहायक कानून (Bombay Agricultural Debtor's Relief Act)—

सन् १६३६ मे निम्नलिखित तीन प्रकार से व्याज की दर घटाने का निश्चय किया गया :—

(१) कर्ज मुक्ति बोर्डो को यह अधिकार है कि वे १ जनवरी सन् १६३६ से पूर्व के कर्जो पर १२% साधारण व्याज की दर से निर्णय दें।

(२) जिस व्याज का सन् १६३६ मे भुगतान होगा और अगर कर्ज का इकरार-नामा सन् १६३६ की जनवरी के पहिले का है तो ४% कम कर दिया जायगा, नही तो ३०% देना होगा।

(३) कर्ज के भुगतान की तारीख मे सन् १६३२ की १ जनवरी तक ६% या अन्य निर्धारित व्याज दर (जो भी इन दोनो मे से कम हो) लिया जाय।

मद्रास कृषि मुक्ति कानून—

मद्रास कृषि मुक्ति कानून ने, जो कि सन् १६३८ मे स्वीकृत हुआ, निम्नलिखित उपाय बतलाये :—

(१) १ अक्टूबर सन् १६३७ मे पूर्व के बिना भुगतान किये गये कर्ज रद्द कर दिये जायँ।

(२) पहिले के कर्जो मे ५% व्याज दर लगाई जाय, जो कि १ अक्टूबर सन् १६३७ के कानून के अन्तर्गत आते हो। इनके अलावा अन्य रकम मूलधन के चुकाने के काम मे लाई जाय।

(३) कानून बन जाने के पश्चात् किये गये सम्पूर्ण इकरारनामो पर अदालतें व न्यायालय ६½% साधारण व्याज निर्धारित करें।

इसके अलावा प्रान्तीय सरकारो ने व्याज के भार को हल्का करने के लिए दामदुपत का सिद्धान्त अपनाया। इसके अनुसार तब तक कोई अदालत उस कर्ज पर डिग्री नही कर सकती, जब तक कि व्याज मूलधन के बराबर नही हो जाय। बगाल (सन् १६३३), उत्तर-प्रदेश (सन् १६३४), मद्रास और बिहार (सन् १६३८), बम्बई और सिन्ध (सन् १६३८) ने इस सिद्धान्त को अपनाया। मद्रास मे इस सिद्धान्त के अनुसार कर्ज देने वाले को यदि उसने मूलधन का दुगुना चुका दिया है तो कुछ भी देने की आवश्यकता नही है। इसी प्रकार अन्य प्रान्तो ने भी मूलधन से अधिक व्याज की रकम चुकाना निषेध कर दिया है।

(स) कर्ज की रकम मे कमी करना—कर्ज शान्त करने वाला कर्ज अनुरक्षक कानून (Debt Conciliation Act) पाँच प्रान्तो मे स्वीकार हुआ —आसाम, मध्य-प्रदेश, मद्रास, बगाल और बम्बई। इस कानून के अन्तर्गत प्रान्तीय सर-

कारो को अधिकार था कि अनुरक्षक बोर्ड स्थापित करें, जिसकी सदस्य सख्या ३ से कम और १२ से अधिक न हो। ये बोर्ड कर्ज लेने वालो की सम्पूर्ण जायदाद व उसके कर्ज का अनुमान लगाने के बाद उसके भुगतान का २०-२० किश्तो मे प्रयत्न करें।

जो बोर्ड के निर्णय को नही मानते, उन्हे कानून की दृष्टि से अयोग्य करार कर दिया जाता था। इस पकार के मामलो मे लेनदार को अदालत से एक प्रमाण-पत्र मिलता है, जिसमे अदालत व्याज दर (जो कि ६% से अधिक न हो) तय कर देती थी। इसके साथ ही जो महाजन बोड के निर्णयो को स्वीकार कर लेते थे, उनके कर्ज को चुकाने मे प्राथमिकता दी जाती थी। यह कार्य इसलिए किया जाता था जिससे लोग बोर्ड के निर्णय को मानें।

पजाब कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १९३४, बगाल कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १९३५, आसाम कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १९३५, मद्रास कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १९३६, सिंध अनुरक्षक कानून सन् १९३५ ने इन्ही उपायो का प्रयोग किया।

ऋण अनुरक्षक बोर्डों की कुछ प्रान्तो मे सफल कार्यवाही हुई *—मध्य-प्रदेश और बरार मे कुल ऋण १५ ६ करोड रुपया था, जो कि घटकर ७ ७ करोड रुपया रह गया, अर्थात् ५०% कम हो गया। बगाल मे मार्च सन् १९४४ तक कुल ५ करोड रुपया कर्ज था, जो कि घटकर १ ८ करोड रुपया रह गया, अर्थात् लगभग ६४% कम हुआ। इसी पकार मद्रास प्रान्त मे भी ५ करोड रुपयो का २ ६५ करोड रुपया रह गया। सन् १९४० तक के आँकडो के आधार पर यह अनुमान लगाया कि पजाब मे १ वर्ष के अन्तर्गत अर्थात् ३१ दिसम्बर सन् १९४० तक ९१ ४५ लाख रुपये के ५५ ६ लाख रुपये ही रह गये।" दूसरी बात यह है कि ऋण अनुरक्षक बोर्ड नकद पैसे न होने से ऋण चुकाने मे समर्थ न हो सका, अत. यह आवश्यकता अनुभव की गई कि भूमि बन्धक बैक स्थापित की जायें, जो भुगतान का उत्तरदायित्व लें। तीसरी बात, मध्य-प्रदेशीय भूमि विभाग ने अपनी रिपोर्ट मे कहा कि ऋण अनुरक्षक बोर्डों मे कृपक अपने को नये ऋण लेने की स्थिति मे नही पाता। वह तब तक परावलम्बी रहता है जब तक पुराने ऋण का भुगतान किश्तो द्वारा न कर दे, अत. ऋण अनुरक्षक बोर्ड को यह देखना चाहिये कि कृपक अपने परिवार की आवश्यकताओ और भूमि कर आदि के अलावा कितनी रकम रखता है, तदनुसार उसकी ऋण भुगतान विधि नियुक्त करें।

मूलधन घटाने के उपाय—

यद्यपि ऋण घटाने का कार्य बहुत कुछ अशो मे ऋण अनुरक्षक बोड ने पूरा कर लिया, परन्तु मूलधन घटाने का एक अन्य कानून बम्बई, मध्य-प्रदेश और उत्तर-प्रदेश मे बनाया गया। इसका उद्देश्य कीमतो के गिरने के आधार पर मूलधन की राशि घटा देना था।

---

* Agricultural Finance Sub Committee Report p 23

विविध उपाय—

(अ) गिरवी रखी भूमि को पुन लौटाने का सिद्धान्त मुख्यतः पजाब, उत्तर-प्रदेश और बगाल मे प्रयोग लाया गया । इसके अनुसार गिरवी रखने वाले की भूमि १५ या २० साल के बाद पुन. उसे लौटा दी जाय, चाहे वह कर्ज का भुगतान करे या न करे ।

(ब) कुछ प्रान्तो की अदालतो को यह विशेषाधिकार दिया गया कि वे उन भू भागो का मूल्य ठीक से निर्धारित करें, जो डिग्री के कारण बेची जा रही हैं । उत्तर-प्रदेश के बचाव कानून सन् १९३४ और कर्ज भुगतान कानून सन् १९३९ व बिहार महाजन कानून सन् १९३८ द्वारा ये अधिकार दिये गये ।

(स) प्रान्तीय दिवालिया कानून (सन् १९२०) मे कृपको के नाम को ध्यान मे रखते हुए कुछ आवश्यक सशोधन भी किए गये । बगाल कृपक लेन-दार कानून के अन्तर्गत सन् १९३५ मे यह घोपित कर दिया गया कि वे कृपक दिवालिये घोपित किए जायें, जो बीस किश्तो मे भी अपना कर्ज न चुका सकें, लेकिन दिवालिये खेतिहर की जायदाद और रहने का मकान आदि को छोडकर उसकी शेप सम्पत्ति बेच दी जाय । बम्बई खेतिहर कर्ज मुक्ति कानून के अन्तगत उस खेतिहर को दिवालिया करार दे दिया जाय, जो कि २५ साल मे अपने कर्ज का भुगतान न कर सके, लेकिन कर्ज पेटे मे उसकी आधी जायदाद बेची जा सकती है ।

ऋण सम्पत्ति के नवीन उपाय—

गाडगिल कमेटी ने यह सिफारिश की कि खेतिहरो के कर्ज की अच्छी तरह से अध्ययन व जांच होनी चाहिए तथा इसके पूर्व की उनकी आर्थिक दशा भी ज्ञात होनी चाहिए । यही सिफारिशें एग्रेरियन कमेटी ने भी की । गाडगिल कमेटी की सिफारिशो का सक्षिप्त विवरण निम्न है :—

(१) कृपको के ऋण का पूर्णरूपेण निर्धारण अनिवार्य हो ।

(२) अनुमान करने का कार्य एक विशेप समय की अवधि मे (अधिकतम २ साल) हो जाना चाहिए । कारण, इस कार्य में देर होने से निश्चित परिणाम पर पहुँचना कठिन हो जाता है ।

(३) ऋण देने वालो (अर्थात् महाजनो) को अपने ऋण को रजिस्टर्ड करवाना चाहिए तथा अपनी पूंजी आदि का विवरण निश्चित समय मे सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए ।

(४) कृपक से उचित रुपया मिलने की व्यवस्था करनी चाहिए । इस सम्बन्ध मे मुक्ति कानून और दक्षिणी भारत कृषक मुक्ति कानून मे दी गई धाराओ को ध्यान मे रखना आवश्यक है ।

(५) इसके साथ ही दामदुपट सिद्धान्त को भी लागू करना चाहिए कि कहीं मूलधन से व्याज दूना न हो जाय और उसका पूंजी के रूप मे परिवर्तन न हो जाय।

(६) वोर्ड द्वारा निश्चित की गई रकम (जो कृषक को चुकानी है) इतनी होनी चाहिए कि वह २० वर्ष मे ४ प्रतिशत व्याज की दर से अथवा अचल सम्पत्ति की ५० प्रतिशत हो, चुकाई जा सके, किन्तुः—

(अ) सुरक्षित कर्ज की रकम जिस जायदाद के रहन पर दी गई है, ५० प्रतिशत से कम नही करना चाहिए।

(ब) सुरक्षित कर्ज का अनुपात असुरक्षित कर्ज के अनुपात से बढाना न चाहिए।

(७) यह निश्चित की गई कर्ज राशि भूमि बधक बैंक से या इसी प्रकार की अन्य एजेन्सी से लेकर चुका देनी चाहिए।

(८) बैंक अथवा अन्य एजेन्सी इस रकम को कृषक से २० किश्तो मे वसूल करें।

(९) यदि कृषक या लेनदार को अपनी भूमि को हस्तान्तरित करने का हक नही है और उसका ऋण भुगतान शक्ति से अधिक है तो वोर्ड को उसे दिवालिया करार कर देना चाहिए।

(१०) यदि खेतिहर को अपनी भूमि पर हक प्राप्त है, परन्तु फिर भी कर्ज उसकी शक्ति से ज्यादा है तो वोर्ड को कानून के अन्तर्गत आवश्यक सुधार कर उसे दिवालिया करार कर देना चाहिए और उसे कर्ज मुक्त कर देना चाहिए।

किश्तो मे चुकाने के बारे मे गॉडगिल कमेटी ने २० साल का समय निर्धारित किया है, जबकि बम्बई खेतिहर मुक्ति कानून ने यह अवधि १२ साल की मानी है। लेकिन एग्रेरियन कमेटी कम किश्त दर मे विश्वास करती है। एग्रेरियन कमेटी ने किसान द्वारा कर्ज चुकाये जाने में इस प्रकार की प्राथमिकता निर्धारित की है —

(१) वह कर्ज जो कि सरकार से मकान आदि की रहन पर लिया गया है।

(२) स्थानीय सरकारो का कर्ज, जो खेतिहर ने अपनी स्थायी जायदाद पर लिया है।

(३) विकास समितियो का दिया हुआ ऋण।

(४) सुरक्षित कर्ज।

(५) सरकार, अन्य सरकारी संस्थायें और सहकारी समितियो से लिया हुआ ऋण।

(६) सहकारी समितियो का अन्य कर्ज।

(७) सुरक्षित कर्ज।

सन् १९४२ के पूर्व एवपश्चात् के खेतिहर मजदूरो के ऋण समाप्त किये जायें या उनकी भुगतान शक्ति के अनुसार उसे घटा दिया जाय। कर्ज अनुरजक बोर्ड की सिफारिश है कि देश की वर्तमान परिस्थिति के अनुसार उसमे आवश्यक कमी की जाय।

रुपया उधार देने का कार्य निम्न प्रकार से किया जाय :—

महाजन को लाइसेंस आदि की प्राप्ति—

मध्य-प्रदेशीय (केन्द्रीय) महाजन सुधार कानून सन् १९३६ के द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया कि प्रत्येक महाजन अपने आपको रजिस्टर्ड कराकर प्रमाण-पत्र प्राप्त कर ले। जो इस प्रकार रजिस्ट्री न कराएगा, वह कानून की दृष्टि मे अपराधी माना जाकर ५०) रु० जुर्माना देगा और यदि बाद मे भी यह क्रम जारी रहा तो १००) रु० जुर्माना देना होगा। पजाब महाजन रजिस्ट्रेशन कानून १९३८ के द्वारा लाइसेन्स न लेने वालो के साथ किसी प्रकार की रियायत न की जायगी। बिहार तृतीय महाजन कानून सन् १९३८ के द्वारा पजाब कानून की नकल की गई। सन् १९३८ के बगाल कानून मे भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेन्स पर जोर दिया गया। जो व्यक्ति रजिस्टर्ड प्रमाण-पत्र नही रखता, उनका अदालत मे मुकद्दमा चलाने का अधिकार समाप्त कर दिया जाता है तथा लाइसेंस न लेने पर १५) जुर्माना किया जाएगा। उत्तर-प्रदेश का महाजन कानून (सन् १९३९) भी पजाब कानून की भाँति प्रभावशाली है, परन्तु उसमें अदालत मे निर्धारित रुपया जमा कराने पर मुकद्दमे का अधिकार दिया गया है। बम्बई (सन् १९३८) कानून मे भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस लेना आवश्यक हो गया है, अन्यथा वह जुर्म समझा जायगा।

हिसाब सम्बन्धी कानून—

महाजनो की चालाकियो और बेईमानियो को रोकने के लिए हिसाब रखना जरूरी कर दिया गया। पजाब हिसाब कानून के अन्तर्गत यह आवश्यक समझा गया कि महाजन लोग सालाना हिसाब रखें और भुगतान की रसीद आदि कृषको को पहुँचावें। इसकी अनुपस्थिति मे न्यायालयो को यह अधिकार होगा कि वे उस धन व ब्याज को गैर कानूनी करार दें। मद्रास, मध्य-प्रदेश, बम्बई, बगाल, आसाम और उत्तर-प्रदेश में भी इसी प्रकार के कानून बने। इस प्रकार इन सबमे पजाब हिसाब कानून (सन् १९३०) का अनुकरण था।

कर्ज मुक्ति कानून मे अत्यधिक सुधार की आशा से ब्याज की दर घटाने का प्रस्ताव रखा गया। सन् १९३९ के बगाल महाजन कानून मे यह धारा रखी गई कि प्रत्यक्ष कर्ज से ज्यादा आमदनी ब्याज से नही चुकाई जायगी, यदि यह ली गई तो एक अपराध के रूप मे मानी जायगी, जिसकी सजा ६ माह जेल अथवा १,००० रुपये जुर्माना होगा। सन् १९३९ के उत्तर-प्रदेश के कानून मे भी यही धाराएँ सम्मिलित की गई हैं। महाजन के चगुल से कर्ज लेने वाले कृषक को बचाने सम्बन्धी आधार ये

हैं :—(१) दिये हुये जायदाद के भाग से कृपक का छुटकारा, अर्थात् उसकी जायदाद आदि कोई बेचे नही। (२) किसान को डर या धमकी और कष्ट से छुटकारा दिलाना।

सन् १९३७ के मध्य प्रदेशीय कृपक सरक्षण कानून, सन् १९३९ के बम्बई महाजन कानून और सन् १९३९ के उत्तर-प्रदेश महाजन कानून मे यह धारा थी कि महाजन को ३ माह की सजा और ५० रु० जुर्माना किया जाय, यदि वह कृपक को दुख दे। बगाल महाजन कानून सन् १९३९ मे ६ माह की जेल यातना और १,००० रु० जुर्माने का निर्धारण है। सन् १९३५ के पजाब सरक्षण कृपक कानून, सन् १९३६ के बगाल सरक्षण कानून और सन् १९३९ के बम्बई महाजन कानून मे कृपको के सरक्षण के लिए व्यवस्था की गई है।

निष्कर्ष—

परन्तु यह बात स्मरणीय है कि इस प्रकार कृपको के हित से सम्बन्धित प्रान्तीय कानून कृपको की दशा को सुधारने मे असफल रहेगे, जब तक कृषि उत्पादन के ढग मे परिवर्तन न किया जाय। अत कृपको का कर्ज एक महान् रोग है। हमने ऊपर जिन साधनो का वर्णन किया है वे तो घाव के खून को रोकने और ,जख्मो की मरहम पट्टी करने के तुल्य हैं, जो रोग की जड तक नही पहुँच पाया है। कर्ज की मात्रा का निर्धारण और महाजनो के शोषण से छुटकारा कृपक की दशा मे सुधार न ला सकेंगे और न ब्याज की दर निश्चित होने आदि से ही सुधार होगा। साथ ही, ऋण सन्नियमो के सम्बन्ध मे कृपक सुधार समिति का मत है कि "हम यह निसकोच कह सकते हैं कि महाजनो को प्रतिबन्धित करने के सन्नियम पूर्णत असफल रहे हैं।" कृषि साख सर्वे समिति के अनुसार "यह विश्वास करने के लिये कारण हैं कि अधिकांश भाग का ऋण प्रदाय बिना लाइसेंस के हो रहा है, यद्यपि वहाँ लाइसेस लेना अनिवार्य।" इसके सिवा "आधुनिक ऋण सन्नियमो मे आयोजित अनिवार्य ऋण की कमी से साहूकारो का विश्वास बहुताश मे डिग गया है।"* इसलिये जब तक कि प्रत्येक ग्राम में सहकारिता आन्दोलन का प्रचार न होगा, कृपक की वर्तमान दशा मे आमूल परिवतन नही हो सकता।

दूसरे, भूमि बदलाव के नियमो के बढने से कृषि ही नही अपितु महाजन भी खेती आदि का समुचित लाभ पा लेते हैं। जहाँ यह अधिकार महाजन के हाथो मे चला जाता है, वहाँ कृपक मजदूर के रूप मे अपने ही खेत पर महाजन के आधीन कार्य करता है। इसलिए वह न तो खेती की दशा मे सुधार कर सकता है और न महाजन उसे ऐसे साधन ही सुलभ करता है, जिससे वह खेती मे पूर्ण रूप से सुधार कर सके।

*Reorganisation of Agricultural Credit Dr G. D Gadgil, p 128

इस प्रकार हमारा देश इतनी महान् कृषि भूमि होने पर भी गरीबी और निर्भरता का शिकार है।

तीसरे, कृषक की ऋण-बद्धता उसके आर्थिक विकास की समस्या से सम्बन्धित है। गरीबी, निरक्षरता, उद्योगो का अभाव, स्थायी समाज व्यवस्था, गहरे धार्मिक विचार, सामाजिक एव धार्मिक प्रथायें, मूल्यो की अनिश्चितता, ऋण-बद्धता और कम उत्पादन ही कृषक की अवनत अवस्था के कारण हैं, अत. जब तक एक सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण को लेकर कोई योजना कार्यान्वित नही होती, तब तक कृषक की उपर्युक्त आपत्तियो से निवारण होना तथा कृषि उन्नति होना नितान्त असम्भव नही तो कठिन अवश्य है, इसलिए देश मे आज खेती एव ग्रामीण आर्थिक विकास चहुँमुखी करने के लिए ही भारत सरकार ने सामूहिक विकास योजनाएँ कार्यान्वित की है, जिनकी पूर्ति से यह निसन्देह है कि ग्रामीण आर्थिक जीवन एव कृषि की उन्नति हो कर देश के आर्थिक कलेवर का प्रमुख भाग सुदृढ नीव पर आधारित होगा।

अध्याय ११

कृषि उपज की बिक्री

(Marketing of Agricultural Produce)

"कृषक अपने उत्पादन के वितरक और उपभोक्ता के सामने एक उपक्षणीय इकाई है।"

—रॉयल कृषि कमीशन प्रतिवेदन।

भारतीय कृषक की आर्थिक दशा उन्नत करने के लिए जितनी आवश्यकता कृषि का उत्पादन बढाने की है उससे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि कृषि उपज के बिक्री की समुचित व्यवस्था द्वारा उसे उसकी उपज का समुचित मूल्य मिले। रॉयल कृषि कमीशन के अनुसारः—"जब तक कृषि उपज की बिक्री की समस्या को पूर्णतया हल नही किया जाता तब तक कृषि समस्या का हल अधूरा ही है।" इसलिए देश की लगभग ७२% जन सख्या को उपजीविका प्रदान करने वाली कृषि के विकास, उत्पादन वृद्धि करने और खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए कृषि उपज के विक्रय की उचित व्यवस्था होना नितान्त आवश्यक है।

वर्तमान विक्रय सगठन—

(१) गावो मे बिक्री—कृपक अपनी उपज को गाँव के महाजन या वनिए को वेच देता है। इस बिक्री को 'ग्रामीण बिक्री' कहते हैं। गाँव के महाजन और बनिये कृपक को उसकी कृषि सम्बन्धी या अन्य आवश्यकताओ के लिए ऋण देते हैं। इस ऋण के साथ यह शर्त होती है कि कृपक अपनी फसल निश्चित भाव पर उसे वेच देगा। यह निश्चित भाव बाजार भाव से काफी कम होता है। कभी-कभी बनिये किसान को खेती के लिए बीज ड्योढे पर देते हैं। इस समय बीज की कीमत अधिक होती है। बीज का यही मूल्य वही मे दर्ज किया जाता है तथा वापसी के समय उस रकम का अनाज ले लेते हैं। ध्यान रहे कि इस समय अनाज काफी सस्ता रहता है। इस प्रकार किसान को बहुत सस्ते दामो पर अपना अनाज गाँव मे ही वेच देना पडता है। किसान एक छोटा उत्पादक होता है, जो अपनी उपज का आधे से अधिक अपने उपयोग के लिए रख लेता है और शेप उपज, जो बहुत थोडी होती है, दूर के बाजारो मे ले जाना लाभदायक नही होता। साथ ही, लगान साहूकार का ऋण चुकाने, शादी आदि के समय धन की आवश्यकता होने के कारण लाचारी की अवस्था मे वह अपनी फसल गाँव मे ही साहूकार, बनिये, जमींदार व व्यापारी अथवा बाजार के बडे व्यापारियो के दलालो को वेच देता है।

अनुमान है कि भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न परिमाण मे कृपक अपनी पैदावार को गाँव मे ही वेच देते हैं। उदाहरण के लिए, पजाब मे गेहूँ की ७०%, कपास की ३५% और तिलहन की ७०% बिक्री गाँव मे ही होती है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में गेहूँ की ८०%, कपास की ४०% और तिलहन की ७५%, बिहार और बगाल मे तिलहन की ८५% तथा जूट की ९०% पैदावार किसान को गाँव मे ही वेचनी पडती है।

गाँव मे ही बिक्री होने के कारण कृपको को अधिक आर्थिक हानि उठानी पडती है, क्योकि :—(१) उन्हे परिस्थितिवश असमय पर तथा अलाभकर शर्तों पर अपनी फसल महाजनो को वेचनी पडती है। अत उनको बिक्री का उचित मूल्य प्राप्त नही होता, क्योकि यह मूल्य महाजनो द्वारा निर्धारित किया जाता है। निधन किसानो के पास, जो ऋणी भी होते हैं, इन मूल्यो को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नही रहता। (२) बाँटो और तराजुओ मे काफी अन्तर रहता है, क्योकि खरीदने के बाँट अलग होते हैं और वेचने के बाँट अलग। (३) अनियन्त्रित मण्डियो की भाँति गाँवो मे किसानो को कई प्रकार की दस्तूरी आदि चुकानी पडती है। (४) बहुधा बिक्री की वस्तुओ का परिमाण थोडा होता है, जिसे मण्डियो तक ले जाने मे आनगमन के साधनो की असुविधाओ के कारण काफी व्यय पड जाता है। अनुमान है कि यातायात के साधनो की असुविधा के कारण माल ले जाने और ढोने का खर्च किसान को मिले मूल्य का २०% होता है। इस अनावश्यक व्यय से बचने के लिए किसान अपनी फसल गाँव में वेचने में ही हित समझता है।

(२) मण्डियो मे बिक्री—कृषक अपनी उपज को गाडियो में भर कर कच्चे आढतियो या थोक खरीदारो के दलालो के पास ले जाता है। ये आढतिये उसके ग्राहको से मिलते हैं। साधारणत: खरीदने वाले या तो पक्के आढतिये होते है या थोक खरीदार, जो अन्य मण्डियो के व्यापारियो के लिए दलालो का काम करते हैं। वे अपने आप भी खरीद सकते हैं और जब उपयुक्त कीमत मिले तो उसे अन्य स्थानो पर बेच भी देते है। व्यापारी अपने आपको अन्य स्थानो के भावो से तार, टेलीफोन आदि द्वारा परिचित रखते है और मूल्यों के अन्तर के अनुसार वे वस्तुओ के क्रय-विक्रय के सौदे करते रहते हैं। खरीदने वाले नमूने देख कर आढतियो के साथ मूल्य निश्चित करके सौदा करते हैं। कई बार नीलाम द्वारा बिक्री होती है, किन्तु विक्रेता अपना अधिकार सुरक्षित रखता है, जिससे यदि भाव उचित न हो तो वह सौदा करने से इन्कार कर सकता है। अनेक बार दलाल भी बिक्री का सौदा कराने मे सहायता देते हैं। सौदा निश्चित हो जाने पर आढतिया विक्रेता को अपनी छूट और अन्य खर्चे काट कर मूल्य दे देता है। इसके पश्चात् थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियो को माल बेचता है और इन्ही फुटकर व्यापारियो से माल अन्त मे उपभोक्ताओ के पास पहुँचता है।

मण्डियाँ प्राय. दो प्रकार की होती हैं—(अ) सगठित, जिनमे क्रय-विक्रय के लिए नियम होते हैं और इन्ही नियमो द्वारा क्रेता और विक्रेता अपनी उपज का मूल्य निश्चित करते हैं। (ब) असगठित, जिनमे प्राचीन व्यवस्था के अनुसार प्राय क्रय-विक्रय होता है। भारत मे गेहूँ, कपास, गन्ना और जूट आदि की सगठित मण्डियाँ पाई जाती हैं।

असगठित मण्डियो में माल बेचने पर किसान को कई प्रकार से आर्थिक हानि होती है :—

(अ) चूँकि सौदा तय करने वाले दलाल बहुधा आढतियो और थोक व्यापारियो के अपने आदमी होते हैं, इसलिए उनकी सद्भावना किसानो की ओर नही रहती। ये दलाल खरीदारो से मिलकर उपज का मूल्य निर्धारित करते हैं। इस मूल्य निर्धारण मे ये लोग आढतियो का ही अधिक ध्यान रखते हैं।

(ब) चूँकि दलालो को आय आढतियो से प्राप्त होती है, इसलिए उनका अधिक लाभ किसानो को ठग कर कम मूल्य पर ही सौदा करने मे होता है।

(स) अधिकतर किसान अपढ और सीधे-साधे होते हैं, जबकि दलाल और आढतिये धूर्त और चालाक होते हैं। इसलिए बिक्री के अधिकाश खर्चे ये लोग व्यापारियो से वसूल न करके किसानो से ही वसूल करते हैं। इस प्रकार किसानो को न केवल आढतियो का ही पारिश्रमिक देना पडता है, किन्तु धर्मादाय, गद्दी खर्चा, गोशाला, पाठशाला, मन्दिर,

प्याऊ, पल्लेदारी, तुलाई, बोरावन्दी, फर्दा, पिंजरपोल, महतर, ब्राह्मण आदि को भी थोडा बहुत पैसा चुकाना पडता है। इस प्रकार साधारणतया १०० रुपये की उपज पर कृषकों को २१ ५१% और खुर्दाफरोशों को २२% राशि मिलती है और शेष अन्य खर्चो मे चला जाता है।

(द) वस्तुओ के मूल्य प्राय. दलाल और आढतिये अपने हाथो पर कपडा डालकर एक दूसरे की उँगली छूकर गुप्त रूप से तय करते हैं। भाव निश्चित होने पर माल गोदाम मे भर दिया जाता है, किन्तु मूल्य चुकाते समय पैदावार को घटिया बताकर उसके मूल्य मे कमी कर देते हैं।

(य) कृपकों मे सगठन का अभाव होता है। प्राय· जूट, कपास, तिलहन आदि उत्पन्न करने वाले कृपक सगठित होते हैं, किन्तु भोज्य पदार्थ उत्पन्न करने वाले कृपको का न केवल उत्पादन ही छोटी मात्रा मे होता है, बल्कि वे सम्पूर्ण क्षेत्र मे बिखरे हुए होते हैं, अत उनके स्वार्थो की रक्षा करने वाला कोई उचित सगठन नही होता। इसके विपरीत व्यापारियो के सगठन बडे मजबूत होते हैं, जिन्हे सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

(३) व्यापारियो के प्रतिनिधि—शहरो के व्यापारी भी अपने प्रतिनिधियो को फसल कटने के समय गाँवो में भेजते हैं। ये अपनी बैलगाडी, तराजू और बाँट भी अपने साथ ले जाते हैं तथा प्रत्येक गाँव मे जाकर सम्पूर्ण उपज उसके सामने ही तोल कर खरीद लेते हैं तथा उसे गाडी मे भर कर नगरों मे थोक व्यापारियो अथवा आढत वालो को बेच देते हैं। इस प्रकार की बिक्री मे व्यापारियो को बडा लाभ होता है। फसल तैयार होने के समय उपज का भाव बहुत गिर जाता है, अत वे सस्ते भावो पर माल खरीद लेते हैं। इसके साथ ही व्यापारी बाजार भावो से परिचित होने के कारण किसान को झूठे भाव बताकर सस्ते भाव में माल खरीदते हैं और यही माल नगरो मे ऊँचे भाव पर थोक खरीदारो को बेच देते हैं। इस प्रकार व्यापारी किसान तथा खरीदारों के बीच में अच्छी रकम कमा लेते हैं। नगर के व्यापारी बडे चतुर होते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि किस स्थान पर कौन सी वस्तु प्राप्त हो सकती है और इसकी खपत कहाँ होगी। अत वे गाँवो मे पहुँच जाते हैं तथा किसानो को गाँव मे ही रुपया चुका देते हैं।

कृपि उपज की विक्री प्रणाली के दोष—

कृपि वस्तुओ की विक्रय पद्धति मे निम्न दोष प्रमुख हैं —

(१) मध्यस्थो की अधिकता—कृपक अपनी पैदावार का अतिरिक्त माल गाँव मे बेच देते हैं, किन्तु कई बार उसे अपना माल निकट की मण्डियो में बेचने की

आवश्यकता होती है। कृषक को इन मण्डियो मे विक्री के लिए दलाल, आढतिये, महाजन, साहूकार आदि अनेक मध्यस्थो पर निर्भर रहना पडता है। मध्यस्थो की यह बाढ कृषक को मिलने वाली आय मे काफी कमी कर देती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई जाँचो से स्पष्ट होता है कि गेहूँ की विक्री में एक रुपए के मूल्य मे से कृषक को केवल ८¾ आने और चावल की विक्री मे से केवल ६¾ आने मिलते हैं। निम्न तालिका से भिन्न-भिन्न वस्तुओ की विक्री मे कृषक के भाग का पता चलता है :—

माल	कृषक का भाग (%)	किराया (%)	मिश्रित व्यय (%)	थोक व्यापारी का भाग (%)	खुदरा व्यापारी का भाग (%)
१ शक्कर	१५ १७	१० ७१	६ १८	५ ३६	६ ५८
२ चावल	६६ ८०	५ ५६	१७ २०	३ १६	६ २५
३. गेहूँ	६८ ५०	१६ ००	६ ३०	१ ६	३ ३०
४. अलसी	७६ ३६	८ ४०	६ ३५	१ ६	—
५ मूँगफली	७४ ७०	८ ५३	१६ ७७	—	—
६ तम्बाकू	४२ १८	६·६६	३४ ४६	१६ ७०	—
७ आलू	५६ १३	११ ६०	६ ८०	५ ४	१८ ६
८ अगूर	२६ ४०	६ ६५	११ ५५	—	१४ ६०
९ नारगी	३२ ४८	१६ ३०	२६ ५४	—	२४ ६८
१० कॉफी	६४·७७	—	१४ ७०	६ ९०	६ ४०
११ अडे	—	—	—	—	—
१२ दूध	६४ ७५	—	—	१४ ७५	२० ५०

औद्योगिक आयोग (सन् १६१८) ने इन मध्यस्थो की बढती हुई शृंखला के विषय मे असन्तोष प्रकट किया है। आयोग का कथन था—"गाँव की फसलो का जो निर्यात होता है, उनकी विक्री मे बहुत से अनावश्यक मध्यस्थो का समावेश रहता है, जो किसानो के अधिकाश लाभ को स्वय ही हडप जाते हैं। क्योकि किसानो के निर्धन और अशिक्षित होने के कारण वे अपनी फसल को मण्डी मे ले जाकर बेचने मे असमर्थ होते हैं। यह शोचनीय अवस्था मुख्यत बगाल, बिहार और उत्तर-प्रदेश मे पाई जाती है।

(२) मण्डी की लागत और अनियन्त्रित कर—मण्डियो मे उपज की विक्री के लिए किसान को कच्चे आढतिये अथवा दलाल को नियुक्त करना पडता है। इन व्यक्तियो को उनके पारिश्रमिक के रूप मे आढत और दलाली देनी पडती है, किन्तु इनके अतिरिक्त किसान को और भी बहुत से व्यय चुकाने पडते हैं। उदाहरणार्थ, तुलावटिये को तुलाई, बोरे आदि खोलने या भरने वाले मजदूरो को बोराबन्दी,

कृषि उपज की विक्रय प्रणाली में सुधार की दशा—

स्पष्ट है कि भारतीय किसानो को अपनी फसल की विक्री से उचित मूल्य नही मिलता। श्री वाडिया और मर्चेन्ट के अनुसार किसानो को फसल की १ रुपये की विक्री से अलसी मे १० आने गेहूँ मे ६। आने, चावल में ८। आने, आलू मे ८ आने और मूंगफली मे केवल ७॥ आने मिलते है। अत. यह आवश्यक है कि कृषि पदार्थों की विक्री की पद्धति मे सुधार हो। इस हेतु निम्न दिशा मे सुधार आवश्यक हैं—

(१) नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना—भारत मे नियन्त्रित मण्डियो की वहुत आवश्यकता है, क्योकि भारतीय कृषक सभी जगह व्यापारियो द्वारा ठगे जाते हैं। नियन्त्रित बाजारो की स्थापना सबसे पहले सन् १८६७ मे बरार मे की गई थी। किन्तु इसकी कार्य-प्रणाली मे वहुत से दोष आ गये। बरार के वाद मध्य-प्रदेश में सन् १६३२ मे, मद्रास में सन् १६३३ मे और हैदरावाद मे सन् १६३६ मे तथा मैसूर, बडौदा आदि राज्यो मे भी नियमित मण्डियो की स्थापना की गई है।

मध्य-प्रदेश में रुई के लिए नियन्त्रित मण्डियाँ पाई जाती हैं। सन् १६४८ मे रुई की ३६ और अन्य कृषि वस्तुओ की नियन्त्रित मण्डियाँ ६ थी। ये मण्डिया मध्य-प्रदेश म्यूनिसिपिल विधान और मध्य-प्रदेश रुई मण्डी विधान सन् १६३२ (C. P. Cotton Market Act) द्वारा सचालित होती हैं। पहिले प्रकार की मण्डियाँ मुख्यत. रायपुर, दुर्ग और नागपुर मे है। यहाँ कृषि पदार्थों के सग्रह और सरक्षण का भी प्रबन्ध होता है। प्रत्येक मध्यस्थ को लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है। तोलने का व्यय, चुङ्गी की दर तथा बाजार की अन्य दरे मण्डी समिति द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

बरार मे रुई की मण्डियाँ, सी० पी० कॉटन मार्केट एक्ट सन् १६३२ से नियन्त्रित होती है, जिनमे कपास का ही व्यापार होता है। अमरावती और अकोला मे इस प्रकार की मण्डियाँ हैं, जिनका प्रवन्ध इस विधान के अन्तगत स्थापित की गई मण्डी समितियो द्वारा होता है। ये समितियाँ आपसी झगडे मिटाने, खेतो का निरीक्षण तथा तौल और नाप का प्रवन्ध करने का काय करती है। यहाँ भी सभी प्रकार के व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती हैं।

बम्बई मे सन् १६२७ मे, बम्बई रुई मण्डी विधान (Bombay Cotton Market Act) लागू किया गया, जिसके अन्तर्गत मण्डी समिति मण्डियो का प्रवन्ध करती है। यहाँ भी व्यय की दरे समिति द्वारा निश्चित की जाती है। मद्रास राज्य मे मद्रास-व्यापारिक फसल विक्री विधान सन् १६३३ द्वारा, रुई (त्रिपुर, अदोनी और नन्दलाल), मूंगफली (कडालोर) तथा तम्बाकू (गन्तूर जिला) के बाजारो का नियन्त्रण किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इस समय पूर्वी पजाव में ५६, हैदरावाद मे ३२ और ग्वालियर मे ३६ नियन्त्रित मन्डियाँ हैं। इन सभी मडियो की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं:—

(अ) प्रत्येक मण्डी मे क्रेता और विक्रेताओ के प्रतिनिधियो की एक समिति होती है, जिसका कार्य बाजार मे वस्तुओ के विक्रय का इस प्रकार सतत् निरीक्षण करना होता है, ताकि किसी प्रकार की बेईमानी न हो सके। इसी हेतु ये समितियाँ तौल, माप तथा कटौतियो पर कडी दृष्टि रखती हैं और कृषको को सभी प्रकार की सुविधायें देकर दलालो से बचाती हैं।

(ब) प्रत्येक मण्डी मे कार्य करने वाले दलालो, तुलावटियो तथा अन्य मध्यस्थो को समिति द्वारा अपना पजीयन (Registration) कराना आवश्यक होता है, ताकि उन्हे उनकी किसी प्रकार की अनुचित कार्यवाही पर दण्ड दिया जा सके।

(स) समिति क्रेता और विक्रेता के बीच होने वाले सभी प्रकार के झगडो का निपटारा करती है।

राज्य कृषि उपज (बाजार) अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न मडियो एव बाजारो के नियमन का आयोजन है। इस अधिनियम के अनुसार मडियों एव बाजारो का नियमन मडी समितियो द्वारा होता है, जिसमे कृषि उत्पादक, व्यापारी, स्थानीय सस्थायें तथा राज्य सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। ये इस प्रकार के नियमन भी बाजार अथवा मण्डी दरें समिति निश्चित करती है। इसके अलावा अनाधिकृत कटौती, जैसे—नमूना, धर्मादा आदि काटने की अनुमति नही है। यह अधिनियम इस समय आध्र, बम्बई, दिल्ली, केरल, मद्रास, उडीसा, पजाब और मध्य-प्रदेश मे लागू है और शेष राज्यो मे विधेयक बनाये जा रहे हैं।[1] मण्डियो की व्यवस्था में ये नये परिवर्तन हैं, जिससे कृषको को अनेक लाभ होते हैं। इस समय देश के सब राज्यो मे ५५० नियमित मण्डियो की स्थापना हो चुकी है।[2]

किन्तु अभी तक भारत मे नियन्त्रित मन्डियो से पूरा-पूरा लाभ प्राप्त नही हो सका। क्योकि जहाँ-जहाँ मन्डियो के नियमन करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ बडे-बडे व्यापारियो और मध्यस्थो ने प्रतिस्पर्धा द्वारा अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित करने के प्रयत्न किये। इसके अतिरिक्त विशेपक समिति के सिफारिश करने पर भी राज्य और जनता ने अभी तक नियन्त्रित मन्डियो की आवश्यकता और उपयोगिता को नही समझा है।

(२) तौल और बाँटो मे सुधार करना—अभी तक किसानो को शुद्ध सही बाँटो का पूरा लाभ नही मिल पाया है। अस्तु इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि मन्डियो में उपयुक्त होने वाले बाँटो के वजन मे समानता हो। इसलिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय और राजकीय सरकारें कानून द्वारा 'प्रमाणित

1 India 1958 pp 264
2, India 1959

(Standard) तोलो का उपयोग अनिवार्य करें। इसके साथ ही एक ऐसी सस्था भी स्थापित की जाय, जो समय-समय पर मन्डियो मे प्रयुक्त बाँटो का निरीक्षण करती रहे। मन्डियो मे भारतीय पद्धति के बाट, अर्थात् मन, सेर, छटाँक आदि ही काम मे लाये जायें। इन्ही बातो की पूर्ति के लिये भारत सरकार ने सन् १९३९ में प्रमाणित तोल विधान (Standards Weight Act) स्वीकृत किया। यह विधान १ जुलाई सन् १९४२ मे सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया तथा बम्बई के मिन्ट मास्टर द्वारा प्रमाणित तोल के बाँट सभी राज्य सरकारो को दिए गए। बम्बई, बिहार, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और पटियाला राज्य मे कानून द्वारा प्रमाणित तोलो का उपयोग अनिवार्य कर दिया गया। योजना आयोग का सुझाव है कि शेष सभी राज्यो में इस दिशा में उचित कार्यवाही होनी चाहिए।

नाप तोल की पद्धति मे समानता लाने के लिए १ अक्टूबर १९५८ से देश में नाप तोल की मेट्रिक प्रणाली कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे लागू की गई है। फिर भी इनमे से कुछ चुने हुए क्षेत्रो में वर्तमान बाँटो का चलन दो वर्ष अर्थात् ३० सितम्बर सन् १९६० तक होने दिया जायगा। यह प्रणाली क्रमश. और क्षेत्रो में भी लागू होती जाएगी और वहाँ भी दो तीन वर्ष दोनो प्रकार के बाट चलाने की सुविधा दी जायगी।

इस प्रणाली के पूर्ण रूप में लागू होने पर बाट तोलो की विविधता नष्ट हो जाएगी तथा कृषक को कम से कम एक असुविधा से मुक्ति मिल जायगी।"*

(३) कृषि-उत्पादन का श्रेणीयन—भारतीय बाजारो में कृषि वस्तुओ के श्रेणीयन का कोई साधन नही है। इस कारण शुद्ध फसल की बिक्री करने वाले कृषक को भी उतना ही मूल्य मिलता है, जितना कि ५% अशुद्ध फसल की बिक्री वाले किसान को। अत॰ यह आवश्यक है कि वस्तुओ का उचित श्रेणीयन किया जाय। इसी हेतु सरकार ने भिन्न भिन्न उपजो के सम्बन्ध मे अनुसधान करके यह अनुभव किया कि यदि विश्व के बाजार मे भारतीय उपज का अधिकतम् मूल्य प्राप्त करना है तो भारतीय उपजो का प्रमाणित श्रेणीयन करना आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य भी है। अत॰ सन् १९३७ मे कृषि वस्तु श्रेणीयन और बिक्री विधान (Agricultural Produce & Marketing Act) स्वीकृत किया गया, जिसके अन्तगत वस्तुओ के श्रेणीयन सम्बन्धी नियम लागू किये गये। सन् १९४२ ४३ मे इस विधान मे कुछ परिवतन किये गये। इस प्रकार अब इस कानून द्वारा फल, सब्जियाँ, चमडा, दूध, दही, घी, तम्बाकू, काफी, आटा, तिलहन, वनस्पति, तेल, रुई, चावल, गेहूँ, लाख, गुड, हर्र, बहेडा, बूरा, ऊन आदि वस्तुओ का श्रेणीयन किया जाता है। प्रत्येक श्रेणीकृत वस्तु पर आगमार्का मुहर लगा दी जाती है। इस प्रकार भारत मे प्रमापीकरण एव श्रेणी-यन के २८० केन्द्र हैं। प्रमापीकरण होने के कारण विदेशी बाजारो मे इनकी माग बढ रही है। सन् १९५७-५८ मे इन वस्तुओ का निर्यात २७ ५३ करोड रु० का तथा सन्

* नवभारत टाइम्स १ अक्टूबर सन् १९५८।

१६५८-५६ के पाच मास मे १२·६५ करोड रु० का हुआ। श्रेणीयन का जो कार्य अभी तक किया गया है, वह हमारे कृषि सगठन की व्यापकता को देखते हुए नगण्य ही है। अतः इस दिशा मे अधिक कार्य की आवश्यकता है।

(४) वाजार भावो की सूचना सम्वन्धी सुविधा—रॉयल कृषि कमीशन और केन्द्रीय विक्री विभाग के भिन्न-भिन्न अनुसन्धानो मे यह अनुभव किया गया कि सभी मन्डियो में भावो की दरो मे सामजस्य नही है, जिससे किसानो को हानि उठानी पडती है। आजकल कलकत्ता रेडियो द्वारा भावो सम्वन्धी सूचना प्रसारित की जाती है। वम्बई से सोना, चादी, गेहूँ, अलसी, रेंडी, मू गफली आदि के भाव दिल्ली से अनाज आदि, हापुड से गेहूँ, चना, जौ आदि के भाव भी प्रसारित किये जाते हैं। इन भावो का प्रसारित करना केन्द्रीय सरकार के विक्री विभाग द्वारा होता है। पिछले कुछ समय से जनता के लाभार्थ समाचार-पत्रो, वडे-वडे इश्तहारो तथा कृषि और औद्योगिक प्रदर्शनियो द्वारा यह विभाग अपना कार्य-विवरण प्रस्तुत करता रहा है। परन्तु गाँवो मे भी ये सूचनाएं कितने लोगो को मालूम होती हैं, इस सम्वन्ध में शका ही है, क्योकि अभी तक भारत के गाँवो में रेडियो नही हैं और दूसरे इन रेडियो का उपयोग किस लिए होता है, इस सम्वन्ध मे भी कोई जाँच नही होती है।

(५) गोदामो की सुविधाएं—गेहूँ की विक्री के सम्वन्ध मे की गई जाँचो द्वारा ज्ञात हुआ है कि फसल के पकने के बहुत ही थोडे समय के भीतर सग्रह की सुविधाओ के अभाव मे ६०-७०% तक उपज विक्री के लिए मन्डियो मे चली आती है, जिससे भावो मे काफी उतार हो जाता है। अत किसानो को अपनी फसल जल्दी न वेचनी पडे, इसलिए ऐसे गोदामो की आवश्यकता है। शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुएं जैसे—फल, सब्जियाँ, मछली, दूध, मक्खन, अन्डे आदि के लिए शीत भण्डारो की सुविधाएं होनी चाहिए।

इस सम्वन्ध में केन्द्रीय सरकार ने सन् १६४४ से गोदाम सचालक विभाग की स्थापना की है, जिसका कार्य सग्रह करने की वर्तमान अवस्थाओ और भविष्य के लिए सुझाव देने, सग्रह करने की पद्धतियो की सूचना देने एव राज्य सग्रह अधिकारियो को शिक्षा आदि देने का है। इसी विभाग के अन्तर्गत लगभग कई लाख टन अनाज सग्रह करने के लिए वम्बई, विजगापट्टम, कोयम्बटूर तथा मध्य-प्रदेश और उडीसा मे वडे-वडे गोदाम बनवाए गए हैं, परन्तु इससे कृषक को लाभ नही होता। इसलिए ग्रामीण साख सर्वे समिति ने गोदाम आदि की व्यवस्था के लिए एक विशेष कोष बनाने की सिफारिश की, जिसके अनुसार 'नेशनल कोऑपरेटिव डेवलपमैन्ट एण्ड वेअर हाउसिंग वोर्ड' तथा सैन्ट्रल वेअर हाउसिंग कॉर्पोरेशन की स्थापना की गई है। इस कॉर्पोरेशन ने अमरावती, गोदिया, सागली दावानगेरे में गोदाम सुविधाएं प्रदान की हैं। इसी के आधीन सात राज्यो मे स्टेट वेअर हाउसिंग कॉर्पोरेशनो की स्थापना की गई है। विहार, वम्वई मैसूर, राजस्थान, मद्रास, वगाल और उडीसा मे इस योजना के अन्तगत १ ५६ करोड रु० की लागत से सन् १६५८-५६ मे १,०६० गोदाम वनाए गए हैं।

(६) यातायात के साधानो का पर्याप्त विकास—फसल को मण्डियो तक ले जाने के लिए यातायात साधनो की उन्नति करना बहुत आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे राज्य और केन्द्रीय सरकारो को गाँव से मण्डियो तक पक्की सडको का निर्माण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसानो को गाडियो मे रबर के पहिये लगाने के लिए भी प्रोत्साहन देना चाहिए। इसी प्रकार रेल और जहाजी कम्पनियो द्वारा लिए जाने वाले भाडे में समानता होनी चाहिए तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ के यातायात के लिए रेलो में विशेष प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिए।

(७) सहकारी समितियो द्वारा वस्तु विक्रय—कृषि उपज विक्रय दोषो को दूर करने के लिए सन् १६१२ के सहकारी समिति विधान के अन्तर्गत सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित की गई। इस प्रकार की समितियाँ विशेषकर बम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश में पाई जाती हैं। विक्रय समितियाँ अपने उद्देश्य के अनुसार चार भागो में बाँटी जा सकती हैं —

(अ) कृषि उपज को खरीदने और बेचने वाली समितियाँ।
(ब) कृषि उत्पादन और विक्रय समितियाँ।
(स) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय की समितियाँ।
(द) कृषि उपज करने वाली समितिया।

ये समितिया या तो माल सीधे उत्पादनकर्त्ताओ से खरीद कर अथवा उत्पादको के एजेन्ट की भाँति उपभोक्ताओ को बेच देती हैं। ये समितियाँ एक या अनेक वस्तुओ का क्रय-विक्रय कर सकती हैं। भारत मे एक ही वस्तु का क्रय-विक्रय करने वाली समितिया बहुत अधिक हैं, जिनमे उत्तर-प्रदेश और बिहार की गन्ना क्रय-विक्रय और विकास समितियाँ तथा बम्बई की कपास ओटने और उसकी सफाई करने वाली समितियाँ मुख्य हैं।

सहकारी विपणन समितियो का विकास बम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश मे उल्लेखनीय है, किन्तु मैसूर, कुर्ग, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद तथा पजाब में भी ये समितियाँ पाई जाती हैं।

सहकारी विक्रय समितियों के कार्य—

(१) सदस्यो से कृषि वस्तुएँ और कुटीर उद्योगो का माल लेकर उनका वर्गीकरण और प्रमापीकरण कर सहकारी सघो को विक्रय के लिए देना।
(२) सदस्यो को उनके उत्पादन के बदले मे ऋण देना।
(३) सदस्यो का माल बेचने के लिए उनके प्रतिनिधि का कार्य करना।
(४) कुछ समितियाँ, विशेपकर मद्रास में, विक्रय के साथ-साथ ऋण और अन्य सुविधायें देने की व्यवस्था करती हैं।

(५) स्कूल, अस्पताल तथा सडको आदि का निर्माण कर समाज सेवा का काम करना ।

जिन राज्यो मे इन समितियो का विकास हुआ है, उनमे सदस्यो को कई लाभ हुए हैं :—

(अ) इनकी स्थापना से उत्पादक और उपभोक्ताओ के बीच दलालो की लम्बी शृंखला समाप्त हो गई है, क्योकि माल सीधा किसानो से खरीद कर उपभोक्ताओ को बेच दिया जाता है ।

(ब) ये समितियाँ छोटे-छोटे उत्पादको को न केवल आर्थिक सहायता ही देती हैं, बल्कि उन्हे समय समय पर उचित सलाह देकर व्यापारियो की दूषित प्रवृत्तियो से बचाती हैं ।

(स) माल बेचने मे किसान की शक्ति और समय में भी काफी बचत होती है ।

(द) उपभोक्ताओ को भी पहले की अपेक्षा अब अच्छे किस्म का माल मिलने लगा है, क्योकि समितियाँ उनका उचित रीति से वर्गीकरण करके परख लेती हैं । इसके अतिरिक्त माल मे मिलावट की कोई गुंजाइश नही रहती ।

सरैया (सहकारी) समिति के सुझाव—

श्री आर० जी० सरैया की अध्यक्षता मे नियुक्त एक सहकारी योजना समिति सन् १६४६ ने सहकारी विक्रय के सुधार के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :—

(अ) १० वर्ष के भीतर सभी कृषि पदार्थों का २५% भाग सहकारी विक्रय समितियो के द्वारा खरीदा और बेचा जाय । इस हेतु २,००० विक्रय समितियाँ, ११ प्रान्तीय विक्रय सघ तथा एक केन्द्रीय विक्रय सघ की स्थापना की जाय । इन सगठनो द्वारा कृषि वस्तुओ का सग्रह, आवश्यक प्रबन्ध, श्रेणीयन, यातायात और विक्रय हो ।

(आ) वस्तुओ के विक्रय और कृषि साख मे परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए, इसलिए इस प्रकार की समितिया स्थापित करनी चाहिए, जिनके सदस्य अनिवार्य रूप से अपना उत्पादन इन समितियो द्वारा ही बेचें । प्राथमिक समितियो द्वारा कृषि वस्तुओ का सग्रह और यातायात किया जाना चाहिए । ये समितियाँ माल इकट्ठा करके विक्रय समितियो को बेचें ।

(इ) प्रत्येक २,००० मण्डियो अथवा २० गाँवो के लिये एक विक्रय समिति होनी चाहिए । यह समिति अपने सदस्यो की वस्तुओ को बेचने तथा उस पर ऋण प्राप्त करने का कार्य करे । साथ ही, प्रत्येक समिति खाद, बीज आदि का भी प्रबन्ध करे ।

(ई) प्रत्येक राज्य में विक्रय सस्थाओ के सगठन, बाजार भावो के प्रकाशन

एव अन्तर्राज्य व्यापार के लिये एक राज्य विक्रय समिति की स्थापना हो। इस हेतु राज्य सरकार २ वर्ष के लिये कुल व्यय का ५०% भाग दें।

(उ) राज्य समितियो से सामजस्य के लिए अखिल भारतीय विक्रय सगठन की स्थापना की जाय, जिसका मुख्य काय विदेशी विक्रय सस्थाओ से सम्बन्ध स्थापित करना तथा बाजार भावो के सम्बन्ध मे सूचनाएं प्रकाशित करना हो।

भारत सरकार और कृषि उपज विक्रय सम्बन्धी कार्य—

सन् १९२८ मे शाही कृषि आयोग ने कृषि विक्रय सगठन के सम्बन्ध मे सुझाव रखे और इस बात पर जोर दिया था कि कृषि विभाग के अन्तर्गत एक विक्रय अधिकारी की नियुक्ति की जाय तथा विक्रय उप-विभाग सगठित किया जाय। सन् १९३० मे केन्द्रीय बैंकिंग जॉच समिति ने भी विक्रय सम्बन्धी सुझाव दिये, किन्तु आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण राज्य सरकारें इन सुझावो को कार्यान्वित न कर सकी। सन् १९३४ मे सबसे पहले केन्द्रीय सरकार ने एक विक्रय अधिकारी नियुक्त किया और इसी वर्ष केन्द्रीय सरकार ने एक प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन भी बुलवाया। इस सम्मेलन ने विक्रय सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिये निम्न मौलिक सुझाव रखे :—

(१) विदेशी उपभोक्ताओ और भारतीय उत्पादको के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिये देश और विदेश मे कृषि पदार्थों सम्बन्धी प्रकाशन और प्रचार का कार्य किया जाय।

(२) भारतीय कृषि उत्पादन क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयत्न किये जायें कि जिसमे कृषि पदार्थों की किस्म अधिक शुद्ध हो सके।

(३) केन्द्रीय सरकार और सहकारी समितिया कृषि-उत्पादन के सकलन और श्रेणीयन के लिये प्रबन्ध करें।

(४) सम्पूर्ण देश मे एक ही प्रकार के माप-तौल प्रचलित किये जायें।

(५) कृषि उत्पादन की मुख्य-मुख्य वस्तुओ के परीक्षण का आयोजन किया जाय।

(६) गाव में सहकारी समितियो द्वारा ग्रामीणो की आवश्यकताओ की पूर्ति करने हेतु सहकारी भण्डार खोले जायें।

इन सुझावो के आधार पर केन्द्र मे एक कृषि विक्रय विभाग की स्थापना की गई। इसमे एक कृषि विक्रय सलाहकार, ६ विक्रय अधिकारी और ११ सहायक विक्रय अधिकारी रखे गये। इस विभाग का कार्य कृषि वस्तुओ का परीक्षण करना, उनके सम्बन्ध मे प्रयोगशालाओ मे जाच करना और उनका श्रेणियन करना था। केन्द्र के

अतिरिक्त पश्चिमी बगाल, हैदराबाद, मैसूर, बम्बई, मध्यप्रदेश और पूर्वी पजाब मे भी इसी प्रकार के विभाग खोले जायें।

केन्द्रीय सरकार के इस विभाग के अन्तगत अभी तक गेहूँ, चावल, आलू, चना, जौ, अगूर, केले, रसायन, फल, अलसी, मूँगफली, चमडा, सुपारी, लाख, ऊन, शक्कर, दूध, घी, मछलिया, नारियल, अडे, कॉफी, इलायची, सरसो, राई और पशु आदि के सम्बन्ध मे विस्तृत परीक्षण किया गया तथा कई रिपोर्टें प्रकाशित की गई। इन रिपोर्टों मे इन वस्तुओ की उत्पादन प्रणाली, उत्पादन की मात्रा, उत्पादन क्षेत्र, उत्पादको की सख्या, उत्पादित वस्तुओ की क्रय-विक्रय प्रणाली तथा उनके मूल्य सम्बन्धी आवश्यक बातो पर प्रकाश डाला गया है।

योजना अवधि मे—

पच-वर्षीय योजना काल में कृषि उपज के विक्रय के लिए सहकारी समितियो के विकास पर बहुत जोर दिया गया था। नियन्त्रित मण्डियो के विकास, मण्डियो में कृषक सहकारी समितियो के अधिक प्रतिनिधित्व तथा प्रमाणित तौल अधिनियम को उचित रूप से लागू करने की योजना भी बनाई गई। तदनुसार मण्डी व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया और इस नई व्यवस्था के अनुसार ५२३ से अधिक मण्डियो का पुनगठन हुआ है। दूसरी योजना मे ५०० और मण्डियो का पुनर्गठन होगा, जिससे कृषको को लाभ पहुँचेगा।

दूसरी योजना मे भी सहकारी विक्रय पद्धति एव सहकारिता विकास का कार्य बढा दिया है। इस योजना मे ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिशो के अनुसार सहकारी आन्दोलन का विकास एव सगठन किया जायगा। कृषि विपणन क्षेत्र मे सन् १९५४ मे राज्य विपणन समितियो की सख्या १६, सहकारी विक्रय सघ और फेडरेशनो की सख्या २,१२५ तथा ९,००० प्राथमिक विक्रय सहकारी समितियाँ थी, जिन्होने सन् १९५३ ५४ मे लगभग ५२ करोड रु० का क्रय-विक्रय किया। दूसरी योजना के अनुसार १ केन्द्रीय वेअर हाउसिग कॉर्पोरेशन और १६ स्टेट वेअर हाउसिग कॉर्पोरेशनो की स्थापना का लक्ष्य है, जो देश के विभिन्न केन्द्रो मे १० लाख टन सग्रह क्षमता के २५० गोदामो का तथा सेन्ट्रल वेअर हाउसिग कॉर्पोरेशन १०० महत्त्वपूर्ण केन्द्रो पर बडे गोदामो का निर्माण करेगा। इन गोदामो की रसीदो को बेचान साध्य माना जायगा, जिनकी जमानत पर कृषको को बैंको से ऋण सुविधाएँ मिल सकेंगी। योजना की अवधि में विपणन सहकारी समितियाँ एव गोदामो के निर्माण का निम्न लक्ष्य है :—

(१) विपणन और क्रिया कलाप (Processing) करने वाली समितियाँ :

प्राथमिक विपणन समितियाँ	१,८००
सहकारी शक्कर कारखाने	३५
सहकारी कॉटन जिन (Gins)	४८
अन्य सहकारी प्रोसेसिंग समितियाँ	११८

(२) गोदाम और सग्रह .—

केन्द्र और राज्य कार्पोरेशनो के गोदाम	३५०
विपणन समितियो के गोदाम	१,५००
वृहत सहकारी समितियो के गोदाम	४,०००

इस योजना के अनुसार नेशनल कोआॅपरेटिव एण्ड डेवलपमेंट बोर्ड की स्थापना की गई है, जिसने योजना के प्रथम दो वर्षो मे राज्य सरकारो को विपणन सहकारी समितियो मे भाग लेने के लिए २०३ करोड रु० स्वीकृत किए। इसके अलावा २५१ नई विपणन समितियो की रजिस्ट्री की गई। साथ ही, जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके हैं, केन्द्रीय गोदाम कॉर्पोरेशन ने ६ वडे गोदामो की व्यवस्था चालू की है और बिहार, मैसूर, बम्बई, राजस्थान, प० बगाल, मद्रास एव उडीसा मे राज्य वेअर हाउसिंग कॉर्पोरेशनो की स्थापना हो गई है।

सन् १९६०-६१ की योजना में हाट व्यवस्था में सहकारी समितियो के लिए २९३ गोदाम और गांवो मे ७१३ गोदाम निर्माण की व्यवस्था है। इस समय इनकी सख्या क्रमश १,३६६ और ३,३४९ है। सन् १९६०-६१ के अन्त तक केन्द्रीय तथा राज्य गोदाम निगम भी ३३७ गोदामो मे माल रखने का प्रवन्ध करेंगे।[1] इस समय इनके क्रमश १९ और १४५ गोदाम हैं।[2]

निष्कर्ष—

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि उपज के विपणन की समुचित व्यवस्था के लिए मण्डियो का पुनर्गठन, नाप-तौल मे समानता के लिए मैट्रिक प्रणाली का आरम्भ, श्रेणीयन एव प्रमाणीकरण की प्रगति, गोदामो का निर्माण और सहकारी विक्रय समितियो के विस्तार मे मूलभूत और सराहनीय कार्य हो रहा है। इससे निश्चय ही कृपक को अपनी उपज का पूरा लाभ मिल सकेगा और वह अपनी आर्थिक उन्नति कर सकेगा।

इसके साथ ही वर्तमान सहकारी आन्दोलन के दोपो को दूर कर उनको कृषि के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए अखिल भारतीय सहकारी गोष्ठी ने निम्न महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं .—[3]

(१) कृपको को विपणन समितियो का पूर्ण लाभ होने के लिए इन समितियो की सदस्यता केवल कृपको को ही दी जावेगी तथा व्यापारियो को सदस्य न बनाया जाय। परन्तु अपवादात्मक रूप मे व्यापारियो को निम्न शर्तों पर सदस्यता दी जा सकती है —

(अ) वे सचालक सभा के लिए योग्य नही होगे।

---

1 भारतीय समाचार १५ अप्रेल सन् १९६०।

2 भारतीय समाचार १५ मई सन् १९६०।

3 "All India Co operative Seminar" Lucknow, September 27, 1958

(ब) उनको समिति से ऋण लेने का अधिकार नही रहेगा ।

(स) उनकी सख्या समिति की कुल सदस्य सख्या के एक निश्चित प्रतिशत से अधिक न हो ।

(२) सहकारी विपणन समितियो को निर्यात कोटा से पूर्ण लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय । इस हेतु निम्न सुझावो पर कार्यवाही हो .—

(अ) इन समितियो को निर्यात कोटा की अग्रिम सूचना दी जाय ।

(ब) शीर्ष सस्थाएँ (Apex Institutions) व्यापारिक निर्यात कोटा के हेतु उपज एव वस्तुओ का सग्रह रखे तथा इन समितियो को विदेशी बाजारो की सूचनाएँ सग्रहित कर उपलब्ध करें ।

(३) राष्ट्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय सहकारी विपणन सङ्गठन की स्थापना की जाय, जो :—(१) सहकारिता के माध्यम से अन्तर्राज्य और निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन दे एव (२) विपणन एव व्यापार करने वाली सहकारी समितियो को सुदृढ बनाने मे तथा निजी व्यापारिक हितो को प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए उनको सहायता दे ।

(४) राज्य सरकारो द्वारा भू-प्राप्ति अधिनियम के सङ्कटकालीन आयोजन सहकारी समितियो के पक्ष मे उन क्षेत्रो मे लागू किए जाएँ जहाँ उनको गोदामो के लिए समुचित स्थान नही मिलता । साथ ही, गोदामो के निर्माण के लिए लौह एव सीमेंट आदि निर्माण सामग्री उनको शीघ्र एव सुलभता मे मिल सके । इस हेतु विभिन्न राज्यो के सहकारिता रजिस्ट्रार के पास वितरण के हेतु निश्चित कोटा दिया जाय ।

(५) साख एव विपणन सहकारिता को सम्बन्धित करने के लिए बडी समितियाँ गाँवो मे विपणन पचायतदारो को नियुक्त करें, जो सदस्यो की उपज को सग्रह एव परिवहन की सुविधाएँ दें । इन पचायतदारो को विपणन समितियाँ अपने प्राप्त कमीशन का कुछ अश पारिश्रमिक के रूप मे दें ।

(६) विपणन समितियो (जोकि कच्चे आढतियो का कार्य करती है) के हितो की सुरक्षा के लिए समितियो की सचालक सभा द्वारा —

(अ) मान्य पक्के आढतियो की एक सूची रखी जाय ।

(ब) मान्य पक्के आढतियो की साख सीमा निश्चित की जाय, जिस सीमा मे ही उनमे व्यवहार हो ।

(स) विक्रयशील माल के मूल्य का कुछ भाग बोली लगाने वालो (Bidders) से विपणन समितियाँ जमा करावें तथा उनसे अपनी बोली को पूरा करने के सम्बन्ध मे अपने पक्ष मे एक समझौता कर लिया करें ।

(द) समितियो के गोदाम से पक्के आढतियो को माल ले जाने की अनुमति माल के पूर्ण मूल्य का भुगतान होने पर ही दी जाय ।*

इन सुझावो से निश्चित ही सहकारी विपणन पद्धति का सङ्गठन सुदृढ आधार पर होकर वे कृषको को अपनी उपयोगिता का परिचय दे सकेंगी ।

---

* All India Co operative Seminar Lucknow—Sept 27, 1958

अध्याय १२

भारत में अकाल

(Famines in India)

"भारत में दुर्भिक्ष प्रत्यक्ष रूप से वर्षा न होने के कारण पड़ते हैं, किन्तु इनकी भीषणता का कारण भारतीयों की निर्धनता है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

साधारण रूप में हम दुर्भिक्ष से अभिप्राय विस्तृत भू भाग मे खाद्यान्न के अभाव से लेते हैं। सन् १८६७ के दुर्भिक्ष-आयोग के अनुसार—"दुर्भिक्ष से तात्पर्य बहुत बड़ी जन-सख्या का क्षुधानल से पीडित होना है।" यद्यपि ऊँची कीमते, अर्द्ध-भूखापन और अस्वास्थ्यकर-भोजन की स्थिति तो यहाँ के लाखो व्यक्तियो के भाग्य मे लिखी हुई है फिर भी दुर्भिक्ष का अर्थ देश के एक बडे-भू-भाग में खाद्यान्न का अभाव होना है। प्राचीन काल मे दुर्भिक्ष से तात्पर्य दुःख और मृत्यु समझा जाता था, किन्तु आज उसका अर्थ वस्तुओ की महगाई और बेकारी है। वर्तमान दुर्भिक्ष धन के अभाव का सूचक हैं, न कि खाद्यान्न के अभाव का, क्योकि खाद्यान्न की कमी अन्न के आयात से पूरी की जा सकती है।

हिन्दू-काल मे दुर्भिक्ष—

भारत मे दुर्भिक्ष का आगमन कोई नई स्थिति नही है, दुर्भिक्ष हिन्दू-मुस्लिम और ब्रिटिश शासन-काल में बराबर पडते रहे हैं। हिन्दू-काल मे भारत मे कभी देश-व्यापी दुर्भिक्ष नही पडा। दुर्भिक्ष अपवाद माना जाता था। जब-जब दुर्भिक्ष होता था तब बहुत से समाधानकारी उपाय कार्य मे लाये जाते थे। चाणक्य अर्थशास्त्र मे दुर्भिक्ष-निवारण के निम्न उपाय बतलाये गये हैं :—

(१) कर न लेना, (२) देश छोडना, (३) राज्य द्वारा अन्न और धन से सहायता, (४) राज्य द्वारा झीलो, तालाबो और कुँओ का निर्माण, (५) अन्य भागो से अन्न का आयात और सहायता।

दसवी शताब्दी मे सन् ९१७ १८ के आस-पास जैसा कि कल्हण की राज-तरगिणी के वर्णन से ज्ञात होता है, काश्मीर मे इस दुर्भिक्ष का रूप देखा गया। वर्णन इस प्रकार है —"झेलम मे पानी दृष्टिगोचर नही होता था, बल्कि उसमे तो अनावश्यक-वस्तुएँ भरी हुई थी। भूमि हड्डियो से ढँकी हुई थी, जोकि श्मशान का कार्य कर रही थी। उसमे एक पीडा-जनक दृश्य दिखाई देता था। राजा, मन्त्री और रक्षक धनाढ्य बन गये, जिसका एक मात्र कारण ऊँची कीमतो पर माल बेचना था। राजा

ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाता था जो इस प्रकार का कार्य करके धन प्राप्त कर सका हो।"

मुसलमान-काल के इतिहासकारो ने भी कई अकालो का वर्णन किया है, जिनमे चार बहुत ही भयानक थे। पहिला अकाल सन् १३४३ मे पडा, जब मुहम्मद तुगलक भारत का सम्राट था। उसने हुक्म दिया कि देहली की जनता को ६ माह तक अन्न वितरण किया जाय। उसने भूमि आबाद करने और कुँए खोदने के लिए भी रुपया दिया।[1] अकबर के शासन-काल मे "सारे भारत मे सूखा पडा था तथा लगातार तीन-चार वर्ष तक अकाल पड़ा था। सम्राट ने हुक्म दिया कि जनता को अन्न दिया जाय तथा बडे-बडे शहरो मे अन्न वितरण किया जाय। नवाब शेखफरीद बोहरी इस कार्य के मुखिया नियुक्त हुये, जिसने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि जनता को आराम मिले।[2] शाहजहाँ के शासन-काल के पाचवे वर्ष में भी एक अकाल पड़ा, जो सबसे भयङ्कर था और जिसका प्रभाव सारे भारत पर पडा। इसके निवारण के लिए बडे बडे उपाय काम मे लाये गये :—५,०००) रुपया प्रति सोमवार दिल्ली के गरीबो मे तथा ५०,०००) रुपया अहमदाबाद मे वितरित किये जाते थे जहाँ कि अकाल की गहरी छाया पडी थी। इसके अतिरिक्त अन्न वितरित किया गया तथा ७० लाख रुपये का कर माफ कर दिया गया। ऐसा ही अकाल औरगजेब के शासन-काल में भी पडा था, जिसका वर्णन जेम्स मिल ने किया है :—"औरगजेब ने अपनी चतुराई से अकाल को रोकने का प्रयत्न किया तथा राज्य-कोष खोल दिया था। राज्य ने जिस प्रान्त मे अधिक अन्न था वहाँ से खरीद कर अभावपूर्ण भागो मे वितरण किया तथा किसानो के लगान माफ कर दिए गए।"

ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के शासन-काल मे दुर्भिक्ष—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल मे "सारे भारतवर्ष मे छोटे-मोटे १२ अकाल तथा ४ बड़े अकाल पडे।"[3] पहिला अकाल सन् १६३० का था, जिसमे गुजरात की लगभग $\frac{1}{3}$ जन-सख्या नष्ट हुई तथा कई शहर व जिले उजड गए। सर डब्ल्यू० हण्टर ने इस अकाल का वर्णन इस प्रकार किया है :—"जीवित व्यक्तियो को देखा नही जा सकता, किन्तु हड्डियो का ढेर देखा जा सकता था। ऐसे सैकडो व्यक्तियो का ढेर देखा जा सकता था कि जिन्हे जलाने वाला कोई नही था। अकेले सूरत नगर मे ही ३० हजार व्यक्तियो की मृत्यु हुई तथा उसके साथ ही रोगो का प्रकोप हुआ, जिससे वहाँ के निवासियो ने पशुओ को साथ लेकर उन भागो को छोड दिया, परन्तु वे रास्ते मे ही कालवश हो गये। बहुतो ने तो अपने आपको गुलामो के रूप में बेचा तथा मनुष्य मास का भक्षण भी किया। एक रोटी के टुकडे के लिए जीवन अर्पित किया

---

१ इलियट "भारत का इतिहास"
२ डॉसन "भारत का इतिहास"
३. अकाल —आयोग रिपोर्ट सन् १९०१।

जाता था, किन्तु कोई खरीदार न था। हमेशा दाता के रूप मे रहने वाला व्यक्ति आज टुकड़े टुकड़े के लिए तरसता था। उन पैरो को जो हमेशा सन्तोषपूर्ण पयटन करते थे, आज मरने के लिए प्रस्थान कर रहे थे।"

इस काल का सबसे बड़ा अकाल सन् १७७० में पड़ा था, जिसके बारे मे सर हन्टर इस प्रकार वर्णन करते हैं :—"सन् १७७० की धधकती ग्रीष्म ऋतु में लोग मर रहे थे। किसानो ने अपने पशुओ को बेच दिया था तथा इसके साथ ही साथ उन्होने अपने औजार, अपना अन्न, अपने पुत्र पुत्रियो को भी बेचा और तब तक बेचना चालू रखा जब तक उनका खरीदना बन्द न हुआ। मनुष्यो ने वृक्षो की पत्तियो और मैदान के चारे को अपना भोजन बनाया। सन् १७७० के जून माह मे दरबार के रेजीडेन्ट ने इस तथ्य को प्रगट किया कि लोग भोजन के अभाव मे मृत्यु के ग्रास बनते चले जा रहे हैं तथा बड़े बड़े शहरो मे रोग के प्रभाव से भी मरते चले जा रहे हैं और जिनका जीवन कुत्तो एव गीदड़ो के समान हो गया था। जन सेवक और राज्य-कर्मचारी भी उनके जीवन को बचाने मे अपने को असमर्थ पा रहे हैं। इस प्रकार लाखो व्यक्तियो का जीवन सकट मे था। यद्यपि सन् १७६९ मे अकाल के सभी चिन्ह दृष्टिगोचर हो गये थे, किन्तु फिर भी उसके रोकने के लिए कुछ भी नही किया गया। साथ ही जब अकाल का ताडव नृत्य हो रहा था उसके निवारण के लिए कोई उपाय नही किया गया, जिससे सकट दूर हो।†

सन् १७८१ और सन् १७८२ के वर्ष मद्रास में अकाल के थे। सन् १७८४ में उत्तरी भारत मे अकाल पड़ा। मद्रास और हैदराबाद में सन् १७९१ मे सूखा पड़ा, परिणाम-स्वरूप सन् १७९२ मे भयङ्कर अकाल पड़ा। यह प्रथम अवसर था जब मद्रास सरकार ने राहत कार्य चालू किये। सन् १८०२-३ मे बम्बई और मद्रास मे अन्न का सकट था तथा उसके अगले वर्ष ही उत्तर-भारत मे अकाल पड़ा, जिसमे उत्तरी-पश्चिमी भाग और अवध का भाग था। इस समय जो राहत-कार्य (Relief Work) चालू किये गए उनमे लगान माफ करना, भूमिधरो को तकावी देना तथा बनारस आदि शहरो मे अन्न का आयात किया गया। सन् १८०६ मे मद्रास के कई भागो में अन्न सकट था।

दूसरा बड़ा दुर्भिक्ष सन् १८३३ का था, जिसे 'गन्तूर दुर्भिक्ष' के नाम से जाना जा सकता है। इससे मद्रास प्रान्त के उत्तरी जिले और महाराष्ट्र का दक्षिणी भाग तथा मैसूर और हैदराबाद के क्षेत्र प्रभावित हुए थे। सरकार द्वारा स्थिति की गम्भीरता उस समय तक नही आँकी गई जब तक कि ५,००,००० की आबादी वाले गन्तूर में २,००,००० व्यक्ति काल कवलित हो गए। सन् १८३९ में उत्तरी भारत मे अकाल पड़ा, जिसमे अनुमान है कि ८,००,००० व्यक्ति मरे। यद्यपि सरकार द्वारा सहायता कार्य चालू किया गया था, जिसका खर्च सन् १८३८ में ३८ लाख रुपया था, किन्तु

† लार्ड-मॅकाले —"ऐतिहासिक निबन्ध"।

इस प्रकार के राहत कार्यों का कोई सन्तोपजनक परिणाम नही निकला । सन् १८५४ मे उत्तरी मद्रास मे एक और अकाल पड़ा ।

ब्रिटिश काल मे दुर्भिक्ष—

भारत का शासन सन् १८५७ के पश्चात् कम्पनी से ब्रिटिश सरकार को हस्तान्तरित कर दिया गया । इस काल मे दस बड़े अकाल और कई छोटे-छोटे अकाल पड़े, जिनका सक्षिप्त वर्णन निम्न तालिका मे है :—

अकालो की सक्षिप्त तालिका

वर्ष	प्रभावित भाग	सक्षिप्त प्रभाव	टिपप्णी
१८६०-६१	दिल्ली व आगरा	१३० लाख व्यक्ति मरे	घर पर ही सहायता पहुँचाई गई तथा सर्व प्रथम सरकार ने अकाल के कारणो का अध्ययन करने की रुचि प्रदर्शित की । इस हेतु कर्नल वेअर्ड स्मिथ की नियुक्ति ।
१८६५-६७	मानभूमि व सिन्ध भूमि के भाग (विहार), गजम जिला (मद्रास) तथा उडीसा ।	१० लाख व्यक्तियो की मृत्यु तथा ४७० लाख व्यक्ति प्रभावित हुए ।	१४० लाख रुपये सहायता कार्य में व्यय ।
१८६८-६९	राजपूताना और मध्य-भारत ।	१० लाख व्यक्तियो का स्थानान्तरण ।	६५ लाख पौंड की सहायता दी गई ।
१८७३	पूर्वी विहार एव उत्तर-प्रदेश ।	—	१७ करोड रु० का सहायता कार्य तथा सर जॉन स्ट्रेची की अकाल वीमा योजना ।
१८७६-७८	मद्रास, वम्बई, उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत के कुछ भाग, पजाव ।	२५७ हजार वर्ग मील का क्षेत्र तथा ५४५ लाख जनसख्या प्रभावित हुई	सहायता कार्य में ८½ करोड रु० व्यय ।
१८९६-९७	वम्बई, मद्रास, मध्य-भारत ।	३०७ हजार वर्ग-मील क्षेत्र तथा ६	७.२७ करोड रु०, १८० लाख टन अनाज की

		करोड व्यक्ति प्रभावित एव ७५० हजार की मृत्यु।	सहायता तथा १¼ करोड रु० का लगान माफ किया गया।
१८९९-१९००	वम्बई, मध्यभारत, प० वगाल, वरार, मध्यप्रदेश।	४७५ हजार वर्गमील क्षेत्र तथा ५९५ लाख व्यक्ति प्रभवित।	१० करोड रु० की सहायता, फिर भी १,२३६ हजार व्यक्तियो की मृत्यु।

१९०० के वाद—

अकालो की अधिकता ने ब्रिटिश सरकार को कृपि विकास एव सिंचाई साधनो में सुधार करने के लिए वाध्य किया। इससे अकाल के स्वरूप मे परिवर्तन हो गया अर्थात् अकाल मे खाद्यान्न का अभाव नही होता था अपितु जनता के पास क्रयशक्ति की कमी हो जाती थी। साथ ही, अकाल सम्वन्धी सहायता कार्य ने की भीपणता कम कर दी।

सन् १९०० के पश्चात् कई छोटे-छोटे अकाल पडे, किन्तु वे सब स्थानीय थे, परन्तु सन् १९०६ ७ और सन् १९०७-८ के अधिक प्रसिद्ध हैं। पहला अकाल उत्तर-प्रदेश मे वर्षा की कमी और वुन्देलखण्ड मे फसल के खराव हो जाने से पडा। सन् १९०७ में मानसून के असफल होने से दूसरा अकाल पडा और तव तक चालू रहा जव तक वर्षा से फसलें ठीक नही हो गयी। सन् १९१३-१४ मे उत्तर-प्रदेश, वुन्देलखण्ड, झाँसी, आगरा और इलाहावाद क्षेत्र मे अकाल पडा, क्योकि इसका एकमात्र कारण था उस समय वर्षा का अभाव। जनता-आन्दोलन का वल इतना अधिक था कि लगभग ६० लाख व्यक्तियो को वरावर सहायता मिलती रही तथा तकावी वाँटो गई औद्योगिक तथा सार्वजनिक कायकर्ताओ ने लोगो को काम दिया। फलत मजदूरी भी वढा दी गई। परन्तु जनता का आन्दोलन वल पकडता ही रहा। वहुत वडी सख्या में लोग असम, सीलोन, मलाया, पश्चिमी भाग, वेस्ट-इण्डीज, फिजी, नैटाल और मारीशस टापुओ मे जाकर वस गये।

सन् १९२०-२१ मे मद्रास, मध्य-प्रदेश, पजाव, मध्य-भारत और वगाल मे अकाल पडा, किन्तु सहायता कार्य कुल प्रभावित जन सख्या का ३ प्रतिशत ही था (प्रभावित जन-सख्या ४ करोड ५० लाख थी), अत जैसा श्री नोल्स का कहना है :—"जव तक जन-सख्या गतिशील न हो, उसे उद्योग धन्धो और कारखानो मे कार्य न मिले, रेलवे और सिंचाई की व्यवस्था न हो, अकाल से उसे राहत मिलेगी, यह आशा नही की जा सकती।*

सन् १९४३ में वगाल का भीपण दुर्भिक्ष—

सन् १९४३ मे वगाल के भीपण दुर्भिक्ष ने हमारा आशावाद मिट्टी मे मिला

* Economic Development of British Empire—Knowles

दिया, क्योंकि यह अकाल बीसवी शताब्दी का सबसे भीषण अकाल था। सन् १९४२ मे ब्रह्मा के जापान को आत्म समर्पण के कारण वहाँ से अनेक शरणार्थी बगाल एव उडीसा में आये और साथ ही वहाँ से भारत में चावल का जो आयात होता था वह भी बन्द हो गया। इस कारण बगाल और उडीसा के सीमित साधनो में अभाव हो गया हो तो आश्चर्य की बात नही। इसी प्रकार युद्ध के खतरे के प्रदेश से अन्न का हटाया जाना, नावो का नष्ट होना और हटाने के कार्य ने १५ लाख व्यक्तियो और १ लाख पशुओ की जीवन लीला ही समाप्त कर दी। ब्रह्मा के विभक्त होने से जो चावल की कमी हो गई थी उस स्थिति पर काबू पाने के लिए चारागाहो को कृषि भूमि में परिणित किया गया, जिससे स्थिति में सुधार हो सके। सन् १९४३ के प्रारम्भ में अन्न अभाव के चिन्ह स्पष्ट होने लगे थे, क्योंकि चावल की कीमतें व्यापारियों द्वारा असीमित सग्रह एव सटोरियो की क्रियाओ के कारण आकाश को छू रही थी और दिसम्बर सन् १९४२ के फसल के कुछ सप्ताहो बाद ही कीमतें काफी ऊँची हो गई।[१] अनेक स्थानो पर नियन्त्रण आदि के कारण अनाज का प्रदाय होना ही बन्द हो गया। इसके अलावा युद्ध काय में रेल यातायात सलग्न होने के कारण अन्न के आवागमन में अनेक अडचनें थी। इन कारणो से बगाल में अकाल के लक्षण प्रतीत होने लगे तथा समाचार पत्रो ने भी स्थानीय सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। बगाल दुर्भिक्ष के लिए निम्न कारण जिम्मेवार हैं :—

(१) सन १९४२ मे ब्रह्मा का जापान को आत्म समर्पण।
(२) भावी मुद्रा स्फीति के कारण मूल्य-स्तर बढना।
(३) भारत के ऊपर हमला होने के डर के कारण सैनिक अधिकारियों की नकारात्मक नीति (Denial Policy)। इस नीति के कारण खाद्यान्न का सग्रह बगाल से हटाना, नावो पर सैनिक अधिकार होना, जिससे यातायात के थोडे से साधन भी दुर्लभ हो गये।
(४) भारी तूफान के कारण मिदनापुर, बारीलाल, चौबीस परगना और और दीनाजपुर जिलो के चावल की फसलो की हानि।
(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा लका को चावल का निर्यात करना।
(६) तत्कालीन परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए व्यापारियो की सग्रह नीति तथा काले बाजार की प्रवृत्ति।
(८) युद्ध के कारण यातायात साधनो का उपयोग युद्ध कार्य के लिये किया जा रहा था, इसलिए अन्न का यातायात दुर्लभ हो गया।
(८) सरकार के वितरण सगठन का असफल कार्य।[२]

---

१ थोक कीमतें—चावल (रुपयों में प्रति मन) उच्चांक

१९३९-४०	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	उच्चांक
४।-)॥।	४॥)	६।)	१७॥-)॥	३४)

२ वुडहैड आयोग के वृत्त लेख से।

इन कारणो से बगाल में अकाल का भीषण नृत्य हुआ, जो जन एव पशु जीवन की हानि से स्पष्ट है। इस स्थिति के लिए तत्कालीन शासन पर ही जिम्मेवारी आती है। लार्ड एमरी के शब्दो में लगभग १० लाख व्यक्ति मृत्यु के गाल मे गये, किन्तु अन्य आधारो के अनुसार साप्ताहिक मृत्यु सख्या ५०,००० थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एन्थ्रापॉलॉजी विभाग की खोज के अनुसार लगभग ३२½ लाख व्यक्ति काल-कवलित हुए। इसके अलावा भूख एव रोग पीडित मानवो की सख्या भयावह थी। अकाल के प्रवाह मे आत्महत्या की ही बाढ नही आई अपितु हैजा, मलेरिया, प्लेग और अनैतिकता ने भी अपना हाथ फैलाया। जनरल स्टुअर्ड के अनुसार—"अस्वास्थ्यकर भोजन, शीत के बढने का प्रभाव, कपडो एव कम्बलो के अभाव ने गरीब जनता को मलेरिया, हैजा, प्लेग आदि का शिकार बना दिया और निमोनिया साधारण हो गया। ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास के गाँवो मे भयानक स्थिति थी।" जे० के० मित्तल, अध्यक्ष बङ्गाल नेशनल चेम्बर ऑफ कॉमर्स के अनुसार "ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे बडा और दूसरा नगर कलकत्ता आज भूखे और नगे लोगो का शिकारगाह बन रहा है। कलकत्ते से भी अधिक दयनीय दशा आस-पास के गाँवो में थी, जहाँ गरीबी के कारण लोग अपने प्रियजनो की अन्तिम क्रिया भी नही कर सकते थे, इसलिये लाशो को नदी या नालो मे फेंका जाता था। बङ्गाल की कई सुन्दर नदियाँ और नाले अपने अन्तस्तल मे भूखे और नङ्गो को लिए चल रहे थे। गीदडो के लिए भोजन था, इसलिए कई सुन्दर चेहरे रगड जाने एव नोचे जाने के कारण पहचाने भी नही जाते थे।" केवल इतना ही पर्याप्त न था, अपितु बालक और बडो को भी बेचा गया था। यूनाइटेड प्रेस के अनुसार नाव्राकोना से ३ से १३ वर्ष की आयु की लडकियो को वैश्यालयो मे अनैतिक रीति से बेचा जाता था, जिनकी खरीद की दर १॥) रुपया थी। क्षुधानल ने महिलाओ को एक समय भोजन के लिए शरीर-विक्रय के लिए भी बाध्य कर दिया था और यह हालत इतनी खराब थी कि बङ्गाल की जनता की क्रय शक्ति ही समाप्त हो गई। इस अकाल मे असख्य विधवायें, लडकियाँ और अनाथ लाचार से घूम रहे थे। आर्थिक एव भोज्य स्थिति ने युवा, वृद्ध स्त्रियो को शील-विक्रय के लिए बाध्य कर मातृत्व शक्ति के लिए एक सङ्कट उपस्थित कर दिया। इस सङ्कट ने देश को यह चेतावनी दी कि यदि समय पर काम न किया गया तो सम्पूर्ण भारत को अन्न सकट का सामना करना पडेगा।

अकाल निवारण के प्रयत्न (Remedial Measures)—

बङ्गाल में अकाल निवारण के लिए प्रारम्भ मे सरकार की ओर से कोई भी कार्यवाही नही की गई, परन्तु अकाल की भीषणता व जनता की आवाज से सरकार को भी अकाल निवारण के लिए प्रयत्न करने पडे। इस प्रकार के समय-समय पर आने वाले सकट दो बातें सूचित करते हैं (१) यह कि अकाल ग्रस्त क्षेत्रो मे शीघ्र एव समुचित सहायता कार्य (Relief Work) किया जाय तथा (२) इस प्रकार के सकटो की पुनरावृत्ति रोकने के लिए दीर्घकालीन योजना बनाकर कृषि सम्बन्धी स्थायी सुधार किए जाएँ। बङ्गाल मे तत्कालीन स्थिति को सुलझाने के लिए अनेक भोजनालय चालू

किये गये। सरकारी आँकडो के अनुसार ५,४४१ भोजनालय थे,-जिनमें से ३,१२१ सरकार, १,२४७ सरकारी सहायता प्राप्त तथा ५४७ निजी व्यक्तियो के थे। परन्तु भोजनालयो की यह सख्या कम ही थी, क्योकि उसमे भी भूख से पीडितो को उनके दैनिक जीवन का आधा भोजन ही मिलता था। साराश मे, "सहायतार्थ भोजनालय आदमियो को वेचने वाली सस्थाए न होते हुए उन्होने मरने वाले व्यक्तियो को कुछ दिन और अधिक ठहराया। इस तरह यह चिता के पहले का पत्थर था।"[1]

इस अकाल मे सहायता के लिए बगाल सरकार ने लगभग १,१५० लाख रुपया खर्च किया, जिसमें से ५ करोड रुपया अन्न एव वस्त्र वितरण तथा भोजनालयो की स्थापना मे खर्च हुआ। २ करोड से अधिक रुपया पीडित व्यक्तियो को ऋण देने में खर्च हुआ और लगभग ५० लाख रुपया रोग निवारण कार्य मे खर्च हुआ। साथ ही, सरकार को सस्ता अनाज वेचने मे ४ करोड रुपये की हानि उठानी पडी।

सन् १९४३ मे बम्बई, ट्रावनकोर-कोचीन मे भी खाद्य परिस्थिति गम्भीर थी, परन्तु ट्रावनकोर-कोचीन सरकार ने चावल और पैडी के सग्रह पर अधिकार ले लिया और स्थिति पर काबू पा लिया। इसी प्रकार बम्बई प्रान्त ने भी २ मई सन् १९४३ से खाद्य नियन्त्रण लागू कर दिया। इस कारण वङ्गाल की तरह स्थिति इन प्रदेशो में नही हुई। इसके पश्चात् भारत मे खाद्य अभाव वरावर वना रहा, जिसने कही कही अकाल का सूक्ष्म रूप—जैसे सन् १९४६ मे बम्बई और मद्रास मे—धारण किया। परन्तु सरकार की सतर्कता एव सामयिक सहायता कार्य के कारण उसका शीघ्र निवारण हो गया। गत वर्षो से भारत वरावर खाद्य सकट से गुजर रहा है, जिसके लिए अवर्षा, जन सख्या की वृद्धि, नदियो की बाढ आदि नैसर्गिक कारण तथा खाद्य सम्बन्धी दोषपूर्ण नीति जिम्मेवार हैं, जिस कारण अकाल की आशका उपस्थित हो जाती है।[2] उदाहरणार्थ आन्ध्र प्रदेश मे अगस्त सन् १९६० मे अकाल की आशका।

इस स्थिति मे अपवाद केवल सन् १९५४ का वर्ष था, जब भारत इस सम्बन्ध मे निश्चिन्त रहा, जैसा कि तत्कालीन खाद्य मन्त्री श्री रफी अहमद किदवई के शब्दो से स्पष्ट है कि "यदि आज की भाँति हमारी खाद्य स्थिति सन्तोष-प्रद रहती है तो अनाज पर जो नियन्त्रण हैं व हे भी उठा दिया जायगा।"[3] परन्तु खेद है कि श्री रफी अहमद किदवई के बाद इस महत्त्वपूर्ण भार को सम्भालने मे हमारे खाद्य मन्त्री असफल रहे। फलस्वरूप सन् १९५८ में खाद्य स्थिति शोचनीय हो गई, विशेषतः विहार, उत्तर-प्रदेश और वंगाल मे। इसकी पुष्टि खाद्य मन्त्री के लोक सभा के इस कथन से भी होती है कि "आगामी ६ से ८ सप्ताह भारत के लिए अत्यन्त कठिन हैं। कारण, खाद्यान्न उत्पादन की गम्भीर कमी और खाद्यान्न के भावो मे वृद्धि इस वर्ष अन्य वर्षो की अपेक्षा

---

1 Bombay Chronical
2 नवभारत टाइम्स १९-८-१९६०, पृ० ४।
3 Amrit Bazar Patrika, 16-4-54

अधिक रही है।"[1] "सन् १९५० से सन् १९५७ के वर्षों मे कृषि उत्पादन मे वार्षिक वृद्धि २ से २.५% रही, जो आर्थिक विकास की वृहत योजना के लिए उत्साहवर्द्धक नही है, इसलिए देश मे 'कृषक उत्पादन परिषद्' की आवश्यकता है, जो प्रत्येक ग्राम के कृषि उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करे एव उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक सगठन निर्माण करे।"[2] तभी भारत की भावी दुर्भिक्षो से रक्षा हो सकेगी।

अकाल एक सर्वकालिक संकट है—

विवेचन से स्पष्ट है कि भारत मे अकाल एक सर्वकालीन सकट है, जो देश को बार-बार ग्रस लेता है। सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग के अनुसार "सात अच्छी फसलों के बाद दो फसलें खराब होती हैं और जन सख्या का लगभग १/१२ भाग अकाल द्वारा नष्ट हो जाता है।" कुछ प्रान्तो में वह आफत और अधिक मात्रा मे है और कुछ मे कम, किन्तु वर्ष मे यह निश्चित है कि देश के किसी न किसी भाग में इस प्रकार खाद्य-अभाव होना एक स्वाभाविक बात है। बडे अकाल अनियमित रूप से आते हैं, परन्तु उनकी चेतावनी पहिले से ही मिल जाती है। फिर भी देश की विशालता और विविधता के कारण सम्पूर्ण देश मे अकाल का भीषण नृत्य नही होगा। "इतिहास इस बात का कोई प्रमाण उपस्थित नही करता, जब सम्पूर्ण देश मे अवर्षा हुई हो। समुद्र शास्त्री भी इस प्रकार की घटना असम्भव मानते हैं।" अत ऐसे सर्वकालिक सकट से बचने के लिए देशव्यापी दीर्घकालीन योजना से ही सफलता मिल सकती है—अल्पकालीन उपायो से अल्पकालीन कार्य की ही पूर्ति होगी।

अकाल के लक्षण—

अकाल के पूर्व चिन्हो मे अवर्षण यह पहला चिन्ह है। इसके साथ ही किन्ही नैसर्गिक कारणो से अथवा कीडे-मकोडो, टिड्डी दलो द्वारा फसलो का नष्ट होना यह दूसरा चिन्ह है। इसके अलावा अन्न धान्य की कीमतें चढना, रोजगारी के अवसर न्यूनतम होना और भिखमङ्गो की सख्या मे वृद्धि होना तथा ऋण प्रदायक राशि का अभाव ये अकाल का आगमन सूचित करते हैं। ऐसे ही समय मे धर्मार्थ कार्यो मे चोरी एव डाकेजनी में वृद्धि होती है, जो देश मे अथवा सम्बन्धित भाग मे असन्तोष, बेकारी एव अन्न की कमी की ओर सकेत करती है। जनता का स्वास्थ्य खराब होना और रोगो की भरमार, रोग-ग्रस्त व्यक्तियो की अधिकता, व्यापारियो द्वारा अन्न सग्रह (Hoarding) तथा जनता का एक क्षेत्र छोडकर दूसरे क्षेत्र मे जाना ये अकाल के आगमन के स्पष्ट लक्षण होते हैं। यदि इन लक्षणो से सावधान होकर यथासमय उचित कार्यवाही न की गई तो ऐसे व्यक्तियों को ही अकाल का शिकार पहले होना पडता है, क्योकि उनके साधन अपर्याप्त ही नही अपितु नही के बराबर होते हैं। इसलिए इन लक्षणो के आते ही सहायता कार्य आरम्भ हो जाना चाहिए।

---

1 Lok Sabha Debate dated 20th Aug. 1958.

2 The Modern Review Aug 1958, p 93

अकाल के कारण—

अकाल के कारणो का वर्गीकरण मोटे रूप मे आकस्मिक एव सर्वकालिक कारणो मे किया जा सकता है। आकस्मिक कारणो मे अवर्षा, टिड्डियो का आक्रमण आदि हैं। दूसरी ओर सर्वकालिक कारण साधारणत. आर्थिक कारण ही होते हैं। इनकी विवेचना हम करेंगे :—

आकस्मिक कारण—

अकालो के आकस्मिक अथवा प्रत्यक्ष कारणो मे अवर्षा, अति वर्षा, नदियो की बाढ, कीटाणु अथवा टिड्डी दलो द्वारा फसलो की खराबी आदि मुख्य कारण हैं :—

(१) अवर्षा एव अति वर्षा—भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषता यह है कि हमारी कृषि 'मानसून का जुआ' है, अर्थात् यदि उपयुक्त एव उचित समय पर पर्याप्त वर्षा होती है तो ठीक है, अन्यथा कृषि कार्य मे बाधा होती है। प्रत्येक ५ वर्ष में एक वर्ष सूखा अथवा अवर्षा का तथा प्रत्येक १० वर्ष में एक वर्ष अकाल एव कठिनाइयो का वर्ष होता है। इसी प्रकार अति वर्षा मे खड़ी फसलें नष्ट हो जाती हैं, जैसा कि सन् १९६० की भीषण वर्षा के कारण हो रहा है। अत. कृषि उद्योग की समृद्धि के लिए अवर्षा एव अति वर्षा, दोनो ही हानिकर हैं।

(२) नदियो मे बाढ—अति वर्षा से कृषि फसलो की तो हानि होती ही है परन्तु साथ ही नदियो वगैरह मे बाढ आ जाती है, जिससे आस पास का प्रदेश जल मग्न हो जाता है। सन् १९५८ मे ही सितम्बर की अति वर्षा के कारण पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के १७,००० गाँवो को हानि हुई। यह हानि केवल उत्तर-प्रदेश में ही नही अपितु बिहार और दिल्ली क्षेत्रो मे भी हुई। इसी प्रकार सन् १९६० अगस्त की अति वर्षा से बिहार, उडीसा, पजाब तथा दिल्ली के हजारो गाँव प्रभावित हुए हैं। इसमे कितनी हानि हुई है, इसके अनुमान उपलब्ध नही हैं।

(३) जगल सफाई—जगल की उपयोगिता का वर्षा एव भूमि पर प्रभाव पडता है। जगलो के क्षेत्र मे वर्षा भी होती है और साथ ही जगल भूमि का कटाव रोकते हैं तथा भूमि मे नमी बनाये रखते हैं। परन्तु सुधार कार्यक्रम और शहरो के विकास कार्यक्रमो की ऐसी धूम मची है कि जगलो की उपयोगिता की ओर ध्यान ही नही दिया जाता। श्री मुन्शी ने, जब वे खाद्य मन्त्री थे, वन महोत्सव आरम्भ किया था, जिससे जगलो का विकास हो। परन्तु वही वन महोत्सव अब एक पर्व की भाँति मनाया जाता है, जिसका तत्कालिक महत्त्व होता है, सर्वकालिक नही।

(४) कीटाणुओ एव जानवरो आदि से फसलो की हानि—भारतीय कृषक को कीट नाशक द्रव्यो की जानकारी न होने से तथा उसकी धार्मिकता के कारण वह फसलो को लगने वाले कीडो आदि से रक्षा नही कर पाता, जिससे फसलो की खराबी होती है। इसके साथ ही खेतो पर सीमाबन्दी न होने के कारण गाय, बैल एव जगली पशु फसलो को काफी हानि पहुँचाते हैं। फसलो की बीमारियो से उत्पादन गिरता है, जिससे अकाल हो सकता है।

(५) भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास—भारतीय भूमि की उपजाऊ शक्ति कम होना ही अकालो का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। भारत की प्रति एकड उपज प्रति वर्ष गिरती जा रही है, किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि "भारतीय भूमि अन्य देशो से किसी तरह निकृष्ट नही है।"[१] सिफ आवश्यकता समुचित कृषि पद्धति अपनाने की एव पर्याप्त खाद देने की है।

इन नैसर्गिक कठिनाइयो को दूर करने के लिए सिंचाई सुविधाओ एव बाढ नियन्त्रण कार्य मे काफी प्रगति हुई और हो रही है।[२]

आर्थिक (सर्वकालिक) कारण -

(१) परिवहन सुविधाओ का अभाव—सन् १८०० तक के अकालो मे अधिकतर परिवहन साधनो की कमी के कारण भीषणता रही, क्योकि अधिक अन्न वाले भागो से कम अन्न वाले क्षेत्रो मे अनाज नही पहुँचाया जा सकता था। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के अकाल मे (सन् १८३३ मे) आगरे मे १३½ सेर प्रति रु० गेहूँ था, जबकि खानदेश में ३१ सेर प्रति रुपया था। आज भी भारत मे अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहा अकाल की स्थिति मे शीघ्रता से अनाज नही पहुँचाया जा सकता। ऐसे क्षेत्रो मे अनाज की समस्या हल करने के लिए भारत सरकार ने सितम्बर सन् १९५८ मे एक आयोग की नियुक्ति की थी,[3] जो परिवहन सुविधाएँ बढाने की आवश्यकता की ओर सकेत है।

(२) दरिद्रता—सन् १८६० के बाद अकाल के प्राथमिक स्वरूप मे परिवर्तन हुआ। जहाँ पहिले अन्न की कमी से जनता भूख से तडप कर मरती थी वहाँ आधुनिक अकालो में क्रय शक्ति की कमी से अन्न नही खरीद पाती। अनाज की कमी तो विदेशी आयात द्वारा आज भी पूरी हो जाती है, परन्तु जन सख्या का अधिक सख्या मे भूख से मरना यह उसकी 'सग्रह और क्रय शक्ति की कमी' की ओर सकेत करता है। इसकी पुष्टि सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने भी की है—"यद्यपि देश मे इतना पर्याप्त अन्न था जिससे सम्पूर्ण जन सख्या का पालन होता, किन्तु जनता के पास क्रय शक्ति की कमी थी।" इस प्रकार हमारी धारणा है कि "भारत का अतिरिक्त उत्पादन विदेशो को भेज दिया जाता है, फिर भी इतना बच रहता है जो वहाँ के लिए पर्याप्त है, अत. भारत मे अन्न का नही अपितु धन का अकाल है।"[४] फलस्वरूप अच्छे वर्षो मे "कृषक के पास निर्वाह योग्य सामग्री होती है, किन्तु खराब वर्षो मे उसे दूसरो की दया पर निर्भर रहना पडता है।"[५]

---

१ देखिये सम्बन्धित अध्याय।

2 Modern Review, Page 106, August 1958.

3 नवभारत टाइम्स Commission for Inaccessible areas

4 Report of the Famine Commission 1898

5 Famine Commission 1901.

एव सामाजिक परिणामो का मूल्याकन तो इस वात से किया जा सकता है कि लगभग २४ ७ प्रतिशत परिवार अस्त-व्यस्त हो गए हैं। पति पत्नियो को छोडने और पत्निया अनैतिक काय करने के लिए प्रेरित हुई हैं। माता-पिता अपने बेटा बेटियो को छोडने, बेचने और भाई वहियो को छोडने मे सहायक हुए हैं। वे विधवा वहिनें जो अपने भाइयो द्वारा सहायता पाती थी, अकाल की ग्रास बन गई। ये मानवी कुत्र्म हमारी सभ्यता पर कलक रूप मे हैं। सबमे अधिक मृतको मे अछूत और परिगणित जातियाँ थी, जिनका प्रतिशत ५२ ७७ था तथा मुसलमानो का ३६%। हिन्दू १५·५% भारतीय ईसाई १%। अविवाहित रूप में यह प्रतिशत ५४ ६% तथा विवाहितो का ३१ २% था।"

(२) अकाल निश्चित रूप से मजदूरो को वेकार करता है तथा खाद्यान्न की अपर्याप्तता के कारण उनकी कार्य-क्षमता भी कम हो जाती है। अकाल मे पर्याप्त खाद्य न मिलने अथवा भूख के कारण सक्रामक रोग फैलते हैं, जिससे जन-सम्पत्ति की असीमित हानि होती है।

(३) अकाल के आगमन से कृषि-उद्योग में अनिश्चितता आती है तथा कृषि-क्रियाएँ प्राय. समाप्त हो जाती हैं, जिससे किसान और उसकी अर्थ-व्यवस्था पर भीपण परिणाम होते हैं। इसलिए उसकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है, जिससे अन्य वस्तुओ की माग कम हो कर देश का औद्योगिक उत्पादन कम हो जाता है।

(४) अन्न के अकाल के साथ ही चारा और भूसे (Fodder) का भी अकाल पड जाता है, जिसमे पशु सम्पत्ति भी प्रभावित होती है।

(५) कृषि एव उद्योग पर ऐसे परिणाम होते हैं कि जिससे कृषि उत्पादन एव अन्य वस्तुओ के आयात में कमी हो कर रेलो की आय कम हो जाती है तथा सरकार की लगान की आय भी कम हो जाती है। इसके विपरीत सहायता-कार्य के लिए सरकारी व्यय बढता है। इस प्रकार समाज, सरकार, कृषि एव उद्योग सभी पर अकाल का प्रभाव पडता है। "असीमित आर्थिक सहायता के अभाव मे अकाल के कारण अनेक जुलाहो को अपना व्यवसाय छोडना पडा, लेकिन उसमे से पर्याप्त सख्या मे जुलाहे इस व्यवसाय मे नही आये, किन्तु सामान्य श्रमिको की सख्या को बढाया।"* अत अकाल के इन भीपण परिणामो से बचने के लिए कृषि-सगठन के महत्त्वपूर्ण दोषो का निवारण तथा कृषक एव जनता की आर्थिक शक्ति मे वृद्धि होना आवश्यक है।

अकाल निवारण के उपाय—

अकाल के कारणो को देखने से स्पष्ट होगा कि अकाल के निवारण के लिए सर्वप्रथम प्रतिबन्धक उपायो की आवश्यकता है। क्योंकि जिन कारणो से अकाल होते हैं उन कारणो को दूर करने से अकाल-निवारण स्वाभाविक रीति से हो जायगा, क्योंकि "भारतीय अकाल की समस्या उन भयानक परिस्थितियो से सम्बन्धित है जिसमे

---

* Famine Commission 1896.

वर्षा का अभाव, आर्थिक साधनो की कमी, अपव्यय, भूमि-व्यवस्था, दुर्बल आर्थिक सगठन है। इसलिए कोई भी एक कारण अकाल के लिए जिम्मेवार नही है। ये सब सामूहिक रूप से अकाल का आगमन करते हैं।"*

इसलिए वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि की उन्नति तथा कृषि सहायक कुटीर एव लघु उद्योगो को आयोजन करना होगा। भूमि-सुधार के अन्तर्गत जो परिवर्तन होते हैं वे ठोस एव कृषि की आर्थिक उन्नति मे सहायक होने चाहिए। सहकारी-विकास की शासकीयता एव औपचारिकता कम होकर सहकारी आन्दोलन को कृषि के सर्वाङ्गीण विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। इससे कृषको के आत्मिक, आर्थिक एव नैतिक बल मे वृद्धि होगी। अपव्यय को रोकने के लिए सामाजिक परम्परागत प्रथाओ को सामाजिक सुधार आन्दोलनो से समाप्त करना होगा। साथ ही, कृषको का अज्ञान एव अशिक्षा दूर करने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के अन्तर्गत उन पर विशेष जिम्मेवारी लादनी होगी। क्योकि इस समय इस दिशा मे कुछ भी कार्य नही हो रहा है। हमारे कृषि-महाविद्यालयो के स्नातक एव शिक्षक केवल सैद्धान्तिक शिक्षा क्षेत्र मे ही हैं। उनको व्यवहारिक शिक्षा क्षेत्र मे अनिवार्य रूप से लाना चाहिए जिससे वे देश के महत्त्वपूर्ण एव आधारभूत उद्योग मे अपने सक्रिय सहयोग से उन्नति का मार्ग-प्रदर्शन करें। इन प्रयत्नो से दुर्भिक्ष की बारम्बारता ही केवल कम न होगी, अपितु दुर्भिक्ष का आगमन अपवाद रूप हो जायगा।

प्रतिरक्षात्मक उपाय —

अकाल आने पर अकाल-ग्रस्त क्षेत्र के व्यक्तियो की मुख्य समस्या भोजन प्राप्त करने तथा पशुओ को दाना-पानी देकर जीवित रखने की होती है। अतः ऐसे समय उपलब्ध अन्न सामग्री का वितरण, अन्न का सुलभ क्षेत्रो से दुर्लभ क्षेत्रो में स्थानान्तरण या विदेशो से आयात, अन्न-व्यापार पर नियन्त्रण, पशुओ के लिए दाना-पानी की व्यवस्था करनी होगी। दूसरे, अकाल में रोग फैलते हैं, इसलिए स्वास्थ्य एव चिकित्सा सुविधाओ का आयोजन करना आवश्यक होता है। तीसरे, कृषक एव जनता की क्रय-शक्ति की पूर्ति के लिए कृषको को तकावी ऋण एव लगान की छूट देना, आम जनता की आर्थिक सहायता के हेतु जन उपयोगी कार्य जैसे, नहरें, कुँए, तालाबो एव सडको का निर्माण एव मरम्मत करना, किसानो को उत्तम बीज, खाद, औजार आदि का प्रबन्ध तथा गरीब, भिखारी एव आश्रित लोगो के लिए गरीब गृहो, सदाव्रत आदि की व्यवस्था करना—इन कार्यों का समावेश प्रतिरक्षात्मक उपायो मे होता है। परन्तु ये उपाय तत्कालीन होते हैं।

अत प्रतिबन्धक उपायो से युक्त सर्वाङ्गपूर्ण ग्राम सुधार की विशाल योजना ही अकाल के भीषण ताडव नृत्य से भारत के जन-धन की रक्षा कर सकती है।

---

* Dr. Radha Kamal Mukherji.

अकाल निवारण नीति—

मध्य-कालीन युग मे हिन्दू एव मुसलमान शासक दुर्भिक्ष निवारण के लिए नहरें एव तालाब खुदवाते थे तथा राज्य-कोष से राशि एव अन्न का वितरण करते थे, ताकि जनता की अकाल से रक्षा हो और अन्न का अन्य क्षेत्रो से आयात होने तक अन्न-वितरण की व्यवस्था करते थे। इस हेतु राज्य का अन्न-सग्रहालय भी होता था। सदावर्त्त, लगान मे छूट, तकावी ऋण आदि का उपयोग भी मुक्त हस्त से होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासन-काल मे अन्न का वितरण तो चालू रखा तथा अन्न-निर्यात एव अन्न सग्रह पर रोक लगा दी। फिर भी आवागमन की पर्याप्त सुविधाओ के अभाव मे लाखो व्यक्ति काल-कवलित हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सन् १७८३ के अकालो के बाद अवश्य लगान में छूट देना प्रारम्भ किया।

ब्रिटिश शासन-काल और आधुनिक अकाल निवारण-नीति—

सन् १८५७ के असफल स्वतन्त्रता सग्राम के बाद भारत के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश शासन ने सभाली। ब्रिटिश शासन काल मे सन् १८६० का अकाल ही पहिला था, जिसने शासन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इसलिए आधुनिक अकाल निवारण-नीति का आरम्भ वास्तव में यही से होता है, क्योकि इसी अकाल मे आधुनिक अकाल निवारण-नीति (Famine Code) के बीज निहित थे। इस नई नीति के अनुसार :—

(१) जन-सख्या का विभाजन तीन श्रेणियो मे किया गया : (अ) शारीरिक श्रम योग्य, (ब) निबल एव श्रम करने योग्य, (स) श्रम के लिए अयोग्य।

(२) ग्राम सहायता देना।

(३) जनता का जीवन-स्तर उन्नत कर उनमे आत्मनिर्भरता की भावना का निर्माण करना।

इसी नीति का अनुसरण उडीसा अकाल (सन् १८६५ ६७) मे किया गया, परन्तु वह असफल रही। इस अकाल में १ ४० करोड रु० सहायता कार्य मे खर्च हुए। फलत सन् १८६७ में सर जाज कैम्पबेल की अध्यक्षता मे अकाल जाँच आयोग नियुक्त किया गया।

कैम्पबेल अकाल जाँच समिति (१८६७)—

यह सबसे पहिला अकाल जाच आयोग था। इस आयोग की सिफारिशो के अनुसार अकाल-निवारण-नीति मे आवश्यक परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनो मे अकाल निवारण काय जिलाधीश को सौपना तथा कृषि-कार्य चालू रखने के लिए उदारतापूर्वक तकावी ऋण देना ये प्रमुख थे। इसके साथ ही पुण्यार्थ कार्यो मे वृद्धि की गई। इस समिति ने खाद्यान्न वितरण की भी सिफारिश की थी। इन्ही आधारो पर अकाल निवारण-नीति बनाई गई।

किन्तु सन् १८७३-७४ के भीषण अकाल से सरकार को यह समझ आई कि अकाल एक आकस्मिक न घटना होते हुए सवकालिक संकट है जिसकी सुरक्षा के लिए पहिले से ही पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए और सन् १८७६-७७ के अकालो ने इसकी अनिवार्यता प्रमाणित की। फलस्वरूप सन् १८७८ मे केन्द्रीय सरकार ने १½ करोड रुपये से अकाल-बीमा कोष का निर्माण किया, जिससे अकाल के समय सहायता कार्य हो सके। कोष मे केन्द्रीय सरकार ने वार्षिक १.५० करोड रुपये जमा करना आरम्भ किया। इसी निधि को स्थायी बनाने के लिए जयपुर महाराज ने सन् १९०० मे १५ लाख रु० के विनियोग द्वारा स्थायी निधि के लिए ट्रस्ट बनाया। इसी निधि मे उत्तर प्रदेश का अकाल-अनाथ-कोष भी मिलाया गया तथा इसमे राज्य सरकारें कुछ वार्षिक राशि जमा करती थी। इस कोष पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है। इस निधि का नाम "भारतीय अकाल ट्रस्ट" है।

सर जॉन स्ट्रेचे आयोग (१८८०) एव अकाल-निवारण नियम—

सन् १८७९ के अकालो की जाँच के लिए सन् १८८० मे सर जॉन स्ट्रेचे आयोग की नियुक्ति हुई। इसकी सिफारिशो के अनुसार सन् १८८३ मे प्रान्तीय अकाल कानूनो का निर्माण हुआ। ये कानून अनेक बातो मे भिन्न होते हुए भी मूलभूत सिद्धातो मे समान हैं। इनका उद्देश्य साधारण समय मे सहायता कार्यों का नियमन तो था ही, परन्तु अकाल की सूचना प्राप्त होते ही अधिकारियो के उचित कदम उठाने पर जोर देना था। विभिन्न अधिकारियो के कर्त्तव्य, कार्य करने की प्रणाली तथा कार्यो की सीमा का वर्णन भी इन नियमो मे किया गया है। इस आयोग ने अकाल सहायता काय की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकारो पर डाल दी तथा अकालों से सुरक्षित रहने के लिए सिचाई, रेल मार्ग आदि बनाने की रूपरेखा भी प्रस्तुत की। जैसे ही स्थानीय सरकारो को (जिला बोर्ड, पचायत आदि) अकाल का सकेत मिलता है, उसका सामना करना उनका कर्त्तव्य हो जाता है। अकाल आयोग द्वारा प्रस्तावित योजना के प्रमुख भाग ये हैं —

अकाल की प्राथमिक स्थिति मे—

(१) अकाल की प्राथमिक स्थिति मे स्थायी और अस्थायी कुँओ को खोदने और सिचाई के साधनो की दुरुस्ती एव उन्नति के लिए अग्रिम राशि (Advance) दी जाए। (२) गैर सरकारी रूप मे जनता को पुण्य-कार्यों के लिए बढावा दिया जाये। (३) बीज आदि की कृषि वस्तुएँ खरीदने के लिए आर्थिक तथा अन्य सहायता दी जाये। (४) इधर-उधर भटकने वाली अकाल पीडित जनता को अन्न वितरण करने के लिए पुलिस को अन्न दिया जाये। (५) अकाल के आँकडे आदि एकत्रित करने के लिए एव उसकी समुचित जाँच करने के लिए जाँच कार्य चालू किया जाए तथा निर्धन जनता की सहायतार्थ दरिद्राश्रमो की स्थापना की जाए। (६) कृषि भूमि वाले किसानो को आर्थिक सहायता दी जाए तथा फसल की खराबी के अनु-

पात मे लगान मे छूट दी जाये। (७) सहायता केन्द्र चालू किए जायें तथा उन पर समुचित नियन्त्रण हो। (८) प्राथमिक अवस्था मे ऐसे व्यक्तियो की सूची बनाई जाये जो सहायता दिये जाने योग्य हो। (९) यदि अन्न और चारे की कमी हो तो उसे दूर करने के लिए आवश्यक कार्यवाही की जाए।

जाँच कार्य का अर्थ 'दुर्भिक्ष को कम करना नही, वरन् उसकी उपस्थिति को जानना है। भूखो को सहायता देना नही, अपितु क्या लोग भूखे हैं ? यह जानना है।" प्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि इन कार्यो से सहायता की अनिवार्यता सिद्ध होती है। ऐसे ही जाँच कार्यो को सहायता कार्यों मे परिणित किया जा सकता है। अकाल में जिन व्यक्तियो को काम दिया जाता है, उनकी मजदूरी कार्यक्षमता के अनुसार ही निश्चित की जाती है। अकाल के समय मजदूरी निश्चित करने का आधारभूत सिद्धान्त केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार "अकाल भृत्ति वह राशि है, जिससे उस परिस्थिति मे मजदूर अपना स्वास्थ्य बनाए रख सके। सरकार का कर्त्तव्य जनता की जीवन रक्षा है, न कि श्रमिको को उनके स्तर की सुविधाएँ देना।"

सहायता कार्य दो प्रकार के हो सकते हैं '—पहिला पब्लिक वर्क्स डिपाटमेण्ट के आधीन होगा, जिसमे अनेक व्यक्ति कार्य करते हैं। दूसरा कार्य रेवेन्यू ऑफिसर्स के आधीन होगा, जो किसी विशेष गाँव अथवा ग्राम समूह के लिए होगा। दान रूप मे सहायता कार्य तभी चालू होता है, जब जाँच कार्य सहायता कार्य मे बदल दिया जाता है। साथ ही, इस ओर भी ध्यान दिया जाता है कि 'कोड' के अन्तर्गत आने वाले सभी व्यक्तियो को सहायता मिल रही है या नही। ऐसे व्यक्ति वे हैं, जो शारीरिक श्रम नही कर सकते तथा उनके कोई सम्बन्धी न हो अथवा उनकी उपस्थिति घर के रोग-ग्रस्त व्यक्तियो की देख-भाल के लिए घर पर आवश्यक हो। दरिद्राश्रम उन सुविधाजनक स्थानो पर चालू किए जाते हैं, जहाँ पर ऐसे गरीब एव निर्धन लोगो की अधिकता हो, जो काम करने मे अयोग्य हैं। छोटे-छोटे सहायता कार्यों मे हम भोजनालयो का खोलना, वस्त्र, दूध, आदि का वितरण, पर्दानशीन औरतें तथा कुशल कारीगरी के लिए सहायता, इन कार्यों का समावेश करते हैं।

सर जेम्स लॉयल अकाल अयोग (१८९८)—

उक्त अकाल निवारण नियमो का परीक्षण सन् १८९६ ९७ व सन् १८९९-१९०० के अकालो में हुआ। सन् १८९६ ९७ के अकाल की जाच लॉयल आयोग ने सन् १८९८ मे की, जिसमे उक्त नियमो की सफलता का परिचय मिला। इस आयोग ने यह भी कहा कि सामयिक एव उदग्रता से अकाल मे सहायता देने के कारण जनता की अकाल निवारक शक्ति एव साधन बढ गए हैं, इसलिए आयोग ने (१) भविष्य में कुँओं की दुरुस्ती के लिए अनुदान स्वीकृत करने की सिफारिश की। (२) जुलाहों तथा कुछ विशेष जातियो की सहायता के लिए निर्धनो को निशुल्क सहायता देने के लिए

तथा सहायता कार्य-सङ्गठनो के विकेन्द्रीयकरण की सिफरिश की। मैक्डोनेल आयोग सन् १६०१ ने सन् १८६६-१६०० के अकाल की जाँच की तथा प्रारम्भिक अवस्था मे ही (१) तकावी ऋण, लगान की छूट आदि सहायता देने की सिफारिश की, ताकि जनता को अकाल का प्रतिरोध करने तथा स्वय प्रयत्न करने का अवसर मिले। (२) पशु-सम्पत्ति को सुरक्षा के लिए चारे की कठिनाई एव अभाव को दूर करने की सिफारिश की। (३) न्यूनतम् मजदूरी सिद्धान्त को छोडने तथा काम के अनुसार मजदूरी देने की सिफारिश भी की। (४) कृपको को आर्थिक सहायता देने के लिए सहकारी आन्दोलन शुरू करने, कृपि बैको की स्थापना तथा सिंचाई व्यवस्था की उन्नति पर भी जोर दिया, ताकि अकाल का भय न्यूनतम् हो सके। ये सिफारिशें उन्होने इस सिद्धान्त के आधार पर की :—"यदि जनता की अकाल-निवारण शक्ति बढती है तो सरकारी सहायता में मितव्ययिता होगी और जनता का फिर कल्याण होगा।"

इस प्रकार अकाल-निवारण के प्रयत्न होते रहे और इसमे सरकार को सफलता भी मिली। साथ ही भविष्य मे अकाल की पुनरावृत्ति रोकने के लिए कृपि मे भी स्थायी सुधार के प्रयत्न किए गए। फलस्वरूप सन् १६४३ के बगाल-अकाल तक कोई भी भीषण दुर्भिक्ष नही पडा। परन्तु इस अकाल ने सरकार को निष्क्रियता एव अकाल निवारण नीति की असफलता का परिचय दिया।

वुडहैड आयोग सन् १६४४—

बगाल के सन् १६४३ के अकाल का निर्णय करने के लिए सन् १६४४ के वुडहैड आयोग की नियुक्ति हुई, जिसकी प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

(१) २५,००० अथवा इससे अधिक जन-सख्या वाले नगरो मे खाद्य-नियन्त्रण लागू किए जायँ तथा खाद्यान्न वितरण की व्यवस्था समुचित रीति से की जाय।

(२) लाइसेंस आदि देने की सरकारी नीति को कडा बनाया जाय।

(३) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया जाय।

(४) जिन कृपको के पास निश्चित परिमाण से अधिक कृपि भूमि है वह सरकारी नियन्त्रण मे ली जावे तथा इस हेतु २५ एकड उच्चतम सीमा निश्चित की जाय।

(५) जिन स्थानो मे अनाज की अधिकता है वहाँ उस पर उचित नियन्त्रण हो।

(६) अनाज प्राप्त करने की सरकारी नीति मे परिवर्तन किया जाय तथा यह कार्य शासन स्वय ही करे।

(७) फसलो पर अधिकार लेने के बजाय सरकार कृपको को बाजार मे सरकार को ही अन्न बेचने के लिए प्रलोभन दे।

अध्याय १३

हमारी खाद्य समस्या

(Our Food Problem)

"भारत में अन्न उत्पादन तथा जन्म दर का सीधा सम्बन्ध है, परन्तु अन्न उत्पादन और मृत्यु दर में विपरीत सम्बन्ध है।

राधाकमल मुखर्जी

जन-संख्या की समस्या खाद्य समस्या से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है और खाद्य समस्या की वर्तमान गंभीरता इस तथ्य की ओर संकेत करती है। वास्तव में खाद्य समस्या आज कोई नवीन समस्या नहीं है, अपितु वह गत ६० वर्षों से है, परन्तु उसकी गम्भीरता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। श्री दुबे के अनुसार "हमारे अन्न निर्यात में समावेश के साथ यह कमी सन् १८२० में लगभग ६ १० मिलियन टन वार्षिक थी।" जन संख्या के प्रकाशित आँकड़ों से स्पष्ट है कि जन-वृद्धि के साथ देश की खाद्यान्न उपज नहीं बढ़ी। सन् १९१३-१४ से सन् १९३५-३६ की अवधि में जन संख्या वार्षिक १% बढ़ी है, जो खाद्य-उपज में केवल ०·६५% की वृद्धि हुई है।[1] डा० राधाकमल मुखर्जी के अनुसार देश में ११% जन-संख्या के लिए खाद्यान्न की कमी थी।[2] इसकी पुष्टि योजना-आयोग ने भी की है—"द्वितीय विश्व युद्ध पूर्व भारत में १५ लाख टन अन्न आयात होता था। विभाजन और जन संख्या की वृद्धि से खाद्य समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गई है, जिसे तत्कालीन उपायों से हल नहीं किया जा सकता। इस समस्या के हल के लिए सावधानी के साथ दीर्घकालीन प्रयत्न करने पड़ेंगे। खाद्य समस्या का अर्थ केवल अन्न वाद्य की कमी ही नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक पौष्टिक भोजन का अभाव भी है।

खाद्य समस्या की पृष्ठभूमि—

अकाल जाँच समिति सन् १८८० के आँकड़ों से स्पष्ट है कि उस काल में भारत खाद्यान्न में आत्मनिर्भर था, क्योंकि उत्पादन ५ २० करोड़ टन और माँग केवल ४·७० टन ही थी। इसके बाद सन् १८६० से सन् १९१२ तक के वर्षों में मूल्य जाँच समिति के अनुसार:-"भारत में एक ओर तो जन-संख्या बढ़ती गई, परन्तु उसी अनुपात में कृषि-भूमि में वृद्धि नहीं हुई, फलस्वरूप खाद्यान्न में कमी आ गई। इसी प्रकार सन् १९०१

1 Famine Enquiry Commission 1944, p 73

2 Food Planning for four hundred millions, 1938 Edn

से १९३१ तक के तीस वर्षों मे जन-सख्या १५·२% बढी, जब कि अन्न उपजाने वाली भूमि १ ५% ही बढी, परन्तु फिर भी अन्न-उपज ४% से कम रही।"[1] इस प्रकार कृषि-उपज का क्षेत्र बढने के साथ साथ अन्न-उत्पादन की कमी के मुख्य कारणो में (१) 'कृषि मे क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम का लागू होना, (२) कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति कम होना, तथा (३) जन-सख्या में वृद्धि का समावेश किया जा सकता है। इस प्रकार जन-सख्या और खाद्यान्न की वृद्धि मे विषमता आती गई।

सन् १९३७ मे भारत से वर्मा पृथक हो गया, जिससे भारत मे अन्न की कमी प्रतीत होने लगी। फलस्वरूप वर्मा, जापान तथा अन्य देशो के आयात से अन्नाभाव पूरा किया जाने लगा। सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध छिड गया, जिससे हमारे अन्न आयात को धक्का लगा और भारत को मित्र राष्ट्रो की सेनाओ को अन्न देने की जिम्मेदारी आ गई। इसके अलावा सेना मे भारतीय नौजवानो की भर्ती तथा औद्योगिक मजदूरो की सख्या बढने के कारण अन्न की माग बढ गई। परन्तु दूसरी ओर अन्न का उत्पादन कम हो गया। इसी समय सन् १९४३ मे बङ्गाल का भीषण दुर्भिक्ष पडा।

इस प्रकार अन्न समस्या की भीषणता की ओर सरकार का ध्यान सन् १९४३ के बगाल अकाल के कारण आकर्षित हुआ और इसी कारण यही से खाद्य-समस्या का प्रादुर्भाव हुआ यह आम धारणा है।

खाद्य समस्या के कारण—

(१) जन-सख्या मे वृद्धि—गत वर्षो मे हमारी जन सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। सन् १९०१ मे जन सख्या २३ ५५ करोड थी। इसे आधार वर्ष मान कर सन् १९३१ मे जन-सख्या निर्देशाक ११७ हो गया, जबकि खाद्य क्षेत्रफल का निर्देशाक केवल ११६ ही रहा। इस प्रकार जन-सख्या ने खाद्य उत्पादन को पीछे छोड दिया। सन् १९३१-४१ के बीच तो परिस्थिति और भी खराब हो गई। जहाँ खाद्य पदार्थों का क्षेत्रफल १ ५ प्रतिशत बढा, जन-सख्या मे १५ प्रतिशत वृद्धि हुई।* सन् १९५१ मे हमारी जन-सख्या ३५·६९ करोड थी। सरकारी अनुमान के अनुसार गत वर्षो मे हमारी जन-सख्या मे इस प्रकार वृद्धि हुई :—

वर्ष	जन सख्या
१९५२	३६ ७५ करोड
१९५३	३७ २३ ,,
१९५४	३७·७९ ,,
१९५५	३८ २४ ,,
१९५६	३८ ७४ ,,
१९५७	३९ २४ ,,

ऐसा अनुमान है कि वर्तमान गति से हमारी जन-सख्या सन् १९६१ मे ४१

* Indian Rural Problems by Nanavati & Anjaria, p 53.

मिलावट रोज की घटनाएँ हो गई । सर्वत्र व्यापारिक नैतिक पतन हो गया और पूर्ति को रोक कर खाद्य पदार्थों का कृत्रिम अभाव उत्पन्न किया गया ।

इससे उत्पादन वृद्धि के बावजूद खाद्यान्न की कीमतें बढी । सन् १९५२-५३ को आधार मान कर सन् १९५६ से सन् १९५९ के चार वर्षों मे खाद्यान्न के मूल्य सूचनाक क्रमश. ९९ ०, १०२ ८, ११२.०, ११८ २ रहे ।*

(७) सामाजिक कारण—इनमे कृषको का अज्ञान एव निरक्षरता तथा प्रत्येक सुधार के लिए सरकार की ओर देखने की प्रवृत्ति का समावेश होता है ।

(८) राजनैतिक प्रभाव—राजनैतिक प्रभाव के अन्तर्गत वे सब कारण आते हैं जिनसे सरकार (कान्ग्रेसी) प्रभावित होकर न्यायोचित कार्य न करते हुए अव्यवहारिक कदम उठाती है । उदाहरणार्थ, केरल मे सस्ते अनाज के विक्रय हेतु जहाँ ७,००० दूकानें है वहाँ उत्तर-प्रदेश जैसे विशाल क्षेत्र मे केवल ३,८०० दुकानें है । इससे स्पष्ट है कि राजनैतिक विवेकात्मक नीति भी खाद्य सकट के लिए उत्तरदायी है ।

(९) केन्द्र एव राज्यो की नीति मे सामजस्य का अभाव—भारतीय सविधान के अनुसार खाद्य उत्पादन का मूलभूत दायित्व राज्य सरकारो का है, परन्तु खाद्य-वितरण का दायित्व केन्द्र सरकार का है । ऐसी स्थिति मे दोनो ही अपनी-अपनी जिम्मेवारी के प्रति जागरूक नही रहते, अपितु एक की निष्क्रियता का परिणाम दूसरे पर होता है । इससे अन्न सकट के निवारण मे बाधा होती है । इसलिए यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक नीति का अवलम्ब कर सविधान मे आवश्यक परिवर्तन किए जायें ।

(१०) कृषि के प्रति अव्यवहारिक दृष्टिकोण—हमारे योजनाकारो का कृषि के प्रति अव्यवहारिक दृष्टिकोण भी खाद्य समस्या के लिए जिम्मेवार है । जब हम प्रति वर्ष अन्न का विदेशो से आयात कर रहे हैं, (देखिए निम्न तालिका) तो क्या कारण है दूसरी पच-वर्षीय योजना मे कृषि एव खाद्यान्न उत्पादन को प्राथमिक स्थान न देने का ?

अन्न का आयात—

(हजार टनो मे)

वर्ष	चावल	गेहूँ आटा	अन्य	योग	मूल्य (करोड रु०)
१९४८	८६७	१,३११	६६३	२,८४१	१२९ ७२
१९४९	७६७	२,२००	७३९	३,७०६	१४४ ६०
१९५०	३५३	१,४०७	४६५	२,१२५	८० ६०
१९५१	७४९	३,०१५	९६१	४,७२५	२१६ ७९
१९५२	७२२	२,५११	६३१	३,८६४	२०९ ०७

* सम्पदा—अप्रेल सन् १९६० ।

१९५३	१७५	१,६८४	१४४	२,००३	८५ ९६
१९५४	६०३	१९७	८	८०८	४७ ०२
१९५५	२६५	४३५	—	७००	३३'१
१९५६	३२५	१,०९५	—	१,४२०	५६'२
१९५७	७३६	२,८४६	—	३,५८२	१६२'२
१९५८	३९०	२,६७४	—	३,१७३	१२०'५

इस सम्बन्ध मे श्री मोहनलाल सक्सेना का निम्न कथन है '—"दुर्भाग्य है कि योजनाकारो तथा प्रशासकों ने गत योजना की भांति इस योजना में कृषि तथा अन्न उत्पादन को अधिक महत्त्व नही दिया है और पूर्व चेतावनियो की उपेक्षा कर खतरे का स्वागत किया है।"

अत. जब तक हमारे अन्न आयात पूर्णत. बन्द होकर पर्याप्त अन्न सग्रह नही हो जाता तब तक कृषि एव अन्न उत्पादन की उपेक्षा करना एक भारी भूल होगी।

(११) योजना की असफलता—योजना के अन्तर्गत खाद्य उत्पादन मे वृद्धि होते हुए भी जितनी सफलता मिलनी चाहिए थी, नही मिली। क्योकि कृषि उत्पादन केवल योजना का ही भाग न होते हुए प्रकृति का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इसके परिचायक निम्न आंकडे हैं .—

(आधार सन् १९४९-५०)

	अन्न उत्पादन		सूचक अक
१९५२–५३	५८२ ९६	लाख टन	१०१'१
१९५३–५४	६८७ १८	,,	११९'१
१९५४–५५	६६९ ६०	,,	११५ ०
१९५५–५६	६५७ ९४	,,	११५ ३
१९५६–५७	६८७ ४८	,,	१२०'५
१९५७–५८	६२० २६	,,	१०७ ३
१९५८–५९	७३५ ००	,,	११६ १

(१२) प्रकृति प्रकोप—प्राकृतिक प्रकोपो के कारण भी हम खाद्यान्न समस्या हल नही कर सके हैं। जैसा कि इसी वर्ष अति वर्षा एव बाढ के कारण हमारी खडी फसलें नष्ट हो गई हैं। अवर्षा का तो मुकाबला सिचाई साधनो की वृद्धि से हो सकता है, पर तु अति वर्षा एव बाढ के कारण कृषि को जो हानि होती है उसका मुकाबला करने मे मानव अभी तक असमर्थ रहा है।

(१३) योजना की पूर्ति के लिए अप्रत्यक्ष करो मे वृद्धि—योजना के अन्तर्गत लगाए जाने वाले अप्रत्यक्ष करो का परिणाम जनता की क्रयशक्ति कम करने मे होता है—विशेषत. ऐसी जनता की जिनको राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि का किंचित भी

भाग नही मिलता, क्योकि "अप्रत्यक्ष करो का प्रत्यक्ष प्रभाव महगाई वढ जाने मे होता है। मूल्य वृद्धि के साथ बाजार मे आवश्यक वस्तुओ का अभाव होता है। अभाव होने पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण लगता है और अब तक का अनुभव यह बतलाता है कि नियन्त्रण होते ही वस्तुओ की प्राप्ति और भी कठिन हो जाती है। इसका परिणाम फिर मँहगाई बढने मे होता है।"* इस प्रकार इस कुचक्र मे साधारण आदमी सकट मे पड जाता है और खाद्य समस्या उग्र रूप धारण कर लेती है।

असन्तुलित आहार—

असन्तुलित आहार से तात्पर्य है खाद्यान्न में पोषक द्रव्यो की कमी होना। भारत मे केवल खाद्यान्न की ही कमी नही है, अपितु उनका आहार भी असतुलित है। इससे एनीमिया, बेरी-बेरी आदि बीमारियाँ होती हैं, जो जनता को कमजोर एव अक्षम बना देती हैं। इस दृष्टि से अधपोषित रहने की अपेक्षा क्षुधा से मृत्यु होना अधिक अच्छा है।

पौष्टिक सलाहकार समिति के अनुसार "सतुलित भोजन के लिये प्रति वयस्क व्यक्ति दैनिक १४ औस अन्न की आवश्यकता है, जिसमे ३ औस दाल होनी चाहिए। सर जॉन मैग की रिपोर्ट के अनुसार "उस समय (१६३३ मे) लगभग ४०% गाँवो की जन-सख्या अन्न-उत्पादन की दृष्टि से अधिक थी और उस समय ३६% जन सख्या को पूरा भोजन, ४१% को अपूर्ण भोजन तथा शेष जन-सख्या के लिए भोजन मिलना या न मिलना बराबर था।

ऐसा क्यो ?—

भारतीय अन्न उपज मे पोषक तत्वो की कमी के लिए निम्न कारण जिम्मेवार हैं :—

(१) भूमि की उर्वराशक्ति का ह्रास तथा उत्तम बीजो का पर्याप्त मात्रा मे न मिलना,

(२) धार्मिक भावना के कारण मास, मछली, अडो आदि का भोजन मे प्रयोग न होना,

(३) जनता की निरक्षरता एव अज्ञान के कारण भोजन में पोषक तत्वो की उपयोगिता पर ध्यान न देना,

(४) निर्धनता के कारण भोजन मे पर्याप्त मात्रा मे दूध, फल एव अन्य आवश्यक जीवन तत्वो का समावेश करने की आर्थिक क्षमता न होना।

इस हेतु सरकार ने क्या किया ?—

सन् १६३६ मे द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही कृषि उपज के मूल्य बढने लगे, लेकिन दूसरी ओर अन्न एव कृषि जन्य औद्योगिक कच्चे माल की माँग बढती गई, जिससे कृषको की क्रय-शक्ति बढने लगी और उन्होने उपभोगो की मात्रा बढाना आरम्भ

* नवभारत टाइम्स—२७ अगस्त १६६०।

किया। सरकार ने सर्व प्रथम कीमतो की वृद्धि रोकने के लिए सन् १९४२ मे मूल्य-नियन्त्रण लगाया तथा अन्न धान्य के अन्तर्राज्य यातायात पर भी रोक लगा दी। इसका हेतु किसी भी राज्य मे अन्न की कमी न होने देना और साथ ही जनता को उचित कीमतो पर अन्न प्रदाय करना था। इस कार्य को कुशलता से करने के लिए दिसम्बर सन् १९४२ मे खाद्य-विभाग की स्थापना की गई। यह विभाग देश की खाद्य उत्पादन सम्बन्धी नीति को नियन्त्रित करने के लिए जिम्मेवार था। साथ ही, यह भी जिम्मेवारी थी कि वह अधिक अनाज वाले क्षेत्रो से कम अनाज वाले क्षेत्रो मे अन्न-धान्य की पूर्ति समयानुकूल करता रहे। लेकिन इस परिस्थिति को सन् १९४३ के बङ्गाल के भीषण दुर्भिक्ष ने और भी गम्भीर बना दिया।

सरकार यह चाहती थी कि बगाल दुर्भिक्ष के साथ-साथ सम्पूर्ण खाद्य समस्या का अध्ययन कर एक नई खाद्य नीति का निर्माण किया जाय। अत जुलाई सन् १९४३ मे एक खाद्यान्न नोति समिति (Foodgrains Policy Committee) की नियुक्ति की गई। इसके अध्यक्ष डा० ग्रेगरी थे। समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें की '—

(१) देश के खाद्यान्नो का निर्यात बन्द किया जाय।
(२) एक केन्द्रीय खाद्यान्न कोष का निर्माण किया जाय, जिसमे कम से कम ५ लाख टन खाद्यान्न हो। यदि आवश्यक हो तो विदेशो से खाद्यान्न का आयात किया जाय।
(३) अन्न की प्राप्ति और वितरण पर पूर्ण नियन्त्रण।
(४) जिनकी जन-सख्या एक लाख से अधिक है, ऐसे सम्पूर्ण नगरो में राशनिंग प्रारम्भ की जाय।
(५) उर्वरा शक्ति बढाने के लिए रसायनिक खादो का प्रयोग बढाया जाय और एक खाद के कारखाने का निर्माण किया जाय, जहाँ प्रति वर्ष ३,५०,००० टन अमोनियम सल्फेट का उत्पादन किया जाय (यह कारखाना स्थापित हो गया है सिंद्री मे)।
(६) अनावश्यक अन्न सग्रह दण्डनीय अपराध घोषित किया जाय और व्यापारिक अनाचारो के विरुद्ध कठोर कदम उठाये जायँ।
(७) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow more Food Compaign) प्रारम्भ किया जाय और उसे क्रियात्मक रूप दिया जाय।

सरकार की खाद्यान्न नीति—

सरकारी खाद्यान्न नीति के तीन मुख्य पहलू थे —

(१) देश में समस्या को हल करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न करना। इसके अनुसार देश मे "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन सन् १९४३ में आरम्भ किया गया। इसके बाद इसी नीति का दूसरा भाग पच-वर्षीय खाद्यान्न योजना (१९४७ से १९५१) थी।

(२) देश की तत्कालीन समस्या को दूर करने के लिए तत्कालीन उपायो को काम मे लाना। इस नीति के अनुसार विदेशो से खाद्यान्न का आयात* करना, देश मे व्यापारियो की सग्रह प्रवृत्ति तथा काले वाजार को रोकना आदि सरकारी उद्देश्य थे। इसलिए सरकार ने सन् १९४३ मे भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त किये।

(३) तत्कालीन खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए सरकार खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिश के अनुसार १½ मिलियन टन खाद्यान्न का सग्रह रखने लगी।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Compaign)—

यह आन्दोलन सन् १९४३ से प्रारम्भ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य देश में कृषि उपयोग में अधिक भूमि लाकर तथा वतमान भूमि को सुधार कर देश में अन्न उत्पादन वढाना था। इस आन्दोलन की मुख्य वातें निम्न थी .—

(१) खाद्यान्न के उत्पादन क्षेत्र मे वृद्धि—इस कार्य के लिए यह व्यवस्था की गई कि मुद्रा फसलो (Money Crops) के स्थान पर खाद्यान्न फसलो की खेती की जाय तथा मिश्रित खेती (Mixed Farming) द्वारा खाद्यान्न की उपज वढाई जाय। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने प्रान्तीय सरकारो को आर्थिक सहायता दी तथा कृषको को ऋण देने का प्रबन्ध किया गया।

(२) सिचाई का प्रवन्ध—इसके अन्तगत वतमान सिंचाई के साधनो की मरम्मत तथा नई नहरें, कुँए आदि खुदवाने की व्यवस्था करने का भार राज्य सरकारो को सौपा गया।

(३) अच्छे खाद की व्यवस्था करना तथा उसके उपयोग को वढाना।

(४) फसल वढाने के लिये अच्छे वीजो का अधिक मात्रा में वितरण करना।

(५) इसके अलावा पशु सम्पत्ति की सुरक्षा एव विकास, कृषि यन्त्रो का आयात, कृषि की वैज्ञानिक पद्धति को प्रोत्साहन देना।

केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारो को उनके खर्चे के वरावर आर्थिक सहायता दी गई। सन् १९४३ से सन् १९४७ की अवधि मे राज्यो को केन्द्रीय सरकार द्वारा ९ करोड रुपये ऋण तथा ७ करोड रुपये की आर्थिक सहायता दी गई। ९,००० टन उत्तम वीजो का वितरण किया गया। इसी प्रकार सिंचाई की व्यवस्था के लिये ६४,००० कुँए, ५०० नल-कूप तथा ३,००० तालाव खुदवाए गये।

फलस्वरूप देश की अन्न उपजाने वाली कृषि भूमि मे लगभग १ लाख एकड भूमि की तथा २५ लाख टन अन्न धान्य की वृद्धि हुई, परन्तु फिर भी इस आन्दोलन से सफलता प्राप्त नही हुई, क्योकि उत्पादन में जो वृद्धि हुई उससे कही अधिक व्यय हुआ। सन् १९४५ मे वगाल अकाल जाँच समिति ने भी इस आन्दोलन की असफलता

---

* आयात के आँकडे पीछे दिये गये हैं।

की ओर संकेत किया और साथ ही कृषि के पुनर्गठन की सिफारिश की। इसके अलावा इस समिति ने सिंचाई एवं खाद का प्रबन्ध और वितरण अधिक परिमाण मे करने की सिफारिश की।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन असफल क्यों ?—

(१) इस आन्दोलन में स्थायी सुधार की योजनाओ पर ध्यान न देते हुए समस्या के केवल तत्कालीन पहलू पर ही अधिक जोर दिया गया। (२) उत्पादन वृद्धि के लिए देश की जलवायु के अनुसार सिंचाई के उत्तम साधन, खाद तथा अच्छे बीज, इन तीन बातो की प्राथमिक आवश्यकता होती है, परन्तु इस आन्दोलन के पाँच वर्षों मे जो करोड़ो रुपये से कार्य हुआ, उससे केवल २५% खाद्यान्न कृषि-भूमि को सिंचाई का लाभ मिला, परन्तु शेष अन्न उत्पादक कृषि-भूमि मे सिंचाई की व्यवस्था पर्याप्त नही थी। (३) कृषि की प्राथमिक आवश्यकता खाद की है। भारत मे किसानो की गरीबी के कारण खली का उपयोग जानवरो के खिलाने के लिए किया जाता है तथा धार्मिक भावनाओ के कारण किसान हड्डियो का उपयोग खाद के लिए नही करता, इसलिए कृषि की उपज बढने नही पाती। गोबर की खाद खेती के लिए अधिक उपयोगी है, परन्तु इसका उपयोग अधिकतर जलाने के काम में होता है। इस तरह अधिकतर सस्ती एव अच्छी खाद या तो जलाने मे या पशुओ के पोषण के काम में आती है, जिससे कृषि-भूमि सूखी ही रहती है। (४) इसके अलावा आन्दोलन का क्षेत्र भी कम रहा, क्योंकि भारत की कुल ८० लाख एकड कृषि भूमि मे से यह योजना केवल २०% अथवा १६ लाख एकड कृषि भूमि मे ही लागू की गई। (५) अन्तिम और महत्त्वपूर्ण बात जो किसी भी योजना की सफलता के लिए आवश्यक होती है, वह है जन-सहकार्य तथा शासकीय कार्यक्षमता। हमारे यहाँ इन दोनो बातो का अभाव है। शासकीय कर्मचारी वेतन पाते हैं, इसलिए काम करना पडता है, परन्तु उनमे उस कार्य के लिए जो उत्साह होना चाहिए वह नही होता है और न सरकारी योजना मे जनता का वांछित सहयोग ही मिलता है, इसलिए इस आन्दोलन से आशातीत परिणाम नही निकले।

खाद्यान्न-नीति-समिति (Food-grains Policy Committee)—

'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' की असफलता के कारण केन्द्रीय सरकार ने वर्तमान खाद्य स्थिति पर विचार करने के लिए तथा उपयुक्त सुझाव देने के लिए सितम्बर सन् १९४७ मे सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में खाद्यान्न-नीति-समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के सम्बन्ध मे कहा कि "अन्न उत्पादन बढाने के उपाय अच्छे होते हुए भी उनको कार्य में लाने की पद्धति दोषपूर्ण थी।" इसके अलावा समिति ने निम्न तथ्यो की ओर संकेत किया.— खाद्यान्न उत्पादन जन-संख्या की आवश्यकतानुसार कम है। दूसरे, खाद्यान्न के वार्षिक उत्पादन में स्थायित्व नही है। तीसरे, देश में कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ सदैव अन्न का अभाव रहता है।

इसी आधार पर समिति ने अपनी सिफारिशो में कहा :—इन बाधाओ का निवारण गहरी खेती, अधिक खाद एव अच्छे बीजो की सहायता तथा असिंचित भूमि को आवश्यक सिचाई की सुविधाएँ प्रदान करके कर सकते हैं। समिति ने कृषको की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुटीर-उद्योगो की स्थापना की सिफारिश की, ताकि कृषको को सहायक आय के साधन प्राप्त हो। इसके अलावा समिति ने निम्न सिफारिशें की.—

(१) अन्न का उत्पादन बढाने के लिए 'अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन' के लिए नई नीति अपनाना।

(२) गहरी खेती के साथ अच्छी खाद, बीज, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था द्वारा उत्पादन बढाना।

(३) बजर भूमि को कृषि के लिए उपयोगी बनाने हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिक आर्थिक सहायता दिया जाना तथा इस कार्य पर स्वय केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण होना। केन्द्रीय एव राज्य कृषि नीति मे सहयोग स्थापित करने के लिए एक केन्द्रीय कृषि नियोजन सभा (Central Board of Agricultural Planning) की स्थापना करना तथा इसी प्रकार की कृषि-सभाएँ राज्यो मे भी स्थापित करना। राज्य कृषि-सभाएँ केन्द्रीय सभा को कौनसी भूमि कृषि के उपयोग मे लाई जा सकती है, इस सम्बन्ध मे तथा अन्य समस्याओ पर एव वार्षिक कार्य प्रगति के सम्बन्ध मे रिपोर्ट देना।

(४) अन्न धान्य आयात पर सरकारी एकाधिकार।

(५) ५ वर्ष के लिए १० लाख टन की केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्न-निधि रखना।

(६) पच वर्षीय खाद्यान्न योजना बनाकर प्रति वर्ष १ करोड टन अधिक अन्न उत्पादन बढा कर देश को आत्म निर्भर बनाना, ताकि इस अवधि के बाद अन्न आयात बन्द कर दिया जाय।

(७) बजर अथवा कासयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए एक केन्द्रीय भू पुनर्ग्रहण सगठन (Central Land Reclamation Organisation) बनाया जाय, जिसको केन्द्रीय सरकार ५० करोड रुपया दे।

खाद्यान्न-योजना सन् १९४७-५२—

खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिशो के अनुसार एक पचवर्षीय खाद्यान्न योजना बनाई गई। इसका उद्देश्य प्रति वर्ष ३० लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन बढाना था, ताकि इस अवधि के अन्त में देश के अन्न आयात बिल्कुल बन्द कर दिए जायें। अन्न उपज बढाने का प्रत्येक राज्य का कोटा निश्चित किया गया। योजना की अवधि में ६० लाख एकड पडती भूमि को हल के नीचे लाने का उद्देश्य था, जिससे अन्न उपज मे २० लाख टन वृद्धि होने की आशा थी। इस कार्य के लिये केन्द्रीय ट्रैक्टर सघ की स्थापना की गई। जहाँ पर पूरे वर्ष पानी की सुविधाएँ प्राप्त थी, ऐसी कृषि-

भूमि पर गहरी खेती करने पर जोर दिया गया। इसके अलावा सिंचाई के साधनो का विकास एव सुधार, भूमि कटाव रोकने के प्रयत्न, नैसर्गिक एव रसायनिक खाद, अच्छे औजार एव कृषि के यन्त्रीकरण से अन्न-उत्पादन बढाने पर जोर दिया गया तथा मूंगफली, आलू आदि सहायक खाद्य फसलो के उपजाने पर भी जोर दिया गया। इस योजना का अनुमानित व्यय २८२ करोड रुपये था।

इसके अलावा सरकार ने विज्ञापन आदि प्रचार साधनो से खाद्यान्न की सुरक्षा के लिए तथा उपलब्ध अन्न का अधिकतम् उपयोग करने के लिए जनता से सहयोग की माग की। साथ ही, रईसो, बडे बडे पदाधिकारियो के बगलो के आस पास की भूमि मे साग, फल इत्यादि की उपज द्वारा सहायक खाद्य पदार्थो की उपज करने का प्रस्ताव रखा। भूमि कटाव को रोकने लिए अगस्त सन् १९५० से वन-महोत्सव कार्यक्रम शुरू किया गया, परन्तु लगाए गए पौधो की समुचित देखभाल के अभाव मे वन महोत्सव आशातीत सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

सरकार ने खाद्य समस्या को हल करने के पूर्ण प्रयत्न किये। जनता को उपवास करने, एक समय के भोजन मे अन्न का उपयोग न करने तथा सब्जियो के अधिक उपयोग करने सम्बन्धी अनेक क्रियात्मक सुझाव दिये गये। परन्तु सन् १९५१ तक खाद्य स्थिति लगातार खराब होती गई। विभाजन के परिणामस्वरूप बहुत सी कृषि भूमि पर जूट की खेती प्रारम्भ कर दी गई थी। शरणार्थियो का आगमन भी हो रहा था, साथ ही राजनैतिक परिस्थितियाँ भी विपक्ष मे हो गई। कोरिया मे युद्ध प्रारम्भ हो गया और तृतीय विश्व युद्ध की आशङ्का की जाने लगी। जहाजो के मिलने मे भी कठिनाई उपस्थित हुई, अत. १२ औंस राशन देना सरकार की शक्ति के बाहर हो गया और १९ जनवरी सन् १९५१ से प्रति व्यक्ति राशन की मात्रा घटाकर ९ औंस कर दी गई।

खाद्य सकट से मोर्चा लेने के लिए अगस्त सन् १९५० मे एक खाद्य मन्त्री सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमे निम्न निर्णय लिया गया'—

(१) केन्द्र तथा प्रान्तो की खाद्य नीति मे समानता होना।
(२) आयात बन्द करने की तिथि मार्च सन् १९५१ तक अन्न धान्य मे आत्म निर्भर होने के लिए खाद्यान्न का उत्पादन बढाना।
(३) खाद्य-समस्या को युद्ध-कालीन स्तर पर रख कर उसके लिए आवश्यक कार्यवाही करना।
(४) सभी प्रान्तो मे नियन्त्रित खाद्यान्नो की उपज बढाने पर जोर देना तथा प्रयत्नशील होना।
(५) चोर बाजारी, लाभखोरी रोकने के लिये प्रयत्न करना एव दोषी व्यक्ति को कडा दण्ड देना।
(६) प्रान्तीय अन्न धान्यो के मूल्य मे समानता रखने के लिये प्रयत्न करना।
(७) खाद्य स्थिति की समय समय पर छानबीन करना।

परन्तु इतना करते हुए भी भारत खाद्यान्न मे आत्म निर्भर न हो सका। इसलिए आत्म-निर्भर होने की लक्ष्य तिथि बढाकर मार्च सन् १९५२ कर दी गई थी।

अधिक अन्न उपजाओ जॉच समिति (सन् १९५२)—

पच वर्षीय खाद्यान्न योजना के अन्तर्गत क्या कार्य हुआ, इसकी जाँच करने तथा भविष्य मे देश को अन्न मे स्वावलम्बी बनाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति' (Grow More Food Enquiry Committee) की नियुक्ति फरवरी सन् १९५२ मे की गई। इस समिति ने १ जुलाई सन् १९५२ को अपनी रिपोर्ट सरकार के सामने रखी।

समिति ने खाद्य समस्या के सम्बन्ध मे निम्न बातें स्पष्ट की—

(१) सन् १९३७ में भारत से वर्मा पृथक हो जाने के कारण १५ से २० लाख टन चावल के आयात पर गहरा प्रभाव पडा।

(२) सन् १९४७ मे भारत के विभाजन से ७० से ८० लाख टन खाद्यान्न की वार्षिक हानि हुई।

(३) जन सख्या मे अविरत वृद्धि होती रहने के कारण भारत के खाद्यान्न की वार्षिक मांग ४५ लाख टन से बढ रही है।

(४) आजकल कृषकों के जीवन-स्तर मे सुधार हो जाने से अन्न धान्य के उपभोग की मात्रा मे भी वृद्धि हो गई है।

(५) इण्डियन कौंसिल ऑफ ऐग्रीकल्चरल रिसर्च के अनुसार भारतीय कृषि की प्रति एकड उपज मे उल्लेखनीय वृद्धि अथवा कमी नही हुई है,

(६) यह समस्या ऐसी नही है कि जिसे केवल अन्न आयातो से ही सुलझाया जा सकता हो, अपितु इस समस्या का हल इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे कृषि क्षेत्र एव उपज मे इतना विस्तार हो कि हमारी वृद्धिगत जन-सख्या को वृद्धिगत परिमाण मे पोषक अन्न मिल सके।

समिति ने 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत जो विभिन्न योजनायें चालू थी उनका मूल्यांकन किया तथा वह निम्न निर्णय पर पहुँची —

(अ) ग्राम विकास की सब योजनाओ में स्थायी योजनाओ को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। (ब) विविध स्थायी योजनाओ मे भी छोटी मोटी सिंचाई की योजनाओ को महत्त्व देना चाहिए। इसमे भी वतमान सिंचाई के साधनो की दुरुस्ती तथा बहाव-सिंचाई (Flow Irrigation) की छोटी योजनाओ को प्राथमिकता देना चाहिए। (स) भूमि सुधार तथा भूमि-सरक्षक योजनाओ तथा (द) अच्छे बीजों के प्रदाय की योजनाओ पर समुचित ध्यान देना चाहिए।

समिति ने अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन की असफलता के दो प्रमुख कारण बतलाये —

(१) योजना की व्याप्ति (Scope) सीमित एव सकीर्ण (Narrow) है तथा इसके मूल उद्देश्य मे समय समय पर परिवतन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ मे खाद्यान्न मे आत्म निर्भरता उद्देश्य था। किन्तु कुछ ही महीनो बाद जैसे ही औद्योगिक कच्चे माल की समस्या उपस्थित हुई, वैसे ही इस योजना की खाद्यान्न, रुई तथा पटसन की एकत्रित-उत्पादन योजना बनाई गयी। इसके बाद भूमि परिवर्तन की पचमुखी योजना सामने आई, जिसके अन्तर्गत पशु सम्पत्ति मे सुधार, मच्छीमारी का विकास, भूमि-परिवतन आदि पहलुओ पर जोर दिया गया। परन्तु योजना में परिवर्तन के साथ-साथ उसकी कार्य पद्धति मे कोई परिवतन नही किया गया और न यही सोचा गया कि ग्राम जीवन के सब पहलू परस्पर सम्बन्धित हैं, जिनको विभिन्न योजनाओ से पूरा नही किया जा सकता। इसके अन्तर्गत खाद, अच्छे बीज आदि का प्रदाय और आर्थिक नियोजन भी विस्तृत योजना की दृष्टि से कम था, जिसका फैलाव छोटे क्षेत्र पर केन्द्रित नहीं हुआ।

(२) यह आन्दोलन अस्थाई था, क्योंकि देश को निश्चित् तिथि तक खाद्यान्न मे आत्म-निर्भर बनाना इसका मूलभूत उद्देश्य था-। अत इसकी पूर्ति के लिए अस्थाई कर्मचारियो की जिम्मेवारी थी, जिन्होने इस कार्य को लगन से पूरा नही किया। इस कारण यह आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप मे कार्यान्वित न हो सका।

इसलिए समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें की —(१) वर्तमान समय में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' को इतना विस्तृत बनाया जाय कि जिसमे ग्राम-जीवन के सभी पहलुओ का समावेश हो। (२) सरकार के शासन यन्त्र का पुनगठन इस हेतु किया जाय कि जिससे वह अपना कार्य भारत को कल्याणकारी राज्य बनाने की दृष्टि से करे। (३) गाँवो के ६ करोड कुटुम्बो को अपने प्रयत्नो द्वारा सुधारने के लिए अशासकीय नेतृत्व को गतिशील बनाकर उसका उपयोग किया जाय। (४) समिति ने अपनी सिफारिशो मे राष्ट्रीय विस्तार सेवाओ की भी सिफारिश की, ताकि ग्रामीण कार्य में व्यापकता लाई जाय। इस तरह पच-वर्षीय योजना की अवधि मे १,२०,००० गाँव इस सेवा का लाभ उठा सकेंगे।

'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के परिणाम-स्वरूप खाद्य स्थिति में सुधार हुआ। सन् १९५३ की फसल पर्याप्त अच्छी रही और सन् १९५४ की फसल और भी अधिक अच्छी रही। सन् १९५२-५३ मे कुल उत्पादन ५ ८ करोड टन था, जो सन् १९५३-५४ मे ६ ८७ करोड टन हो गया।

प्रथम पच-वर्षीय योजना मे खाद्य उत्पादन को सर्वोच्च प्राथमिकता थी और उत्पादन का लक्ष्य ६ १६ करोड टन निश्चित किया गया। खाद्य उत्पादन की दृष्टि से हमारी प्रथम योजना सफल रही और सन् १९५१-५२ मे होने वाला उत्पादन ५ १२ करोड टन से बढकर सन् १९५५-५६ मे ६ ५९ करोड टन हो गया। सन् १९५६-५७ में १४ लाख टन की वृद्धि हुई और हमारा खाद्य उत्पादन ६ ६३ करोड टनरहा।

खाद्य उत्पादन मे वृद्धि के परिणामस्वरूप जनवरी सन् १९५४ से मोटे अनाजो पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। गेहूँ पर से भी कुछ समय पश्चात् नियन्त्रण हटा लिया गया। आयातो मे कमी कर दी गई। सन् १९४८ में हमारा भुगतान शेष १२९.७ करोड से विपक्ष मे था, जो बढकर सन् १९४९ मे १४४.६ करोड हो गया था। सन् १९५१-५२ मे हमने २३०.३ करोड रु० का खाद्यान्न आयात किया था। सन् १९५४-५५ मे आयात पर केवल ७०.५ करोड रु० ही व्यय किए गए। मोटे अनाजो का आयात बन्द कर दिया गया, परन्तु बढते हुए उत्पादन ने एक नई समस्या उत्पन्न कर दी। खाद्य पदार्थो के मूल्य गिरने लगे। गेहूँ का मूल्य निर्देशाक, जो अप्रैल सन् १९५१ मे ४९४ था, घटकर सन् १९५५ मे २७२.४ पर आ गया। ऐसी आशङ्का व्यक्त की जाने लगी कि गेहूँ का भाव १० रु० मन से भी कम न हो जाय, अतः उत्तर-प्रदेश और पजाब की सरकारो ने यह घोषणा की कि यदि भाव और गिरे तो सरकार १० रु० मन पर गेहूँ खरीदना प्रारम्भ कर देगी।

सन् १९५६ से परिस्थिति फिर बिगडने लगी। मूल्य निर्देशाक† दिसम्बर सन् १९५५ मे ३८५ से बढकर दिसम्बर सन् १९५६ मे ५७२ पर पहुँच गया। चावल और गेहूँ पर सट्टा होने लगा तथा व्यापारियो ने अनावश्यक अन्न सग्रह करके कृत्रिम अभाव की स्थिति भी उत्पन्न कर ली। योजना काल में जो अत्यधिक विकास व्यय हो रहा था उससे जन-साधारण की क्रय शक्ति मे भी सुधार हुआ था और मांग बढने के कारण मूल्य बढ रहे थे।

सरकार ने अन्न अभाव को दूर करने और मूल्य वृद्धि रोकने के यथासम्भव प्रयत्न किए। आवश्यक वस्तु अधिनियम की धाराओ में सुधार किए गए और बैको द्वारा खाद्यान्न की जमानत पर ऋण देने पर रोक लगा दी गई। जनवरी सन् १९५६ में चावल और मोटे अनाजो के निर्यातो पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। आयात की मात्रा बढा दी गई और सन् १९५५ मे होने वाले ७ लाख टन के आयात को बढाकर १४.२ लाख टन कर दिया गया। सरकार ने सयुक्त राष्ट्र अमेरिका से एक समझौता किया है, जिसके अनुसार ३० जून सन् १९५९ तक भारतवर्ष २२.६४ करोड डालर का गेहूँ और चावल का आयात करेगा। चीन से ६०,००० टन चावल के आयात का अनुबन्ध किया गया और बर्मा से पाच वर्षो के भीतर २० लाख टन चावल के आयात की व्यवस्था की गई है। आस्ट्रेलिया आदि अन्य देशो से भी आयात सम्बन्धी समझौते किए गए हैं।

गेहूँ के स्थानातरण मे सुविधा हेतु तीन गेहूँ क्षेत्रो का निर्माण जून सन् १९५७ मे किया गया, जो इस प्रकार है —

(१) पजाब, हिमाचल-प्रदेश और दिल्ली,
(२) उत्तर-प्रदेश,
(३) राजस्थान, मध्य प्रदेश और बम्बई (बम्बई शहर को छोडकर)।

† Economic Adviser' &Index Number

इन क्षेत्रो के निर्माण का उद्देश्य, सम्बन्धित क्षेत्रो में गेहूँ के अबाधित स्थानान्तरण की सुविधा उपलब्ध करना, बिना राज्य सरकारो की अनुमति के क्षेत्रो में आयात तथा निर्यात पर रोक लगाना है। आन्ध्र-प्रदेश, मद्रास, मैसूर और केरल को मिलाकर एक चावल क्षेत्र का भी निर्माण किया गया है।

ख. धान्य जॉच समिति सन १९५७—

सरकार यह जानना चाहती थी कि उत्पादन और आयातो मे वृद्धि होने पर भी खाद्य पदार्थों के मूल्यो मे वृद्धि क्यो हुई तथा सट्टा, अनावश्यक अन्न सग्रह, आदि को किस प्रकार रोका जा सकता है। अत २४ जून सन् १९५७ को एक खाद्यान्न जांच समिति नियुक्त की गई, जिसके अध्यक्ष श्री अशोक मेहता थे। समिति की रिपोर्ट १९ नवम्बर सन् १९५७ को प्रकाशित हुई। समिति ने गत वर्षों की खाद्यान्न स्थिति, सरकारी नीति, खाद्य वितरण व्यवस्था, उत्पादन तथा मूल्यो का अध्ययन कर निम्न सिफारिशें की :—

(१) अगले कुछ वर्षो मे खाद्यान्नो का मूल्य अस्थायी रहेगा और उसमे उतार-चढ़ाव होगे, अत. सरकार को मूल्यो मे सुधार हेतु विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

(२) सरकार द्वारा एक मूल्य स्थिरीकरण (Stabilization) बोर्ड की स्थापना की जाय, जो खाद्यान्नो से सम्बन्धित मूल्य नीति निर्धारित करे और उसे कार्यान्वित करने हेतु योजनायें बनाये।

(३) एक खाद्यान्न स्थिरीकरण सगठन का निर्माण किया जाय, जो मूल्य स्थायित्व बोर्ड द्वारा निर्धारित नीति एव कार्यक्रमो को कार्यान्वित करे।

(४) खाद्य वितरण से सम्बन्धित अल्पकालीन नीति के विषय मे समिति ने कहा कि यह कार्य सस्ते अनाज की दूकानो, सहकारी समितियो तथा ऐसे ही अन्य सगठनो द्वारा किया जाय।

(५) बम्बई, राजस्थान, मध्य-प्रदेश, उडीसा, बगाल, आसाम, बिहार तथा पूर्वी उत्तर-प्रदेश, जहाँ अवसर खाद्य अभाव की स्थिति बनी रहती है, के विषय मे समिति ने कहा है कि वहा मुख्यत: क्रय-शक्ति का अभाव है। अत. ग्रामोद्योग प्रारम्भ करके, बेकारी मे कमी करके, सिचाई के साधन उपलब्ध करके वहाँ के निवासियो के आर्थिक जीवन मे सुधार करना चाहिये।

(६) अन्न आयात किए बिना अन्न का भण्डार रखना या कमी के क्षेत्रो मे अन्न प्रदाय करना सम्भव नही होगा। समिति का अनुमान है कि २० से ३० लाख टन खाद्यान्न का आयात करना होगा। इस हेतु समिति ने सुझाव दिया है कि अमेरिका से गेहूँ के तथा बर्मा से चावल के आयात के सम्बन्ध मे दीर्घकालीन समझौता किया जाय।

इसके अलावा समिति ने परिवार नियोजन खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि आदि बातो के सम्बन्ध में भी सिफारिशे की थी।

सरकार ने क्षेत्रीय प्रतिबन्ध और सस्ती दुकानो सम्बन्धी लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली हैं, परन्तु मूल्य स्थिरीकरण बोर्ड एव खाद्यान्न स्थिरीकरण सगठन की स्थापना सम्बन्धी सिफारिशें स्वीकार नही की गई ।[1]

द्वितीय पच वर्षीय योजना मे १ करोड टन अतिरिक्त खाद्य उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया था । इसे बढाकर अब १ ५५ करोड टन कर दिया गया है ।[2] इसका तात्पर्य यह हुआ कि सन् १९६०-६१ मे ८ ०५ करोड टन खाद्य उत्पादन की आशा व्यक्त की गई है, परन्तु अर्थ शास्त्रियो ने इसकी सफलता पर आशका व्यक्त की है । अशोक मेहता समिति का यह अनुमान है कि सन् १९६० ६१ मे हमा ा खाद्य उत्पादन ७ ७५ करोड टन होगा, जब कि उस समय हमारी मांग ७ ९० करोड टन रहेगी । इस प्रकार १५ लाख टन की कमी उस समय भी बनी रहेगी । मेहता समिति का यह अनुमान गत खाद्यान्न उत्पादन के आंकडो को देखते हुए वास्तविकता के समीप ही प्रतीत होता है ।[3]

तीसरी पच-वर्षीय योजना मे वर्तमान अन्न सकट को देखते हुए कृषि को प्राथमिकता दी गई है तथा कृषि के हेतु ६२५ करोड रु० का आयोजन है । परन्तु अभी योजना आयोग इस राशि के सम्बन्ध मे विचार कर रहा है । तीसरी योजना मे उत्पादन २ ५० करोड टन से बढाने का लक्ष्य है, जिससे देश की कुल पैदावार १० करोड टन हो सके । किन्तु लक्ष्य १० ५० करोड टन के बीच रखा गया है, जिसका अर्थ है कि उत्पादन ५० लाख टन कम होगा ।

आयोग के सूत्रो का कथन है कि यदि तकनीकी साधनो का प्रयोग किया गया तो लक्ष्य की पूर्ति ही नही अपितु और अधिक उत्पादन हो सकता है ।

लक्ष्य को घटने बढने वाला रखने का प्रमुख कारण यह है कि इसकी पूर्ति मे मानसून का काफी हाथ रहेगा । पैदावार मे वृद्धि केवल प्रोत्साहन पर नही अपितु कृषको के परिणाम पर निर्भर करती है । आयोग के अनुसार तीसरी योजना मे अन्त तक १० लाख टन उर्वरक का पूरी तरह प्रयोग होने लगेगा । किन्तु विशेषज्ञो के अनुसार वस्तुत तब तक उत्पादन नही हो सकेगा ।[4]

कृषि मत्री सम्मेलन (अगस्त सन् १९६०)—

इस सम्मेलन का हेतु निम्न दो प्रश्नो पर विचार करने का था —(१) तीसरी योजना के प्रारूप मे कृषि क्षेत्र के लिए निर्धारित राशि पर्याप्त है या नही, (२) देश को खाद्यान्न में आत्म निभर बनाने के लिए कौन से कदम उठाए जाने चाहिये ।[5]

---

1 Fresh Thinking on Food Needed, Commerce dated 9th August 1958

2 Indian Information, Sept 15, 1958

३ देखिए इसी अध्याय में ।

४ नवभारत टाइम्स—अगस्त २०, १९६० ।

५ नवभारत टाइम्स—अगस्त २०, १९६० ।

सम्मेलन में केन्द्रीय खाद्य-मन्त्री श्री० एस० के० पाटिल ने कहा कि आगामी ५ वर्षों में देश को अनाज की दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने के लिए केन्द्र तथा राज्य-सरकारों की ओर से विशेष प्रयास होना चाहिये। उन्होने कहा कि भारत-अमरीकी अन्न आयात समझौते मे जो अनाज हमें मिलेगा उससे कुछ दिनों के लिए राहत मिलेगी। इस बीच हम देश मे अनाज का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयास कर सकेंगे।

भारत अमरीकी अन्न आयात समझौते से जो अनाज हमे मिलेगा उससे हमें कुछ दिन के लिए राहत मिलेगी। इस बीच मे हम देश मे अनाज की उपज बढाने का प्रयास कर सकेंगे।

श्री पाटिल ने कहा कि कम उत्पादन और उत्पादन बढने की सम्भावना को देखते हुए देश को आत्मनिर्भर बनाने का कार्य कोई कठिन नही है

उन्होने कहा कि मुझे विश्वास है कि यदि सभी राज्य प्रयास करें तो तीसरी पञ्च-वर्षीय योजना की अवधि मे देश को आत्म-निर्भर बनाने का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है।

श्री पाटिल ने कहा कि जब तक वास्तविक कृषक को समाज मे उचित महत्त्व नही प्राप्त होता, कोई भी कृषि विकास योजना सफल नही हो सकती।

उन्होने कहा कि कृषको मे यह विश्वास पैदा किया जाना चाहिए कि उनके साथ उचित व्यवहार हो रहा है। यह निश्चित है कि जब तक किसान यह महसूस नही करेंगे कि कृषि विकास में उनका सक्रिय सहयोग जरूरी है तब तक कृषि विकास मे सफलता नही मिलेगी। इसलिए प्रस्तावित कृषि वस्तु सलाहकार समिति की स्थापना का विचार किया जा रहा है। यह समिति सरकार को न केवल कृषि वस्तुओं की मूल्य नीति के सिलसिले मे बल्कि कृषि उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमो पर सलाह देगी।

कृषि मन्त्री श्री पंजाबराव देशमुख ने कहा कि चालू मौसम में खरीफ आन्दोलन विशेष फसल उत्पादनो मे चौथा है। रबी उत्पादन के मौसम मे भी उक्त प्रकार का आन्दोलन शुरू करने का विचार है। जिला स्तर पर जो कृषि कार्यक्रम किसी प्रतिष्ठान के सहयोग से चालू किया जाने वाला है उससे कृषि विकास में और अधिक प्रगति होगी।

उन्होने कहा कि विभिन्न व्यापारिक फसलो जैसे कपास, जूट, गन्ना और तिलहन के लिए भी विशेष आन्दोलन चालू है।

/ श्री पाटिल ने कहा कि अनाजो, तिलहन, गन्ना, कपास तथा अन्य कृषि वस्तुओ के उत्पादन का तीसरी योजना के निर्धारित लक्ष्य पूरा करने के लिए कृषि उत्पादन में प्रति वर्ष औसतन ६ प्रतिशत की वृद्धि जरूरी है। उन्होने कहा कि तीसरी योजना की अवधि मे कृषि उत्पादन में ३० से ३३ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य है। इस अवधि मे अन्न उत्पादन बढा कर १० करोड ५० लाख टन करने का लक्ष्य है।

तीसरी योजना मे कृषि के लिए निर्धारित ६ अरब २५ करोड रु० से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए विभिन्न कार्यक्रमो मे अधिक से अधिक समन्वय पैदा होना चाहिए।

कृषि क्षेत्र मे अब तक जो प्रगति हुई है वह उत्साहजनक है, लेकिन उससे भी अधिक प्रगति की जरूरत है। कई मामलो मे सफलतायें निर्धारित लक्ष्य से कम हैं। उन्होने कहा कि बढती जन-सख्या को भोजन देने के लिए कृषि उत्पादन मे तेजी से वृद्धि जरूरी है।[1]

निष्कर्ष—

पिछले वर्षों के इतिहास से ज्ञात होता है कि खाद्य सामग्री की कमी का कारण अनावृष्टि ही थी। सिंचाई योजनाओ से सिंचाई की सुविधायें बढी हैं, लेकिन उनसे जितनी जमीन सीची जा सकती है उतनी नही सीची जा रही है। रसायनिक खादो की भी देश में कमी है। हमारी वर्तमान नाइट्रोजन खाद की आवश्यकता १५.५ लाख टन है, जबकि इसकी केवल ५५ प्रतिशत मॉग ही पूरी हो रही है। इस हेतु तीसरी योजना मे नागल (८०,००० टन), रूरकेला (८०,००० टन), नेवेली कारखानो (७०,०००) से सन् १९६१-६२ तक खाद का प्रदाय आरम्भ हो जायगा, ऐसा अनुमान है।[2]

अनाज की जमीन पर व्यापारिक फसले बोने के विषय में सरकार ने यह मत व्यक्त किया है कि अनाज की जमीन पर व्यापारिक फसले न बोई जाएँ। साथ ही, हम यह भी चाहते हैं कि व्यावसायिक फसलो के वर्तमान क्षेत्रफल मे घटा बढी हो। जो भी उत्पादन बढे वह गहन खेती के माध्य से बढे। अनेक अर्थशास्त्रियो तथा श्री सी० डी० देशमुख ने कृषि नीति के पूर्ण आवर्तन (Thorough Re orientation) की मॉग की है। श्री देशमुख ने एक राष्ट्रीय खाद्य उत्पादन समिति (National Food Production Council) की स्थापना की मॉग की है,[3] जो ग्रामीण स्तर पर खाद्य उत्पादन के लक्ष्य निश्चित करे तथा लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु उचित सगठन की रचना करे। उन्होने इस समस्या को हल करने के लिए राजनीति-रहित प्रयत्न (Non-political approach) की मॉग की है। अन्त मे, यह ध्यान रखना चाहिए कि खाद्य उत्पादन की कोई भी योजना बिना लाखो किसानो के सहयोग के प्राप्त नही की जा सकती। सरकार द्वारा कृषक और कृषि मे सुधार, जैसे—कुँए खोदने और उनकी मरम्मत करने, नल कूप लगाने किसानो को रसायनिक खादो एव अन्य खाद तथा अच्छे बीजो का वितरण, मछली पालन योजनायें, मेढ बाँधने, बेकार जमीन को साफ करने और उसे खेती योग्य बनाने, पौधो की रक्षा और उन्हे रोगो से

1 नवभारत टाइम्स अगस्त, २७, १९६०।
2 Eastern Economist, August 12, 1960
3 Commerce dated 9th August, 1958.

बचाने की योजनायें, प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाने तथा रबी की फसल बढ़ाने के विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं। किसानों को खेती के अच्छे तरीके बताये जा रहे हैं तथा ग्रामीण कार्यकर्ता और किसानों में सहयोग पैदा करके उनमें प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए उत्साह उत्पन्न किया जा रहा है। इन प्रयत्नों को देखते हुए हमारे खाद्य मन्त्री को विश्वास है कि भारत आगामी ५ वर्ष में खाद्यान्न में आत्म निर्भर हो जायगा।

परिशिष्ट*

गेहूँ एवं चावल के क्षेत्रों की समाप्ति का संकेत—

खाद्य मन्त्री श्री पाटिल ने लोक सभा में गेहूँ के सम्बन्ध में क्षेत्रीकरण की समाप्ति का जो संकेत दिया है वह कोई नई बात नहीं है। इसकी गन्ध तो आज से लगभग सात मास पूर्व उसी दिन मिल गई थी जब उन्होंने लोक सभा के मंच से ही यह घोषणा की थी कि 'बारह मास के भीतर ही मैं अन्न के सम्बन्ध में समस्त देश को एक क्षेत्र बनाने की कोशिश करूंगा।' इसके बाद गत १७ अप्रैल को राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में भी उन्होंने इस बात पर बल दिया था और कहा था कि अन्न का मुक्त यातायात बहुत जरूरी है। इसलिए उक्त संकेत वस्तुतः उनके अनेक बार घोषित पूर्व विचार के शीघ्र ही मूर्त रूप ग्रहण करने का ही सूचक है।

अन्न के विषय में क्षेत्रीकरण की व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि जिन प्रदेशों में अन्न की बहुलता है वे अन्नाभाव से पीड़ित न हों। होता प्रायः यह था कि अन्न बहुल प्रदेश के व्यापारी अर्थ के लोभ से अन्नाभाव-ग्रस्त क्षेत्र में महंगे दामों पर अन्न भेज देते थे और इस प्रकार जब अन्न बहुल प्रदेश में ही अन्न की कमी हो जाती थी तो वहाँ के निवासियों के लिए या तो अन्न दुर्लभ हो जाता था अथवा बहुत महंगे दामों पर मिलता था। यह स्थिति निश्चय रूप से वाञ्छनीय नहीं थी। इसके साथ ही सरकार यह भी नहीं चाहती थी कि कोई प्रदेश अन्नोत्पादन की दृष्टि से हीन होने के कारण सर्वथा अभावग्रस्त रहे। इसलिए ऐसी व्यवस्था की गई कि अन्नबहुल और अन्नाभाव ग्रस्त समीपवर्ती राज्यों को मिलाकर पृथक-पृथक अनेक अन्न क्षेत्र बनाये गये। इसका यह लाभ हुआ कि अन्नबहुल राज्यों के निवासियों को भी अन्न उचित दामों पर मिल सका और उसमें लगे अन्नाभाव ग्रस्त राज्य के लोग भी भूखे न रहे। अन्न की महंगाई और अभाव पर विजय की दृष्टि से क्षेत्रीकरण की यह व्यवस्था काफी सफल रही। यह प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक है कि जो व्यवस्था इतनी लाभप्रद रही है अब उसका परित्याग क्यों किया जा रहा है।

---

* नवभारत टाइम्स सम्पादकीय—१२ अगस्त १९६०।

क्षेत्रीकरण की व्यवस्था तब लागू की गई थी जब देश मे अन्न की कमी और महगाई थी। सन्देह है कि देश आज भी अन्न के विषय मे आत्म-निर्भर नही हो पाया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि पूर्वापेक्षा-स्थिति अधिक अनुकूल हुई है। यह ठीक है कि सन् १९५९-६० के वर्ष मे उतना अन्नोत्पादन नही हो सका जितना सन् १९५८-५९ मे (७ करोड ३५ लाख टन) हुआ था, किन्तु सन् १९६० मे अन्न के उज्ज्वल भविष्य की आशा तथा विदेशी सहायता से अन्न विषयक अनुकूल स्थिति बनने में बहुत सहायता मिली है। खाद्य तथा कृषि उपमन्त्री श्री थोमस के अनुसार चावल तथा खरीफ की अन्य फसलो के मूल्य मे भले ही वृद्धि हुई हो, किन्तु गेहूँ का जो मूल्य सूचक अक अप्रैल मे ९१ था वह मई मे ८७ पर आ गया और जून में भी वही रहा है। गेहूँ के सम्बन्ध मे यह सुधरती स्थिति अब क्षेत्रीकरण की आवश्यकता को व्यर्थ सिद्ध कर रही है।

चावल के विषय मे अभी ६-७ मास पूर्व पश्चिमी बगाल और उडीसा का एक क्षेत्र बनाया गया था और अभी गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य-प्रदेश को भी एक अन्न क्षेत्र बनाये जाने पर विचार किया जा रहा है, किन्तु जहाँ तक गेहूँ का प्रश्न है, देश में उसकी ऐसी कोई कमी नही है जिससे उसके विषय मे भी क्षेत्रीकरण की आवश्यकता हो। अभी कुछ समय पूर्व भारत और अमरीका के बीच जो गेहूँ समझौता हुआ है उसके अनुसार भारत को अमरीका से चार वर्षो के भीतर १ करोड ७० लाख टन अन्न मिलने वाला है। इस अन्न मे चावल की मात्रा अवश्य बहुत कम है, किन्तु गेहूँ का जो भाग है वह न केवल अन्न की महगाई और कमी को दूर करने मे सहायक होगा, अपितु उससे अन्न विषयक किसी सकटकाल का भी मुकाबला किया जा सकेगा।

श्री पाटिल का कथन है कि समस्त देश एक ही अन्न क्षेत्र होना चाहिए। यह सिद्धान्तत. उचित भी है। जब सारा देश एक है तो उसके सब हिस्सो के सुख दुख भी बटने चाहिए। एक प्रदेश के लोग खूब खा-पीकर चैन करें और दूसरे अन्नाभाव के कारण घास फूस खाकर जीवन व्यतीत करते हो, यह अपने को एक एव अखड कहने वाले देश के लिए किसी भी प्रकार क्षम्य नही। इसलिए सबके लिए समान रूप से अन्न वितरण की व्यवस्था करके क्षेत्रीकरण को जितनी भी जल्दी विदा दी जाय उतना ही अच्छा है। आज अन्न का जो अनुचित सग्रह तथा चोरी छिपे यातायात चल रहा है वह भी इससे समाप्त हो जायगा।

गेहूँ की अनुकूल स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए उसके क्षेत्रीकरण की समाप्ति तो उचित है, परन्तु उसके साथ ही ऐसी निर्दोष व्यवस्था की भी आवश्यकता है कि इसके पुन जारी करने की नौबत न आये। वह तभी सम्भव है जब देश मे अन्नोत्पादन की गति को तीव्र से तीव्रतर किया जाय और वितरण से मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार को सर्वथा समाप्त कर दिया जाय।

करके कृषि की जा सकती है। यद्यपि बोये गये क्षेत्रफल मे वृद्धि प्रतीत होती है, किन्तु गत तीस वर्षो में प्रति व्यक्ति बोये गये क्षेत्रफल मे कमी हुई है, क्योकि क्षेत्रफल के अनुपात मे जन-सख्या तीव्र गति से वढ रही है।

फसलो का सापेक्षिक महत्त्व—

भारत मे उत्पादित कृषि पदार्थों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

(अ) फसलो की विविधता।

(ब) अखाद्य फसलो की अपेक्षा खाद्य फसलो की अधिकता।

सन् १९५५-५६ मे ८२ प्रतिशत भूमि पर खाद्य पदार्थ उत्पन्न किये जाते थे, जबकि व्यापारिक फसलें केवल १८ प्रतिशत भूमि पर उत्पन्न होती थी। ऐसा अनुमान है कि प्रथम योजना के अन्त में २७ ४ करोड एकड भूमि पर खाद्य पदार्थ, गन्ना, तम्बाकू, दाले आदि उत्पन्न की जाती थी और अखाद्य फसलें तेल के बीज, चाय आदि का उत्पादन केवल ६ ४ करोड एकड भूमि पर होता था।

सन् १९५५ ५६*

	क्षेत्रफल लाख एकड
चावल	७६३
गेहूँ	२९२
ज्वार, बाजरा आदि	१,०५५
दालें	५५०
मूंगफली	१२६
गन्ना	४५
कपास	२०२
जूट	२२

उक्त सारिणी से स्पष्ट है कि खाद्य पदार्थ विशेषकर गेहूँ और चावल का अत्यधिक महत्त्व है और देश की अर्थव्यवस्था में उचित सन्तुलन का अभाव है। यह एक अत्यन्त दुखद बात है कि खाद्य उत्पादन में देश की तीन चौथाई जन-सख्या और ⅘ भूमि से लगे रहने पर भी खाद्य पदार्थों का अभाव है और आयातो की मात्रा लगातार वढती जा रही है।

देश के अधिकाश भाग में दो फसलें पैदा होती हैं—खरीफ और रबी। खरीफ की फसलो में चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, गन्ना, उद, मूंग और मूंगफली हैं। यह वरसात की फसल है। रबी की फसल में मुख्यत गेहूँ, चना, जो, मटर, सरसो को सम्मिलित किया जाता है। रबी जाडे की फसल है। चावल विभिन्न राज्यो में

* Indian Agriculture in brief 1956

गर्मी, शीत और शरद तीनो ऋतुओ में उत्पन्न किया जाता है। भारतीय फसलो को सरलता से निम्नलिखित भागो में बाँटा जा सकता है :—

(अ) खाद्य फसलें—गेहूँ, चावल, जौ, ज्वार, बाजरा, दालें आदि।

(ब) तिलहन—मूँगफली, तिल, सरसो, अलसी, राई आदि।

(स) रेशेदार पदार्थ (Fibres)—कपास, जूट।

(द) पेय (Beverages)—चाय, कहवा।

(इ) अन्य—सिनकोना, रबर, मसाले, तम्बाकू, सुपारी आदि।

खाद्य फसलें—

(१) चावल—यह भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण फसल है। यह निचले, अधिक वर्षा वाले तथा गर्म प्रान्त मे बोया जाता है। यह ठड की फसल है और साधारणतः दिसम्बर-जनवरी में काटी जाती है, परन्तु कांगडा की पहाडी और काश्मीर की घाटी जैसे ठन्डे स्थानो मे यह गर्मी मे उत्पन्न किया जाता है। देश मे चावल ७ ८२ करोड एकड भूमि पर बोया जाता है, जो कुल बोई जाने वाली भूमि का लगभग एक-चौथाई है। यह दक्षिण एव पूर्वी प्रदेशो में अधिक होता है, क्योकि वहाँ इसके अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। चावल उत्पादन करने वाले प्रमुख प्रदेश बगाल, बिहार, पूर्वी उत्तर-प्रदेश, मद्रास, असम, उडीसा, केरल और मध्य-प्रदेश हैं।

गत वर्षों मे चावल का उत्पादन एव क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है :—[1]

वर्ष	लाख एकड	लाख टन
१९४७-४८	६४७	२१७
१९५३-५४	७७३	२७८
१९५४-५५	७५९	२४५
१९५५-५६	७६९	२६८
१९५६-५७	७८२	२८१
१९५७-५८	७९०	२४९
१९५८-५९	[illegible]	२९७[2]

भारत मे चावल की स्थिति सन् १९३६ तक सतोषप्रद थी, परन्तु सन् १९३७ में बर्मा के पृथक होने के कारण हमारे आन्तरिक उत्पादन मे १३ लाख टन की कमी हो गई। द्वितीय युद्ध प्रारम्भ होने के समय सन् १९३९ ४० मे हम १८ लाख टन चावल का आयात करते थे, जो मुख्यत बर्मा से होता था।

सन् १९४९ में दक्षिण-पूर्वी एशिया मे चावल का उत्पादन बढाने और वितरण व्यवस्था में सुधार करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय चावल आयोग ने सम्बन्धित समस्याओ का अध्ययन किया और निम्न सुझाव प्रस्तुत किये —

1 India 1958 & 59

२ सम्पदा—अप्रैल सन् १९६०।

(अ) उत्तम प्रकार के वीजो का प्रयोग किया जाय ।
(व) फसलो और वीजो के रोगो पर नियन्त्रण रखा जाय ।
(स) कृषि का यन्त्रीकरण हो ।
(द) भूमि, जलवायु, खाद के प्रयोग एव सिंचाई सम्बन्धी सूचनाएं एकत्र की जायें ।
(इ) चावल का प्रमापीकरण किया जाय एव उत्तम भडार गृहो की व्यवस्था की जाय ।
(फ) उप उत्पादनो का उपयोग किया जाय एव अनुसन्धानशालाओ की स्थापना की जाय ।

यद्यपि भारत का स्थान विश्व के चावल उत्पादको मे चीन के पश्चात् द्वितीय है, किन्तु हमारा प्रति एकड उत्पादन अत्यन्त कम है । हमारे यहाँ प्रति एकड उत्पादन ९१८ पौड है, जवकि जापान मे प्रति एकड उत्पादन २,३५० पौंड एव इटली मे २,९४० पौंड है । प्रति एकड उपज मे कमी के निम्न प्रमुख कारण हैं —

(१) निश्चित जल पूर्ति का अभाव ।
(२) भूमि कम उपजाऊ होना ।
(३) उत्तम वीजो का अभाव ।
(४) फसली वीमारियाँ ।

हमारे यहाँ चावल को विखेर कर अथवा पौधा लगाकर वोया जाता है, परन्तु गत वर्षो में जापानी पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है । जवकि भारतीय पद्धति से प्रति एकड उत्पादन ९ मन होता है, जापानी पद्धति से प्रति एकड १४० मन तक प्राप्त किया जा सकता है । सन् १९५५ में १३ लाख एकड भूमि पर जापानी पद्धति से कृषि की गई, परिणामस्वरूप ६ लाख टन अतिरिक्त उत्पादन हुआ ।

गत वर्षो मे चावल का आयात इस प्रकार रहा है* —

१९५४	६०३	हजार टन
१९५५	२६५	,,
१९५६	३२५	,,
१९५७	७३१	,,
१९५८	३९०	,,

सन् १९५७ मे उत्पादन की कमी और परिणामस्वरूप आयात मे वृद्धि का प्रमुख कारण मध्य एव उत्तरी-पूर्वी भारत मे मानसून का फेल होना है। इस वर्ष विहार का उत्पादन १५ लाख टन, मध्य-प्रदेश १२ लाख, उडीसा ५ लाख

* India 1960

भौर पश्चिमी बगाल का उत्पादन ४ लाख टन कम रहा।[1] सन् १९५८-५९ की फसल के विषय मे प्राप्त सूचनाभो के भनुसार स्थिति में सुधार की भाशा है।

(१) गेहूँ—क्षेत्रफल भौर उत्पादन की दृष्टि से इसका स्थान चावल के बाद भाता है। इसका उत्पादन २०-३० इञ्च वर्षा एव दुमट मिट्टी वाले क्षेत्रों में भच्छी तरह होता है। यदि सिंचाई के साधन उपलब्ध हो तो यह इससे कम वर्षा वाले प्रदेशो मे भी उत्पन्न किया जा सकता है। इसके उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र उत्तर-प्रदेश, पजाब, राजस्थान, बम्बई, मध्य-प्रदेश भौर भान्ध्र प्रदेश हैं। केवल उत्तर-प्रदेश भौर पजाब में सम्पूर्ण भारत का तीन-चौथाई गेहूँ उत्पन्न होता है। गत वर्षो मे गेहूँ का उत्पादन इस प्रकार रहा है:—[2]

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड	उत्पादन लाख टन
१९४७-४८	२०८	५६
१९५२-५३	२४२	७४
१९५३-५४	२६३	७९
१९५४-५५	२७५	८८
१९५५-५६	३०३	८९
१९५६ ५७	३२८	९३
१९५७ ५८	२९७	७६ ५४

उक्त भांकडो से पता चलता कि गेहूँ की खेती मे विकास हो रहा है, परन्तु भन्य देशो की तुलना मे हमारी स्थिति निश्चित ही भसन्तोषप्रद है। विदेशो मे प्रति एकड उत्पादन इस प्रकार है :—

भारत	३४० पौंड
कनाडा	९७५ ,,
सयुक्त राष्ट्र भमेरिका	८५० ,,
भास्ट्रेलिया	७१० ,,
भर्जेन्टाइना	७८० ,,

भारतीय उपज कम होने का प्रमुख कारण यन्त्रीकरण का भभाव, उत्तम बीज की कमी, भार्थिक कठिनाईयाँ एव कृषको का भशिक्षित होना है। डा० बर्न्स ने भनुमान लगाया है कि प्रति वर्ष ५% गेहूँ रतुभा (Rust) लग जाने से नष्ट हो जाता है भौर रोग ग्रस्त क्षेत्रो मे तो यह हानि १००% तक पहुँच जाती है। स्मट (Smut) नामक

1 Journal of Industry & Trade July 1958
2 India—1960.

एक अन्य रोग भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। पजाब कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने एक स्मट निरोधक उपाय की खोज की है, जिसका प्रयोग किया जा रहा है।

प्रथम युद्ध काल तक हम गेहूँ को निर्यात करते थे, परन्तु उसके बाद स्थिति प्रतिकूल होती गई। सन् १९४७ मे विभाजन के कारण पजाब और सिंघ के उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गए और हमारे आयातो की मात्रा वढती गई। गत वर्षों मे गेहूँ का आयात इस प्रकार रहा .—[1]

१९५३	१,६८४ हजार टन
१९५४	१९७ ,,
१९५५	४३५ ,,
१९५६	१,०९५ ,,
१९५७	२,८४० ,,
१९५८	२,६७४

सरकार ने गेहूँ की खेती मे सुधार हेतु कुछ क्षेत्रो को गहरी खेती प्रारम्भ करने के लिए चुना है। कृषि यन्त्रो का प्रयोग, सिंचाई मे विकास, उत्तम बीज एव रसायनिकखादो का प्रयोग करके उत्पादन वढाया जा रहा है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना में बीस लाख टन अतिरिक्त गेहूँ उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।[2]

(३) जौ (Barley)—भारत मे गेहूँ के साथ-साथ जौ भी बोया जाता है। यह गेहूँ मे मिलता-जुलता मोटा अन्न है और निर्धन वर्ग के व्यक्तियो द्वारा खाने मे प्रयुक्त होता है। जौ पशुओ को भी खिलाया जाता है। सन् १९५७-५८ मे ७५ ३१ लाख एकड भूमि पर २१ ७५ लाख टन जौ उत्पन्न हुआ। इसका दो-तिहाई उत्तर-प्रदेश में और शेष राजस्थान, पजाब तथा विहार में उत्पन्न होता है। इसका उपयोग माल्ट और बीयर नामक शराब वनाने मे किया जाता है। भारत मे विश्व के जौ उत्पादन का केवल ५% उत्पन्न होता है। हमारे देश मे प्रति एकड उत्पादन केवल ८०२ पौंड है, जवकि डेनमार्क मे २,६५६, जर्मनी मे १,९३२, इङ्गलैंड और जापान में प्रति एकड उत्पादन १,९१६ पौंड होता है। भारत मे विभाजन के पश्चात इसका कुछ आयात हुआ था, पर अब आयात बन्द है।

(४) ज्वार, बाजरा, रागी (Millets)—इनका उत्पादन लगभग सारे भारत मे होता है, परन्तु गर्म सूखे भागो मे इनकी उपज अधिक होती है। यह खरीफ की फसल है। ज्वार का उत्पादन दक्षिण मे वहुत होता है। सन् १९५६–५७ में ज्वार ४१३ १४ लाख एकड पर उत्पन्न की गई और कुल उत्पादन ७४ २७ लाख टन रहा। इसका आधे से अधिक उत्पादन वम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र मे होता है। कुछ उत्पादन पजाब और राजस्थान में भी होता हैं।

---

1 India 1959

2 The Second Five YearPlan, p 257.

बाजरा मुख्यतः बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश और पजाब मे होता है। सन् १९५६-५७ मे इसका उत्पादन २७५ ४ लाख एकड पर २९·२६ लाख टन रहा। नागपुर, इन्दौर और कोयम्बटूर में किये गए अनुसन्धानो के फलस्वरूप अब इसकी किस्म मे सुधार हो रहा है।

ज्वार, बाजरा, रागी और मक्का के सन् १९५७-५८ के अन्तिम अनुमान (Final Estimates) इस प्रकार है* :—

	उत्पादन क्षेत्र	क्षेत्रफल
	हजार टन	हजार एकड
ज्वार	८,०५६	४१,४११
बाजरा	३,५६५	२७,४५३
मक्का	३,०६४	९,७६२
रागी	१,७१६	५,८९७

मक्का उत्तर भारत के निर्धन व्यक्तियो का प्रमुख भोजन है और उत्तर प्रदेश, पजाब, राजस्थान इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र हैं। इसका उपयोग पशुओ को खिलाने मे भी किया जाता है।

(५) दालें (Pulses)—भारतीय भोजन में चना, उडद, मसूर, मूँग और अरहर की दालें एक अत्यन्त आवश्यक अग है तथा प्रोटीन के प्रमुख साधन हैं। ये इसलिए और महत्त्वपूर्ण हैं, क्योकि चावल मे, जो भारत की एक महत्त्वपूर्ण भोजन सामग्री है, प्रोटीन नही होता। फसलो के हेर फेर की दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण है, क्योकि ये वायुमण्डल से नाइट्रोजन सकलित करती और भूमि को उपयोगी तत्त्व प्रदान करती है। दालो को चारे और हरी खाद के रूप मे भी उपयोग मे लाया जाता है।

दालो में चना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और उत्तर-प्रदेश मे बहुतायत से होता है। चना बिहार, पजाब, मध्य प्रदेश, बम्बई, आन्ध्र और मैसूर मे भी उत्पन्न किया जाता है। अधिकाश चने का उपयोग देश में ही हो जाता है, अत• इसका निर्यात महत्त्वपूर्ण नही है।

अरहर का उत्पादन मध्य प्रदेश मे प्रमुख है, यद्यपि अन्य प्रान्तो मे इसका उत्पादन होता है। साधारणत• इसका उत्पादन अन्य फसलो के साथ किया जाता है।

सन् १९४० मे राजकीय कृषि अनुसन्धान सस्था ने दालो की किस्म में सुधार करने और सयुक्त कृषि (Mixed Cropping) का विकास करने हेतु एक विशेष समिति गठित की थी। गत वर्षों मे दालो का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

*India 1959

(हजार टन)

वर्ष	चना	अरहर	अन्य दालें
१९५३–५४	४,७५६	१,८३४	३,८६०
१९५४–५५	५,५३२	१,६९२	३,५५३
१९५५–५६	५,३३२	१,८३२	३,७०७
१९५६–५७	६,२६४	१,९५४	३,२८५
१९५७–५८	४,७५४	१,३९६	३,०९६

गत वर्षों में हमारे कुल उत्पादन के साथ-साथ प्रति एकड उत्पादन मे भी वृद्धि हुई है। सन् १९५०-५१ मे हमारा प्रति एकड उत्पादन २९१ पौंड था। सन् १९५५-५६ मे यह बढकर ४६० पौंड प्रति एकड हो गया है।

(६) गन्ना (Sugar Cane)—भारत मे गन्ने का क्षेत्रफल ससार मे सबसे अधिक है, यद्यपि इसका उत्पादन सम्पूर्ण भारत मे होता है, किन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल, पजाब और बम्बई इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र हैं। केवल उत्तर-प्रदेश मे भारत का ५० प्रतिशत गन्ना उत्पन्न होता है। सन् १९३० तक हम मुख्यत आयात की हुई शक्कर का उपयोग करते थे, परन्तु सरकार द्वारा शक्कर उद्योग को सरक्षण प्रदान किया गया, जिसके फलस्वरूप गन्ने के उत्पादन को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सन् १९३० में गन्ना केवल २७ ८ लाख एकड भूमि पर उत्पन्न होता था। सन् १९३६-३७ में यह बढकर ४० ५ लाख एकड हो गया तथा सन् १९५६-५७ में गन्ने का क्षेत्रफल ५० १९ लाख एकड था। गत वर्षों में गन्ने का उत्पादन और क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है* —

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड	उत्पादन लाख टन
१९५३–५४	३४ ८५	४३७ ०९
१९५४–५५	३९ ९९	५७८ ११
१९५५–५६	४५ ६४	५९५ ८७
१९५६–५७	५०·६७	६९९ ९८
१९५७–५८	५० २१	६४१ ४२

यद्यपि गन्ने का क्षेत्रफल भारत में बहुत अधिक है, प्रति एकड उत्पादन अन्य देशो की तुलना में कम है। भारत की तुलना अन्य देशो से इस प्रकार की जा सकती है —

* India 1959

भारत	१३·५ टन प्रति एकड
क्यूबा	१७ ०
जावा	५६·०
आस्ट्रेलिया	२१ ०
हवाई द्वीप	६२ ०

प्रति एकड उत्पादन मे कमी का कारण अवैज्ञानिक कृषि, भूमि का छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त होना, यन्त्रीकरण का अभाव एव खाद की कमी है। उत्पादन की किस्म मे सुधार करने हेतु कोयम्बटूर मे एक गन्ना उत्पादन केन्द्र खोला गया है तथा राज्य कृषि विभाग भी सुधार के प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही हम गन्ने के उत्पादन मे आत्मनिभर हो जायेंगे। लखनऊ मे एक अनुसन्धानशाला प्रारम्भ की गई है, जिस पर ७ लाख रुपये व्यय किये गए हैं। यह एशिया मे सबसे बडा है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे १० लाख एकड अतिरिक्त भूमि पर गन्ने की खेती की जायगी।

(७) आलू (Potato)—गत कुछ वर्षों मे आलू का उत्पादन भी महत्त्व प्राप्त करने लगा है। सन् १९४८-४९ मे केवल १५ लाख टन आलू भारत मे उत्पन्न होता था। सन् १९५६-५७ मे आलू का उत्पादन[1] १६ ७४ लाख टन था। प्राप्त अनुमानो के अनुसार[2] सन् १९५७-५८ मे ७ ६६ लाख एकड भूमि पर आलू की खेती की गई।

अखाद्य फसलें—

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि भारत के उत्पादन मे खाद्य पदार्थों की बहुलता है। सन् १९५५-५६ मे केवल २,६६० लाख एकड भूमि अथवा कृषि क्षेत्रफल के केवल १९ प्रतिशत पर व्यापारिक फसलें उत्पन्न की जाती थी। गत वर्षों मे व्यापारिक फसलो के क्षेत्रफल एव अन्य फसलो के साथ उनके अनुपात मे भी वृद्धि हुई है। प्रमुख व्यापारिक फसलो की स्थिति इस प्रकार है :—

(१) कपास—कपास उत्पन्न करने वाले देशो मे भारत का स्थान विश्व मे दूसरा है, परन्तु हम ससार के कुल उत्पादन का केवल २० प्रतिशत ही उत्पन्न करते हैं। इसके अलावा भारतीय कपास प्राय: छोटे रेशे की होती है और साधारण कपडो के उत्पादन में प्रयुक्त होती है। कपास के उत्पादन पर जलवायु का बहुत प्रभाव पडता है। इसके लिए काली मिट्टी, साधारण वर्षा एव अधिक तापमान की आवश्यकता होती है। पकने के समय बादल एव कुहरा इसको अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं। कपास का उत्पादन मुख्यत बम्बई विशेषकर बरार, मध्य-प्रदेश, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, आन्ध्र, राजस्थान,

1. Commerce dated 23rd August 1958
2. Indian Information 1st Oct, 1958

ओर मैसूर मे होता है। कपास का आधा क्षेत्रफल केवल बम्बई और मध्य-प्रदेश में है। गत वर्षों मे कपास का उत्पादन एव क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है[1]—

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड	उत्पादन लाख गांठ
१९५४-५५	१८७	४२ २७
१९५५-५६	१९९	४० २०
१९५६-५७	१९८	४७ ३५
१९५७ ५८	२०२	४७ ३९
१९५८-५९	—	४७ ०५

इस प्रकार गत वर्ष की तुलना मे क्षेत्रफल मे १ २% तथा उत्पादन मे ० ४% की वृद्धि हुई। क्षेत्रफल मे वृद्धि मुख्यत. बम्बई, पजाब और मध्य-प्रदेश में हुई तथा उत्पादन वृद्धि मे प्रमुख योग राजस्थान, मद्रास और पजाब का रहा। इस वर्ष ४५ लाख गांठो का उत्पादन होगा, ऐसा अनुमान है।

भारतीय रुई की किस्म और उत्पादन मे सुधार हेतु सन् १९१७ में भारतीय कपास समिति की स्थापना की गई और सन् १९२२ मे ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन की स्थापना की गई। रुई में मिलावट रोकने के लिए सन् १९२३ में कपास यातायात अधिनियम भी पास किया गया तथा विक्रय की दशाओ मे सुधार करने हेतु बम्बई, मध्य-प्रदेश और मद्रास में कपास विपणि अधिनियम पास किये गये।

विभाजन के परिणामस्वरूप लम्बे रेशे की कपास उत्पन्न करने वाले पजाब और सिन्ध के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। अत' भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने यह सिफारिश की कि कपास के क्षेत्रफल में यथाशीघ्र ४० लाख एकड की वृद्धि की जाय और उसे सन् १९४६-४७ में ११५ लाख मे बढा कर १५५ लाख कर दिया जाय। सन् १९४८-४९ में हमारे उत्पादन का केवल १७ ५% भाग लम्बे रेशे का होता था। सन् १९५६-५७ में लम्बे रेशे का उत्पादन बढ कर ४२ ५% हो गया। गत वर्षों में किस्म के अनुसार कपास का उत्पादन निम्न प्रकार रहा है —[2]

किस्म	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९
A	३६%	३९%	४२ ५०%	३७%	३५%
B	४५%	४४%	४१२ ५%	४५%	४६%
C	१९%	१७%	१६ २५%	१८%	१६%

1 India 1954

2. Commerce Annual Number Dec. 1959, page 205

सितम्बर सन् १९५७ से अप्रैल सन् १९५८ तक आठ महीनो मे भारतीय मिलो द्वारा ३३ ८३ लाख गाँठ कपास का उपयोग किया गया, जिसमे लगभग ४ लाख गाँठ विदेशी कपास था। गत वर्ष मे हमारे देश मे कपास के आयात-निर्यात की स्थिति इस प्रकार रही है :—†

(हजार गाँठ)

आयात	मि० गाँठें
१९५४-५५	० ६२
१९५५-५६	० ६०
१९५६-५७	०·५७
१९५७-५८	० ५६
१९५८-५९	० ४५

निर्यात की स्थिति भी अच्छी रही, क्योकि सन् १९५७-५८ में जहाँ केवल १,९२,००० गाँठो का निर्यात हुआ था वहाँ सन् १९५८-५९ मे ३,९५,००० गाँठो का निर्यात हुआ।

द्वितीय पच वर्षीय योजना मे सन् १९५५-५६ मे होने वाले ४० लाख गाँठ उत्पादन को बढा कर सन् १९६०-६१ मे ५५ लाख गाठ करना निश्चित किया गया था। परन्तु गत वर्षो मे हमारे घरेलू उपभोग मे अत्यधिक वृद्धि हुई है, अत. जून सन् १९५६ मे मसूरी मे प्रान्तीय कृषि मन्त्रियो की बैठक मे इस लक्ष्य को बढाकर ६१ लाख गाँठ कर दिया गया। नवम्बर सन् १९५७ मे केन्द्रीय कपास समिति की माँग पर योजना आयोग द्वारा यह लक्ष्य बढाकर अब ६५ लाख गाँठ कर दिया गया है। परन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने मे यदि प्रकृति सहानुभूतिपूर्ण रही तभी लक्ष्य हम प्राप्त कर सकेंगे। क्योकि सन् १९५९-६० मे ५ २ से ५ ४ मि० गाठो का उत्पादन अपेक्षित था। परन्तु जल वायु की क्रूरता के कारण रुई का उत्पादन केवल ४ ५ मि० गाठें होने का अनुमान है।

(२) जूट—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से जूट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह बगाल और आसाम प्रान्त में गगा और ब्रह्मपुत्र के डेल्टा मे तथा बिहार और उडीसा मे नदियो द्वारा बहाकर लाई हुई उपजाऊ भूमि मे होता है। यह खरीफ की फसल है और इसका पौधा लगभग १२ फुट ऊँचा होता है। इसके लिए अधिक गर्मी और अधिक पानी की आवश्यकता होती है।

विभाजन से पहले जूट उत्पादन मे भारत को एकाधिकार था, परन्तु विभाजन के फलस्वरूप जूट का तीन-चौथाई क्षेत्रफल पाकिस्तान मे चला गया और हमें लगभग ५० लाख गाठ जूट के लिए आयात पर निर्भर रहना पडा। भारतीय रुपये के अवमूल्यन

---

† Commerce annual number, December 1959.

से पाकिस्तानी जूट और भी महँगा पड़ने लगा, अतः भारतीय जूट उत्पादन मे वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। सरकार ने जूट उत्पादन मे वृद्धि करने हेतु रासायनिक खादो का वितरण, उत्तम बीजो की व्यवस्था, जूट धोने और भिगोने के लिए तालाबो के निर्माण एव दुहरी फसल बोने को प्रोत्साहन दिया। गत वर्षों मे जूट का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

वर्ष	लाख गांठ
१९५३-५४	३० ९
१९५४-५५	२९ ३
१९५५-५६	४१ ९
१९५६ ५७	४२ २
१९५७ ५८	४० ५ [1]
१९५८-५९	५१·८ [1]
१९५९-६०	४३ ०२ [2]

१२ जनवरी सन् १९५७ को प्रान्तीय कृषि विभाग के सचिवो का एक सम्मेलन हुआ, जिसने उत्तम बीज, कृषि पद्धति के आधुनिकीकरण एव खाद के प्रयोग सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये तथा जूट सम्बन्धी समस्याओ के अध्ययन हेतु गठित सेन समिति ने जूट उत्पादन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये और अनुमान लगाया कि यदि द्वितीय योजना मे निर्धारित ५५ ४ लाख गांठ का लक्ष्य प्राप्त भी हो जाय तो भी बढती हुई देशी माग को देखते हुए सन् १९६०-६१ मे हमारे यहाँ ६,४०,००० गांठ जूट की कमी रहेगी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि योजना आयोग ने भारत मे उत्पन्न होने वाले निम्न कोटि के मेस्टा (Mesta) का कोई लक्ष्य निर्धारित नही किया है। सेन समिति का अनुमान है कि सन् १९६०-६१ मे जूट और मेस्टा की सयुक्त माँग भारत में लगभग ८१ ८ लाख गांठ होगी। अत समिति ने द्वितीय योजना में निश्चित लक्ष्य को वार्षिक कार्यक्रमो में इस प्रकार बाट दिया :—[3]

वर्ष	कच्चा जूट	लाख गांठ मेस्टा
१९५७–५८	४४	१६
१९५८–५९	४८	१८
१९५९–६०	५१	१९
१९६०–६१	५५	२०

पटसन की केन्द्रीय निरीक्षण समिति ने अनुमान लगाया है कि सन् १९६०-६१ में देश में लगभग ४७ १० लाख गाठ पटसन तथा १५ ५ लाख गाँठें मेस्टा का उत्पादन

1 Commerce, annual number Dec 1959
2 Estimated
3 Ibid

होगा ।[1] इससे स्पष्ट है कि अभी भी कुछ अश तक हमारी निभरता पाकिस्तानी जूट के आयात पर निर्भर रहेगी । यद्यपि सन् १९४८-४९ की अपेक्षा हमारा पटसन की खेती का क्षेत्रफल ७ ३ लाख एकड से १८ ३२ लाख एकड हो गया है, फिर भी पाकिस्तानी पटसन का आयात करना पडेगा ।

(३) चाय—भारत चीन के बाद विश्व में सबसे अधिक चाय का उत्पादन करता है । भारत में चाय का उत्पादन मुख्यत॰ बङ्गाल व आसाम में होता है, किन्तु देहरादून, कांगडा और नीलगिरि की पहाडियो पर भी चाय उत्पन्न की जाती है । कुल उत्पादन का ७७ प्रतिशत आसाम और बङ्गाल में ही होती है । भारत में समस्त चाय के बगीचो का क्षेत्रफल ७७९ हजार एकड है । गत वर्षों में चाय का उत्पादन इस प्रकार रहा है ·—

वर्ष	करोड पौड
१९५३	६० ८
१९५४	६४ ४
१९५५	६६·८
१९५६	६६·७
१९५७	६६·६

३० जून सन् १९५८ को समाप्त होने वाले प्रथम ६ माह में चाय का उत्पादन १९ २९ करोड पौड रहा ।[2]

चाय अमेरिका तथा अन्य देशो मे भी लोक-प्रिय हो रही है । भारतीय चाय सघ ने विज्ञापन करके इसके उपभोग बढाने में पर्याप्त प्रयत्न किए हैं । चाय का निर्यात मुख्यत॰ इङ्गलैंड, अमेरिका, कनाडा और आयरलैंड को किया जाता है । पिछले वर्षों मे हमारे निर्यातो मे कमी हुई है । मई सन् १९५८ मे भारतीय चाय सघ के वार्षिक अधिवेशन मे चाय सघ के अध्यक्ष श्री डी० सी० घोष ने बतलाया[3] कि सन् १९५७ मे भारत द्वारा केवल ४४ ० करोड पौड चाय का निर्यात हुआ, जबकि सन् १९५६ मे हमारे निर्यात् की मात्रा ५२ ३६ करोड पौड थी । विदेशी विनिमय की दृष्टि से चाय के निर्यात सन् १९५६ में १४३ करोड रुपये से घटकर केवल १०७ करोड के रह गये । श्री घोष ने निर्यात बढाने के लिए निर्यात करो और चुङ्गी मे कमी करने, उत्पादन घटाने और अधिक विज्ञापन करने सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए हैं । द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे चाय का उत्पादन ७० करोड पौड कर दिया जायगा, जिसमे से लगभग ५० करोड पौड चाय का निर्यात किया जायगा ।

(४) कॉफी—भारत मे कॉफी २३४ हजार एकड भूमि पर उत्पन्न की

---

१ उद्योग-व्यापार पत्रिका, अगस्त १९६० ।

2 Commerce 26th July 1958

3 Commerce 3rd May 1958.

जाती है। इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र मैसूर, मद्रास और कुर्ग हैं। गत वर्षों मे चाय के उपभोग मे वृद्धि होने और ब्राजील की सस्ती कॉफी की प्रतिस्पर्धा के कारण कॉफी उद्योग को पर्याप्त हानि पहुँची है। चाय बोर्ड की भाँति कॉफी बोर्ड भी कॉफी के उपभोग मे वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहा है। कॉफी के उत्पादन की स्थिति इस प्रकार है :—[1]

वर्ष	हजार टन
१९५४	२९ ४
१९५५	२४ ९
१९५६	३४ ४
१९५७	४० ९

३० मई सन् १९५८ को कॉफी बोर्ड की अर्द्ध वार्षिक बैठक मे सन् १९५७-५८ मे कॉफी का उत्पादन ४२,३८० टन आँका गया।[2] बोर्ड के अनुसार सन् १९५८-५९ मे ४४,२३५ टन कॉफी उत्पन्न होने की सम्भावना है, परन्तु बोर्ड के सभापति का कहना है कि उत्पादन ५० हजार टन तक जा सकता है। सन् १९५६ ५७ मे १५,२२८ टन कॉफी का निर्यात किया गया। १९५७ ५८ मे १२,९३० टन कॉफी का निर्यात हुआ। भारतीय कॉफी को ब्राजील से प्रतिस्पर्धा करनी पड रही है। कॉफी बोर्ड और सरकार इसके उत्पादन मे वृद्धि हेतु प्रयत्न कर रहे है। सन् १९५७-५८ मे कॉफी के निर्यात से ७ ७ करोड रुपये के विदेशी विनिमय की प्राप्ति हुई।

(५) तम्बाकू—अमेरिका और चीन के पश्चात् भारत का स्थान तम्बाकू के उत्पादन मे तीसरा है। मद्रास के गुन्टूर, गोदावरी और किस्ना जिलो मे सिगरेटो की सर्वोत्तम तम्बाखू उत्पन्न होती है। उत्तरी बगाल और बिहार मे हुक्के की तम्बाखू, बम्बई मे बीड़ी की तम्बाखू तथा दक्षिण मे सिगार के लिए उत्तम तम्बाखू उत्पन्न होती है।

उत्पादन का अधिकाश भाग देश की आन्तरिक माँग की पूर्ति करता है, किन्तु कुछ उत्तम तम्बाखू यूरोप और इङ्गलैंड को निर्यात की जाती है। तम्बाखू के निर्यात बढाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। सन् १९५६ ५७ में तम्बाखू १० २२ लाख एकड भूमि पर उत्पन्न की गई और इसका कुल उत्पादन ३ ०६ रहा। सन् १९५५-५६ मे १३ ३ करोड रुपये की तम्बाखू का निर्यात किया गया।

(६) रबर—सैनिक और औद्योगिक दृष्टिकोण से रबर बडे महत्त्व की उपज है। भारत मे रबर उत्पन्न करने वाले प्रमुख क्षेत्र मद्रास, मैसूर और कुर्ग हैं। सन् १९५५-५६ मे रबर १७४ हजार एकड भूमि पर उत्पन्न की गई और इसका कुल उत्पादन ५० लाख पौंड रहा। रबर का उत्पादन हमारी आवश्यकता से बहुत कम है और हम प्रति वर्ष लगभग डेढ करोड पौंड रबर का विदेशो से आयात करते हैं। रबर

1 Journal of Industry & Trade, November 1958
2 Coffee Board's Monthly New Letter, June 1958

का उत्पादन बढ़ाने के लिए रबर उत्पादन विकास समिति के अन्तर्गत २० वर्षों में रबर का उत्पादन तीन गुना कर दिया जायगा। प्रथम पच-वर्षीय योजना मे रबर के उत्पादन मे ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत मे रबर के बगीचे बहुत छोटे हैं और प्रबन्ध भी अकुशल है। औसत भारतीय उत्पादन ३०० पौण्ड प्रति एकड है। कोचीन मे ३१७ पौण्ड, मद्रास मे २५३ पौण्ड और ट्रावनकोर एव कुर्ग मे क्रमश २५२ तथा २५० पौण्ड प्रति एकड है। रबर बोर्ड ने ७०,००० एकड पुराने रबर क्षेत्रफल के पुनर्स्थापन का एक कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनुसार ७,००० एकड भूमि पर पुराने पौधो के स्थान पर नये पौधे लगाये जायेंगे।

नील—१८ वी और १९ वी शताब्दी मे भारत में नील पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न किया जाता था, परन्तु १९ वी शताब्दी के अन्त मे जर्मनी की रङ्ग की प्रतिस्पर्धा के कारण इसकी खेती कम कर दी गई। सन् १८९६-९७ मे १७ लाख एकड भूमि पर नील की खेती होती थी, जो सन् १९४० में घटकर केवल ६५,००० एकड रह गई। इसका उत्पादन क्रमश घटता जा रहा है, क्योंकि अन्य रग सस्ते पडते हैं, अत॰ इसका भविष्य अन्धकारमय है। इसका उत्पादन मुख्यत॰ मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश में होता है। यह बिहार और पजाब में भी होता है।

नारियल—नारियल के उत्पादन में भारत का नम्बर दूसरा है। सन् १९५५-५६ मे नारियल १,५९७ हजार एकड भूमि पर उत्पन्न किया जाता था और उस वर्ष ४,०९७ लाख नारियल उत्पन्न किये गये। तेल की माँग को देखते हुए अभी हमारे देश में नारियल की बहुत कमी है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना में तेल का उत्पादन लक्ष्य २,१०,००० टन रखा है। योजना के अनुसार हर पेड से ३० नारियल के स्थान पर ४५ नारियल प्राप्त किए जायेंगे। नारियल का उत्पादन छोटे-छोटे द्वीपो और समुद्र तट पर उत्पन्न किया जाता है। भारत में नारियल और नारियल का तेल मुख्यत. सीलोन से आयात किया जाता है।

मसाले—भारत में अनेक प्रकार के मसाले उत्पन्न किये जाते हैं। काली मिर्च का उत्पादन २३४ हजार एकड भूमि पर किया जाता है और सन् १९५६-५७ में इसका उत्पादन ३२,००० टन रहा। लाल मिर्च उत्तर-प्रदेश, बङ्गाल और मद्रास में उत्पन्न होती है तथा धनियाँ ट्रावनकोर-कोचीन, मैसूर, कोयम्बटूर, मलाबार और तिन्नीवेल्ली में होता है। सुपारी का उत्पादन सन् १९५५-५६ में ८१,००० टन था। सन् १९६०-६१ तक सुपारी का उत्पादन ९९,००० टन तक बढने की आशा है। काजू का उत्पादन ६०,००० टन सालाना है और अधिकाश भाग निर्यात कर दिया जाता है। इलायची की खेती भी दक्षिण में नीलगिरि क्षेत्र में ऊँचाई पर की जाती है।

फल और तरकारियाँ—

भारतीय भूमि और जलवायु की विविधता के परिणामस्वरूप भारत मे अनेक प्रकार के फल और सब्जियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। डा० वर्न्स के अनुमान के अनुसार लगभग २५ लाख एकड भूमि पर फल और ७ लाख एकड भूमि पर सब्जियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा अनुमान है कि उत्पादित फलो की मात्रा ६० लाख टन और सब्जियो की मात्रा ४० लाख टन है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति प्रति दिन फलो के उपभोग की मात्रा १ ५ औंस आती है। फल उत्पन्न करने वाले प्रमुख क्षेत्र कांगडा और कुलू की घाटियाँ, दक्षिणी काश्मीर, आसाम, बम्बई का कोकण] प्रदेश तथा मद्रास के नीलिगिरि की पहाडियाँ हैं। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे ८ करोड रुपये के फल और सब्जियो के उत्पादन में विकास हेतु व्यय किये जायेंगे। डिब्बो में बन्द फलो का उत्पादन २०,००० टन से बढा कर ५०,००० टन करने का प्रस्ताव है।

कृषि उत्पादन के अध्ययन से पता चलता है कि यद्यपि कृषि मे कोई महत्त्वपूर्ण सुधार नही हुआ है, फिर भी राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनो के साथ-साथ कृषि में भी महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हो रही है। द्वितीय युद्ध काल मे और उसके पश्चात् कृषि का अधिकाधिक वाणिज्यीकरण हुआ है और नवीन फसले देश के उत्पादन तथा व्यापार मे महत्त्व प्राप्त कर रही हैं। योजना मे जो औद्योगीकरण हो रहा है, उसका प्रभाव भी हमारे कृषि उत्पादन पर पडा है, जिससे भौगोलिक एव क्षेत्रीय विशेषीकरण किया जा रहा है। विभाजन से कृषि उत्पादन पर जो प्रभाव पडे थे उन्हे अब लगभग दूर कर दिया गया है। परन्तु अनेक प्रयत्नो के पश्चात् भी खाद्य समस्या बनी हुई है एव भूमि सुधार, कृषि का यन्त्रीकरण तथा कृषक के सामान्य जीवन मे सुधार करने सम्बन्धी अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है।

पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि उपज वृद्धि का परिचय निम्न तालिका से मिलता है :—

कृषि उपज के सूचनाङ्क (१९४९-५० = १००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१ (अनुमानित)
सभी जिन्स	९५ ६	११६ ९	१३२ ०	१३५ ०
अनाज की फसलें	९० ५	११५ ३	१३० ०	१३१ ०
अन्य फसलें	१०५ ९	१२० १	१३६ ०	१४३ ०

तृतीय पच-वर्षीय योजना—

तीसरी योजना मे कृषि को पहिला स्थान दिया गया है। खाद्यान्न मे आत्मनिर्भरता और उद्योगो तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की उपज बढाना तीसरी योजना का मुख्य उद्देश्य है। योजना मे कृषि एव सामुदायिक विकास के लिए १,०२५ करोड रु० तथा सिंचाई की बडी एव मध्यम योजनाओ के लिए ६५० करोड़ रु० रखे गये

हैं। इसके अलावा अनुमान है कि इन कार्यों मे निजी व्यय ८०० रु० होगा। यदि भविष्य में ऐसा प्रतीत हुआ कि गाँवो मे और तेजी से प्रगति के लिए एव जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के लिए अधिक रुपये लगाने आवश्यक हैं तो उसका भी प्रबन्ध किया जायगा। कृषि की पैदावार मे ३० से ३३% वृद्धि की जायगी। प्रमुख फसलो के उत्पादन लक्ष्य निम्न हैं —[१]

		१९६०-६१ (अनुमानित)	१९६१-६५ लक्ष्य
(१) खाद्यान्न	(लाख टन)	७५०	१,००० से १,०५०
(२) तिलहन	,,	७२	९२ से ९५
(३) गन्ना	(गुड के रूप मे)	७२	९० से ९२
(४) रुई	(लाख गाठो मे)	५४	७२२
(५) पटसन	,,	५५	६५
(६) चाय	(करोड पौंड)	७२	८५ [२]
(७) कॉफी	(हजार टन)	४५	८० [२]

इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए योजना आयोग ने चार प्रमुख तकनीकी कार्यक्रमो का सुझाव दिया है :—

(१) सिंचाई, (२) भूमि-सरक्षण, असिंचित खेती और परती भूमि को कृषि योग्य बनाना, (३) खाद और रसायनिक खाद पहुँचाना तथा (४) अच्छे किस्म के हलो एव औजारो का प्रयोग। इन कार्यक्रमो के अनुसार यदि कार्य हुआ तो निश्चय ही कृषि उत्पादन मे वृद्धि होगी, ऐसा विश्वास है।[३]

---

१ उद्योग व्यापार-पत्रिका अगस्त सन् १९६०।
२ नवभारत टाइम्स—५ अगस्त सन् १९६०।
३ तीसरी योजना के विस्तृत विवेचन के लिए "भारत सरकार एवं कृषि नियोजन" अध्याय देखिये।

अध्याय १५

कृषि साख एवं अर्थ-व्यवस्था

(Agricultural Credit & Finance)

"रोम से स्कॉटलैंड तक कृषि का इतिहास, यह पाठ सिखाता है कि साख कृषि के लिए अनिवार्य है।'

—निकल्सन

भारतीय कृषि की विशेषता—

भारतीय कृषि की अपनी ही निम्न विशेषताएं हैं —

(१) भारत की खेती का सम्पूर्ण सगठन केवल एक व्यक्ति पर निर्भर है और यहाँ के खेत भी छोटे-छोटे एव बिखरे हुए हैं, अत. उत्पादन अल्प मात्रा में होता है ।

(२) अन्य उद्योग धन्धो की तुलना मे कृषि उत्पादन की एक विशेषता यह भी है कि फसल बोने से काटने तक की अवधि काफी लम्बी एव निश्चित होती है। कृषक अपना उत्पादन बेचे बिना पूंजी नही जुटा सकता ।

(३) कृषि नैसर्गिक आपत्तियो (जैसे अवर्षण अति वर्षा) की शिकार होती रहती है। इससे किसी भी दशा मे किसान अपना बचाव नही कर सकता ।

(४) कृषि उत्पादन का समायोजन माग के अनुसार करना सम्भव नही होता। क्योंकि कृषि उद्योग का सगठन ही ऐसा विचित्र है कि जमीन परती रखी नही जा सकती और न घर के आदमियो को ही बेकार बैठाया जा सकता है ।

(५) कृषि वस्तुओ के मूल्यो मे कमी अथवा अधिकता होने पर किसान को उसका सामना करना पड़ता है। इन्ही सब कारणो से उसकी पूंजी अथवा लागत होती है, वह स्थिर नही रहती, बल्कि उसमें कमी-बेशी होती रहती है। यही नही, जब तक वह अपनी फसल काट कर बेच नही लेता तब तक उसको लगाई हुई पूंजी वापिस नही मिल सकती ।

(६) अत अपने घर खर्च, मजदूरो को मजदूरी देने, बीज, खाद आदि खरीदने अथवा फसल को बाजार मे बिक्री के लिये पहुँचाने के लिए उसे पूंजी की आवश्यकता होती है। इन कार्यों के लिये अर्थ नियोजन करने के हेतु यूरोपीय देशो मे तो कृषि अर्थ व्यवस्था को एक विशेष विषय माना जाता है। वहाँ उसके लिए विशेष सगठन एव विधान का नियोजन होता है। परन्तु भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी यहाँ

कृषि-अर्थ व्यवस्था का कोई विशेष आयोजन नही है, यह खेद की बात है। कृषि उन्नति के लिए इस ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य भी है।

किसान की आर्थिक आवश्यकताएँ—

विभिन्न कृषि क्रियायें यथाविधि करने के लिए किसान को तीन प्रकार की आर्थिक आवश्यकताएं होती हैं—

(१) अल्प-कालीन ऋण—यह ऋण लेकर किसान बीज, खाद आदि खरीदता है तथा खेतो मे लगाए हुए मजदूरो को मजदूरी, लगान आदि का भुगतान करता है। इस प्रकार के ऋण की अवधि साधारणत. ६ से १८ मास की होती है। इस ऋण का भुगतान वह केवल आगामी फसल पर ही कर सकता है, अत इसे किसान की कार्यशील पूंजी कह सकते हैं। किसान को कितनी कार्यशील पूंजी इस उद्योग के लिये आवश्यक है, इसका अभी तक ठीक ठीक अनुमान नही लगाया जा सका है। विदेशी कृषि जाच से यह मालूम होता है कि इस उद्योग मे भूमि मूल्य के $\frac{1}{3}$ के बराबर कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होती है। इस आधार पर भारतीय कृषि उद्योग की कार्यशील पूंजी का अनुमान लगभग ६०० करोड रुपये लगाया गया है।[1]

(२) मध्य-कालीन ऋण[2]—यह ऋण कृषक को खेती के लिए आवश्यक साधन, जैसे—कृषि के औजार, बैल इत्यादि जुटाने के हेतु लेना पडता है। इसकी अवधि साधारणत. २ वर्ष से ६ वर्ष तक होती है, जिसका भुगतान यह सामयिक किश्तो मे करता है।

(३) दीर्घ-कालीन ऋण—यह ऋण वह स्थायी सम्पति, जैसे—कृषि योग्य भूमि आदि खरीदने तथा कृषि सम्बन्धी स्थायी सुधार करने, जैसे—कुंए की मरम्मत अथवा नये कुंए के बनवाने आदि के लिये लेता है। इन सुधारो द्वारा किसान अपनी आय मे थोडी-बहुत वृद्धि कर सकता है। यह ऋण साधारणत ३० से ४० वर्षों के लिए होता है, क्योंकि उसकी आर्थिक अवस्था इतनी कमजोर होती है कि वह इससे कम अवधि में भुगतान नही कर सकता।

सन् १९२८ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने दीर्घ-कालीन ऋण का अनुमान ५०० करोड रुपये आँका था। परन्तु कृषि की वर्तमान अवस्था को देखते हुए दीर्घ-कालीन ऋण के लिए कम से कम १,००० करोड रुपये आवश्यक होगे।

इन आवश्यकताओ के हेतु उसे ऋण के लिए किसी न किसी पर निर्भर रहना पडता है, क्योंकि उसके आर्थिक साधन एव आय इतनी सीमित होती है कि वह कार्यशील पूंजी के लिए भी पर्याप्त नही होती। दूसरे, इस आर्थिक कमजोरी के कारण वह बिक्री की अनुकूल कीमत आने तक अपनी फसल को अपने पास ही रखने मे अस-

---

1 Whither Agriculture in India—By Dr Baljit Singh, p 222

2 M L Darling Punjab Peasants in Prosperity and debt, p 32

मर्थ होता है, इसलिए वह फसल को शीघ्र ही बेच देता है। तीसरे, जैसा अन्यत्र देख चुके हैं, भारतीय किसान के खेत छोटे छोटे और बिखरे हुए होने से उसकी, आय भी बहुत थोडी है, जो उसकी दैनिक आवश्यकताओ के लिए भी पूरी नही होती।

कृषि साख के स्रोत--

किसान को अपने कृषि कार्य के लिए ऋण पर ही निर्भर रहना पडता है तो प्रश्न यह उठना है। कि यह ऋण किन किन स्रोतो से प्राप्त होता है। जहा तक बैंको का सम्बन्ध है, अपनी आवश्यकताओ के लिए वह उन पर निर्भर नही रह सकता, क्योकि बैंक जो भी कर्ज देते हैं वह ऋणी की वैयक्तिक साख तथा अन्य वस्तुओ की रहन पर देते हैं। किन्तु भारतीय कृषक के पास रहन रखने के लिए केवल थोडी सी भूमि, पशु तथा खेती के औजार होते हैं, जिनको वह किसी भी दशा मे बेच नही सकता। फिर भूमि रहन रखने मे अनेक सामाजिक व कानूनी कठिनाइयां हैं तथा उसका मूल्य निकालने के लिए विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, क्योकि खेती की भूमि का मूल्य अनेक बातो पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त भूमि मे लगाया हुआ धन एक प्रकार से बध सा जाता है, अत. साधारणतया व्यापारिक बैंक इस सम्पत्ति की जमानत पर कर्ज भी नही देते। वैयक्तिक साख उनके आर्थिक साधनो एव स्थायी पूंजी पर निभर होती है, जो नही के बराबर है, अत व्यापारिक बैंक की दृष्टि से किसानो की वैयक्तिक साख नगण्य है। इस कारण किसान को व्यापारिक बैंको से आर्थिक सहायता नही मिलती।

केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति के प्रस्ताव के अनुसार सयुक्त स्कन्ध बैंक भू रहन बैंको का कार्य भी अपने दीघ-कालीन ऋण-पत्र निकाल कर कर सकते हैं तथा किसानो को कर्ज दे सकते हैं। इस सम्बन्ध मे समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि प्रारम्भिक अवस्था में राज्य सरकार को चाहिए कि वे उनकी पूंजी का कुछ भाग दें तथा लाभाश एव पूंजी की वापसी के विषय मे अपनी जमानत देकर जनता में विश्वास उत्पन्न करे। इससे ऐसे व्यापारिक भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना हो सके, परन्तु इस दिशा मे सरकार की ओर से कोई कार्यवाही नही की गई।

अन्य सस्थायें--

(१) स्वदेशी बैंकर एव महाजन--आज भी कृषि की अर्थपूर्ति करने मे स्वदेशी बैंकर तथा महाजनो का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये कृषक की कुल आर्थिक आवश्यकताओ के लगभग ९४% अर्थ की पूर्ति करते हैं, क्योकि व्यापारिक बैंक जो भी कुल अल्पकालीन ऋण देते हैं, उनका लाभ केवल गांव के बडे-बडे जमीदारो को ही मिलता है, जिनकी सख्या बहुत कम है। सहकारी साख समितियो की स्थापना से भी बडी-बडी आशायें थी, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, उनकी काय पद्धति मे औपचारिकता का भाग अधिक होने एव ऋण लेने मे असुविधा होने के कारण कृषक उनसे पूर्णतया लाभ नही उठा पाता। इतना ही नही, अपितु भारत की ग्रामीण

आवश्यकताओ के अनुसार सहकारी साख समितियो का अभी उतना विकास नही हुआ है, जितना होना चाहिए। परिणामत. अनेक गाँवो मे आज भी सहकारी साख समितियो का अभाव है, इसलिए सख्या तथा ऋण राशि की दृष्टि से आज भी महाजन कृषि अर्थ व्यवस्था में अपना स्थान बनाये हुए है:—

साख सस्थाएँ*	ऋण मे प्रतिशत अनुपात
सरकार	३ ३
सहकारी सस्थाएँ	३'१
व्यापारिक बेंक	० ९
सम्बन्धी	१४'२
जमीदार	१ ५
कृषक ऋणदाता	२४ ९
महाजन	४४ ८
व्यापारी और कमीशन एजेन्ट	५ ५
अन्य	१ ८
योग	१०० ०

महाजन एव देशी बेंकरो की कार्य पद्धति सरल होती है। ग्रामीण जनता से सम्पर्क होने के कारण इनको ग्रामीण परिस्थिति का इतना अगाध ज्ञान होता है कि बिना किसी विशेष जानकारी के ये किसानो को सरलता से ऋण दे सकते हैं। महाजनो मे गाँव के बनिये का भी समावेश किया जा सकता है, क्योकि वह अपने व्यापार के साथ ही लेन-देन का व्यवहार भी करता है। महाजनो द्वारा किसानो को जो ऋण दिये जाते हैं, वे भी साधारणत गाँव के बनिये द्वारा ही दिये जाते हैं। कभी-कभी ये किसानो से रुक्का भी लिखवाते हैं, जिसमे ऋण की राशि, अवधि, ब्याज की दर तथा ऋण देने की शर्तें लिखी रहती हैं अथवा वे कभी-कभी अपनी वही मे ही ऋण-कर्त्ता के हस्ताक्षर करा लेते हैं। हाँ, ऋण की राशि अधिक होने पर वे जमीन इत्यादि की जमानत लेते हैं। युद्ध पूर्व गाँवो मे अर्थ पूर्ति के कार्य में पठान, रोहिले आदि भी थे, परन्तु आजकल उनका विशेष अस्तित्व दिखाई नही देता। स्वदेशी बेंकर और महाजन दोनो ही ऋण पर अधिक ब्याज लेते हैं। इनकी ब्याज की दर भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे सुरक्षित ऋणो पर ६ से १७ प्रतिशत तथा असुरक्षित ऋणो पर १७ से ३६ प्रतिशत तक होती है। महाजनो का कृषको से साधारणत प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, परन्तु देशी बेंकर कृषको से सीधा सम्बन्ध न रखते हुए महाजनो अथवा गाँव के व्यापारियो के माध्यम से उन्हे ऋण देते हैं।

देशी बेंकरो का कृषि अर्थ-व्यवस्था मे इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उनकी ऋण देने की पद्धति मे निम्न दोष हैं, जैसे :—

* Report of the All India Rural Credit Servey Committee, Vol II

(१) ऋण देने के पूर्व नजराने के रूप मे किसानो से गिरह खुलाई लेना।
(२) ऋण देते समय ही उसमे से ब्याज की रकम काट लेना।
(३) ऋण लेने वाले को धोखा देने के हेतु उससे कोरे कागज पर हस्ताक्षर करवा लेना तथा हिसाब-किताब मे अदली-बदली करना।
(४) रुक्के पर लिखी हुई मूल ऋण राशि को बढाना।
(५) ऋणी से जमानत दी हुई सम्पत्ति को बेचने सम्बन्धी शर्त लिखवा लेना।

इन बुराइयो के होते हुए भी महाजन अपनी ऋण देने की सरल पद्धति के कारण कृषि अर्थ व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इतना ही नही, अपितु ग्रामीण परिस्थिति एव कृपको के वैयक्तिक सम्पर्क मे रहने के कारण वह अपनी ऋण राशि पूर्ण रूप से वसूल कर लेता है। इन त्रुटियो के निवारण तथा साहूकार, महाजन एव देशी बैंकरो पर अपना नियन्त्रण रखने के लिए रिजर्व बैंक ने कई प्रयत्न किये, परन्तु असफल रहे।

*इसलिए गाडगिल समिति ने महाजनो का अनिवार्य पजीयन लाइसेंस देने, हिसाब की बहियो का परीक्षण, ब्याज दर का निर्धारण, ऋणी के पास समय-समय पर उनके लेखे की प्रति पहुँचाना, अवैध खर्चो पर रोक, महाजनो द्वारा अवैध कार्यवाही पर उनको दण्डित करना आदि अनेक सिफारिशें की थी। परन्तु ये सिफारिशें व्यावहारिक नही हैं, क्योकि कोई भी महाजन अपनी खाता बहियो को किसी बाहरी व्यक्ति से परीक्षण करवाने के लिए अनिच्छुक है। अत. इन सिफारिशो पर अभी तक कोई कार्यवाही नही हुई और न हो सकती है, जब तक कि अन्य साधनो से कृषि साख सुविधाओं की पर्याप्त व्यवस्था न हो जाय।"

(२) सहकारी समितियाँ—भारत मे सहकारी आन्दोलन का श्रेय मद्रास के श्री फ्रेडरिक निकोलसन को मिलता है। क्रमश सन् १६०४ मे सहकारी साख समिति विधान स्वीकृत किया गया। सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए टाउन्सहैड समिति ने भी सहकारी साख समितियो को ही आधारभूत बतलाया, क्योकि उनकी राय थी कि जब तक किसानो को महाजनो के चगुल से न छुडाया जायगा, तब तक कृपको की आर्थिक उन्नति न हो सकेगी। इस प्रकार सहकारी आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य ही किसानो की एव ग्रामीण जनता को महाजनो के चगुल से छुडाने का था, परन्तु वे मूल उद्देश्य को पूरा न कर सकी।

द्वितीय युद्ध के पूर्व सहकारी साख समितियो को उन सहकारी समितियो से जो साख सुविधायें नही देती थी, अलग रखा जा सकता था। परन्तु सन् १६३६-४६ की अवधि मे साख देने वाली एव साख न देने वाली समितियो मे कोई विशेप अन्तर नही

---

* Report of the Central Banking Enquiry Committee

रहा ।[1] क्योकि "सहकारी समितियो ने साख पूर्ति के अतिरिक्त बहुमुखी कार्य करने की ओर युद्ध काल मे अधिक ध्यान दिया है—विशेषत. उत्पादन एव वितरण कार्यो की ओर, जो इस आन्दोलन के सन्तुलित एव सुन्दर विकास के लिए चिर-इच्छित आवश्यकता थी। फिर भी यह मानना पडेगा कि ग्रामीण क्षेत्रो मे सहकारिता आन्दोलन के विकास मे साख पूर्ति का भाग उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना इस आन्दोलन के प्रारम्भ मे था।

सहकारी साख समितियाँ केवल अपने सदस्यो को ही ऋण देती हैं तथा ऋण केवल उत्पादक कार्यो जैसे—कुँए बनवाने, कृषि आवश्यकताओ की पूर्ति एव पुराने ऋणो के भुगतान अथवा कृषि के लिए अन्य उपयोगी कार्यों के हेतु ही दिए जाते हैं। इतना ही नही, अपितु ये समितियाँ महाजनो के चगुल से किसानो को बचाने के लिए उपभोग्य एव सामाजिक कार्यो के लिए भी ऋण देती है, परन्तु ऐसे ऋणो की राशि १०० रुपए प्रति व्यक्ति है। इस बन्धन से किसानो की फिजूलखर्ची की आदत को रोका जाता है। ये ऋण विशेषत. अचल सम्पत्ति की रहन अथवा एक या दो अन्य सदस्यो की वैयक्तिक जमानत पर दिये जाते हैं। ऋणो का भुगतान सुविधाजनक किश्तो मे १ से ३ वर्ष तक की अवधि मे लिया जाता है, परन्तु विशेष परिस्थिति में यह अवधि ५ वर्ष की भी होती है। ब्याज की दर भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे ६½% से १२% तक होती है। सन् १९५६-५७ मे कृषि सहकारी साख समितियो की सख्या १,६१,५१० थी, जो कृषि की आवश्यकताओ की पूर्ति करती थी एव इनकी सदस्य सख्या ९९,१६,८४६ थी।[2] इसी वर्ष समितियो द्वारा ६७ ३३ करोड रुपए के ऋण दिये गये थे ।[3]

(५) भूमि बन्धक बेंक—दीर्घकालीन ऋण देने के लिए पहिला भूमि-बन्धक बेक मद्रास प्रान्त मे सन् १८२८ मे स्थापित हुआ फिर। इसी वर्ष मैसूर में भी एक बेक की स्थापना की गई। इस प्रकार का केन्द्रीय बेक बम्बई मे सन् १८३५ मे स्थापित हुआ। सन् १९५६-५७ मे भारत मे कुल १२ केन्द्रीय-भूमि-बन्धक बेक थे, जिनकी सदस्यता १,१६,५६१ थी। इसी वर्ष इन बेंको ने ३ ८० करोड रु० के ऋण स्वीकृत किये। इन बेको का यह विकास भी ताजा है, क्योकि सन् १९५१ ५२ मे ये केवल ६ केन्द्रीय भूमि बन्धक बेक थे। ऐसे बेको का अभाव भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे बहुत खटकता है, क्योकि इनके अभाव मे दीर्घकालीन कृषि अर्थ के लिए किसानो को महाजनो पर निर्भर रहना अनिवार्य हो गया, क्योकि "इतनी अधिक ग्रामीण जन सख्या के होते हुए भी भारत मे भूमि बन्धक बेक को अधिक सफलता नही मिली। पजाब में, जहाँ सबसे पहिले ऐसे बेक का निर्माण हुआ, कोई उन्नति नही हुई। अन्य प्रान्तो में

---

1. Review of the Co-operative movement in India (1939-46) published by the Reserve Bank of India

2 & 3 India 1959

भी, जैसे—उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, अजमेर, उडीसा तथा बगाल मे, भूमि बन्धक बैंको का कार्य सन्तोषप्रद नही रहा। केवल मद्रास मे ही इन बैंको ने कुछ उन्नति की है।"*

भूमि बन्धक बैंको ने जो ऋण दिए, वे केवल पुराने ऋणो के भुगतान के लिए ही दिए। उन्होने भूमि-सुधार के लिए ऋण देने की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया। किसानो के ऋण को कम करने मे जो सहायता की, वह सराहनीय है, परन्तु यह प्रश्न द्वितीय महायुद्ध काल से तीव्रतर नही रहा, अत. अब इनको स्थायी भूमि सुधार के लिए कृषकों को ऋण देकर उनकी उन्नति के प्रयत्न करना चाहिए।

(६) रिजर्व बैंक तथा कृषि साख—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे रिजर्व बैंक के निर्माण के समय ही यह आयोजन किया गया था कि वह ग्रामीण एव कृषि साख देने वाली विभिन्न सस्थाओ के कार्यों का समुचित सगठन एव एकीकरण करे। इस हेतु की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक मे 'कृषि साख विभाग' खोला गया, जिसके निम्न कार्य हैं —

(अ) कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओ के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ रखना तथा समय-समय पर केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारो को प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो तथा अन्य अधिकोषण सस्थाओ को सलाह देना तथा उनका उचित मार्ग प्रदर्शन करना।

(ब) अपनी क्रियाओ को कृषि-साख से सम्बन्धित रखना तथा उन क्रियाओ द्वारा प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो एव अन्य अधिकोषो तथा सस्थाओ को, जो कृषि-साख से सम्बन्धित हो, सगठित करना।

परन्तु रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक होते हुए भी देश के इस महत्त्वपूर्ण उद्योग (कृषि) की प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता नही कर सकता और न वह दीर्घकालीन ऋण ही दे सकता है। वह केवल सूचीबद्ध एव राज्य सहकारी बैंको के द्वारा केवल निश्चित कार्यो के लिए रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १० के अनुसार ऋण दे सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली कृषि-साख का क्षेत्र सीमित है। यह केवल उन्ही कृषि बिलो का बट्टा करता है अथवा खरीद सकता है, जो केवल मौसमी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अथवा फसल को बेचने के लिए लिखे जाएँ। ऐसे बिलो की अवधि ६ मास से अधिक नही होनी चाहिए। इस कारण रिजर्व बैंक कृषि कार्यो के लिए पर्याप्त साख सुविधाएँ देने में विशेष सफल न हो सका। अब यह अवधि १५ मास कर दी गई है।

रिजर्व बैंक ने सरकार के सामने अपनी रिपोर्ट द्वारा कृषि साख देने के लिए स्वदेशी बैंको, महाजनो एव सहकारिता आन्दोलन के पुनर्गठन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए और अपने सीमित कार्य क्षेत्र मे, जहाँ तक सम्भव था, कृषि साख सम्बन्धी पर्याप्त सुविधाएँ दी।

---

* Review of the Co-operative Movement in India, 1937-46

स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार ने कृषि को अधिक साख सुविधाएं देने के लिए अनेक समितियाँ नियुक्त की, जैसे ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति, ग्रामीण साख सर्वे समिति आदि। इन समितियों की सिफारिशों के अनुसार रिजर्व बैंक एक्ट मे सशोधन किए गए। इन सशोधनों के अनुसार जहाँ पहिले रिजर्व बैंक केवल ९ मास के लिए ही ऋण देता था, वह अवधि अब १५ मास कर दी गई है, परन्तु साधारणतः ऋण १२ मास के लिए ही दिये जाते हैं। यही नहीं, जो राज्य सहकारी बैंक रिजर्व बैंक से बिलो की जमानत पर साख लेते है वे भी १५ मास तक की अवधि के लिए ले सकते हैं और इनसे ब्याज भी कम लिया जाता है। तीसरे, अभी तक केवल सूचीबद्ध बैंक ही रिजर्व बैंक से व्यापारिक हुण्डियाँ भुना सकते थे, परन्तु अब सहकारी बैंकों को भी यह सुविधा दे दी गई है। इन सुविधाओं के अन्तगत राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से कोई भी सहकारी अधिकोष रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकता है, यदि उसकी सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे सहकारी समितियों का रजिस्ट्रार प्रमाण-पत्र दे दे।

कृषि की मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कृषि फसलों के विक्रय के हेतु रिजर्व बैंक ने १७ राज्य सहकारी बैंकों को सन् १९५६-५७, सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ में क्रमश ३५ २५, ५० ३८ तथा ७० ८५ करोड रु० के अल्पकालीन ऋण स्वीकृत किये। इनमे से बैंकों ने सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ मे क्रमश ५० २३ और ६७ ५६ करोड रु० की राशि का उपयोग किया। ये ऋण अभी तक स्वीकृत ऋणों मे सबसे अधिक हैं।

इसी प्रकार मध्यकालीन कृषि साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए [धारा १७ (४ A) के अन्तगत] रिजर्व बैंक ने ६ राज्य सहकारी बैंकों को १ ६७ करोड रु०, सन् १९५७-५८ मे १४ राज्य सहकारी बैंकों को ५ ४२ करोड रु० तथा सन् १९५८-५९ मे राज्य सहकारी बैंकों को ५ ८८ करोड रु० के ऋण स्वीकृत किए। परन्तु सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ मे बैंकों ने क्रमश केवल ० ९९ और २ ६८ करोड रु० लिये। ये ऋण बैंक दर से २% कम की ब्याज दर से दिये जाते हैं, जिससे राज्य सहकारी बैंक अन्य सहकारी बैंकों के माध्यम से कृषकों को सस्ते ब्याज दर पर मध्यकालीन साख सुविधायें दे सकें।

रिजर्व बैंक दीर्घकालीन ऋण सुविधाये देने के हेतु केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों को खरीद सकता है तथा इसने निम्न केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीदे हैं —

आन्ध्र केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक के	२० लाख रु० के ऋण पत्र*
सौराष्ट्र ,, ,, ,,	५० ,, ,,
उडीसा ,, ,, ,,	०५ ,, ,,

* Report on Currency and Finance, 1958-59 (R B I)

रिजर्व बैंक अधिक कृषि सुविधाएँ दे सके, इसलिए रिजर्व बैंक एक्ट मे सन् १९५३ मे सशोधन किया गया। इस सशोधन के अनुसार कुटीर तथा लघु उद्योगो को साख सुविधाएँ देने के लिए रिजव बैक प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डल तथा प्रान्तीय सहकारी बैंको को ऋण सुविधायें देगा। इन सस्थाओ के माध्यम से लघु एव कुटीर उद्योगो को भविष्य मे रिजव बैंक से साख सुविधाएँ मिल सकेंगी। दूसरे, रिजर्व बैंक कृषि कार्यों को मध्यकालीन ऋण द्वारा सहायता दे सकेगा, परन्तु ये साख सुविधाएँ प्रान्तीय सहकारी बैंको के माध्यम से ५ वर्ष की अवधि के लिये ही मिल सकेंगी।

इसके अलावा सहकारी आन्दोलन को सुदृढ नीव पर आधारित करने के लिये रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंको की आर्थिक स्थिति एव कार्य-प्रणाली की जाँच का कार्यक्रम भी बनाया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् १९५६-५७ मे ९४ केन्द्रीय सहकारी बैंक, ९ राज्य सहकारी बैंक तथा १ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक का तथा सन् १९५७-५८ मे २४० सहकारी बैंको का परीक्षण किया गया। इस प्रकार ३० जून सन् १९५८ तक कुल ४३९ बैंको का परीक्षण हुआ।

(७) कृषि अर्थ एव सरकार—कृषि कार्यों के हेतु ऋण देने के लिए सरकार भी प्रयत्नशील है और अनेक तरीको से वह कृषि साख की पूर्ति कर रही है। इतना ही नही, अपितु कृषि-सुधार हेतु आर्थिक सहायता देने के लिये सरकार द्वारा भूमि-सुधार अधिनियम (Land Improvement Act) सन् १८७१, सन् १८७३ एव कृषक ऋण अधिनियम सन् १८८४ (Agriculturist Loan Act) स्वीकृत किये गये हैं। इनके अन्तगत बैल, बीज, चारा आदि खरीदने के लिए तथा भूमि सुधार करने के लिए तकावी ऋण दिया जाता है। उन ऋणो की ब्याज की दर तथा भुगतान करने की किश्तो मे परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन भी किए जाते हैं। सरकार ने विभिन्न प्रान्तो को गत ९ वर्षो मे 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के अन्तगत भी अधिक ऋण दिए हैं। केवल बम्बई प्रान्त मे ही इस योजना मे सन् १९४७ से सन् १९५२ तक ७॥ करोड रुपये खर्च हुये तथा भारत सरकार का कुल व्यय ६९ करोड रुपए के लगभग हुआ।

भूमि सुधार अधिनियम के अन्तगत सरकार २० से ३५ वर्ष तक की अवधि के लिए दीर्घकालीन ऋण देती है तथा कृषक ऋण विधान के अनुसार बीज, खाद आदि खरीदने के लिये अल्पकालीन ऋण देती है, जिनकी अवधि सामान्यत १ से २ वर्ष तक होती है। इन सुविधाओ का लाभ सामान्य कृषक नही वरन् अधिकतर समृद्ध जमीदार अथवा कृषक ही उठाते हैं, क्योंकि बडे-बडे जमीदार अपनी जमीन गिरवी रख सकते हैं, परन्तु छोटे-छोटे किसानो के पास जमीन ही इतनी कम होती है कि गिरवी रखने पर भी ऋण की राशि से उसका काम पूरा नही हो सकता। अत वे इन ऋणो का उपयोग साधारणत. सकट काल में ही करते है। इसके अतिरिक्त तकावी ऋणो की राशि भी बहुत कम होती है, क्योंकि इस प्रकार के ऋणो का सम्पूर्ण भारत का वार्षिक औसत ९५ करोड रुपये है, जिसमें से ३५ करोड रुपये भूमि सुधार विधान के

अन्तर्गत दिये जाते हैं।[1] इतना ही नहीं, अपितु तकावी ऋणों की वितरण पद्धति में अनेक दोष हैं, जिससे किसान सरकार से ऋण लेने की अपेक्षा महाजनों के दरवाजे जाना अधिक पसन्द करता है। यही मत सिंचाई-समिति, मालगुजारी समिति तथा गाडगिल समिति ने प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में सिंचाई समिति एवं पंजाब लगान समिति ने ऋणों की वितरण पद्धति के दोषों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा दुर्भिक्ष कमीशन ने तो यहाँ तक कहा है कि इन ऋणों का वितरण रेवेन्यू डिपार्टमेंट द्वारा न होते हुये कृषि विभाग द्वारा हो एवं वितरण करने की क्रियाएँ शीघ्रगामी हों। सरकारी ऋणों में निम्न दोष हैं —

(१) सरकारी ऋणों की व्याज की दर भी ६¼% से कम नहीं होती और ऋण को वसूल करने की पद्धति भी कठोर होती है। (२) ऋण स्वीकार कराने के लिये कृषक को अनेक अधिकारियों के पास जाना पड़ता है तथा जमानत, रहन आदि के सम्बन्ध में अनेक शर्तें पूरी करनी होती हैं, जो एक निर्धन किसान के लिये सम्भव नहीं होता। (३) कृषक को आवेदन-पत्र देने की काफी अवधि के बाद ऋण मिलता है, जबकि वह अपनी तत्कालीन आवश्यकता को अन्य साधनों से पूरी करता है। फलतः वह इस ऋण का धन उस कार्य में जिसके लिए ऋण लिया गया है, उपयोग न करते हुये इधर-उधर के कामों में व्यर्थ ही खर्च कर देता है। इन त्रुटियों का निवारण करने में तथा आवश्यकतानुसार यथासमय ऋण वितरण करने के कार्य में मद्रास एवं बम्बई राज्यों ने ही उल्लेखनीय प्रगति की है।

कृषि अर्थ व्यवस्था में सुधार के लिये कुछ सुझाव—

अभी तक यह देखा गया है कि साधारणतः प्रत्यक्ष कृषि अर्थ पूर्ति में महाजन अथवा साहूकार, देशी बैंकर तथा सहकारी समितियाँ ही विशेष कार्य कर रही हैं। इनमें साधारणतया ९०% ऋण का प्रदाय महाजन एवं देशी बैंकर करते हैं। परिणामतः किसान आज भी महाजनों के चंगुल में फँसे हुये हैं। उनको महाजनों के चंगुल से बचाने के लिये कृषि अर्थ-व्यवस्था का ऐसा पुनर्गठन होना अत्यन्त आवश्यक है कि जिसके अनुसार एक तो महाजनों की कृषि साख सम्बन्धी क्रियाएँ कानून द्वारा नियन्त्रित की जायँ तथा दूसरी ओर किसानों को पर्याप्त मात्रा में ऋण देने के लिए प्रयत्न किये जायँ। अभी तक महाजनों की क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न प्रान्तों में जो भी प्रयत्न किये गये वे असफल तो हुये ही, परन्तु इसके साथ ही कृषकों को जो ऋण वे देते थे, उसकी मात्रा भी कम हो गई।[2] महाजनों की क्रियाओं का वैधानिक नियन्त्रण तभी सफलता से हो सकता है, जबकि इनको अपनी क्रियाएँ करने के लिये अनुज्ञा-पत्र (Licences) दिये जायँ तथा इनके हिसाबों की सामयिक जाँच

1 Indian Rural Problem—by Nanawati & Anjaria

2 Observations of Nanawati Committee on Agricultural Credit Organisation

के लिये समुचित आयोजन किया जाय, जिससे वे निरक्षर किसानो के साथ धोका न कर सकें। दूसरे, व्याज की दरो को सीमित कर दिया जाय तथा प्रत्येक किश्त के भुगतान की रसीद देने के लिये इन्हे वाध्य किया जाय। यह तभी सम्भव है जब किसानो द्वारा किश्तो का भुगतान न्यायालय के माध्यम से अथवा गांवो में तहसीलदार के माध्यम से हुआ करे। इससे महाजनो की क्रियाएं नियन्त्रित हो सकती हैं। इसी प्रकार सूचीबद्ध बैंको को चाहिये कि वे भी गांवो मे साख-व्यवहार करने के लिए इनको अपना प्रतिनिधि नियुक्त करें।

कृषि साख-प्रमण्डल (Agricultural Credit Corporation)—

गाडगिल कृषि-अर्थ उप समिति (सन् १९४७) ने कृषि अर्थ पूर्ति के लिए कृषि साख प्रमण्डल की स्थापना का सुझाव दिया है। इसी प्रकार अब मध्य-प्रदेश सरकार भी विचार कर रही है कि कृषको को तकावी ऋणो के वितरण के लिए कृषि साख प्रमण्डल की स्थापना की जाय, परन्तु तकावी ऋणो का वितरण सहकारी समितियो के माध्यम से भली भांति एव अधिक उपयोगी हो सकता है, क्योकि ये समितियां कृषको के निकट सम्पर्क मे होती हैं। इसलिए कृषि साख-प्रमण्डल की स्थापना की कोई आवश्यकता नही है ऐसा विचार सहकारिता आयोजन समिति ने व्यक्त किया है। फिर भी कृषि अर्थ पूर्ति के लिए अखिल भारतीय ढङ्ग पर कृषि साख-प्रमण्डल की स्थापना करने का प्रस्ताव भारत सरकार ने किया है।

भारत मे भी यदि किसी प्रकार अल्पकालीन एव मध्य-कालीन साख को दीर्घकालीन साख से कृषि अर्थ प्रमण्डल की स्थापना द्वारा अलग कर दिया जाय तो भारतीय कृषि-अर्थ व्यवस्था सन्तोषप्रद हो सकती है। इस हेतु कृषि अर्थ प्रमण्डल का सगठन सावधानी से होना आवश्यक है कि जिससे उसकी क्रियायें सहकारी बैंको की क्रियाओ मे बाधक न रहते हुए सहायक रहे।† भारत जैसे विशाल देश मे, जहाँ के किसान असगठित एव साधनहीन हैं, कृषि अर्थ प्रमण्डल और राज्य सहकारी बैंको मे सहकार्य होना चाहिए। इसके लिए भारत के उन प्रान्तो मे जहाँ अभी तक प्रान्तीय सहकारी बैंक नही हैं, उनकी स्थापना शीघ्र की जाय।

अखिल भारतीय कृषि साख सर्वे समिति—

कृषि-अर्थ-व्यवस्था ही नही, वरन् सम्पूर्ण ग्रामीण-अर्थ व्यवस्था के सुसगठित तथा सुव्यवस्थित करने के लिए अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी के सुझाव प्रशसनीय हैं। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को सगठित करने के लिए इस कमेटी ने 'ग्रामीण साख समग्रीकरण योजना' प्रस्तुत की, जिसका मूल स्रोत राज्य त्रि-सूत्री वित्तीय, प्रशासन सम्बन्धी तथा यान्त्रिक सहायता है। कमेटी के अनुसार इसका सर्व प्रथम उद्देश्य यह है कि ऐसी स्थिति आयोजित की जाय, जिसमे सहकारी सस्थायें तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे कार्य करने वाली अन्य सस्थायें अपने व्यक्तिगत सकुचित दृष्टिकोण एव लाभ

† Commerce 1954, p 366

को छोड़कर कृषक की आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने मे सलग्न हो। इस योजना के अन्तर्गत सरकार का कार्य केवल नियन्त्रण करना, सलाह देना अथवा प्रशासन करने के अतिरिक्त उक्त त्रि सूत्री सहायता प्रदान करना होगा। इस कारण योजना मे प्रत्येक स्तर पर तथा प्रत्येक क्षेत्र मे राज्य को विभिन्न सस्थाओ के साझे मे काय करने का सुझाव है। ऐसा साझा चार-सूत्री होगा —(१) सहकारी साख के क्षेत्र मे, (२) कृपि सम्बन्धी सग्रह, सकलन तथा विपणन के कार्यो मे, (३) गोदामो की सुविधायें देने मे तथा (४) व्यापारिक वैंको के काय क्षेत्र मे सहयोग देना।

वैंको को सुधारने तथा उनके समुचित विकास के लिए कमेटी ने निम्न सुझाव दिये है :—

(१) केन्द्रीय क्षेत्र मे वित्त, प्रशासन तथा तकनीकी सहायता को सुसगठित करना।

(२) विभिन्न क्षेत्रो की आर्थिक प्रगति के अनुसार ऐसा ही सगठन जिलो मे होना चाहिए जहां या तो नये राज्य द्वारा सहकारी वैंक खोले जायें अथवा पुराने वैंको को सुसगठित किया जाय।

(३) जिन वैंको की शाखायें गांवो मे खोली जायें, उनको प्रत्येक स्तर पर भूमि बन्धक वैंको से पूर्ण सहयोग प्राप्त हो।

(४) नये भूमि बन्धक वैंक तथा ग्राम्य सहकारी समितियो का वृहद् रूप मे पुनर्गठन।

इन चारो सूत्रो के आधार पर सगठित होने से ये सस्थायें न केवल कृषि-अर्थ-व्यवस्था को वरन् ग्रामीण औद्योगिक व्यवस्था को भी सुधार सकेंगी, ऐसी आशा है।

इस चतुष्पदी योजना के अतिरिक्त कमेटी के अन्य सुझाव निम्न हैं :—

(१) राज्य द्वारा आयोजित तथा साझे मे कृषि सम्बन्धी सकलन, सग्रह तथा विपणन के कार्यों मे प्रत्येक स्तर पर भाग लेना चाहिए तथा गोदामो का विकास करना चाहिये।

(२) राज्य द्वारा त्रि-सूत्री सहायता से सहकारिता के आधार पर अन्य आर्थिक कार्यों (जैसे— खेती, सिंचाई, यातायात, पशुओ की नस्ल सुधारने, कुटीर-उद्योग धन्धो को सगठित करने आदि) मे भाग लेना चाहिए।

(३) इम्पीरियल वैंक तथा अन्य राज्य वैंको को मिश्रित करके एक स्टट वैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना करना और इस प्रकार नव निर्मित सस्था मे राज्य को भाग लेना चाहिए।

(४) प्रत्येक स्तर पर तथा विभिन्न राज्यो मे एक केन्द्रीय समिति द्वारा सहकारी-प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, जो सहकारी विभाग तथा सहकारी सस्थाओ के कर्मचारियो को उचित शिक्षा प्रदान करे।

(५) राज्य सरकारों की जिम्मेदारी के सम्बन्ध में सुझाव है कि "राज्य

सरकारे अपने-अपने क्षेत्र में सहकारिता के विकास तथा कार्यक्रम के अनुसार अन्य कृषि सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओ को पूरा करने के लिए जिम्मेदार है।"

योजना को सफल बनाने तथा पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने के लिए कमेटी ने अनेक कोषो के बनाने की सलाह दी। ये कोष इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक के आधीन :—

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष।

(ब) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष।

(२) भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि मन्त्रालय के आधीन :—

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (सहायतार्थ तथा बन्धकत्त्व) कोष।

(३) राष्ट्रीय सहकारिता एव कोष्ठागार विकास बोर्ड (नव-निर्मित सस्था) के अधीन :—

(अ) राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष।

(ब) राष्ट्रीय सग्रहालय विकास कोष।

(४) स्टेट बैंक के अधीन (नव-निर्मित सस्था) —

(अ) समग्रीकरण तथा विकास कोष।

(५) प्रत्येक राज्य सरकार के अधीन :—

(अ) राज्य कृषि साख (सहायतार्थ तथा बन्धकत्त्व) कोष।

(ब) राज्य सहकारिता विकास कोष।

(६) प्रत्येक प्रान्तीय राज्य-सहकारी तथा केन्द्रीय बैंक के आधीन :—

(अ) कृषि साख स्थिरीकरण कोष।

कार्यवाही—

भारत सरकार ने उक्त सुझाव मान कर कार्यवाही आरम्भ कर दी है :—

(१) स्टेट बैंक—१ जुलाई सन् १९५५ से इम्पीरियल बैंक के नियन्त्रण द्वारा 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' बना दिया है। स्टेट बैंक पर राष्ट्रीयकरण तिथि से ५ वर्ष में ४०० शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रो में खोलने की जिम्मेदारी है। इस जिम्मेदारी के अन्तर्गत स्टेट बैंक ने रिजर्व बैंक द्वारा निर्वाचित क्षेत्रो में नवम्बर सन् १९५८ तक २४४ शाखायें खोली हैं।

(२) (क) राष्ट्रीय कृषि साख दीर्घकालीन कोष—इस कोष का निर्माण फरवरी सन् १९५६ मे १० करोड़ रुपये से किया गया तथा इसमे सन् १९५६-५७ से सन् १९५८-५९ के वर्षों मे वार्षिक ५ करोड़ रुपये का अभिदान दिया गया। पहले कोष का उपयोग निम्न कार्यों के लिए होगा :—

(अ) राज्य सरकारो को सहकारी सस्थाओ की अश पूँजी मे हिस्सेदार बनने के लिए दीर्घकालीन ऋण देना,

(आ) मध्यकालीन कृषि ऋण देना,

(इ) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको को दीर्घकालीन ऋण देना, तथा

(ई) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको के ऋण-पत्र खरीदना। इस कोष से अधिकतम २० वर्ष के लिए ऋण दिये जा सकेंगे।

इस कोष में ३० जून सन् १९५८ को २५ करोड रुपये थे। सन् १९५८-५९ मे १३ राज्यो को सहकारी साख समितियो की पूंजी मे योग देने के लिए ६ ०५ करोड रु० के ऋण स्वीकृत किए, जब कि सन् १९५७-५८ में १४ राज्य सरकारो को ६ ०७ करोड रुपये स्वीकृत हुए थे। स्वीकृत ऋणो मे से राज्य सरकारो ने सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ मे क्रमशः केवल ५·८३ और ५ ७४ करोड रुपये का ही उपयोग किया।

(ख) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष—स्थिरीकरण कोष का निर्माण १ जुलाई सन् १९५६ को १ करोड रुपये से किया गया है। इसमें ३० जून सन् १९६१ तक वार्षिक १ करोड रु० जमा होते रहेगे। इसका उद्देश्य राज्य सहकारी बैंको को मध्यकालीन ऋण सुविधाएं देना है, जिसमें वे सूखा, अकाल अथवा ऐसी ही कठिनाइयो के समय अल्पकालीन ऋणो को मध्यकालीन ऋणो मे बदल सकें। इन ऋणों की अवधि १५ मास से ५ वर्ष तक की होगी। इस कोष मे ३० जून १९५८ को ३ करोड रु० थे।

(३) राष्ट्रीय सहकारिता एव विकास सभा—इसका निर्माण १ सितम्बर सन् १९५६ को किया गया, जिसके अन्तगत केन्द्रीय गोदाम कॉर्पोरेशन तथा राज्य गोदाम कॉर्पोरेशनो का निर्माण हो गया है।*

(४) सहकारिता की शिक्षा—सहकारिता की शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए भारत सरकार एव रिजर्व बैंक के सहयोग से एक संयुक्त 'सहकारिता शिक्षा केन्द्रीय समिति' का निर्माण किया गया है, जिसने सभी श्रेणी के कर्मचारियो की शिक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत उच्च अधिकारियो की शिक्षा के लिए अखिल भारतीय सहकारिता प्रशिक्षण केन्द्र पूना मे, मध्य श्रेणी के कर्मचारियो की शिक्षा के लिए पाँच प्रादेशिक प्रशिक्षण केन्द्र हैं, जिनमे सहकारी विक्रय की शिक्षा के हेतु विशेष पाठ्यक्रम है। इनमें से एक प्रादेशिक केन्द्र पर भूमि बन्धक बैंकिंग की शिक्षा की भी व्यवस्था है। इसके सामुदायिक एव राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजना के अन्तर्गत आने वाली सहकारी समितियो के खण्ड स्तरीय (Block Level) अधिकारियो के प्रशिक्षण के लिए ८ संस्थायें तथा निम्न श्रेणी के अधिकारियो के प्रशिक्षण विद्यालय हैं। इससे सहकारी आन्दोलन की प्रगति द्वितीय योजना काल मे मजबूत आधार पर हो सकेगी।

द्वितीय योजना—

सहकारी आन्दोलन का विकास ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिशो के अनुसार करने का समग्रीकरण कार्यक्रम दूसरी योजना में है। इस कार्यक्रम के अनुसार

* विशेष विवेचन के लिए देखिए 'कृषि उपज की बिक्री'।

कृषि के लिए अल्पकालीन १५० करोड रु०, मध्यकालीन ५० करोड रु० और दीर्घ कालीन २५ करोड रु० की साख सुविधाएँ सहकारी सस्थाओ के माध्यम से ही दी जावेगी।

तीसरी योजना—

आयोग के अनुसार सहकारिता क्षेत्र का आवश्यक लक्ष्य जनता मे मितव्ययिता तथा बचत की आदत डालना है। प्रत्येक क्षेत्र में सहकारिताओ के कार्यक्रम के अनुसार सदस्यो की ऋण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जा रहे हैं।

तीसरी योजना के लिए आरम्भिक रूप से निम्न लक्ष्य निर्धारित किये हैं :—

प्रारम्भिक ग्राम समितियाँ (सेवा-सहकारिताएँ) २५ हजार

सदस्य सख्या	४ करोड
ग्रामीण जन-सख्या का समावेश	५५%
कृषि जनसख्या का समावेश	७४%
अल्पावधि ऋण	४०० करोड रु०
मध्यावधि ऋण	१६० ,,
दीर्घवधि ऋण	११५ ,,
अनुपातिक सदस्यता	१६०
,, ऋण प्रति सदस्य (अल्प तथा मध्याविधि)	१२० रुपये
प्रत्येक समिति की अनुपातिक शेयर पूँजी	४,८०० रु०
,, का व्यवस्थापित एव अन्य सुरक्षित कोप	१,६०० रु०*

प्राथमिक समितियो द्वारा रखा जाने वाला कुल डिपाजिट ३० करोड रु०

इस प्रकार कृषि अर्थ व्यवस्था के सुधार के प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे निश्चय ही कृषको को महाजनो के पास जाने की आवश्यकता न रहेगी।

---

* नवभारत टाइम्स अगस्त ५, सन् १९६०

अध्याय १६

भूमि व्यवस्था, कानून और जमींदारी उन्मूलन

(Land Systems, Tenancies & Abolition of Zamindari System)

"खेती के तरीकों में सुधार निःसन्देह अनिवार्य है, लेकिन जोंकों द्वारा चूसे गए दरिद्र खेतिहरों को इसके लिए शिक्षा देना निरर्थक है, क्योंकि उनके पास इसके लिए साधनों का अभाव है। १६ वीं शताब्दि के यूरोप में भू-व्यवस्था के कानून में परिवर्तन उत्पादन विधियों और कृषि विपणन के आधुनिकीकरण के पूर्व ही हो चुका था। पहिली बातों के अभाव में अन्तिम दो बातें सम्भव नहीं थीं।"

—आर० एम० टॉनी।

भूमि व्यवस्था मे हम उन 'अधिकारो और जिम्मेदारियो' का अध्ययन करते है, जिनका सम्बन्ध भूमि के स्वामित्व और भूमि उपयोग से है। दूसरे शब्दो में —"भूमि व्यवस्था का सम्बन्ध उन शर्तों एवं अवस्थाओ से है, जिन पर भूमि का स्वामित्व और उसकी जोत का अधिकार निर्भर करता है।" चूंकि भूमि का मालिक मौलिक रूप मे देश की सरकार होती है, इसलिए भूमि व्यवस्था मे दो बातो का विवेचन होता है :—

(१) भू-स्वामित्व (Proprietory Rights)—इसमे किन बातो पर भूमिपतियो का भूमि पर स्वामित्व निर्भर रहता है और सरकार के प्रति उनका क्या कर्तव्य है, यह देखते हैं।

(२) जोत का अधिकार या काश्तकारी (Cultivation Tenures)—इसमे भूमि का जोतने वाला या कृषक कुछ शर्तों पर भूमि स्वामी (जमींदार या राज्य) से जोत के लिए जमीन लेता है। भूमि का 'मालिक होना' और 'उसकी काश्त या जोत', ये दो भिन्न बातें हैं। कृषकों को अंग्रेजी मे टेनेंटस अथवा 'साटकी' कहते हैं, क्योंकि जिस भूमि पर ये कृषि करते हैं, उस पर उनका निजी स्वामित्व नही होता। जिस पद्धति से भूमि किसानो को दी जाती है, उसे 'साटकी' पद्धति (Tenancy System) कहते हैं।

भू-स्वामित्व (Proprietory Tenure)—

भू-स्वामित्व की भारत मे तीन प्रमुख प्रणालियाँ हैं —जमींदारी प्रथा, महालवारी प्रथा और रैयतवारी प्रथा —

(१) जमींदारी प्रथा—इस प्रथा मे भूमि का स्वामी जमींदार होता है, जो सरकार के प्रति जमीन के लगान के लिए उत्तरदायी होता है। जब तक वह लगान

सरकार को चुकाता है, तब तक भूमि का पूर्ण स्वामित्व उसी का रहता है। सरकार को जमींदारों द्वारा दिये जाने वाले लगान का निश्चय दो प्रकार से होता है —

(क) स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement)—जिसमे लगान की राशि सदैव के लिए एक बार निश्चित हो जाती है। यह बगाल, बिहार, उडीसा मे थी। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध मे रिचार्ड टैम्पल का कथन है—"इङ्गलैण्ड की भाँति भारत में जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव सर्व प्रथम बङ्गाल मे हुआ। इस प्रकार जमींदार, जो पहिले नम्बरदार, राजा, ठेकेदार और सरकार के प्रतिनिधि थे, उनको सरकार के तत्वावधान मे उस जमीन के लिए मौरूसी अधिकार दे दिया गया, जहाँ तक कि भूमि का विस्तार था। मालगुजारी का निर्धारण भूमि के लगान का $\frac{9}{10}$ वाँ भाग निश्चित किया, जो जमींदार कृषकों से लेते थे। शेष $\frac{1}{10}$ वाँ हिस्सा जमींदारों के लिए रखा जाता था। मालगुजारी के उत्तरदायित्व का निर्धारण साधारणतः भूमि के अधिकार के ज्ञान बिना और भूमि की उर्वरा शक्ति को देखे बिना किया गया। कृषक की रक्षा की इच्छा रखते हुए भी वे कुछ नही कर सकते थे। जमींदार लोग इस प्रथा मे अकर्मण्य बन गये और किसानो से जितना ज्यादा लगान वसूल कर सकते थे, उतना वसूल करने का यथासम्भव प्रयत्न करते थे। लार्ड कॉर्नवालिस का यह स्वप्न कि लाभदायक पूँजीपति जमींदार जो कृषकों के सन्तोष पर निर्भर रहे, ऐसा अपवाद अपूर्ण ही रहा।"[1]

डा० बी० आर० मिश्रा के शब्दो मे—"सरकार ने केवल राजनैतिक कारणो से लाखो कृषको के अधिकार कुछ लोगो के हाथ मे सौंप दिये, जिस कारण जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। जो भूमि के रखने वाले थे, उन्हे स्वामित्व का अधिकार दिया गया और कुछ को उनके अन्तर्गत स्वामित्व का अधिकार दिया गया। श्रेष्ठ क्षेत्रपति और अन्तर्गत क्षेत्रपति के भेद पर विशेष जोर दिया गया, जिस कारण कृषकों की आर्थिक स्थिति का ह्रास हुआ और उन दोनो के बीच भूमि कर या लगान वसूल करने वाली पूँजीपति जाति का जन्म हुआ।"[2]

(ख) अस्थाई प्रबन्ध (Temporary Settlement)—जिसमे लगान की राशि समय-समय पर (विशेषतः ४० वर्ष के लिए) निश्चित होती है, जिसके बाद पुनः परिवर्तन किया जाता है।

जमींदारी प्रथा बङ्गाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, आसाम, मद्रास मे प्रचलित थी।

(२) महालवारी प्रथा—यहाँ महाल का अर्थ है गाँव, जिसमे गाव के कुछ लोग मिलकर सरकार से जमीन का स्वामित्व प्राप्त करते हैं और सम्मिलित रूप से सरकार को मालगुजारी देने के लिए जिम्मेदार होते है। इस कारण महालवारी प्रथा का दूसरा नाम सम्मिलित ग्राम स्वामित्व (Joint Village Tenure) है। इस सम्मिलित दल के प्रत्येक स्वामी को 'सहभागी' कहते हैं।

---

1 Quoted by a Hauge in "*Man Behind the Plough*", Page 235

2 B R Mishra Land Revenue Policy in U P Page 197.

वैधानिक रीति से मालगुजारी के भुगतान के लिए ये सभी सहभागी सम्मिलित रूप से सरकार के प्रति उत्तरदायी है। यदि एक सहभागी मालगुजारी नही देता तो सरकार अन्य सहभागियो से वसूल कर सकती है। किन्तु व्यवहार मे ऐसा नही है, अपितु प्रत्येक सहभागी स्वतन्त्र रूप मे अपनी जमीन का स्वामी हो गया है। उसकी व्यवस्था पर उसका अपना ही अधिकार होता है और केवल अपने भूमि की मालगुजारी के भुगतान के लिए ही सरकार के प्रति जिम्मेदार है। यह प्रथा उत्तर-प्रदेश, पजाब तथा मध्य-प्रदेश मे थी।

(३) रैयतवारी प्रथा (Ryotwari System)—इसमे किसान का सम्बन्ध सीधे सरकार से होता है, इसलिए मालगुजारी सरकार को ही देता है। मालगुजारी लगभग हर ३० ४० वर्ष बाद निश्चित होती है। इसमे किसान वैधानिक रीति से भूमि का पूर्ण स्वामी नही होता, किन्तु व्यवहार में वह स्वामी ही रहता है। यह प्रथा मद्रास, बम्बई और बरार मे प्रचलित है।

भूमि का स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement)—

भूमि का स्थायी बन्दोबस्त बगाल मे सर्व प्रथम लार्ड कॉर्नवालिस द्वारा सन् १७९३ मे किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्त्वाधान मे इस प्रथा का अधिक विकास हुआ। इस कारण कम्पनी को बङ्गाल से स्थायी कर मिल जाता था, जिसको कम्पनी बहुत अच्छा समझती थी। अतएव यह प्रथा बनारस, उत्तरी मद्रास, मध्य-प्रान्त और दक्षिणी मद्रास मे भी लागू की गई। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त को आगे बढाने का प्रश्न कम्पनी का शासन समाप्त होने पर वाद विवाद के लिए आया। सरकार ने अपने पूर्व अनुभव से इसके दोष जान लिये थे, अत इस प्रथा को आगे बढाने के प्रश्न को मजबूती से दबा दिया गया। स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली पूरे बङ्गाल, बिहार के $\frac{5}{6}$ भाग, असम के $\frac{1}{5}$ भाग और उत्तर-प्रदेश के $\frac{1}{10}$ भाग मे पाई जाती है। अर्थात् देश की ४२% कृषि भूमि पर यह प्रथा लागू होती है।

स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में—

भूमि की स्थायी व्यवस्था के पक्ष मे निम्न दलीलें दी जाती हैं :—

(१) आर्थिक दृष्टि से सरकार को एक निश्चित धन लगान के रूप में मिल जाता था तथा राज्य को समय-समय पर लगान निर्धारण व वसूली के लिए अधिक व्यय नही करना पडता था।

(२) राजनैतिक दृष्टि से जमींदारो की स्वामि-भक्ति अंग्रेजो को प्राप्त हो गई, जिससे वे अपने राज्य की नींव दृढ कर सके।

(३) सामाजिक दृष्टि से जमींदार कृषको के स्वाभाविक नेता बन गये, जो अपनी शक्ति जन-साधारण को साक्षर बनाने एव स्वच्छता के सम्बन्ध मे जानकारी देने मे व्यतीत करते थे।

(४) कृषको की दृष्टि से इस प्रथा ने कृषि को सुरक्षित, उन्नत और उद्यमशील बना दिया।

मे ऐसे भी काश्तकार हैं, जिन्हे कुछ अशो मे भी भूमि पर स्वामित्व नही मिला है। उन्हे लगान के बढने और काश्तकारी से हटाये जाने के लिये सरक्षण नही मिला।"

नये काश्तकारी नियम—

सन् १९३७ में प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ ही सब जगह जनता के मन्त्रि-मण्डलो ने राज्य सत्ता हस्तगत की। उनका पहला कार्य काश्तकारी नियमो मे सुधार करना था।

काश्तकारी कानूनो के मुख्य उद्देश्य निम्न थे :—

(१) कानून द्वारा लगान मे वृद्धि करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबंध लगाना।

(२) स्वतन्त्रता से काश्तकारो को भूमि से अलग करने की प्रणाली पर रोक लगाना।

(३) काश्तकारो को मोरूसी हक देना, जिससे एक भूमि परम्परागत हस्तान्तरित की जा सके।

(४) बकाया लगान के सम्बन्ध मे कुर्की के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाना और साथ में जानवरो, बीज और औजारो को कुर्की से मुक्त करना।

(५) लगान मे कुछ समय के लिये जो रोक लगा दी जाती है, उससे कृषको को भी रोक द्वारा या लगान मे कमी से लाभ पहुँचाना।

(६) काश्तकार द्वारा भूमि पर किए जाने वाले सुधार के लिये उसे हर्जाना देने की व्यवस्था करना।

जमींदारी उन्मूलन—

भारतीय भूमि व्यवस्था के विवेचन से यह स्पष्ट है कि उसमे अनेक दोष हैं, आर्थिक दृष्टि से जमीदारी उन्मूलन का विशेष महत्त्वपूर्ण आधार रहा है। विशेषज्ञो की अनेक समितियो ने समय समय पर जमीदारी प्रथा का अन्त करने की सिफारिश की।

सन् १९४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने भूमि-सुधार कार्यक्रम को अपने आर्थिक कार्यक्रम मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इस कार्यक्रम की निम्न प्रमुखताएँ है —

(१) मध्यस्थो का उन्मूलन तथा काश्तकारी सुधार करना, जिससे काश्तकारो के काश्त की सुरक्षा हो, उपज के $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{5}$ भाग तक समुचित लगान निश्चित करना तथा अन्त मे काश्तकारो को भू-स्वामित्व दिलाना।,

(२) भूमि धारण की सीमा निर्धारण करना,

(३) भूमि की चकबन्दी करना एव भूमि का विभाजन एव अपखण्डन रोकना, तथा

(४) सरकारी कृषि का विकास।

इस वृहत कार्यक्रम का जमींदारी उन्मूलन यह एक भाग है। प्रारम्भिक स्थिति मे सभी राज्यो ने इस दिशा मे कार्यवाही आरम्भ की।

बहुत से राज्यो मे, जहाँ जमींदारी अथवा तत्सम अन्य प्रथा प्रचलित हैं, इन विशेषाधिकारी का अन्त करने के लिए अधिनियम स्वीकार किए गये।

जमींदारी उन्मूलन करने के समर्थन मे अनेक तर्क दिये गये —

(१) जमींदार किसानो का शोषक होता है और उसने अपने अधिकार की भूमि मे कुछ भी सुधार नही किया। भूमि की चकबन्दी करने में सदैव रुकावट डाली और उसने भूमि जोतने वाले कृषक को भूमि सुधार के लिए अपनी अनुमति नही दी। यदि जमींदारी प्रथा का अन्त कर दिया जाये तो भूमि सुधार किया जा सकेगा। खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि होगी और भूमि सुधार योजना को कार्यान्वित किया जा सकेगा, जिसकी कृषि उद्योग के विकास के लिए बहुत समय से आवश्यकता है।

(२) इससे राज्य की भू-राजस्व सम्बन्धी आय बढेगी। सन् १९५०-५१ मे खण्ड 'क' के ९ राज्यो को भू-राजस्व से ३३ करोड २१ लाख रुपये की आय हुई। ऐसा अनुमान है कि जमींदारी उन्मूलन करने वाले ७ राज्यो की आय १९ करोड ५० लाख रुपये से अधिक बढेगी, जिससे राज्य सरकारे हानि पूर्ति (मुआवजे) की किश्त चुकाने के बाद अपनी भूमि सुधार तथा ग्राम पुनर्निर्माण योजनाओ को लागू कर सकेंगी। परिणामस्वरूप देश के प्रति व्यक्ति की आय मे वृद्धि होगी और किसान की स्थिति मे सुधार हो सकेगा।

(३) भूमि सुधार योजनाओ की सफलता के लिए—जमींदारी उन्मूलन का प्रश्न आर्थिक होने के साथ ही राजनैतिक भी है। देश के मतदाताओ मे किसानो की संख्या बहुत अधिक है। किसान वर्तमान स्थिति से बहुत असन्तुष्ट है और उनका विचार है कि उनकी इस दयनीय स्थिति के लिए केवल जमींदारी प्रथा ही उत्तरदायी है। यह सब विदित है कि जनतन्त्र प्रणाली मे बहुमत का निर्णय ही सब मान्य होता है, चाहे उसका दृष्टिकोण कुछ भी हो, इसलिए किसानो के असन्तोष को कम कर, उनको अनुकूल करने के लिए, जमींदारी उन्मूलन को एक साधन बनाया गया है। भूमि सुधार योजना तभी सफल हो सकती है, जब किसान और राज्य के बीच जो विभिन्न कड़ियाँ हैं, उनका उन्मूलन हो जायगा।

उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य-प्रदेश, मद्रास, राजस्थान आदि में जमींदारी उन्मूलन की निश्चित योजनायें बन चुकी है, जिनकी साधारण जानकारी निम्न तालिका से होती है :—

और अधिक आय वालो के लिए क्रमशः कम होते जावेंगे। हानिपूर्ति वेचे न जा सकने वाले बौन्डो (Non Negotiable Bonds) में दी जायगी। हानिपूर्ति की रकम यदि २० रुपये के सबसे छोटे बौन्ड से कम हो या भुगतान की रकम ५० रुपये से अधिक न हो तो हानिपूर्ति नकद दी जायगी। बौण्ड की अवधि ४० वर्ष होगी और प्रति वर्ष २½ रु० प्रतिशत की दर से इन पर वाजिब व्याज मे से अर्द्ध-वार्षिक किश्तो में रुपया दिया जायगा। जमीदारो के स्वत्वो की जाँच करने मे और हानिपूर्ति देने मे काफी समय लगेगा, इसलिए जमीदारो की कठिनाई से सुरक्षा के लिए अन्तरिम अवधि मे अस्थाई मुआवजे की व्यवस्था की गई है, जो नकद दी जावेगी। स्थाई बन्दोवस्त वाले क्षेत्रो से इस अन्तरिम अवधि मे जितना भू-राजस्व वसूल किया जा सकता है, उसका १½ गुना प्रतिफल दिया जायगा। अन्य बातो मे प्रतिफल की रकम भू-राजस्व के बराबर होगी। जहाँ भू-राजस्व नही दिया जाता, वहा अस्थाई हानिपूर्ति अनुमानित भू-राजस्व की रकम के आधार पर दी जायगी।

हानिपूर्ति के भुगतान मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हानिपूर्ति या तो नकद दी जाय या वेचे न जा सकने वाले बौडो में। जमीदारो के दृष्टिकोण से यदि हानिपूर्ति नकद दी जाती तो सर्वोत्तम होता। क्योकि इससे वह कोई नया कारोवार खोलते या उद्योगो मे रुपया लगाते, जिससे उन्हे बराबर आय मिलती रहती। परन्तु हानिपूर्ति की राशि का नकद भुगतान सम्भव नही है, क्योकि राज्य सरकारे एक साथ ही इतनी अधिक रकम देने की व्यवस्था नही कर सकती। उत्तर-प्रदेश मे जमीदारी उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया है। किसानो को अपने लगान का १० गुना जमा कर भूमिधारी अधिकार लेने को प्रोत्साहित किया जा रहा है। फिर भी अभी तक बहुत कम रुपया इकट्ठा हो सका है। जमीदारो को हानिपूर्ति की रकम नकद देने के लिए राज्य सरकारें जनता से ऋण या भारत सरकार से वित्तीय सहायता ले सकती थी। परन्तु मुद्रा मण्डी की स्थिति ऐसी नही है कि राज्य सरकारे हानिपूर्ति के लिये इतनी बडी रकम प्राप्त कर सकें। भारत सरकार ने भी इस कार्य के लिए राज्य सरकारो को सहायता देने मे असमर्थता प्रकट की। यदि जमीदारो को नकद रुपयो मे हानिपूर्ति न देकर वेचे जा सकने वाले बौडो मे दी जाती तो यह सम्भव था कि जमीदार इन बौडो को बाजार मे बेच देते, जिससे सरकारी प्रतिभूतियो के बाजार मे मन्दी आ जाती। ऐसा होने से पूँजी बाजार के साधन सकुचित हो जाते। इन्ही सब बातो को ध्यान मे रख कर यह निश्चय किया गया कि हानिपूर्ति वेचे न जा सकने वालो बौण्डो मे दी जाय, परन्तु इससे जमीदारो के प्रति पूरा-पूरा न्याय नही होता है, क्योकि जमीदारो को उनकी हानिपूर्ति की रकम और उस व्याज का भुगतान काफी लम्बे समय बाद किया जायगा, जिससे इस बीच अपना वर्तमान व्यय चलाने मे या कोई नया कारोवार स्थापित करने मे जमीदारो को बहुत कठिनाई होगी।

राज्य सरकारो को बौडो का मूलधन और व्याज का भुगतान करने में विशेष कठिनाई नही होगी, क्योकि इस बीच भू-राजस्व से राज्य सरकारो की आय बढेगी,

जो कि इस आय से हानिपूर्ति दे सकेंगी। जैसा कि निम्न तालिका से यह स्पष्ट है कि जमीदारी उन्मूलन से राज्य की आय मे प्रति वर्ष कुल मुआवजे की ४·७% वृद्धि होगी, जिसमे से प्रति वर्ष भुगतान किया जा सकता है :—

तालिका[1]

राज्य	मुआवजे की रकम (करोड रुपयो मे)	अतिरिक्त वार्षिक भू-राजस्व (करोड रुपयो मे)	अतिरिक्त वार्षिक भू-राजस्व कुल रकम का प्रतिशत
मद्रास	१५ ५	१ (अ)	६ ४५
उत्तर-प्रदेश	१४०	७	५
बिहार	१५०	६ ५	४·३३
मध्य-प्रदेश (विलय क्षेत्र निकाल कर)	६८ ५	२ ७५ (अ)	४
पश्चिमी बगाल	३५	१ ८ (अ)	५ ६
उडीसा	१०	० ६७ (अ)	६ ७
आसाम	५	० २० (अ)	४
कुल	४१४ ०	१६ ५२	४ ७१

जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार का व्यावहारिक रूप[2]—

उत्तर प्रदेश मे जमींदारी उन्मूलन—

उत्तर प्रदेशीय धारा-सभा ने १० जनवरी सन् १६५१ को उत्तर-प्रदेश जमीदारी उन्मूलन बिल पास किया। बिल को २६ जनवरी सन् १६५१ से लागू करने का विचार था। परन्तु कुछ जमीदारो की प्रार्थना पर उच्चतम् न्यायालय ने उत्तर-प्रदेश सरकार को इसे कार्यान्वित न करने का आदेश दिया, जिससे बिल को कार्यान्वित न किया जा सका। इसके बाद भारतीय सविधान मे आवश्यक सशोधन होने के बाद उच्चतम् न्यायालय ने इसे वैध घोषित किया, अतएव २६ जनवरी सन् १६५२ से इस नियम को लागू कर दिया गया। सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश मे लगान वसूल करने का काम अब राज्य सरकार करती है। जमीदारो के पास मुआवजे के कागज भेज दिए गये हैं और व्यावहारिक दृष्टिकोण से सभी प्रकार से इस प्रथा को भग कर दिया गया है।

इस नियम की प्रमुख व्यवस्था निम्न प्रकार हैं :—

(१) २६ जनवरी सन् १६५२ से मध्यजनो के सभी हित, जिसमे उनके

---

1 Reserve Bank of India Bulletin, June 1950

(अ) = अनुमान

2 Based on H D Malviya's Land Reforms in India (1954).

कृषि की भूमि के अधिकार, रास्तो और सडको के अधिकार, आबादी, ऊसर-भूमि, जगलो, नाव-पुलो, कुँओ, तालाबो, पानी के बम्बे, खानो और खनिज पदार्थों तथा अन्य भू गर्भ अधिकार सम्मिलित हैं, सरकार को प्राप्त हो गये, परन्तु मध्यजनो का उनकी सीर, खुदकाश्त, बगीचो, निजी कुँओ, सीर अथवा खुदकाश्त भूमि के पेडो और आबादी के वृक्षो पर अधिकार रहा।

(२) जमींदारो को जो हानिपूर्ति दी गई उसकी दर वास्तविक सम्पत्ति के आठ गुनी रखी गई, परन्तु साथ ही यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक ऐसे जमींदार को जो १०,००० रुपया प्रति वर्ष से अधिक मालगुजारी नही देता है, पुनर्वास अनुदान दिये गये, जिनकी दर १ गुनी से लेकर २० गुनी तक है। जितनी जमींदारी बडी थी, उतनी ही इस अनुदान की दर कम रखी गई। हानिपूर्ति उसी दिन से देय हो गई जिस दिन से जमींदारी ली गई। ५० रु० तक की हानिपूर्ति नकद दी गई। इससे अधिक के लिए ४० वर्ष तक की अवधि के बॉड दिये गये, जिन पर ब्याज की दर २½% रखी गई। ऐसा अनुमान है कि उत्तर-प्रदेशीय सरकार को हानिपूर्ति के रूप मे कुल १४० करोड रुपये देने पडेगे।

(३) *हानिपूर्ति की रकम को प्राप्त करने के लिए एक जमींदारी उन्मूलन* कोष का निर्माण किया गया। सन् १९४९ मे एक एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक ऐसा किसान जो अपने वार्षिक लगान का १० गुना सरकार के पास जमा कर देगा, भूमिधर बन जायेगा। अर्थात् उसे अपनी भूमि मे स्थायी उत्तराधिकारी तथा हस्तान्तरण अधिकार प्राप्त हो जायेंगे। ऐसे किसान को भूमि च्युत नही किया जा सकता। वह अपनी भूमि का किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है। ऐसा अनुमान लगाया गया कि इस प्रकार १७४ करोड रुपये की रकम सरकार को प्राप्त हो जायेगी, परन्तु अगस्त सन् १९५० तक केवल २७ करोड रुपये ही मिले थे और तत्पश्चात् एकत्रण गति और भी शिथिल हो गई। बाद को यह रकम बढा कर दस गुने के स्थान पर ११ गुना कर दी गई। स्मरण रहे कि भूमिधर को केवल आधा ही लगान देना होता है।

(४) किसान मुख्यत दो प्रकार के हो, भूमिधर और सीरधर। वे सब किसान जो जमींदारी उन्मूलन कोष मे अपने लगान का दस गुना जमा करा देते हैं, सभी जमींदारी, सीर, खुद काश्त तथा बगीचो के सम्बन्ध मे भूमिधर बन जायेंगे और उन्हे पूर्व वर्णित अधिकार प्राप्त होगे। अन्य सभी किसान साधारणतया सीरधर बन जायेंगे और उन्हे यह अधिकार होगा कि उन्मूलन कोष मे दस गुना जमा करके भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर ले। केवल किसानो के दो छोटे छोटे ऐसे वर्ग रहेंगे, जिन्हे यह अधिकार नही मिलेगा—आसामी और अधिवासी। आसामी अधिकार बगीचो (Grove land) के किसानो, किसान के प्राधिमानो (Mortgagees) तथा कुछ अन्य प्रकार के किसानो को दिये गये हैं। सीर भूमि के किसान तथा उप-किसान

भधिभागी बना दिये है। इन दोनो वर्गों को यह अधिकार दिया गया है कि वे पाँच वर्ष तक भूमि पर कब्जा रख सकते हैं। सीरधर किसानो को अपनी भूमि के सम्बन्ध में स्थायी तथा उत्तराधिकारी अधिकार प्राप्त होंगे, परन्तु वे अपनी भूमि का केवल कृषि, बाग, फुलवारी अथवा पशु-पालन के लिए ही उपयोग कर सकते है।

(५) जमींदारी उन्मूलन के समय वाले किसान अपनी काश्त में कितनी ही भूमि रख सकते है। परन्तु भविष्य मे कोई भी एक व्यक्ति ५० एकड से अधिक भूमि नही रख सकता और यदि एक व्यक्ति के पास भूमि की मात्रा ६३ एकड से कम हो जाने की सम्भावना है तो भूमि के विभाजन की आज्ञा नही दी जायेगी।

(६) भूमिधरो तथा सीरधरो पर भूमि-कर चुकाने का सम्मिलित उत्तर-दायित्व होगा, परन्तु यदि एक व्यक्ति दूसरे की ओर से कर चुकाता है तो उसे वसूली का अधिकार होगा। सरकार का विचार है कि करो को एकत्रित करने के लिए ग्राम-सभाओ का उपयोग किया जाये। सभी प्रकार की सामूहिक भूमि, चरागाह, ऊसर अथवा मरुभूमि जगल आदि पर गाँव सभा का अधिकार स्थापित किया गया। जैसा कि विदित है कि ग्राम हुकूमत एक्ट द्वारा सभी ग्रामो मे सभाएँ और पचायतें स्थापित की गई।

इस प्रकार जो उपाय किये गये हैं वे लगभग क्रान्तिकारी हैं और यह आशा की जाती है कि उपर्युक्त सुधारो से ग्रामीण क्षेत्रो में सुख और सम्पन्नता के नये युग का आरम्भ हो गया है। भुगतान की हानिपूर्ति समस्या थोडी जटिल है। केन्द्रीय सरकार ने अपनी मुद्रा स्फीति विरोधी नीति के अन्तर्गत किसी भी प्रकार की सहायता देने से इन्कार कर दिया। परन्तु किसानो से जो रकम वसूल हुई, उससे हानिपूर्ति का एक अश नकदी में दे दिया गया और शेष का भुगतान बॉडो मे दिया गया।

पश्चिमी-बङ्गाल—

अविभाजित बगाल मे सन् १९३८ मे एक भू-राजस्व आयोग नियुक्त किया गया, जिसे फ्लाउड कमीशन भी कहा जाता है। इस कमीशन की स्थापना का उद्देश्य प्रान्त की भू राजस्व प्रणाली की जाँच करना था। इस कमीशन ने यह सुझाव दिया कि प्रान्त मे सभी प्रकार के मध्यजनो का अन्त होना चाहिए और रैयतवारी प्रथा को अपनाया जाये, जिससे किसानो तथा सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो सके। इस हेतु सन् १९५३ मे पश्चिमी बगाल भू-सम्पत्ति प्राप्त अधिनियम पास किया गया। यह बिल धारा-सभा की एक सम्मिलित निर्वाचित समिति को सौंप दिया गया था, जिसने इसमे कुछ सशोधन किये। इसमें प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न है :—

(१) कोई भी मध्यजन (Intermediary) खास जागीर के रूप में घर तथा अकृषि कार्य के लिए अधिक से अधिक २० एकड भूमि रख सकता है।

(२) मध्यजन को घर में लगी हुई भूमि को छोड कर शेष खास भूमि पर लगान देना होगा।

(३) मुआवजे की दर इस प्रकार निर्धारित की गई है कि कम आय वाले वर्गो को अधिक हानिपूर्ति मिल सके।

(४) जिनकी भूमि मे खान है, ऐसे भूमि पतियो को हानिपूर्ति निश्चित करते समय विशेषज्ञो से राय ले लेनी चाहिए।

(५) मुआवजे की दरें शुद्ध आय पर निर्भर रहते हुए निम्न प्रकार से होनी चाहिए :—

शुद्ध आय Net Income	मुआवजा Compensation
५०० अथवा ५०० रु० से कम	२० गुना
५०१ से १,००० रु० तक	१८ गुना
१,००१ से २,००० रु० तक	१७ गुना
२,००१ से ४,००० रु० तक	१२ गुना
४,००१ से ५,००० रु० तक	१० गुना
५,००१ से २०,००० रु० तक	६ गुना
२०,००१ से १,००,००० रु० तक	३ गुना
१,००,००१ रुपये एव इससे अधिक	२ गुना

(६) कोई भी भूमिपति कृषि के लिए अपने पास खास भूमि मे से २५ एकड भूमि रख सकता है। यह उस भूमि के अतिरिक्त होगी जो अकृषि कार्यों के लिए रखी गई है।

(७) विल का उद्देश्य चकवन्दी तथा सहकारी खेती है।

पश्चिमी वङ्गाल मे मध्यजनो का पूर्ण अन्त अप्रैल सन् १९५५ तक कर दिया गया। इस हेतु दिये जाने वाले हानिपूर्ति की राशि ७० करोड रु० है। अप्रैल सन् १९५६ मे भूमि धारण की सीमा २५ एकड निश्चित कर दी गई है।

इस राज्य मे लगभग प्राप्ति के सब अधिकार राज्य सरकार ने ले लिए हैं तथा दर रैयत और उप भाटकियो का राज्य से सीधा सम्बन्ध हो गया है। भूमि सुधार कानून सन् १९५५ के अन्तर्गत यदि जमीदार कृषि की लागत देता है तो वर्गादार (Crop-sharer) से कृषि उपज का ५०% अन्यथा ४०% से अधिक भाग न ले सकेगा। रैयत को दर-रैयत की भूमि पर अधिकार प्राप्त करने का अधिकार समाप्त किया गया। इस अधिनियम मे जनवरी सन् १९५८ मे सशोधन किया गया, जिसमे अवैध तरीके से निकाले गये वर्गादारो को पुन उनकी भूमि दिलाई जा सके। उपज के सह-भागियो (Co sharers) के सम्बन्ध मे यदि रैयत के पास ६$\frac{2}{3}$ एकड या इससे कम भूमि हो तो उस सम्पूर्ण भूमि पर अधिकार मिलेगा और अन्य दशाओ में $\frac{1}{3}$ भूमि पर। दर-रैयत द्वारा रैयत को दिये जाने वाली मुआवजे की राशि के निर्धारण का आधार वही है जो मध्यजनो का था अर्थात् शुद्ध आय के दो गुने से २० गुने तक

सीधी पद्धति से हानिपूर्ति दी जायगी। हानिपूर्ति के निर्धारण के पूर्ण नियमो के बनने तक अन्तरिम मुआवजा देने की व्यवस्था की गई है:—

२५० तक शुद्ध आय वाले	मध्यजनो को		१००% प्रति वर्ष
२५१ से १,००० तक	,,	,,	५०% ,,
१००१ से १,४९९ तक	,,	,,	५०० रु० ,,
१,५०० से अधिक	,,	,,	३३% ,,

इस योजना के अन्तर्गत अभी तक १ २५ करोड रु० की राशि मुआवजे के रूप मे दी गई है।*

राज्य पुनर्गठन के कारण पश्चिमी बगाल को जो नये क्षेत्र मिले हैं उनमे भी सन् १९५३ का भू-सम्पत्ति प्राप्त अधिनियम लागू करने पर विचार किया जा रहा है।

बिहार—

बिहार में सन् १९५० मे भूमि सुधार अधिनियम बनाया गया, जिसकी कार्यवाही जनवरी सन् १९५६ को पूर्ण हो गई। फलत. जून सन् १९५७ तक १½ करोड रु० का मुआवजा लगभग ३ लाख मध्य जनो को दिया गया।

लगान के नियमन सम्बन्धी जो आयोजन है उनके अनुसार यदि भाटकी रजिस्टर्ड पट्टे पर है तो लगान जमीदारो द्वारा दिये जाने वाले लगान के ५०% से अधिक न होगा और अन्य दशाओ मे २५% से अधिक नही होगा। उपज के रूप में लगान कुल उपज के ७/२० भाग से अधिक नही होगा।

बिहार के वतमान भाटकी अधिनियम के अन्तगत जिन दर-रैयतो के पास मौखिक पट्टे पर जमीनें हैं उन पर स्थायित्व की सुरक्षा का प्रबन्ध है और जिनके पास नियत अवधि के पट्टे हैं वे नियत अवधि तक उस भूमि पर कृषि कर सकेंगे जब तक कि १२ वर्षों के अधिकार से भूमि ग्रहण अधिकार (Occupancy Rights) प्राप्त न कर लें।

उड़ीसा—

उडीसा मे उडीसा सम्पत्ति (Estates) उन्मूलन अधिनियम के अन्तर्गत मध्य-जनो के उन्मूलन की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अनुसार दिसम्बर सन् १९५७ तक स्थाई बन्दोबस्त के भूमि सम्बन्धी सब अधिकार तथा अस्थाई बन्दोबस्त के भूमि सम्बन्धी उच्च अधिकार उडीसा राज्य को मिले। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कुल मुआवजो की अनुमानित राशि १० ५ करोड रुपया है।

सन् १९५५ मे बेदखली भाटकियो (Tenants) की सुरक्षा की गई तथा भू स्वामी को सिंचित भूमि का ७ एकड और सूखी भूमि का १४ एकड भाग निजी कृषि के लिए रखने का अधिकार मिला। उपज लगान किसी भी दशा मे कुल उपज

---

* Amrit Bazar Patrika—West Bengal State Supplement Oct 1958

के २५% से अधिक नही हो सकेगा। ऐसा अधिकतम लगान सिंचित भूमि मे ६ मन प्रति एकड और असिंचित भूमि मे ४ मन प्रति एकड होगा।

इसी प्रकार राज्य के कुछ भागो मे जहाँ भूमि रजिस्टर्ड पट्टे पर ली गई है वहाँ नकद लगान जमीदारो द्वारा दिए जाने वाले लगान के ५०% तथा अन्य दशा मे २५% से अधिक नही होगा।

राज्य ने भू-सुधार के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए समिति नियुक्ति की, जिसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी है, जो अभी विचाराधीन है।†

मद्रास—

इस राज्य मे जमीदारी और रैयतवारी प्रथा थी। इसलिए जमीदारी क्षेत्र के लिए भू सम्पत्ति (लगान घटाओ) अधिनियम तथा भू सम्पत्ति उन्मूलन एव रैयतवारी परिवर्तन अधिनियम क्रमश सन् १९४७ और सन् १९४८ मे बनाये गये। इन दोनो का उद्देश्य लगान मे कमी करना तथा जमीदारी एव इनाम भू सम्पत्ति को प्राप्त कर उसे रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत रखना था। मद्रास राज्य में २,८०० जमीदारी तथा २,५०० इनाम जागीरो को १,२०५ करोड रुपये के मुआवजे मे प्राप्त किया गया। इस प्रकार कुल मिला कर सरकार ने १४० लाख एकड भूमि पर अधिकार किया। मुआवजा सभी राज्यो की तुलना में बहुत कम दिया गया, क्योकि इसकी दर केवल ६ रुपये प्रति एकड होती है। उपर्युक्त दोनो अधिनियमो को कार्यान्वित किया गया है, जिनकी प्रमुख व्यवस्था निम्नवत् है.—

(१) जिलाधीशो के प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे प्राप्त की हुई जागीरो के लिए व्यवस्थापक नियुक्त किये गये।

(२) रैयतवारी पट्टो द्वारा किसानो को भूमि दी गई।

(३) ऐसे सब किसानो को जो ५ वर्ष अथवा उससे अधिक काल तक खेती कर चुके हैं, आभोग-अधिकार (Occupancy Rights) दिये गये।

बम्बई—

बम्बई मे सन् १९४८ मे बम्बई भूधारण तथा कृषि भूमि अधिनियम बनाया गया, जिसको १६ मार्च सन् १९५६ को सशोधित किया गया। यह सशोधित अधिनियम १ अगस्त सन् १९५६ से लागू हुआ। सशोधित अधिनियम के अनुसार —

(१) स्थाई भाटकियो (Tenants) को उनके काश्त की पूर्ण सुरक्षा दी गई है तथा वे लगान के ६ गुनी राशि का भुगतान करने पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(२) अन्य आसामियो के काश्तकारी अधिकारो को सुरक्षा दी गई है, परन्तु जमीदार खुदकाश्त के लिए १२ से ४८ एकड तक भूमि रख सकेगा, जो भूमि आदि

† Amrit Bazir Patrika, Sept. 58

अन्य सुविधाओ पर निर्भर रहेगी। आसामी को अपनी भूमि का आधा भाग रखने का अधिकार है।

१ अप्रैल सन् १९५७ से गैर पुन· प्राप्ति क्षेत्रो (Non-resumeable) के आसामियो को भूमि स्वामित्व दिया गया तथा वे लगान के २० से २०० गुना तक हानिपूर्ति देने के लिए तथा सुधार की लागत देने के लिए जिम्मेवार हैं। ऐसी हानिपूर्ति की राशि का भुगतान ४½% व्याज पर अधिकतम १२ किश्तो मे देय है। स्थायी आसामियो को हानिपूर्ति की राशि एक मुश्त मे देनी होगी।

अधिकतम् लगान कर निर्धारण के २ से ५ गुने से अधिक नही होगा। इसके अलावा आसामी को भूमिकर और अन्य कर (Cess) देना होगा, परन्तु किसी दशा मे कुल उपज के छठवें भाग से कुल भुगतान की राशि अधिक नही होगी।

भविष्य मे भूमि की श्रेणी के अनुसार भू-धारण अधिकारो को १२ से ४८ एकड तक सीमित किया गया है, परन्तु यह नियम शुद्ध काश्त की वर्तमान जोतो पर लागू नही होगा।

राजस्थान—

राजस्थान मे जागीर उन्मूलन के लिए सन् १९५२ मे अधिनियम बनाया गया, जिस पर कार्यवाही हो रही है। जमींदारी और विस्वेदारी भाटकी पद्धति को समाप्त करने के सन्नियम विचाराधीन हैं।

इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी जागीरो की पुन. प्राप्ति के अधिकार राज्य सरकार को मिले हैं। धार्मिक एव सहायतार्थ सस्थाओ की जागीरो को भी उनकी वार्षिक आय के बराबर स्थाई वार्षिक वृत्ति देकर पुन. प्राप्त करने का अधिकार भी राज्य ने उक्त अधिनियम के सशोधन से ले लिया है।

प्रत्येक आसामी और दर-आसामी (Sub tenant) को १,२०० रु० वार्षिक शुद्ध आय देने वाली (इसमे आसामी एव उसके कुटुम्बियो के श्रम का समावेश नही है) भूमि रखने का अधिकार है। इससे अधिक भूमि होने पर भू-स्वामी उसे खुदकाश्त के लिए दो वर्ष मे ले सकता है। लगान कुल उपज के ⅙ भाग से अधिक नही होगा। अजमेर क्षेत्र में भी मध्यजनो के उन्मूलन सम्बन्धी कानून सन् १९५५ मे बनाया गया था। इसके अन्तगत जनवरी सन् १९५ तक २ ६ करोड रु० आय की जागीरो पर राज्य ने अधिकार कर लिया है जिनकी भाटक आय ३ ३४ करोड रु० और कुल मुआवजे को राशि ३६ करोड रु० है।

मध्य-प्रदेश—

राज्य सरकार ने ऐसे कानून बना दिए, ताकि मालगुजारी भू धारण प्रणाली तथा मध्य वर्गो के अधिकारो को समाप्त किया जा सके। मुआवजे की दर शुद्ध आय की दस गुनी रखी गई, परन्तु छोटे-छोटे जमींदारो (मालगुजारो) को इसके अतिरिक्त पुनर्वास अनुदान भी दिये जायेंगे।

मध्य-प्रदेश के मध्य-भारत क्षेत्र में भी राज्य के विलीनीकरण के पूर्व मध्य-भारत-जागीर-उन्मूलन-विधेयक पास किया। इसमे यह व्यवस्था की गई कि जागीरदारी को सरकार द्वारा प्राप्त कर लेने के पश्चात् अपनी सभी प्रकार की ऐसी भूमि पर, जिसमे वे स्वय खेती करते हो, जागीरदार को पक्के भू-धारी के अधिकार प्राप्त हो जायेंगे और ऐसी भूमि पर गाव की दर के हिसाब से लगान बैठा दिया जायगा। साथ ही, प्रत्येक किसान, जो जागीरदारी अथवा जमीदारी भूमि पर खेती करता है तथा शिक्मी काश्तकार उस भूमि मे, जिस पर वह स्वय खेती करता है, पक्के भू धारी अधिकार प्राप्त कर लेगा। इस क्षेत्र की माफी और इनाम की पद्धतियो के उन्मूलन के लिए सन् १६५६ मे एक विधेयक बनाया गया है,[*] जिससे सभी प्रकार के मध्यस्थो का अन्त हो सके।

मैसूर—

पुनर्गठित मैसूर राज्य मे मैसूर, कुर्ग और पुनर्गठन पूर्व के बम्बई, हैदराबाद और मद्रास के कुछ भाग हैं। यहाँ पर भूमि सुधार सन्नियमो एव भू-व्यवस्था मे समानता पाने के प्रश्नो पर राज्य द्वारा विचार किया जा रहा है। आसामियो की बेदखली से सुरक्षा करने तथा यथावत स्थिति बनाए रखने के लिए अधिनियम बनाये गये हैं। इसके अनुसार आसामियो की बेदखली अथवा आसामियो द्वारा स्वामित्व की प्राप्ति पर रोक लगाई गई है। कुर्ग मे, जहाँ आसामियो के नियमन के लिए कोई सन्नियम नही थे, अधिनियम से कुल उपज की $\frac{1}{3}$ अधिकतम् लगान निर्धारित किया है। ऐच्छिक समर्पण को निरुत्साहित करने के लिये ऐसे समर्पण तब तक अवैध रहेंगे जब तक कि उनकी रजिस्ट्री रेवेन्यू अधिकारियो के यहा न कराई जाय तथा ऐसी समर्पित भूमि-पर जमीदार को उसी सीमा तक अधिकार लेने की अनुमति है जहाँ तक उसे अधिनियम में पुनः प्राप्ति (Resumption) के अधिकार हैं। इससे अधिक भूमि होने पर अथवा जिस क्षेत्र मे भूमि की पुन प्राप्ति का अधिकार न होने पर सम्पूर्ण समर्पित भूमि राज्य के प्रबन्ध मे आ जावेगी।

प्रारम्भिक अवस्था मे इस हेतु अध्यादेश जारी किए गये थे, जिनका विस्थापन अप्रैल सन् १६५७ मे अधिनियम द्वारा किया गया। मैसूर राज्य ने काश्तकारी (Tenancy) सुधार तथा अधिकतम् भू-धारण निश्चित करने के लिये एक समिति बनाई थी। समिति सिफारिशो के अनुरूप सन्नियम राज्य सरकार के विचाराधीन है।

इसी प्रकार जम्मू-काश्मीर और पजाब, दिल्ली आदि अन्य राज्यो मे भी जमीदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार के व्यापक विधान बनाये गये है। इन सुझावो के फलस्वरूप कृषक सदियो की आर्थिक दासता से मुक्त होकर स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता हो गया है, जो कृषि की उन्नति के लिए एक आवश्यक कदम है।

सहकारी कृषि ही क्यो ?—

[1]भारत में जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् भूमि-व्यवस्था का क्या रूप होगा, यह

* India—1960.

देखना आवश्यक है। ससार में इस समय अनेक प्रकार के कृषि सगठन पाये जाते हैं, इसमे से निम्न प्रमुख हैं :—*

(१) पूँजीवादी खेती (Capitalistic Farming)—इस प्रकार का कृषि सगठन अधिकतर इङ्गलेड और अमेरिका में प्रचलित है। भारत मे भी चाय, कहवा और रवड के वगीचो मे इसी प्रकार की खेती होती है। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य सग्राम के वाद अग्रेज अफसरो ने चाय, कहवा और रवर की खेती हिमालय और नीलगिरी पर्वतो पर आरम्भ की। इसके वाद भारतियो ने भी इसी प्रकार की खेती के लिए पजाब, सिन्ध और उत्तर-प्रदेश में वडे वडे फार्म खोले। समाजवादी ढग की समाजरचना का उद्देश्य जव भारत ने अपनाया है, ऐसी स्थिति मे इस पद्धति का अवलम्ब हमारे यहाँ नही किया जा सकता। क्योंकि इससे पूँजीवादी प्रवृत्ति को वल मिलता है।

(२) सरकारी फार्म (State Farming)—इस प्रथा मे फार्मों का प्रवन्ध सरकारी अधिकारियो के हाथ मे रहता है और अन्य सभी कर्मचारी मजदूरो की श्रेणी मे आते हैं। इस प्रकार के फार्म रूस मे बहुत वडे पैमाने पर हैं, परन्तु सरकारी अधिकारियो की अयोग्यता और मजदूरो मे उत्साह की कमी के कारण विशेष सफलता प्राप्त न कर सके। इसमे व्यक्तिगत रुचि का अभाव होता है, जो किसी भी व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है। भारत मे भी सरकारी फार्मो के सफल होने की अधिक आशा नही है।

अनुसन्धान तथा खोज के लिए सरकारी फार्म निश्चित ही उपयुक्त हैं। सरकारी फार्मो से अच्छे औजारो के वितरण तथा अच्छे वीजो के उत्पादन में अवश्य ही सहायता मिल सकती है। इसके अतिरिक्त प्रयोगात्मक आधार पर जगलो को साफ कर कृषि योग्य वनाने के वाद कुछ दिनो तक उन पर सरकारी फार्म खोले जा सकते हैं।

(३) सामूहिक खेती (Collective Farming)—इस पद्धति में भूमि, पशु तथा पूँजी पर समाज का अधिकार होता है। भूमि न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है और न व्यक्तिगत खाते ही रहते हैं। कही कही व्यक्तियो को उनके घर के पशु रखने तथा तरकारी पैदा करने के लिए थोडी भूमि दे दी जाती है, जैसा रूस मे है।

सभी भूमि की खेती एक निर्वाचित समिति की देख-रेख मे होती है। प्रति दिन के काम का निश्चय, खेती के काम की देखभाल, धन का प्रवन्ध, उत्पादन की विक्री, मजदूरो की शिक्षा, वीमारी में सहायता इत्यादि सभी कार्य समिति को करने पडते हैं। फाम के लाभ का वितरण अनेक प्रकार से किया जाता है। रूस में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अर्जित वेतन के अनुपात पर ही इसका वितरण होता है। सभी प्रकार की

* "Report of the Congress Agrarian Committee" (1950), p 17-21

मजदूरी समान नही मानी जाती, अपितु क्षमता और योग्यता के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों मे बाँटी जाती है। कार्यक्षमता वृद्धि के लिये बोनस का विशेष प्रबन्ध रहता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक लाभ का प्रलोभन रहता है, किन्तु फार्म पर पूरे समाज का अधिकार होता है।

भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में यह प्रणाली उपयुक्त प्रतीत नही होती, क्योंकि किसान अपना भूमि अधिकार नही छोडना चाहते। साथ ही, भारत मे कृपक स्वामित्व प्रथा अधिक सफल हुई है।

(४) कृपक स्वामित्व (Peasant Proprietorship)—यह प्रथा रैयतवारी क्षेत्रो मे, जैसे—बम्बई, मद्रास आदि मे साधारणतया पाई जाती है। इसमें रैयत का भूमि पर मौरूसी अधिकार होता है और वह भूमि हस्तान्तरित हो सकती है। अपने खाते की मालगुजारी के भुगतान के लिये वह स्वय उत्तरदायी है तथा सरकारी कर भी अधिकाशत उसके खाते के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है। पजाब मे पूरे गाँव के ऊपर ही मालगुजारी निर्धारित की जाती है और फिर इसका बँटवारा रैयत मे किया जाता है।

रैयत का भूमि पर पूरा अधिकार होता है, इसलिए स्वतन्त्रतापूर्वक भूमि हस्तान्तरित हो सकती है अथवा उसे लगान पर उठा सकती है। अनेक बार तो यह देखा गया है कि वह भूमि को स्वय न जोत कर उसे लगान पर गैर दखीलकार किसानो को उठा देती है, लेकिन अल्पकाल के बाद फिर वापस भी ले लेती है। लगान नकद या वस्तुओ के रूप मे वसूल किया जाता है। ऐसी दशा मे गैर-दखीलकार किसानो की दशा उन किसानो से भी अधिक शोचनीय होती है, जो जमीदारी क्षेत्रो मे मिलते हैं। क्योंकि इन क्षेत्रो मे उनका लगान निश्चित रहता है और भूमि पर भी उनका निश्चित अधिकार होता है। इसलिए कृपक स्वामित्व बनाये रखने के लिए उन दोपो को दूर करने के साथ निम्न बातों पर ध्यान देना होगा '—

(१) बिना परिश्रम के भूमि से लगान प्राप्त करने के स्थान पर भूमि का महत्त्व कृपको को निश्चित और उचित जीविका के साधन प्रदान करने मे होना चाहिए।

(२) भूमि राष्ट्रीय सम्पत्ति है, इसलिए इसका उपयोग राष्ट्रीय कार्यों को छोड कर किसी भी व्यक्तिगत कार्य के लिए नही होना चाहिए। यदि कोई भूमि को बेकार रखता है या देश हित मे उपयोग नही करता, तो उसे भूस्वत्व से वचित कर देना चाहिए। यदि प्रत्येक कृपक को भूमि का अधिकारी बना दिया जाय और सट्टा करने वाले अथवा स्वय कृषि न करने वाले लोगो के हाथ में भूमि न जाने दी जाय, तो बहुत लाभ होगा। बेकार पडी हुई भूमि का उपयोग कृषि कार्य के लिए किया जाय और उसे उन लोगो मे बाँटा जाय, जिनके पास अलाभप्रद खाते

हैं। यदि अधिक भूमि हो तो उसे कृषि-मजदूरो मे बाँट देना चाहिए, अर्थात् वह उस निश्चित सीमा से न कम हो और न अधिक ही।

(५) सहकारी खेती—इस पद्धति मे किसान आपस मे मिलकर काम करते हैं। वे अपनी भूमि, पूँजी और पशुओ को एकत्र कर फार्म पर एक निर्वाचित समिति की देख-रेख में काम करते हैं। किसानो का फार्म-भूमि मे वैयक्तिक अधिकार रहता है, इसलिये उन्हे लाभ का एक अंश मिल जाता है। श्रमिक फार्म पर काम करते हैं और उस काम के लिए मजदूरी के रूप मे लाभ का शेष अंश वितरित कर दिया जाता है। फार्मों पर बड़े-बड़े यन्त्रो का उपयोग आवश्यक नही है। सदस्यो को रहने और खाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

सहकारी खेती का महत्त्व उस समय सर्वाधिक हो जाता है, जब छोटे पैमाने पर खेती करने के कारण अनेक असुविधाएँ होती हैं। इससे छोटे से छोटा किसान भी बडे पैमाने पर की गई खेती से उत्पन्न अनेक प्रकार की बचतो या लाभो को प्राप्त कर सकता है। बडे पैमाने पर रुपया उधार लेने, जानवर व कच्चा माल खरीदने, उपज बेचने, भूमि, श्रम और उत्पादन के दूसरे साधनो का अधिकाधिक उपयोग करने तथा श्रम विभाजन व प्रबन्ध एव संगठन के कारण कार्यक्षमता की वृद्धि होकर अनेक लाभ सहकारी खेती से होते हैं।

ऐसी खेती के लिए पर्याप्त द्रव्य की आवश्यकता होती है। इस देश के किसान इतने निर्धन हैं कि वे बाहरी सहायता के बिना अपना काम भली-भाँति नही चला सकते। फिर भी सन्देह नही कि निर्धन किसान के लिए सहकारिता के अतिरिक्त इस समय कोई दूसरा सहारा नही, इस पद्धति से वे कृषि उत्पादन व्यय घटाकर अपना लाभांश बढा सकते हैं। इसीलिए दूसरी योजना मे सहकारी कृषि को अधिक प्रोत्साहन दिया गया था।

सहकारी कृषि के सम्बन्ध मे नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्ताव का निम्न उदाहरण उल्लेखनीय है —

भावी कृषि का ढाँचा सहकारी संयुक्त कृषि होना चाहिये, जिसमे संयुक्त कृषि के लिए भूमि का एकत्रीकरण होगा तथा कृषको का स्वामित्व अधिकार अबाधित रहेगा और वे संयुक्त आय से भूमि के अनुपात मे अंश लेगे। साथ ही, जो भूमि पर काम करेंगे, फिर चाहे उनके पास भूमि हो या न हो, वे संयुक्त कृषि से अपने श्रम के अनुपात में हिस्सा लेगे।

संयुक्त कृषि की ओर पहिला पग देश मे सेवा सहकारियो का संगठन होगा जो तीन वर्ष की अवधि मे पूर्ण होगा। परन्तु जहाँ सम्भव हो एव जहाँ सामान्य रूप से कृषक सहमत हो वहाँ इस अवधि मे भी संयुक्त कृषि आरम्भ हो सकेगी।*

इस दृष्टि से ही तीसरी योजना मे २५,००० सेवा सहकारिताओ की स्थापना

---

* Resolution of A. I C C in Nagpur Session 1959

का लक्ष्य रखा गया, जिनमें ५५% ग्रामीण जन-संख्या का तथा ७४% कृषि जन-संख्या का समावेश होगा।

इस हेतु सरकार ने सहकारी खेती के लिए एक कार्यवाही दल की नियुक्ति की थी, जिसने अपनी रिपोट सरकार को प्रस्तुत कर दी है। इस रिपोर्ट पर सरकारी निर्णय सितम्बर सन् १९६० तक होगा, ऐसा अनुमान है।[1]

सहकारी कृषि को लोकप्रिय बनाने के लिए एक विशेष मण्डल नियुक्त करने का प्रश्न सरकार के विचाराधीन है। यह मण्डल साधारणत सहकारी कृषि कार्यक्रम के नियोजन एव उन्नति तथा प्रगति की समीक्षा, अनुभूत कठिनाइयो एव शिक्षा के लिये किये गये प्रबन्धो का पर्यवेक्षण और सहकारी प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यों को करेगा। ऐसे मण्डल का गठन केन्द्र तथा राज्य-स्तर पर करने का सुझाव कार्यकारी दल ने दिया है।

सरकार ने अग्रयोजना के रूप मे कुछ सहकारी कृषि समितियाँ गठन करने का विचार स्वीकार कर लिया है। ऐसी कितनी समितियाँ बनेंगी, यह प्रश्न विचाराधीन है। अन्तिम निर्णय होने पर राज्य सरकारो के परामर्श से योजना लागू होगी। तत्काल ३२० ऐसी समितियाँ गठित करने का प्रस्ताव है और यह गठन इस प्रकार किया जायगा जिससे हर जिले मे कम से कम एक समिति स्थापित हो सके। केन्द्रीय सरकार इन समितियो को प्राविधिक और आर्थिक सहायता प्रदान करेगी।[2]

इस प्रकार जमींदारी उन्मूलन के बाद भारत मे भू स्वामित्व के साथ ही सहकारी कृषि का विकास किया जायगा। इस विकास मे गाँव की सम्पूर्ण भूमि एव स्थानो का प्रबन्ध एव विकास इस प्रकार होगा जिससे उत्पादन मे वृद्धि होगी और भूमि निर्भर जन-संख्या को पूर्ण रोजगार मिलेगा।[3] क्योकि हमारे भूमि सुधार कार्यक्रम का अन्तिम लक्ष्य सहकारी-ग्राम व्यवस्था है।

---

1 Lok Sabha Debate of 26-8-1960 (इसका विवेचन अन्यत्र किया गया है)।

2 Statement of by-minister for Community Projects and Co-operation in the Lok Sabha Dated Aug 31, 1960

3 Dynomics of Indian Agriculture Modern Review Aug 1958

अध्याय १७

कृषि-नीति एवं नियोजन

(Agricultural Policy & Planning)

"जन-सख्या इतना विशाल है और क्षेत्र इतना विस्तृत कि इस काम को पूर्ण करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त साधनों का अभाव है।"

—शाही कृषि कमीशन रिपोर्ट सन् १९२८।

पूरी योजना की सफलता कृषि में लगी भूमि और श्रम के उपयोग के परिणामों पर निर्भर करेगी।

—प्रथम पच-वर्षीय योजना सन् १९५१।

कृषि-नीति—

सबसे पहले सन् १८६० मे उड़ीसा के अकाल के समय एक स्वतन्त्र कृषि विभाग खोलने की चर्चा हुई, परन्तु राज्य ने आरम्भ से ही कृषि के प्रति अपना उत्तर-दायित्व नही समझा। सन् १८८० के अकाल कमीशन की सिफारिशो के फलस्वरूप राज्य की कृषि नीति मे सुधार करने की पुन चर्चा हुई और सर्व प्रथम सन् १८८४ मे केन्द्रीय सरकार ने कृषि विभाग की स्थापना की। धीरे धीरे कुछ प्रान्तो मे भी स्वतन्त्र कृषि विभागो की स्थापनाएँ हुई, परन्तु इनका कार्य बहुत सकीर्ण और सीमित था। ये विभाग जिला अधिकारी की देख-रेख मे कार्य करते थे। उन पर कृषि कार्य के अतिरिक्त लगान आदि के निर्धारण एव वसूली की भी जिम्मेदारी थी। फलत वे कृषि की ओर विशेष ध्यान नही दे सकते थे।

प्रारम्भिक काल मे कृषि विभाग की विशेष उन्नति नही हुई। परन्तु सन् १८८९ मे भारत सरकार के निमन्त्रण से ब्रिटिश कृषि विशेषज्ञ डा० वॉएल्कर (Dr Voelcker) ने भारतीय कृषि का पर्यवेक्षण किया। इनके अनुसार भारतीय कृषक इतना अनुभवहीन नही है जितना समझा जाता है। किसान ने अपने साधनो और वातावरण के अनुसार कृषि में काफी उन्नति की है। केवल साधनो की कमी तथा कृषि कला के अज्ञान के कारण वह आधुनिक ढग पर कृषि नही कर सकता। इस मत का भारत सरकार की कृषि नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। परन्तु डाक्टर वॉएल्कर की रिपोर्ट इसलिए जब्त कर ली गई। क्योंकि उसमें एक ओर तो भारतीय किसान की कार्यशीलता का विवरण था और दूसरी ओर सरकार की काफी आलोचना थी।

इस बीच मे दो कृषि विशेषज्ञ श्री डेविड ससून और एच० फिप्स के प्रभाव से

केन्द्रीय सरकार ने अपने कृषि-विभाग का पुनर्गठन किया। दोनो ने दान के रूप मे एक धन-राशि भारत सरकार को दी। साथ ही, लङ्काशायर के कपडे के मिल मालिको की भी माग हुई कि भारत में रुई की खेती में कुछ उन्नति की जाये, जिससे उन्हे आवश्यक परिमाण मे रुई मिल सके।

सन् १९०१ मे केन्द्रीय सरकार ने कृषि के लिए एक इन्स्पेक्टर जनरल की नियुक्ति की, परन्तु धीरे धीरे केन्द्रीय सरकार की कृषि नीति मे शिथिलता आती गई। सन् १९०३ मे शाही कृषि अनुसन्धान सस्था (Imperial Institute of Agricultural Research) स्थापित की गई। सन् १९०५ मे लार्ड कर्जन के काल मे कृषि नीति में कुछ परिवर्तन हुए, क्योकि लार्ड कर्जन भारतीय कृषि मे विशेष रुचि रखते थे। उनके प्रयत्नो के कारण लायलपुर, कानपुर, रगून, नागपुर, पूना और कोयम्बटूर मे कृषि महाविद्यालय खोले गये। सन् १९१९ मे वैधानिक सुधारो के फलस्वरूप कृषि सुधार का कार्य प्रान्तीय विषय हो गया। इससे कृषि विभागो का, प्रान्तीय जलवायु और भूमि के अनुसार सगठन हुआ। प्रत्येक प्रान्त के वार्षिक आय-व्ययक मे कुछ राशि कृषि-सुधार के लिए नियोजित होने लगी। इसी अवधि में केन्द्रीय सरकार की ओर से देश के विभिन्न भागो मे कृषि से सम्बन्धित कुछ विशेष सस्थाएँ स्थापित हुई।

सबसे पहिले सन् १९२९ में पूना शाही कृषि अनुसन्धान सस्था का पुनर्गठन हुआ, जो सन् १९३ मे दिल्ली मे लायी गई तथा मुक्तेश्वर मे इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ वेटरनरी सायस एव करनाल मे सेन्टल ब्रीडिंग फार्म की स्थापना की गई। इसी प्रकार केन डेवलपमेट सेन्टर की कोयम्बटूर में तथा आनन्द मे क्रीमरी (Creamery) तथा अन्य सस्थाओ की स्थापना हुई, जैसे— सुगर टेकनॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर, आदि। इसके बाद सन् १९३४ मे कृषि विपणन सलाहकार की केन्द्र मे नियुक्ति हुई। इस प्रकार कृषि के विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित सस्थाओ का क्रमश विकास होता गया।

सरकार के पास कोई स्थायी योजना नही थी, इसलिए कृषि मे उल्लेखनीय प्रगति नही हो सकी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य अथवा सुधार नही हो सका। प्रान्तीय सरकारो ने भी कृषि की अवस्था के सुधार के लिए थोडा सा ही प्रयत्न किया। कृषि से सम्बन्धित खोजो और अनुसन्धान आदि का प्रभाव खेती पर नही पडा, क्योकि कृषि मे वैज्ञानिक विशेषज्ञ तथा कृषक एक दूसरे से सदैव दूर रहे। सर जान रसल के अनुसार—"भारत मे वैज्ञानिक खोजो को सग्रह न करके उनका प्रत्यक्ष उपभोग आवश्यक है।"

कृषि विभाग के कार्य—

प्रत्येक विभाग कृषि से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओ पर अनुसन्धान करता था। भूमि की उर्वरता एव नमी, नाइट्रोजन का सरक्षण, विभिन्न फसलो की खेती का भूमि पर प्रभाव, भूमि को कटाव से बचाने के उपाय, क्षारयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के साधन, विभिन्न फसलो के कीडे और रोगो को रोकने के उपाय, प्राकृतिक

खाद एव भूमि की उर्वरता का सम्बन्ध, कृत्रिम खाद बनाने के साधनो की खोज एव विकास आदि कृषि विभाग के ही कार्य थे।

कृषि और वनस्पति शास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओ पर कृषि विभाग के अनेक उप-विभाग कार्य करने लगे। अभी तक मुख्यत गेहूँ, चावल, रुई, सन और तम्बाकू के सम्बन्ध मे ही सुधार कार्य हुआ है। कृषि विभाग अच्छे बीज के द्वारा उत्पन्न फसलो का प्रदर्शन और अच्छे बीज के वितरण का प्रबन्ध करता है। इस अनुसन्धान और प्रचार कार्य के फलस्वरूप अनेक फसलो की खेती अच्छे बीज से होने लगी है। सन् १६२८ २६ से सन् १६३७-३८ तक केवल चावल मे ही अच्छे प्रकार के बीज से खेती दुगुनी हो गई। कुछ प्रान्तो मे गेहूँ का एक ऐसा बीज उत्पन्न किया गया है, जिस पर लाल कीडा नही लगता तथा ओस एव कुहरे का प्रभाव कम होता है और कम सिचाई से भी फसल की हानि नही होती। मुख्यत बीज सुधार का काय प्रयोगात्मक खेतो पर होता है और फिर उनका प्रदशन खेतो पर किया जाता है। केन्द्रीय सरकार के प्रोत्साहन से देश मे एक केन्द्रीय रुई समिति की स्थापना हुई, जिसका अपना स्वतन्त्र अर्थ प्रबन्ध है। इसके तत्त्वाधान मे रुई की खेती में सुधार किया जाता है। देश के अनेक क्षेत्रो मे, मुख्यत' विभाजन के पूर्व सिन्ध, खान-देश, पञ्जाब तथा बिहार में लम्बे रेशे की रुई या रगीन कोक्टी कपास की खेती आरम्भ की गई थी।

परन्तु आज तक जितना कृषि सुधार हुआ है, वह देश के कृषि क्षेत्र को देखते हुए नगण्य है। चावल के केवल ६०% कृषि क्षेत्र मे तथा गेहूँ के १०% क्षेत्र मे अच्छे बीज का उपयोग होता है। अब तक कृषि विभाग ने जो कार्य किया है वह मुख्यतया व्यापारिक फसलो, जैसे —पटसन, रुई, तम्बाकू, रबर, चाय आदि से सम्बन्धित है। आज तक इसमे जो भी सुधार हुए है, उसका प्रभाव देश के कच्चे माल के निर्यात पर अच्छा पडा, परन्तु देश की खाद्य-स्थिति पर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नही पडा। खाद्य फसलो, जैसे—गेहूँ, ज्वार, बाजरा या चना इत्यादि मे किसी प्रकार का विशेष सुधार नही हुआ है। कपास और पटसन में जो सुधार हुआ है, उसका श्रेय कृषि-विभाग को न होते हुए 'केन्द्रीय रुई समिति एव 'केन्द्रीय पटसन समिति', इन गैर-सरकारी सस्थाओ को है, जिसको देश के उद्योगपतियो का सहयोग विशेष रूप से प्राप्त है।

सन् १६३४ मे दिल्ली मे एक '*भारतीय फसल नियोजन सम्मेलन*' हुआ, जिसमे फसल योजना की रूपरेखा तैयार की गई। इस योजना के अनुसार विभिन्न प्रान्तो मे प्रयोग और प्रदर्शन के खेत (Farms) आरम्भ किए गये। इससे निश्चित रूप मे खाद्य फसलो को कुछ प्रोत्साहन मिला परन्तु कृषि-विभाग का काय इतने कम पैमाने पर और इस प्रकार से हुआ कि उसका भारतीय कृषि के स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नही हुआ।

इस धीमी प्रगति के मुख्य कारण निम्न हैं :—

(१) प्रारम्भ मे ब्रिटिश शासन की नीति मुख्यत. लगान वसूली पर आधारित थी, जिसमें कृषि-सुधार के कार्य की अवहेलना की गई। जो कुछ सुधार प्रारम्भिक काल में किया गया, वह अकाल पीडितो की सहायता के लिये था, न कि कृषि सुधार के लिए, इसलिए उसका मूल आधार गलत था।

(२) जब तक कृषि कार्य केन्द्रीय सरकार के हाथ मे रहा, वह कृषि सुधार का कोई विशेष कार्य नही कर सकी, क्योकि इतने बडे कृषि क्षेत्र मे, जहाँ विभिन्न प्रकार की भूमि, भिन्न भिन्न जलवायु और अनेक प्रकार की फसलें बोई जाती हो, वहाँ केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त सफल नही हो सका। जो कुछ केन्द्रीय सरकार ने किया वह विदेशी कृषि-विशेषज्ञो की सलाह से हुआ, इसलिए मध्यकालीन कृषि-सुधार योजनाएँ सिद्धान्तत. विदेशी थी।

(३) सन् १६१६ के पश्चात् प्रान्तीय कृषि-विभाग बने, परन्तु उनके सगठन प्रारम्भ से ही शिथिल थे एव कर्मचारी या तो विदेशो मे शिक्षा प्राप्त किए हुए थे या भारतीय कृषि समस्याओ से अनभिज्ञ थे।

(४) प्रान्तीय सरकारो के आर्थिक साधन सीमित होने से कृषि-विभाग पर अधिक व्यय नही किया गया, इसलिए कृषि-विभाग की अनेक योजनाओ को स्थगित कर देना पडा। सन् १६३६-४० मे सारे प्रान्तो के आय-व्ययको मे २१४ करोड रुपयो के व्यय मे से केवल ३ करोड रुपयो को कृषि काय मे व्यय किया गया।

(५) इसके अतिरिक्त कृषि विभाग की प्रयोग करने की रीतियाँ और प्रयोग के पश्चात् प्रचार करने की रीति देश के ग्रामीण वातावरण के इतनी विरुद्ध थी कि प्रयोगशाला और कृषक मे कभी सम्पर्क नही हो पाया।

(६) भारतीय कृषक के साधन इतने सीमित है कि जो कुछ खेती के औजारो मे सुधार या खाद के उपाय बताये गये, वे बहुत खर्चीले एव साधारण कृषक की क्रय-शक्ति के परे थे, अत. शास्त्रीय होने पर भी उक्त सुधार अव्यावहारिक सिद्ध हुए।

(७) कृषि के सुधार कार्य मे कृषक की अशिक्षा और स्थानीय परम्परा से प्रेम भी बाधक सिद्ध हुए। विकास कार्य के प्रारम्भिक काल मे ब्रिटिश शासन ने अपनी असहानुभूतिपूर्ण नीति द्वारा ग्रामीण जनता और शिक्षित समाज मे एक खाई तैयार कर दी, जिससे कृषक अपनी रूढि मे बुरी तरह से फँस गया और आज भी इस स्थिति मे कोई विशेष परिवतन नही हुआ है।

शाही कृषि कमीशन—

सन् १६२६ में भारत सरकार ने भारतीय कृषि और कृषक के समस्त जीवन का पर्यवेक्षण करने के लिए एक कृषि कमीशन की नियुक्ति की। इसका हेतु निम्न विषयो पर खोज करना था —

(अ) कृषि तथा पशुओ की दशा सुधारने के लिए, कृषि सम्बन्धी आकडो की व्यवस्था, अच्छी तथा नई फसलो के प्रचार सम्बन्धी स्थिति,

दुग्धशालाओं आदि की दिशा में उस समय क्या प्रयत्न किये जा रहे थे, इस बात का पता लगाना।

(ब) कृषि उपज की बिक्री तथा यातायात के तत्कालीन साधनों की स्थिति पर जानकारी उपस्थित करना।

(स) कृषि विकास के लिए कृषकों को पूंजी किस प्रकार प्राप्त हो रही है, इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना।

(द) ग्रामों की उन्नति एवं कृषकों के कल्याण के लिए मुख्य सुझाव देना।

इस कमीशन के अध्यक्ष लार्ड लिनलिथगो थे। ढाई वर्ष तक यह कमीशन देश के विभिन्न भागों का दौरा करता रहा तथा कृषि-विशेषज्ञों एवं ग्रामीण आन्दोलन के नेताओं से परामर्श करता रहा। सन् १९२८ में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। इसने भारत में कृषि विकास के लिए जो सुझाव व परामर्श दिए, वे काफी महत्त्वपूर्ण हैं। कमीशन ने ग्रामों के पुनर्निर्माण, ग्रामीण शिक्षा, सहकारिता, कृषि की पैदावार की बिक्री, सिंचाई, कृषि पशुओं की नस्ल सुधारने के उपाय, खेतों की चकबन्दी आदि पर अपने अमूल्य विचार उपस्थित किये। कृषि व्यवसाय को अधिक लाभकर बनाने के लिए कमीशन ने यह सुझाव दिया कि कृषक को अपने दृष्टिकोण को अधिक उन्नत तथा विशाल बनाना होगा। कमीशन का कहना था कि ग्राम तथा ग्रामवासियों की सभी समस्याओं को हल करने के लिए सरकार स्वयं विशेष प्रयत्न करे। ग्रामीण जनता भी सरकार को अपना सहयोग देकर ग्रामों का सर्वाङ्गीण विकास करे। कमीशन ने कृषि सम्बन्धी कार्यों के अन्वेषण के लिए एक 'शाही परिषद्' (Imperial Council) की स्थापना पर विशेष बल दिया।

भारत के इतिहास में इस प्रकार की यह पहली रिपोर्ट थी, जिसमें भारत के ग्रामीण जीवन की चहुँमुखी समस्याओं की समालोचना की गई हो। कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पूर्व प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थीं, उनके कार्य में किसी प्रकार की योजना निर्धारित नीति नहीं थी। रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात् सरकार एवं जनता का ध्यान कृषि के पुनर्गठन की ओर आकर्षित हुआ तथा विभिन्न प्रान्तीय शासन एवं केन्द्र के कृषि कार्यों में सम्बन्ध स्थापित किया गया। कमीशन की सिफारिशों को देश में धीरे-धीरे कार्यान्वित किया गया। परन्तु उसकी सिफारिशें इतनी व्यापक थीं कि उनको पूर्णतः कार्यान्वित करने के लिए अतुल साधन और दीर्घकाल की आवश्यकता थी।

कृषि सम्मेलन सन् १९२८—

इसलिए सन् १९२८ में भारत सरकार ने शिमला में एक कृषि सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में केन्द्रीय सरकार के कृषि सदस्य, प्रान्तीय सरकारों के कृषि मन्त्री एवं ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित अन्य विभागों के प्रतिनिधि थे। सम्मेलन ने कृषि कमीशन की सिफारिशों पर गम्भीर रूप से विचार किया एवं एकमत से उनके

मूल सिद्धान्तो को स्वीकार किया। कमीशन की सिफारिशो के व्यय पक्ष की अधिक आलोचना की गई और यह अनुभव किया गया कि इनको कार्यान्वित करने मे सबसे बडी बाधा पर्याप्त आर्थिक साधनो की कमी थी। फिर भी प्रान्तीय सरकारो ने सम्मेलन के निर्णय को स्वीकार कर तदनुसार अपनी कृषि नीति निर्धारित करने का निश्चय किया।

राजकीय कृषि कमीशन ने कृषि अनुसन्धान की महत्ता पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि देश मे कितने ही प्रदर्शन या प्रयोगात्मक खेत स्थापित किये जायें, परन्तु उनका आधार तभी सुदृढ हो सकता है जब कृषि अनुसन्धान का कार्य सगठित हो। कमीशन ने एक केन्द्रीय कृषि अनुसन्धान सस्था स्थापित करने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने सन् १९२९ मे इण्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च नामक सस्था स्थापित की।

इस सस्था का एक स्वतन्त्र सस्था के रूप में पजीयन हुआ। इसका मुख्य कार्य देश में कृषि अनुसन्धान और उन्नति को प्रोत्साहन देना तथा मार्गदर्शन एव समग्रीकरण है। विभिन्न प्रान्तो के कृषि विभाग, अनुसन्धान और प्रयोग के लिये प्रधानत: इसी सस्था से मार्ग दर्शन प्राप्त करते हैं। कृषि विकास की जितनी योजनायें देश मे बनाई जाती हैं, उनकी छानबीन यही सस्था करती है। इसके साथ ही कृषि उन्नति से सम्बन्धित समस्त ज्ञान का सग्रह और प्रचार करना इस सस्था का कार्य है। कृषि-प्रयोगशालाओ एव प्रदर्शन के खेतो के लिये कार्यकर्ताओ को इस सस्था द्वारा ही शिक्षा का प्रबन्ध है। इस सस्था का प्रबन्ध मुख्यत: दो समितियो द्वारा होता है। प्रबन्ध समिति सस्था का सामान्य प्रबन्ध करती है, जिसका अध्यक्ष केन्द्रीय सरकार का मन्त्री होता है एव एक स्थायी उपाध्यक्ष होता है, जो मुख्यत सस्था के दैनिक प्रबन्ध के लिये उत्तरदायी होता है। प्रबन्ध समितियो मे इन दो व्यक्तियो के अतिरिक्त राज्य सरकारो के कृषि मन्त्री, केन्द्रीय विधान सभा के ३ प्रतिनिधि, व्यापारियो के २ प्रतिनिधि एव सलाहकार बोर्ड के निर्वाचित २ प्रतिनिधि होते हैं।

सलाहकार समिति का मुख्य कार्य सस्था का दैनिक प्रबन्ध करना है। इसके अन्तगत अनेक उपसगठन होते हैं, जैसे—

गेहूँ कमेटी, गन्ना कमेटी, भूमि सरक्षण कमेटी, रूक्ष खेती कमेटी, लोकेस्ट, कमेटी, बनावटी खाद समिति, बीज सुधार कमेटी आदि। इन विभिन्न उप-सगठनो द्वारा यह सस्था कृषि उन्नति के विभिन्न अगो पर अनुसन्धान करती है।

सन् १९४० से कौंसिल की काय-विधि मे कुछ परिवतन हुए है, जिनके अनुसार कौंसिल केवल मार्ग प्रदर्शन का ही कार्य नही करती, अपितु अपने प्रदर्शन खेतो एव प्रयोग शालाओ मे अनुसन्धान का भी काय करती है। साथ ही विभिन्न प्रान्तो में से कुछ गाँवो को चुनकर व्यापक रूप से कृषि उन्नति का कार्य भी अपने हाथ मे लेती है। इस परिवतन के फलस्वरूप सस्था के सगठन मे भी कुछ परिवर्तन हुए हैं। सन्

१९३६ मे इस सस्था के कार्यों की जाँच करने के लिए भारत सरकार ने रसेल राईट जाँच समिति स्थापित की थी।

दोनो ने अपनी रिपोट मे अनुसन्धान कार्य और कृषक से सम्पर्क स्थापित करने के लिए कुछ मौलिक सुझाव दिए। इसके अतिरिक्त भूमि की उर्वरता के सरक्षण, फसलो को कीडो से बचाने के उपाय, अच्छे बीज के प्रचार के उपाय, कृत्रिम खाद के उपयोग इत्यादि के लिए भी सिफारिशें की। भारत में पशुपालन, पशुओ की नस्लो को सुधारने की रीति तथा पशु-चिकित्सा पर उन्होने विशेष जोर दिया। साथ ही, भू-सरक्षण समिति एव फसल सगठित करने के भी उन्होने सुझाव रखे। रिपोर्ट मे कौसिल की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए भारत सरकार से विशेष अनुरोध किया गया। इस सिफारिश के फलस्वरूप सन् १९४० मे इण्डियन एग्रीकल्चर सेस एक्ट के अन्तर्गत कृषि पदार्थो के निर्यात पर ½% की दर से कर लगाया। इसके साथ ही इसको सरकारो से अनुदान राशि तथा अन्य स्थानो से अभिदान भी मिलते हैं, जिसका उपयोग कौसिल के कार्यों पर किया जाता है।[1]

अकाल जॉच कमीशन (सन् १९४५)—

सन् १९४३ के बगाल अकाल के पश्चात् जनता और सरकार का ध्यान विशेष रूप से खाद्य समस्या और कृषि उन्नति की ओर आकर्षित हुआ।

भारत सरकार ने सन् १९४४ मे सर जान वुडहैड की अध्यक्षता में अकाल जाँच समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने पहली रिपोर्ट में बगाल के सम्बन्ध में और अन्तिम रिपोर्ट में भारतीय कृषि पुनर्गठन के लिए कुछ मूल सिद्धान्तो की सिफारिशें दी। फलस्वरूप देश मे 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' का श्रीगणेश हुआ। सन् १९५१ मे भारत मे प्रथम पच-वर्षीय योजना बनी और भारत के कृषि प्रधान देश होने से ही योजना मे कृषि नियोजन को विशेष स्थान दिया गया।

अभी तक हमने भारत की कृषि अवस्था के मुख्य लक्षणो के बारे मे लिखा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था स्थिर है, फिर भी पिछले दशको में कृषि में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। ये निम्न हैं.—[2]

(१) विस्तृत भू भागो मे, जहाँ वर्षा अक्सर नही होती थी, सिंचाई की व्यवस्था हो गई है।

(२) देश के उत्पादन एव व्यापार मे नई फसलो का एक महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है।

(३) देश की कृषि एव औद्योगिक व्यवस्थायें एक दूसरे पर काफी प्रभाव डालती हैं।

---

1. Hindusthan year Book—Sarcar 1960.
2. The First Five Year Plan, p 160-161.

(४) १५ अथवा २० वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज सूदखोरो और ग्रामीण ऋण की समस्या से सरकार और जनता कम त्रस्त है।

(५) देहात मे जागरण है और ग्रामीण व्यक्ति अपना रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए लालायित एव प्रयत्नशील हैं।

कृषि-अर्थ-व्यवस्था को देश के विभाजन ने कुछ समय के लिए विचलित अवश्य कर दिया था, किन्तु अब तक बहुत कुछ सुधार हो चुका है।

कृषि-नियोजन—

"कृषक का जीवन एक परस्पर सम्बन्धित सम्पूर्ण इकाई है और उसकी समस्यायें इतनी मिली-जुली हैं कि वह उनको अलग-अलग हिस्सो मे नही देखता है। इसलिए कृषि विकास के लिये कृषक-जीवन और समस्याओ पर एक साथ दृष्टिपात करना चाहिये। हमे उन बातो पर अधिक समय तथा ध्यान केन्द्रित करना पडेगा जहाँ विशेष बल देने की आवश्यकता है। किन्तु कृषक के दृष्टिकोण और परिस्थितियो मे परिवर्तन करने के लिए एक समग्र और बहुमुखी प्रयत्न करना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए हमारा ध्येय ग्रामीण समाज के मानवी और भौतिक साधनो का विकास करना है। इस ध्येय की पूर्ति हमे अधिकाशत' गांवो की जनता को अपनी समस्याओ को सुलझाने लायक बनाकर करना होगा। उन्हे सरकारी प्रयत्नो के लिए सगठित होना चाहिये, जिससे वे नए ज्ञान को अपना सकें और अपनी आवश्यकताओ को नए साधनो द्वारा पूरा करने मे समथ हो। इस प्रकार सहकारिता सामुदायिक प्रयत्नो का आधार प्रस्तुत करेगी और व्यवस्थात्मक सगठन द्वारा सरकार और विशेषत. ग्रामीण विस्तार कार्यकर्त्ता कृषको को सहायता और सलाह देंगे।

अर्द्धविकसित अर्थ-व्यवस्थायें सदैव एक बेलोच सामाजिक सगठन और बेकार साधनो से पीडित रही हैं, अत भू-स्वत्व के आधार पर निर्मित सामाजिक ढाँचे मे परिवर्तन और दैनिक कार्यों मे नये साधनो का नई विधियो द्वारा उपयोग ही विकास का केन्द्रीय ढङ्ग बन जाता है। योजना का ध्येय है कि सभी ओर इस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र परिवतन हो कि अर्थव्यवस्था एक सन्तुलित और अविच्छिन्न रूप से अग्रसर हो। तथापि सामुदायिक विकास, उत्पादन मे वृद्धि और उचित वितरण के उद्देश्य सदैव ध्यान में रहे। पच-वर्षीय योजना की भू-नीति को इस प्रकार कार्यान्वित किया जायेगा जिससे सामाजिक व्यवस्था मे अति शीघ्र परिवर्तन हो सकें और साथ ही ग्रामीण समाज मजबूत बन जाय, अवसर और परम्परा मे अन्तर दूर हो और गाँव राष्ट्रीय नियोजन का एक अभिन्न अङ्ग बन जाय।"*

प्रथम पच वर्षीय योजना ऐसे समय बनी थी, जब देश मे खाद्यान्न तथा कच्चे माल की कमी थी। इसलिए पहली योजना में कृषि को प्राथमिकता एव प्रधान स्थान दिया गया। इस सम्बन्ध मे दो दलीलें दी गई थी.—

---

* The First Five Year Plan

(१) प्रचलित योजनाओ को पूर्ण करने की आवश्यकता ।

(२) जब तक खाद्य और औद्योगिक कच्चे माल का अभाव दूर नही होता तब तक औद्योगिक विकास कार्यक्रम मे विशेष प्रगति सम्भव नही है ।

इसलिए प्रथम योजना में कृषि को केन्द्रीय स्थान दिया गया था । योजना की कुल राशि की ४४ ६% कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई एव शक्ति पर व्यय होनी थी । प्रथम पच-वर्षीय योजना में यह राशि कृषि पर २८२ करोड, सामुदायिक विकास एव विस्तार सेवा खण्डो पर ९० करोड, सिंचाई एव बाढ नियन्त्रण योजनाओ पर ३९५ करोड रु० थी ।[1] योजना के अन्तर्गत कृषि उत्पादन के निम्न लक्ष्य थे .—

कृषि	१९५०-५१	१९५५ ५६
खाद्यान्न (लाख टन)	५४०	६५०
रुई (लाख गाँठे)	२९	४२
गन्ना (लाख टन)	५६	५८
तिलहन (लाख टन)	५१	५५
पटसन (लाख टन)	३३	४०
सिंचित भूमि (लाख एकड)	५००	६७०

योजना की अवधि मे कृषि की गति निम्नवत रही है .—

कुल उपज	इकाई	आधार वर्ष[2]	१९५१-५२	५२-५३	५३-५४	५४-५५	५५–५६[4]
अनाज	लाख टन	—	४२९	४९२	५८३	५५३	५४९
दालें	"	—	८३	९१	१०४	१०५	१०९
कुल खाद्यान्न	"	५४०[3]	५१२	५८३	६८७	६५८	६५८
मुख्य तिलहन	"	५०	४९	४७	५३	५९	५६
गन्ना (गुड)	"	५६	६१	५०	४४	५५	६०
रुई	लाख गाँठें	२९	३१	३२	३९	४३	४०
पटसन	"	३३	४७	४६	३१	२९	४२

सिंचाई के अन्तर्गत १९७ लाख एकड से सिंचित क्षेत्र बढाने का लक्ष्य था, परन्तु १४० लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएं बढाई जा सकी । योजना की अवधि में अमोनियम सल्फेट का उपयोग दो गुने से अधिक बढाया गया, अर्थात् जहाँ

1 Second Five Year Plan—Draft Outline, page 35.

2 आधार वर्ष पहिली तीन उपज के लिए सन् १९४९-५० और शेष के लिए सन् १९५०-५१ ।

3 Amrit Bazar Patrika, 15-8-57.

4 Draft Outline of Third Five Year Plan, page 145

योजना के पूर्व इसकी खपत २७५ हजार टन थी वह ६५० हजार टन हो गई। इसी प्रकार सुपर फॉस्फेट की खपत जो सन् १९५० मे ३६ हजार टन थी वह सन् १९५६ मे लगभग १ लाख टन हो गई। जापानी पद्धति से चावल की खेती का क्षेत्र सन् १९५३ से बढना शुरू हुआ, जो सन १९५६-५७ मे २१ लाख एकड हो गया।

प्रथम पच वर्षीय योजना मे २५ लाख एकड भूमि को केन्द्रीय और प्रान्तीय ट्रेक्टर सगठनो ने कृषि योग्य बनाया तथा ५० लाख एकड भूमि का कृषको ने अन्य साधनो से, यथा—यान्त्रिक खेती, धरातल को समतल करना, बाढ लगाना तथा श्रम द्वारा सफाई, विकास किया। फलस्वरूप विभिन्न फसलों का क्षेत्रफल, जो योजना के पहिले ३२६ मि० एकड था वह सन् १९५४ ५५ में ३५० मिलियन एकड हो गया। खाद्यान्न एव व्यापारिक फसलो का क्षेत्रफल क्रमश. २५७ और ४९ मि० एकड से २७० और ६० मि० एकड हो गया।[1]

रुई का केवल उत्पादन ही नही बढा अपितु उसकी किस्म में भी सुधार हुआ। सिंचाई योजनाओ की पूर्णता के साथ ही भारत मे लम्बे रेशे वाली रुई का उत्पादन भी होने लगेगा, जो अभी हम आयात कर रहे हैं। सी० आयरलैंड किस्म की रुई की उपज के सफल प्रयोग भारत मे किये गये हैं और आगामी वर्षों मे केरल, मैसूर और असम में तीन लाख गाँठो का उत्पादन होने लगेगा। पटसन का उत्पादन गत वर्षों मे कम अवश्य हुआ है, परन्तु सन् १९५५-५६ मे उसका उत्पादन पुन. बढ गया, जो सन् १९५६-५७ मे ४२ ८ लाख गाँठें हो गया है।

इस प्रकार प्रथम योजना मे कृषि उत्पादन मे वृद्धि के साथ ही खपत मे भी वृद्धि हुई है। बढती हुई जन सख्या और विकासशील उद्योगो को अधिकाधिक कच्चे माल और खाद्यान्न की आवश्यकता है। इस तथ्य को योजना आयोग ने भी स्वीकार किया है.—

"प्रथम पच-वर्षीय योजना का अनुभव इस ओर सकेत करता है कि प्रत्येक राज्य गत दो वर्षो की कृषि प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे विभिन्न घटको का सूक्ष्म निर्धारण करे। पूर्ण देश के सर्वसाधारण उत्पादन प्रवृत्ति से केवल सावधानी मे ही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं· · क्योकि अस्थिरता के बहुत तत्त्व हैं।"[2]

दूसरी योजना मे—

"दूसरी योजना के निर्माण की प्रारम्भिक सीढी मे यह अनुभव किया गया था, विशेषत द्वितीय योजना मे सम्मिलित भारी उद्योगो के बल के साथ तीव्र गति के आर्थिक विकास के लिए कृषि उत्पादन की वृद्धिगत माँग होगी।"[3] इसलिए दूसरी योजना मे

1 The Second Five Plan—Draft Outline, pp 89-90
2. Amrit Bazar Patrika, 15-8-57
3 Third Five Year Plan—a Draft Outline, pp 145.

कृषि एव सामुदायिक विकास पर ५६८ करोड रुपये का तथा सिंचाई एव बिजली के के लिए ८६० करोड रु० व्यय का आयोजन है, जो योजना की कुल लागत के क्रमशः ११ ८% और १७ ६% है। यद्यपि दूसरी योजना प्रमुखता से औद्योगीकरण की योजना है, फिर भी कृषि एव सिंचाई के विकास पर यदि कुल व्यय की दृष्टि से देखा जाय तो पर्याप्त ध्यान दिया गया है। द्वितीय योजना मे कृषि-विकास के निम्न हेतु थे :—

(अ) दूसरी योजना मे कृषि उत्पादन मे १८% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। यही प्रथम योजना मे १५% रहा। यह वृद्धि सिंचाई सुविधायें, अच्छे बीज, खाद और कृषि के सुधरे हुये तरीको से की जायगी, जो भविष्य के विकास के लिये पर्याप्त स्थान देगी।

(आ) कृषि उत्पादन मे विभिन्नता।

(इ) जैसे-जैसे जीवन-स्तर में उन्नति होगी और औद्योगिक कलेवर विकसित होगा वैसे-वैसे व्यापारिक फसलो और सहायक खाद्य वस्तुओ तथा भाजी, फल, दूध के पदार्थ, मछली, गोश्त और अडे के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देना होगा।

(ई) अधिक कुशलता से भूमि का उपयोग एव प्रबन्ध करने के लिये सस्थात्मक (Institutional) व्यवस्था के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया जावेगा, जिससे भूमि पर निर्भर जन-सख्या के साथ अधिकतम् सामाजिक न्याय हो सके।

इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये ५६८ करोड रु० मे से कृषि पर १७० करोड रु०, वन एव भू-रक्षण पर ४७ करोड रु०, स्थानीय विकास पर १५ करोड रु०, पचायतो पर १२ करोड रु०, मत्स्य उद्योग पर १२ करोड रु०, सहकारिता एव गोदाम सुविधाओ पर ४७ करोड रु० तथा अन्य बातो पर ६ करोड रु० व्यय की व्यवस्था थी।

सिंचाई सुविधाओ मे १५० लाख एकड क्षेत्र की वृद्धि पहिली योजना के अधूरे कार्यों की पूर्णता पर तथा दूसरी योजना के कार्यक्रमो के अनुसार होगी। इसमे से वार्षिक २० लाख एकड की वृद्धि पहिले तीन वर्ष मे तथा दूसरे दो वर्षों मे वार्षिक ३० लाख एकड वृद्धि सिंचित क्षेत्र मे होगी। योजना के अन्तर्गत कृषि उत्पादन के निम्न लक्ष्य हैं* :—

---

* India—1960

क्षेत्र	इकाई	१९५०-५१	५५-५६	६०-६१	५५-५६ की अपेक्षा ६०-६१ में वृद्धि %
खाद्यान्न	लाख टन	५४०*	६५०	७५०	१५
रुई	लाख गाँठें	२९	४२	५५	३१
गन्ना	लाख टन	५६	५८	७१	२२
तिलहन	लाख टन	५१	५५	७०	२७
पटसन	लाख गाँठें	३३	४०	५०	२५
चाय	लाख पौंड	६,१३०	६,४४०	७,०००	९
राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड	सख्या	—	५००	३,८००	६६०
ग्राम पचायतें	हजार	८३	११८	२००	७०
सिंचाई क्षेत्र	लाख एकड़	५१०	६७०	८८०	३१
सामुदायिक विकास खण्ड	सख्या	—	६२२	१,१२०	८०

खाद्यान्न मे १०० लाख टन की वृद्धि निम्न स्रोतो से होने की आशा है :—

सिंचाई :	
बड़ी योजनायें	२४ लाख टन
छोटी योजनायें	१८ ,, ,,
खाद एव रसायनिक	२५ ,, ,,
अच्छे बीज	१० ,, ,,
भूमि सफाई एव सुधार	८ ,, ,,
कृषि के सुधरे हुए तरीके	१५ ,, ,,
योग	१०० लाख टन

इस प्रकार जहाँ पहिली योजना का प्रमुख हेतु खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि तथा गाँव की चहुँमुखी उन्नति करना था वहाँ दूसरी योजना मे खाद्यान्न के साथ व्यापारिक फसलो की वृद्धि तथा सहायक खाद्य वस्तुओ की वृद्धि पर भी बल दिया गया है।

योजना की कार्यवाही मे जो बाधायें आती हैं उससे योजना का पुनर्मूल्याकन दो बार किया जा चुका है। सन् १९५८ के खाद्य सकट के पुनर्मूल्याकन के समय

* सन् १९४९-५० वर्ष का।

खाद्य एव कृषि उत्पादन के लक्ष्य मे सशोधन किया गया है, जिसके अनुसार सशोधित लक्ष्य निम्न हैं :—[1]

	सन् १९५५-५६ का अनुमानित उत्पादन	द्वितीय योजना मे उत्पादन के लक्ष्य	सशोधित लक्ष्य	प्रतिशत वृद्धि मूल	प्रतिशत वृद्धि सशोधित
खाद्यान्न (लाख टन)	६५०	७५०	८०५	१५	२३ ८
रुई (लाख गाँठें)	४२	५५	६५	३१	५४ ८
पटसन (,,)	४०	५०	५५	२५	३७ ५
गन्ना (गुड) (लाख टन)	५८	७१	७८	२२	३४'५
तिलहन ,,	५५	७०	७६	२७	३८ २
अन्य फसलें	—	—	—	९	२२ ४
सभी वस्तुए	—	—	—	१७	२७'१

"इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अगले दो वर्षों मे कृषि सम्बन्धी व्यय को १७० करोड रु० से बढाकर २०१ करोड रु० तथा छोटी सिंचाई योजनाओ का व्यय ६६ करोड रु० से ९२ करोड रुपये किया जा रहा है। साधन प्राप्त करने के लिए औद्योगिक कच्चे मालो के अधिक निर्यात का सम्बन्ध भी उत्पादकता के स्तर को उन्नत करने के प्रयत्न भी हैं। प्रशासन व्यय मे कमी और आय-कर के बकाये की पूर्णतया वसूली के अन्य साधन हैं, जिनसे विकास कार्यों के लिए साधन बढाने मे राष्ट्र को मदद मिलेगी।"[2]

द्वितीय योजना काल की उपलब्धियाँ—

निम्न तालिका से स्पष्ट होगा कि कृषि उत्पादन मे वृद्धि की ओर प्रवृत्ति है, किन्तु वृद्धि की वार्षिक दर मे पर्याप्त अन्तर है .—[3]

कृषि उत्पादन सूचनाङ्क[4] (अनुमानित)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१
सब वस्तुयें	९५ ६	११६ ९	१३२ ०	१३५'०
खाद्य फसलें	९० ५	११५'३	१३० ०	१३१ ०
अन्य फसले	१०५ ९	१२० १	१३६ ०	१४३ ०

द्वितीय योजना के अब तक सामुदायिक विकास आन्दोलन के अन्तर्गत ३,१०० खण्ड होंगे, जिनमे ४,००,००० गाँवो की २० करोड जनता को लाभ होगा। इसी

1 India—1960 Table 96
2 आर्थिक समीक्षा, ५-१०-१९५८।
3 Third Five Year Plan—a draft outline.
4. आधार वर्ष सन् १९४९-५० = १००।

प्रकार प्राथमिक कृषि समितियो की सख्या सन् १९५८-५९ मे १८३ हजार हो ग
जबकि सन् १९५१ मे कुल १०५ हजार प्राथमिक कृषि समितियाँ थी। सिंचि
योजना के अन्त तक ७०० लाख एकड हो जायगा, ऐसी आशा है। दूसरी योज
सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र मे अच्छे बीजो का वितरण करने के लिए ४,००० बीज फ
जायेंगे। अन्य प्रगतियो मे ३९ लाख मि० एकड भूमि का रिक्लेमेशन, २२०
एकड भूमि को हरी खाद की पूर्ति, २७ लाख एकड भूमि मे भूमि सरक्षण का
का प्रसार हो जायगा। साथ ही, सन् १९६०-६१ तक नेत्रजनीय खाद की
५५,००० टन (१९५०-५१) से ३,६०,००० टन हो जायगी। इसके अलाव
उपलब्धियो का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलोचना—

इस प्रगति के होते हुए भी हमारे कृषि विकास कार्यक्रम मे अनेक त्रुटि
जिनकी ओर विश्व बैंक के अध्ययन दल ने सकेत किया है कि "प्रयत्नो का वितर
प्रमुख बातो पर केन्द्रित न करते हुये अति विस्तृत क्षेत्र मे हुआ है। यदि इस ढा
समुचित बनाकर विश्वास और प्रलोभन के साथ पर्याप्त सुविधाएँ दी जायँ तो उ
स्रोतो से ही उल्लेखनीय परिणाम मिल सकते हैं। यदि रसायनिक खाद की पूर
की पूर्ति की जा सके तो केवल इसी से खाद्यान्न के मूल लक्ष्य और सशोधित ल
अन्तर को पूरा किया जा सकता है।"[1]

तृतीय पच वर्षीय योजना—

विकास की योजना में आवश्यक रूप से कृषि को प्रथम प्राथमिकत
होगी। खाद्यान्न मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का महत्त्व तथा निर्यात एव उद्य
आवश्यकताओ की पूर्ति करना ही तृतीय योजना का एक प्रमुख लक्ष्य है।"
दृष्टि से तीसरी योजना मे व्यय का आयोजन किया गया है, जो निम्न प्रकार है:-

(करोड रुप

	दूसरी योजना मे	तीसरी योजना में	प्रतिश दूसरी योजना	ती यो
(१) कृषि एव सिंचाई की छोटी योजनाएँ	३२०	६२५	६ ९	८
(२) सामुदायिक विकास एव सहकारिता	२१०	४००	४ ६	५
(३) सिंचाई की बडी एव मध्यम योजनायें	४५०	६५०	९ ८	९

1 Commerce, 20 Sept 1958, page 461-62
2 A Draft Outline of Third Five Year Plan, p 23
3 — Do — p 27 Table 3 p 23 & pages 147-151

योजना आयोग ने तृतीय योजना मे कृषि के अन्तर्गत कृषि उत्पादन बढाने के लिए चार प्रमुख तकनीकी कार्यक्रम सुझाये हैं।

जिन प्रमुख क्षेत्रो में जमकर कार्य करने का विचार है, वे ये हैं : (१) सिंचाई, (२) भूमि सरक्षण, असिंच्य खेती और पडती जमीन को खेती योग्य बनाना, (३) खाद और रासायनिक खाद पहुँचाना, और (४) अच्छे किस्म के हलो एव सुधरी किस्म के खेती वाले औजारो का प्रयोग।

(१) सिंचाई की बडी और मध्यम श्रेणी की योजनाओ से १ करोड ३० लाख एकड भूमि की सिंचाई की जा सकेगी। जिस भूमि पर वर्ष मे एक से अधिक फसलें उगाई जायेंगी, उसको यदि सिर्फ एक बार ही शुमार किया जाय तो शुद्ध रूप से लगभग १ करोड १५ लाख एकड भूमि की सिंचाई हो सकेगी। छोटी सिंचाई योजनाओ और सामुदायिक विकास कार्यक्रमो की सिंचाई योजनाओ से लगभग १ करोड २० लाख एकड भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

(२) भूमि सरक्षण आदि के आयोग ने निम्न लक्ष्य सुझाये हैं —

नदियो आदि के किनारे बाँध बनाकर १ करोड ३० लाख एकड भूमि की रक्षा,

अन्य भूमि सरक्षण कार्यक्रम जिनमे नदी-घाटी योजनायें भी शामिल हैं, २० लाख एकड,

असींच्य खेती ४ करोड एकड,

पडती जमीन को खेती योग्य बनाना १० लाख एकड,

रेह वाली और खारी जमीन को खेती योग्य बनाना ४ लाख एकड,

बाढ नियन्त्रण, जल-निकासी और पनसाट से रक्षा ५० लाख एकड।

(३) खाद आदि—द्वितीय योजना के अन्त तक नेत्रजन-युक्त रासायनिक खाद की खपत ३ लाख ६० हजार टन तक पहुँच जायेगी। तृतीय योजना के अन्त तक इस मात्रा को बढाकर १० लाख टन तक पहुँचा दिया जायगा। इसी प्रकार फास्फेट वाली रासायनिक खाद की खपत की मात्रा को ६७ हजार टन पहुँचा दिया जायगा।

(४) बीज—तृतीय योजना में १५ करोड एकड भूमि पर उत्तम कोटि का बीज तैयार होने लगेगा। अच्छी किस्म का बीज तैयार करने के लिए प्रत्येक सामुदायिक विकास खड मे २५ एकड का एक फार्म स्थापित किया जाना है। द्वितीय योजना की समाप्ति तक देश मे ऐसे ४ हजार फार्म होंगे।

(५) फसल सरक्षण—फसलो को लगने वाले कीडो-मकोडो और रोगो को रोकथाम करने वाले दलो को इतना बढाया और प्रभावशाली बनाया जायगा कि तृतीय योजना के अन्त तक साढे सात करोड एकड भूमि पर खडी फसल की रक्षा की जा सकेगी।

(६) आधुनिक हल एव औजार—खेती के काम आने वाले औजारो को

सुधारने की ग्रावश्यकता की भी चर्चा की गई ग्रौर भारतीय कृषि ग्रनुसन्धान-परिषद् ने विभिन्न क्षेत्रो मे काम ग्राने वाले खेती के ग्रौजारो के बारे मे ग्रनुसन्धान शुरू किया है।

हलो के बारे मे ग्रनुसन्धान ग्रौर परीक्षण के लिए चार क्षेत्रीय केन्द्र स्थापित किये जा रहे हैं। इन केन्द्रो मे विभिन्न प्रकार के ग्रौजारो का परीक्षण किया जायेगा ग्रौर उन्हे सुधारा जायगा। राज्यो के परामर्श से खेती के काम ग्राने वाले कई ग्रौजारो को चुन लिया गया है ग्रौर उनका उत्पादन किया जायेगा। इन सुधरे किस्म के ग्रौजारो को प्रदर्शित करने, इन ग्रौजारो की मरम्मत करने के लिए देहात के बढई ग्रौर लुहारो को प्रशिक्षित किया जायगा ग्रौर ग्रनुसन्धान सस्थाग्रो ग्रौर इन ग्रौजारो के उत्पादको के बीच निकट सम्पर्क रखा जायेगा। खेती के ग्रौजार बनाने के लिए प्रत्येक राज्य मे कम से कम एक केन्द्र खोला जायगा। इस्पात की पूर्ति, परिवहन ग्रौर वितरण की पक्की व्यवस्था की जायेगी।

तृतीय योजना मे उत्पादन के लक्ष्य इस प्रकार निश्चित किए गये हैं (कोष्ठ मे दिये गये ग्राँकडे द्वितीय योजना काल के हैं) :—

खाद्यान्न १० से १०॥ करोड टन तक (७॥ करोड टन),
तिलहन ६२ से ६५ लाख टन तक (७२ लाख टन),
गन्ना ६० से ६२ लाख टन तक (७२ लाख टन),
कपास ७२ लाख गाँठ (५४ लाख गाँठ),
जूट ६५ लाख गाँठ (५५ लाख गाँठ),
नारियल ५ ग्ररब ७५ करोड (४ ग्ररब ५० करोड),
सुपारी एक लाख टन (६३ हजार),
काजू डेढ लाख टन (७३ हजार टन),
काली मिर्च ३० हजार टन (२६ हजार टन),
हल्दी २,६२० टन (२,२६० टन),
लाख ६२ हजार टन (५० हजार टन),
तम्बाकू सवा तीन लाख टन (तीन लाख टन),
चाय ८५ करोड पौंड (७२ करोड ५० लाख पौंड),
काफी ८० हजार टन (४५ हजार टन),
रबर ४५ हजार टन (२६ हजार ४०० टन)।

तृतीय योजना मे खेती के विकास के लिए कई मदो मे धन रखा गया है :—
खेती ग्रौर सम्बद्ध कार्यों के लिए सवा छः ग्ररब,
सामुदायिक विकास ग्रौर सहकार चार ग्ररब,
बडी ग्रौर मध्यम श्रेणी की सिंचाई योजनाग्रो के लिए साढे छ ग्ररब, ग्रौर
रासायनिक खाद के उत्पादन के लिए २ ग्ररब ४० करोड।
निजी क्षेत्र द्वारा खेती पर ग्राठ ग्ररब रुपये खर्च किए जाने का ग्रनुमान है।

तीसरी योजना पर लोक सभा में २२ अगस्त सन् १९६० से पर्याप्त चर्चा हुई, परन्तु उस सम्पूर्ण चर्चा मे कोई भी निष्कर्ष नही निकला। क्योंकि सम्भवतः ससद सदस्यो ने या तो योजना की रूपरेखा का पूर्ण रूप से अध्ययन नही किया था या उनके सामने आलोचना के अलावा दूसरा विकल्प न था। फिर भी कृषि योजना की सफलता के लिए निष्ठावान कर्मचारियो की आवश्यकता है, जो निस्वार्थ भाव से इन योजनाओ की पूर्ति मे लगन से कार्य कर जनता का विश्वास सम्पादन करे। दूसरे, इस समय सिंचाई की उपलब्ध-सुविधाओ का पूर्णतम् उपयोग नही हो रहा है, अत. उनका निम्नतम् व्यय पर अधिकतम् उपयोग बढाने के लिए सक्रिय प्रयत्न किये जायँ। तीसरे, देश की विशाल शहरी जन-सख्या को चीन की भाँति देश हित के कार्यों मे न्यूनतम् २ घन्टे प्रति सप्ताह अनिवार्य रूप से श्रम पर लगाया जाय, अन्यथा "६० वर्ष से कम आयु वाले सभी काम करने योग्य व्यक्तियो पर 'श्रम कर' (Labour Levy) लगाया जाय।"* यदि सार्वभ्निक विकास करना है तो मानवी श्रम को चीन की भाँति उपयोग मे लाना होगा। साथ ही, जनता को भी देश प्रेम से प्रेरित होकर हमारे सार्वभ्निक विकास में तन, मन, धन से जुट जाना चाहिए। तभी चिरवाछित सफलता सम्भव है।

---

* Second Five Year Plan Some Suggestions—Mohanlal Saxena, page 38-42

अध्याय १८

कृषि मूल्य का स्थिरीकरण

(Stabilisation of Agricultural Prices)

"अनिश्चित मानसून और क्रूर मूल्य व्यवस्था के बीच भारतीय कृषक आर्थिक कष्ट के दलदल में नीचे ही धसता गया।"

— टी० एन० रामास्वामी।

कृषि सुधार का मुख्य उद्देश्य उत्पादन मे अधिकाधिक वृद्धि तथा किसानो की कार्यक्षमता का पर्याप्त विकास करना है, जिससे किसानो और कृषि मजदूरो का जीवन स्तर अधिकाधिक ऊँचा हो। कृषि के सम्बन्ध मे जब हमारा उद्देश्य खेती के उत्पादन की मात्रा बढाना है, तब यह आशका हो सकती है कि उत्पादन आवश्यकता से अधिक न हो। क्योकि ऐसी दशा मे वस्तुओ का मूल्य-स्तर कम हो जायगा तथा कृषको को अधिक उत्पादन के लिए पर्याप्त प्रेरणा न मिल सकेगी। कृषि जन्य वस्तुओ का मूल्य उत्पादन की अधिकतम् सीमा निर्धारित करता है, अत मूल्य निश्चित किए बिना अधिकतम् उत्पादन का होना असम्भव है। इतना ही नही, कृषि तथा उद्योग-धन्धो द्वारा उत्पादित वस्तुओ के मूल्यो में एक विशेष प्रकार का सामजस्य आवश्यक है।

वर्षा की कमी या अधिकता, फसलो के रोग, बाढ आदि के कारण उत्पादन मे कमी या वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा मे कृषि वस्तुओ के मूल्य में अस्थिरता होने से किसानो की आय अनिश्चित रहती है। यह अनिश्चितता साधारणत' किसानो के विपक्ष मे ही अधिक होती है। अत इस प्रकार की हानि के भय से किसानो की रक्षा करना परमावश्यक है। भारत मे लोगो के जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन कृषि है, अत कृषि-जन्य वस्तुओ के मूल्य स्थिरता का महत्त्व और भी बढ जाता है, क्योकि किसान न तो सगठित ही हैं और न नए उत्पादन के ढगो को ही अपना सकते है और न अपनी पूँजी को खेती से हटा कर अन्य उद्योग-धन्धो मे ही लगा सकते हैं। किसान को प्रति वर्ष निश्चित मात्रा मे सरकारी मालगुजारी, लगान तथा ब्याज का भुगतान करना पडता है। यदि कृषि वस्तुओ के मूल्य मे निरन्तर परिवर्तन होता रहे तो किसान की आय मे अनिश्चितता रहेगी। भाव घटने पर लगान के भुगतान के पश्चात् किसान के पास उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अत्यन्त अपर्याप्त आय शेष रहेगी। इस कारण उसे ऋण-ग्रस्त होना पडेगा, अत' वस्तुओ के मूल्य एक न्यायोचित स्तर पर स्थिर करने से किसान अपनी क्षमता बढाने तथा उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए

सदा उद्यत रहेगा। इस प्रकार कृषि व्यवस्था तथा आर्थिक ढाँचो के अन्य क्षेत्रो मे स्थिरता लाई जा सकती है, जिससे देश की औसत आय में वृद्धि होगी। सक्षेप में, कृषि वस्तुओ के मूल्य की स्थिरता की योजना उत्पादक, किसान, मजदूरो और उपभोक्ताओ के हित में होनी चाहिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के आघातो की तीव्रता न्यूनतम करते हुए तत्सम्बन्धी सरकारी नीति निर्धारित होनी चाहिये।

खेती की वस्तुओ का मूल्य निर्धारण करने मे भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ योग देती है, जिससे किसानो को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पडती हैं तथा खेती मे निश्चित प्रकार के सुधारो का होना कठिन हो जाता है।

उचित मूल्य वह है जिससे उत्पादक कृषक की आय इतनी हो जाय कि वह सकुटुम्ब भली भाँति अपना जीवन निर्वाह कर सके तथा खेतिहर मजदूरो को इतनी मजदूरी दी जाय ताकि वे भी समाज के अन्य वर्गो की तुलना में रहन-सहन के एक उचित स्तर पर पहुँच सकें। कुछ विशेषताओ के कारण हम कृषि-वस्तुओ के मूल्य निर्धारण में उनकी माँग और पूर्ति में सापेक्षिक शक्तियो पर निर्भर नही रहना चाहते। सामान्यत. बाजार में भिन्न-भिन्न किस्मो के अनुसार इन शक्तियो में से कोई भी एक अथवा कभी-कभी दोनो का प्रधान महत्त्व होता है। कभी-कभी परिस्थितियो की विशेषता के कारण इन सिद्धान्तो मे परिवर्तन करने पडते हैं। भारत जैसे पिछडे देश की खेती मे क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है। फलस्वरूप बढती हुई जन-सख्या के लिए खाद्यान्नो तथा अन्य कृषि वस्तुओ के उत्पादन की वृद्धि प्राय. लागत पर ही हो सकती है। यही नही, युद्ध-काल मे, अकाल मे अथवा अन्य प्रकार की परिस्थिति मे अन्न सङ्कट का हल निकालने के लिए ऊँची से ऊँची लागत पर अन्नो-त्पादन बढाना पडता है। भोजन मानव की प्रारम्भिक आवश्यकता है, अतः उसका उत्पादन किसी भी लागत पर करना अनिवार्य है। फिर भी उपभोक्ताओ की आर्थिक स्थिति का विचार करना आवश्यक है। अन्य उद्योगो मे अलाभकर इकाइयाँ स्वय नष्ट हो जाती हैं, परन्तु कृषि मे इन्ही कारणो से इनका नाश प्रायः असम्भव हो जाता है, अत॰ कृषि मे एक ओर ऊँची लागत और दूसरी ओर उपभोक्ताओ को सस्ते भाव की समस्या का सामना करना पडता है। अत इन दोनो मे सामन्जस्य लाने के लिए उचित मूल्यो का निर्धारण एव स्थिरीकरण आवश्यक है।

कृषि वस्तुओ के उत्पादन की लागत सर्वत्र समान नही होती, क्योकि वह मिट्टी, जलवायु, फसलो की उपज, खेतो के क्षेत्र तथा उत्पादन मे योग देने वाले अन्य कारणो की विभिन्नता से भिन्न-भिन्न होती है। इसका अनुमान तो तभी लगाया जा सकता है, जब इस सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक जाँच की जाय। इस समय तक राज्य-सरकारें अथवा उनके परामर्श दाता यह निश्चय नही कर सके कि खेती के उत्पादन व्यय के अन्तर्गत कौन-कौन सी वस्तुओ का समावेश होना चाहिए तथा उनका ठीक-ठीक

अभी सरकार को उचित मूल्य के निश्चय करने तथा उसे स्थिर करने का कोई अनुभव नही है, यह कार्य करने के लिए सरकार किसी समिति या आयोग की नियुक्ति करे, जो वस्तुओ के उचित मूल्य निर्धारण करने तथा उन्हे लागू करने के लिए जिम्मेवार हो।

मूल्य स्थिरीकरण के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते है :—

(१) उन देशो मे जहा साख का समुचित विकास है, प्राय. सरकार की मौद्रिक तथा आयात-निर्यात सम्बधी नीतियाँ स्थिरीकरण मे सम्पन्न हो जाती हैं। किन्तु भारत अभी तक एक अविकसित राष्ट्र माना जाता है, जहाँ साख एव बैंकिंग व्यवस्था सुसगठित नही है, अत. भारत सरकार की ये नीतियाँ व्यापार-चक्र को रोकने मे अधिक सफल नही हो सकती। स्थिति को देखते हुए देश मे निम्न कार्य अधिक सफल हो सकते हैं :—

(अ) सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित करना—अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण कमेटी के अनुसार इस ओर कार्य होना आरम्भ हो गया है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते—इसके द्वारा सदैव वस्तुओं के आयात-निर्यात एव व्यापारिक लेन-देनो द्वारा स्थिति काबू मे रह सके और कृषि मूल्यो मे उच्चावचन न हो।

(स) कृषको की कृषि सम्बन्धी समस्याओ को दूर करना और उन्हे अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना।

(२) अधिकतम् तथा न्यूनतम् मूल्य निश्चित करना।

(३) सम्पूर्ण देश मे राज्यो के आधार पर एक केन्द्रीय सस्था स्थापित की जाय, तो उत्पादन एव वितरण पर नियन्त्रण रखे और खाद्यान्नो का आर्थिक स्थिति के अनुसार मूल्य स्थिर करे, जिससे कृषको और उपभोक्ताओ को लाभ हो। इस सुझाव से सकट के समय, जबकि कृषको को कम दाम मिलता है, उन्हे निश्चित मूल्य द्वारा सहायता मिलती है और ऊँचे भाव चढ जाने पर उन्हे एक प्रकार का टैक्स देना होता है। यह सुझाव केवल उन खाद्यान्नो के लिए हो जो बहुत आवश्यक हैं, जैसे—गेहूँ, चावल आदि।

गिरते हुए मूल्यो को थोडा सा सहारा हीनार्थ वित्त प्रवन्ध (Deficit Financing) द्वारा भी मिल सकता है, किन्तु यह अभी विवादास्पद ही है। भारत की द्वितीय पच-वर्षीय योजना ने कृषि मूल्यो को गिरने से रोका है, किन्तु उत्पादन में आशातीत वृद्धि होने से यह स्थिति बदल सकती है।

कृषि वस्तुओ के मूल्य सम्बन्धी सरकारी नीति की सफलता के लिए सरकार निम्न कार्य करे :—

(१) खेती मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओ की बिक्री का उचित प्रबन्ध तथा सगठित बाजारो की व्यवस्था होनी चाहिए।

(२) ऋण देने के कार्य पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय, जिससे ऋण दाता उचित मूल्य से कम भाव पर किसानो से वस्तुयें न खरीद सकें।

(३) खेती के लिए समुचित अर्थ-व्यवस्था हो।

(४) भू-प्रवन्ध तथा कृषि व्यवस्था मे आवश्यक परिवर्तन किये जायें, जिससे कृषि उद्योग उन्नतिशील आर्थिक ढांचे के अनुकूल हो सके।

(५) कृषि मजदूरो के लिए न्यूनतम् मजदूरी निश्चित की जाय।

(६) किसान अपनी कार्यक्षमता को एक विशेष स्तर पर अवश्य बनाये रखे तथा भूमि का अधिकाधिक उपयोग करे। भविष्य मे 'ग्रामीण उत्पादन समिति' द्वारा इस कार्य के पूर्ति की आशा की जाती है।

(७) भूमि का उत्पादन तथा किसानो की क्षमता बढाने के लिए सरकार सभी प्रकार सहायता दे।

(८) किसानो मे शिक्षा का प्रसार किया जाय तथा रेडियो, सिनेमा आदि साधनो द्वारा उनमे प्रचार करके उन्हे आत्म विश्वासी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। कम आय वाले लोगो को सस्ते भाव पर सरकारी सहायता द्वारा अन्न देने का प्रवन्ध होना चाहिए।

उक्त सुझावों पर यदि कार्य किया जाता है तथा कृषि वस्तुओ का प्रमापीकरण एव श्रेणीयन किया जाता है तो भारत में उचित कृषि मूल्यो का निर्धारण सम्भव होकर उनका स्थिरीकरण हो सकेगा। इससे भारतीय कृषक एव कृषि व्यवसाय प्रगति-सिंहासन पर आरूढ होकर देश की अर्थ-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अग बन जायगा।

कृषि मूल्यों के सम्बन्ध मे फोर्ड फाउन्डेशन के प्रतिनिधि श्री डगलस इसमिंगर के विचार माननीय हैं।* "गाँव के किसानो को उत्पादन वृद्धि के लिए प्रोत्साहित करने तथा उन्हे प्रेरित करने के लिए एक राष्ट्रीय नीति के रूप मे राष्ट्र को प्रति वर्ष बोआई के न्यूनतम् ६ मास पहिले बुनियादी अनाजो के भाव स्थिर कर देने चाहिए। यदि किसान को बोआई के समय यह ज्ञात हो कि फसल के बाद सरकार द्वारा गारन्टी किये गये विक्रय-मूल्य क्या होगे तो वह आसानी के साथ अपनी कृषि योजना बना सकता है। उस समय वह यह भी जान सकेगा कि उसे अपना कितना धन सुधरे हुए बीजो, उर्वरको, कृषि नाशको, खेती के उन्नत औजारो, सिंचाई, भूमिरक्षण आदि पर खर्च करना चाहिए। उस समय वह एक व्यापारी की भाँति अपने खर्च का अनुमान लगाने के साथ ही यह भी जान सकता है कि यदि ठीक से खेती की गई तो फसल भी अच्छी होगी, उत्पादन में वृद्धि होगी और उसे लाभ भी अच्छा होगा। लाभ के आश्वासन के साथ उसकी ज्यादा लगी पूँजी भी उसे खेती के परम्परागत तरीको को छोडने और नई उन्नत पद्धतियो को अपनाने की प्रेरणा देगी। . . अत: विक्रय मूल्य गारन्टी की आवश्यकता है। इससे किसान को ज्ञात होता रहेगा कि फसल तैयार होने

* आर्थिक समाचार अक्टूबर ५, १६५८।

आधार पर चावल और गेहूँ का राजकीय व्यापार होगा। उत्पादक को उसकी उपज का न्यूनतम् मूल्य दिलाने के लिए सरकार एक एजेन्सी स्थापित करेगी, जो उत्पादको से प्रत्यक्ष नियन्त्रित मूल्य पर क्रय करेगी। ऐसे मूल्य साधारणतः एक राज्य अथवा एक प्रदेश मे एक ही होगे। अभी तक केवल उडीसा मे १ जनवरी सन् १९५९ से खाद्यान्न नियन्त्रण आदेश लागू किया गया है, जिससे राज्य सरकार अधिकृत व्यक्तियो के माध्यम से चावल और पेडी खरीदेगी।[1]

तृतीय पचवर्षीय योजना के अनुसार "मूल्य-नीति का उद्देश्य यह होगा कि मूल्य-स्तर मे, विशेषत: आवश्यक उपभोक्ता माल के मूल्य स्तर मे तुलनात्मक स्थिरता बनी रहे। खाद्यान्न की मूल्य नीति को शेष अर्थव्यवस्था की मूल्य प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे देखना होगा तथा विभिन्न क्षेत्रो मे मूल्यो के बीच समुचित सम्बन्ध प्रस्थापित करना होगा। मूल्य नीति की विभिन्न समस्याओ का अध्ययन इस समय राष्ट्रीय विकास परिषद् की एक समिति कर रही है,"[2] जिससे भविष्य मे सुदृढ मूल्य नीति को अपनाया जा सके और सुदृढ मूल्य नीति ही कृषि मूल्यो के स्थिरीकरण की दिशा में प्रथम एव आवश्यक पग होगा।

---

1 Report on Currency & Finance 1959-60, Page 21-23
2 Third Five Year Plan—A draft outline, pp 14 15

अध्याय १९

सामुदायिक विकास योजनाएँ

(Community Development Projects)

"जब तक लाखों छोटे छोटे कृषक किसी योजना के ध्येय को स्वीकार कर उसके कार्यों में भाग नहीं लेते हैं और उसे अपनाकर आवश्यक त्याग नहीं करते हैं, तब तक किसी भी योजना के सफलता की तनिक भी आशा नही है।"

—अधिक अन्न उपजाओ जांच समिति।

भारत की ८२ ७% जनता गांवो मे रहती है और शेष १७ ३% नगरो मे। अन्य देशो में, जैसे—ब्रिटेन मे लगभग ८०% कनाडा मे ५६ ४%, संयुक्तराष्ट्र मे ५६ २% और फ्रान्स मे ४९% जनता नगरो में रहती है। अतः हमारे देश में अन्य देशो की अपेक्षा गांवो मे रहने वालो की संख्या सबसे अधिक है। इसी प्रकार व्यवसाय में भी सबसे अधिक भार खेती पर ही है।

व्यवसाय	१९२१	१९३१	१९४१	१९४९	१९५१
(अ) कच्चा माल तैयार करने वाले					
(१) खेती और पशु पालन	७३ १५	६५ ६	६६ ०	६७ ७	
(२) खनिज	० १७	० २४	० ३	० ५	
	७३ ३२	६५ ३०	६६'३	६८ २	६९ ८
(ब) तैयार माल की उत्पत्ति और व्यवसायो मे (कल-कारखाने)					
(१) उद्योग-धन्धे	१० ४९	११ ३८	१० ०	१३'६	१० ६
(२) यातायात	१ ३७	१ ६५	२ ५	१ ८	१'६
(३) वाणिज्य	५ ७३	४ ४	५ ५	६ २	६'०
(स) सरकारी शासन न्याय तथा अन्य कार्यों मे	२ ४३	२ ५	३ ०	६ ५	
(द) अन्य					१२ ०
(१) अपनी आय पर आश्रित	० १५	० १४	० १५	३ २	
(२) घरेलू नौकर	१ ६४	७ ८	७ ०		
(३) अन्य	३ ५१	५ ०५	४ ०		
(४) अनुत्पादक	१ ०४	१ ०५	१ ५		

स्रोत	देहातो की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	शहरो की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय
(१) डॉ० वी० के० आर० वी० राव (सन् १९३१)	४८ रुपया	१६२ रुपया	६५ रुपया
(२) नेशनल इनकम कमेटी (सन् १९५१)	१८० रुपया	४१६ रुपया	२२५ रुपया

इन आंकडो से स्पष्ट है कि एक औसत ग्रामीण एक औसत शहर वाले की अपेक्षा और एक औसत भारतीय की अपेक्षा लगभग दो तीन गुना गरीब है। कोई आश्चर्य नही कि १८० रु० की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, अर्थात् १४) रु० प्रति मास, लगभग ।।) आना प्रति दिन की आय वाले ग्रामीण निवासी का जीवन-स्तर पशुओ से भी गया गुजरा हो। अभी हाल मे हुई सरकारी खोज* ग्रामीण क्षेत्रो की आर्थिक दुरावस्था का नग्न चित्र उपस्थित करती है। इस खोज के अनुसार देहातो के हर परिवार मे वेकारी का औसत ५८% है और उन्हे दूसरो की निम्न आय पर निर्भर रहने के अलावा दूसरा कोई चारा नही है। ग्रामीण अपनी सीमित आय का एक वहुत वडा भाग, अर्थात् ६६ ७% केवल भोजन पर ही खर्च करता है। इसके विपरीत जहाँ एक औसत भारतीय प्रति दिन लगभग ३।। छटाँक दूध का उपयोग कर पाता है, वहाँ एक औसत ग्रामीण भारतीय को १ महीने मे २ सेर दूध, अर्थात् प्रति दिन १ छटाक से भी कम मिलता है।

अत. भारत की सर्वतोमुखी उन्नति की अपेक्षा हम तभी कर सकते हैं जब हमारे ग्रामीण वहुजन समाज की आर्थिक एव सामाजिक उन्नति हो। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में कृषि एव कृषक का महत्त्वपूर्ण स्थान होने से इनकी उन्नति का समावेश ग्रामीण उन्नति के प्रयत्नो मे ही होगा।

वर्तमान ग्रामोत्थान के प्रयत्न—

सन् १९४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ग्रामीण उत्थान के लिए दृढ प्रतिज्ञ हो गई और उसने यह अनुभव किया कि जन-सहयोग विना गाँवो का पुनर्निर्माण नही हो सकता। अत हमारी पच-वर्षीय योजना में गाँवो की आर्थिक उन्नति की ओर विशेप जोर दिया गया। फलत देश मे सामुदायिक विकास योजनायें एव राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Service) कायक्रम कार्यान्वित किया गया।

* National Sample Survey 1953, January

सामुदायिक विकास योजनाये (Community Development Projects)—

सामुदायिक विकास योजनाओ का कार्यक्रम भारत के लिए कोई नई चीज नही है, क्योकि महात्मा गांधी के सर्वोदय का आदश 'जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रत्येक व्यक्ति की भलाई' रखा गया था, यह उससे मिलता-जुलता है। परन्तु सर्वोदय की अपेक्षा श्रेष्ठ-तर नही है, क्योकि इन योजनाओ की रूपरेखा मे इनका उद्देश्य निम्न शब्दो मे व्यक्त किया गया है: "अधिक से अधिक व्यक्तियो की अधिक से अधिक भलाई।" डा० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दो मे सामुदायिक विकास एव सामुदायिक विकास योजनाएं, ये शब्द प्रयोग मे नये हैं, परन्तु इनकी विचारधारा काफी पुरानी है। "विशेष क्षेत्रीय विकास की अपेक्षा बहुक्षेत्रीय विकास ही इनका मूलभूत आधार है।" सामुदायिक विकास योजनाओ का कार्यक्रम ५ जनवरी सन् १९५२ से 'भारत-अमरीकी तान्त्रिक सहयोग' समझौते के बाद आरम्भ हुआ। इस समझौते म अमरीका ने इन योजनाओ पर होने वाले व्यय का कुछ भाग देने का वचन दिया है।

योजना की व्याप्ति—

समस्त भारतवर्ष मे ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्र चुने गये है, जिनमे से प्रत्येक का क्षेत्रफल लगभग ५०० वर्गमील है और हर क्षेत्र मे लगभग ३०० गांव हैं। प्रत्येक क्षेत्र में औसतन १ ५ लाख एकड कृषि योग्य भूमि तथा २·७ लाख जन सख्या है। इस प्रकार कुल ५५ क्षेत्रो के लगभग १६,००० गांवो मे १२० लाख की आबादी है, जिसका क्षेत्रफल १५० लाख एकड भूमि है। इन योजनाओ के साथ साथ कुछ 'विकास खण्ड' या पायलट प्रोजेक्ट' का भी आयोजन है। हर खण्ड मे औसतन १०० गांव और ६० ७० हजार जन-सख्या है। प्रत्येक खन्ड को ५ ५ गांवो के समूह मे विभक्त किया गया है। प्रत्येक गांव समूह एक ग्रामस्तर कर्मचारी का काय क्षेत्र होगा।

इन सबका उद्देश्य गांवो की ऊबड खाबड आर्थिक व्यवस्था को एक नियन्त्रित व्यवस्था का रूप देना है। सदियो से हमारे गांव बिना योजना के अपनी पुरानी गति से चलते आ रहे हैं। उनमें इस योजना के अनुसार पुनर्जीवन और जागरण की हवा भरना ही इनका काम है।

सामुदायिक विकास क्षेत्रो के प्रकार—

इन विकास क्षेत्रो के मोटे रूप से दो प्रकार हैं —(१) शुद्ध (Basic) और (२) मिश्रित (Composite)। शुद्ध क्षेत्रो मे काम वहाँ हो रहा है जहाँ पहले से ही एक छोटा उप नगर (Semi-town) है और मिश्रित प्रकार वहाँ है जहाँ नये सिरे से उस क्षेत्र मे एक उप-नगर या ग्राम एव उप नगर (Rural-cum-urban Centre) का निर्माण होगा। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध प्रकार के क्षेत्रो का व्यय कम होगा और मिश्रित का अधिक, किन्तु पहले का विकास-कार्य अधिक शीघ्र-गामी होगा, क्योकि शुद्ध प्रकार मे पहले से ही जीवन की कुछ सुविधाएं वगैरह प्राप्त हैं। यही कारण है कि सीमित पूंजी, अधिक सुविधाओ और शीघ्रता के विचार से ५५ क्षेत्रो

इसमे कार्य शुरू किया जाता है। योजना के हर विभाग में काम चालू हो जाता है। यह अवस्था ६ महीने की है।

(३) प्रगतिपूर्ण सम्पादन (Operation)—यह सबसे कार्यशील समय है, जिसमें विकास क्षेत्र की हर इकाई मे खूब जोर-शोर से काम चलेगा। इसीलिये इसको तूफानी कार्य-क्रम का समय भी कहा गया है। यह अवस्था १८ मास की है।

(४) सघनन (Consolidation)—इस अवस्था मे विशेषज्ञ और स्थानीय कर्मचारी विकास कार्य को ठोस रूप देंगे। इस क्षेत्र के विषय मे स्थापित प्रशासन को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न होगा। यह अवस्था ६ मास की है।

(५) अन्तिम अवस्था (Finalisation)—चौथी अवस्था तक कार्य प्रगति ठोस हो जाने और स्वावलम्बन की क्षमता आ जाने पर इस अवस्था मे केन्द्रीय और राज्य सरकार के विशेषज्ञ एक निर्देशक रूप में क्षेत्र में रहेगे और यह देखेंगे कि स्थानीय प्रशासन स्वावलम्बी हो गया है अथवा नही। जब यह क्षमता स्थानीय प्रशासन मे आकर, विकास कार्यक्रम एक साधारण दिनचर्या का रूप धारण कर लेगा, तब विशेषज्ञ दूसरे क्षेत्रो मे चले जायेगे। यह अवस्था तीन महीने की है।

इस प्रकार तीन वर्ष में पूरी होने वाली इन पाँच अवस्थाओ मे सामुदायिक विकास योजनायें विकास और स्वावलम्बन को गति देंगी और क्षेत्र अपनी इस गति से प्रगति करते रहेगे।

इसमें विभाजन का अर्थ निश्चित समय मे निश्चित लक्ष्यो को प्राप्ति करना है। यदि योजना के अनुसार काम होता गया तो हमारे गाँवो का वर्तमान रूप बदल कर वे आधुनिक सभ्य विश्व के साथ एक रूप होकर चल सकेंगे। प्रगति उनकी दिन-चर्या होगी तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हलचलो के बीच भी वे तूफान मे वट वृक्ष की भाँति अटल रह कर फलेगे और फूलेंगे। इस प्रकार छोटे छोटे स्वतन्त्र और स्वाव-लम्बी गणतन्त्र स्वरूप गाँव प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहेगे।

सामुदायिक विकास योजनाओ का संगठन—

योजना की समुचित व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय सामुदायिक विकास मन्त्रा-लय है। इसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय समिति है इस समय स्वयं योजना आयोग ही केन्द्रीय समिति का कार्य कर रहा है। इस समिति का कार्य प्रमुख नीति निर्धारण, सामान्य निरीक्षण तथा कार्य सचालन करना होगा। इस समिति के अन्तर्गत एक योजना प्रबन्धक होगा, जो देश भर में सामूहिक योजना के नियोजन, निर्देशन तथा समन्वय के लिए जिम्मेदार होगा तथा इस कार्य मे भिन्न-भिन्न राज्यो के उपयुक्त अधिकारियो से परामर्श करेगा। इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री समिति होगी, जिसके अन्तर्गत सरकार के उच्च, योग्य तथा अनुभवी अधिकारी होगे, जो प्रबन्ध, वित्त, कर्मचारी आदि योजना से सम्बन्धित अनेक विषयो पर सलाह देगे।

प्रत्येक राज्य मे राज्य-विकास समिति होगी, जिसमे राज्य के मुख्य मन्त्री तथा ऐसे मन्त्री, जिन्हे वे आवश्यक समझेंगे, सम्मिलित होगे। इस समिति का कार्यवाह राज्य विकास-कमिश्नर होगा। विकास-कमिश्नर पर ही राज्य मे योजना को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी है। यही समिति राज्य मे सामूहिक नियोजन का पथ-प्रदर्शन करेगी। केन्द्रीय समिति राज्यो के विकास कार्यक्रमो पर देख-रेख करेगी एव उनका समन्वय स्थापित करेगी।

जिलो मे सामूहिक योजना के निरीक्षण का उत्तरदायित्व एक जिला-विकास अधिकारी का होगा, जो राज्य-विकास कमिश्नर के आधीन होगा। जिले में उसे सलाह देने के लिए एक जिला-विकास बोर्ड होगा, जिसमे सामूहिक योजना से सम्बन्धित सरकार के सभी विभागो के अधिकारी होगे। इस समिति का अध्यक्ष जिलाधीश तथा मन्त्री जिला-विकास-अधिकारी होगा।

वित्त व्यवस्था—

पच-वर्षीय योजना में सामूहिक योजनाओ के लिए ९० करोड रुपये व्यय करना निश्चित हुआ था। साथ ही, भारत और अमरीका के बीच हुए औद्योगिक सहयोग समझौते के अनुसार भारत को सामूहिक योजनाओ के लिए ४ करोड रुपए की डालर सहायता सामग्री, औद्योगिक तान्त्रिक सहायता के रूप मे होगी। इस ४ करोड में से (जो कि राज्य सरकारो को दिया जायगा) ५५% रुपया ऋण के रूप मे है। इस राशि के भुगतान के बाद वह फण्ड "ब" मे जमा हो जायगा, जो फिर अन्य सामुदायिक विकास योजनाओ को आरम्भ करने मे व्यय होगा। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो की सहायतार्थ अनावर्त्तक व्यय का ७५% तथा आवर्त्तक व्यय का ५०% देगी, परन्तु ऐसे व्यय की अधिकतम राशि ६ करोड रुपया प्रति वर्ष होगी।

इसके साथ ही उत्पादक कार्यों, यथा—सिचाई, भूमि सफाई आदि के लिए केन्द्र सरकार द्वारा राज्यो को आवश्यक राशि ऋण रूप मे दी जाती है, जो ब्याज सहित देय होती है।

अमरीकी सहायता के अलावा फोर्ड फाउन्डेशन भी भारत को इस कार्य-क्रम के लिए आर्थिक सहायता दे रहा है। श्री नेहरू और फोर्ड फाउन्डेशन के अध्यक्ष एव सचालक की वार्ता के फलस्वरूप यह तय हुआ—फोर्ड फाउन्डेशन की ओर से प्रथम दो वर्षों में प्रशिक्षण का पूर्ण व्यय, तीसरे वर्ष के लिए व्यय का ५०% और चौथे वर्ष मे कुल व्यय का ३३⅓% मिलेगा। इस अवधि के बाद फोर्ड फाउन्डेशन इन चालू प्रशिक्षण केन्द्रो को आर्थिक सहायता नही देगा।

इसके अलावा इन योजनाओ मे जनता भी वित्तीय अभिदान तथा श्रम देती है। ३० मार्च सन् १९५९ तक जनता का अभिदान ७४ ५९ करोड रु० अर्थात् कुल सरकारी व्यय (१४० ८६ करोड रु०) के ५०% से अधिक रहा।[1]

कार्यारम्भ—

इस कार्य का श्रीगणेश २ अक्टूबर सन् १९५२ को ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्रो मे एक साथ कार्य आरम्भ होने से किया गया। इनसे १८,४५९ गाँवो की २६,४५४ वर्ग मील क्षेत्रफल मे रहने वाली १,४७,६०,००० जनता को लाभ होगा।

प्रथम पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड वनाये गये :—

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	योग
विकास खण्ड—					
सामुदायिक विकास	२४७	५३	—	—	३००
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५१	२५३	३९६	९००
योग	२४७	३०४	२५३	३९६	१,२००
ग्राम सख्या—					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७,६९३	—	—	३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५,१००	२५,३००	३९,६००	९०,०००
योग	२५,२६४	३२,७९३	२५ ३००	३९,६००	१,२२,९५७
जन-सख्या (लाख)—					
सामुदायिक विकास	१६४	४०	—	—	२०४
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	१६६	१६७	२६१	५९४
योग	१६४	२०६	१६७	२६१	७९८

इन योजनाओ के आरम्भ से ही इनका समावेश प्रथम पच-वर्षीय योजना में किया गया था। इस हेतु योजना मे सन् १९५२-५३ से सन् १९५५-५६ के ३ वर्षो के लिए ९६ ४ करोड रु० का आयोजन था। परन्तु योजना की अवधि मे ५२ ४ करोड रु० व्यय हुए तथा शेष ४४ १ करोड रु० दूसरी योजना में व्यय किये जायेंगे।[2]

---

1 India—1960, page 212
2 Hindusthan Year Book—Sarcar, p 502, 1960

द्वितीय पञ्च-वर्षीय योजना—

प्रथम योजना में सन् १९५२ से जब यह कार्यक्रम प्रारभ हुआ तब से १,२०० विकास खण्ड प्रारम्भ किये गये, जिनके अन्तर्गत १२३ हजार ग्रामो के लगभग ८ करोड़ लोगो को लाभ रहा है। इनमे से ७०० गहन स्वरूप के अथवा सामुदायिक विकास खण्ड हैं।

दूसरी योजना के कार्यक्रम के अनुसार योजना अवधि मे सम्पूर्ण देश को राष्ट्रीय विस्तार खण्डो की सेवाओ का लाभ मिलेगा तथा इनमे से ४०% खण्डो को सामुदायिक विस्तार खण्डो में परिवर्तन किया जायगा। यदि योजना की अवधि मे अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध होते हैं तो ५०% विस्तार खण्डो का सामुदायिक विकास खण्डो में परिवर्तन किया जायगा। सक्षेप मे, ३,८०० राष्ट्रीय विस्तार खण्ड योजना अवधि में चालू होगे, जिनमे से १,१२० को सामुदायिक खण्डो मे बदला जायगा। योजना की अवधि मे साधारण कार्यक्रम के साथ ही निम्न पहलुओ पर विशेष ध्यान दिया जायगा :—

(अ) ग्राम और लघु-उद्योगो का विकास, इसका हेतु, अतिरिक्त आय का प्रबन्ध और ग्रामीण रोजगारी की वृद्धि करना,

(आ) सहकारी क्रियाओ का विकास,

(इ) युवा एव युवतियो के लाभ के कार्यक्रम मे गहनता लाना, तथा

(ई) आदिवासी क्षेत्रो मे गहन प्रयत्न।

द्वितीय योजना के अ तर्गत सामुदायिक एव राष्ट्रीय विस्तार खण्डो के निम्न लक्ष्य हैं :—

वर्ष	राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड	सामुदायिक विकास खण्डो मे परिवर्तन
१९५६–५७	५००	—
१९५७–५८	६५०	२००
१९५८–५९	७५०	२६०
१९५९–६०	९००	३००
१९६०–६१	१,०००	३६०
योग	३,८००	१,१२०

जन-सहयोग एव प्रशिक्षण कार्यक्रम—

"३१ मार्च सन् १९५९ तक भूमि, नगद एव श्रम के रूप मे जनता ने ७४·५९ करोड रु० का सहयोग दिया, जबकि सरकारी व्यय १४० ८६ करोड रु० हुआ, अर्थात् इन योजनाओ मे जनता का ५०% सहयोग प्राप्त हुआ।"*

इसी समय ग्राम सेवको (VLW) के प्रशिक्षण के लिए ९७ विस्तार प्रशिक्षण केन्द्र हैं, जहाँ सितम्बर सन् १९५९ तक ३६,५७७ ग्राम सेवको को प्रशिक्षण दिया गया है। कृषि की आधारभूत शिक्षा के लिए ७८ आधारभूत कृषि विद्यालय तथा १८ कृषि वर्कशॉप हैं। इसी प्रकार ग्राम सेविकाओ के प्रशिक्षण के लिए विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रो से सम्बद्ध ३५ गृह अथशास्त्र कक्ष (Wings) तथा २ केन्द्र हैं, जहाँ सितम्बर सन् १९५९ तक १,५०० ग्राम सेविकाओ ने प्रशिक्षण लिया। इसके अलावा २७ प्रशिक्षण केन्द्र समूह-स्तर कार्यकर्त्ताओ के प्रशिक्षण के लिए आरम्भ करने की स्वीकृति दी गई है।

सामाजिक शिक्षा सगठनो के १३ खण्ड स्तरीय विस्तार अधिकारियों के लिए ८ (सहकारिता) तथा ११ (औद्योगिक) प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

स्वास्थ्य से सम्बन्धित कर्मचारियो की शिक्षा के लिए ३ प्रशिक्षण केन्द्र, सहायक नर्सों और दाइयो की शिक्षा के लिए ६६ सस्थाएँ, स्त्री स्वास्थ्य विजिटरो के लिए ९ तथा मिडवाइफो के लिए ६ केन्द्र हैं।

कायक्रम मे भाग लेने वाले गैर सरकारी व्यक्तियो की प्रशिक्षा के लिए भी योजना बनाई गई। ग्राम सहायको के लिए प्रत्येक ग्राम सेवक क्षेत्र मे शिविर लगाये जाते हैं, जहाँ विशेष रूप मे प्रशिक्षित स्टॉफ प्रशिक्षण देता है। गाँव लौटने पर ग्राम सहायक अपने साथियो की सहायता करता है। राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय सरकार सरकार द्वारा एव क्षेत्रीय तथा राज्य स्तरो पर राज्य सरकारो द्वारा 'सेमिनार' का आयोजन होता है। गाँव के अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए भी १ माह की अवधि के शिविर लगाये जाते हैं। ३१ मार्च सन् १९५९ तक इन शिविरो मे १९ लाख ग्राम सहायको का प्रशिक्षण हुआ।

विभिन्न प्रशिक्षण केन्द्रो के आचार्य एव अध्यापको की शिक्षा के लिए ट्रेनर्स ट्रेनिंग इस्टीट्यूट, राजपुर (देहरादून) की स्थापना की गई है। इसी मे जिला पचायत अधिकारियो के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। प्रशासकीय एव तकनीकी प्रमुख (Key) व्यक्तियो के प्रशिक्षण के लिए "सेंट्रल इस्टीट्यूट ऑन कम्यूनिटी डेवेलपमेट" की स्थापना मसूरी मे की गई है। यहाँ पर कार्यक्रम के सामाजिक पहलू तथा समूह पद्धतियो (Group methods) का प्रशिक्षण दिया जाता है।

इस प्रकार १ अप्रेल सन् १९५९ तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत

---

* India—1960, p 212.

२,५४८ खण्ड वन चुके है, जिनसे ३,२९,५१८ गाँवो की १७·३ करोड जनसख्या को लाभ मिलता है[1] :—

प्रदेश	खण्ड-सख्या		योग	प्रभावित जनता	ग्राम	वर्ग मील
	प्रथम चरण	द्वितीय चरण		(हजार)		क्षेत्र
आन्ध्र प्रदेश	१६१	६१	२२२	१५,६७४	१४,८७३	५०,८२१
आसाम	४२	२७	६९	३,७६६	१२,२८७	२२,७०६
विहार	२५४	३८	२९२	१९,६२२	३८,७८४	२३,३६०
वम्बई	२११	८४	२९५	१९,६५२	३७,६१९	९१,६४४
जम्मू-काश्मीर	४८	४	५२	२,३५८	५,८४२	४७,५६२
केरल	५५	१८	७३	६,७३०	८६२	५,९९६
मध्य-प्रदेश	१५१	७२	२२३	१३,८२३	४२,७२३	८०,२०५
मद्रास	१०९	५८	१६७	१४,१६०	८,६९१	२२,८८८
मैसूर	९९	३७	१३६	१०,८५३	१४,५१३	५०,७३७
उडीसा	११९	२४	१४३	९,२०६	३१,४०८	३०,६८५
पजाव	९०	४३	१३३	९,२९७	१८,१३१	२५,७०१
राजस्थान	८६	३३	११९	७,८७५	१८,३०७	५५,५१८
उत्तर-प्रदेश	३१७⅓	८९⅔	४०७	२६,५५६	५७,६९२	५५,७२३
प० वगाल	१२३	२३	१४६	१०,८९३	१९,९१९	१५,८५२
मध्य प्रदेश	५१	२०	७१	२,६२६	१७,८६५	२६,६११
योग	१,९१६⅓	६३१⅔	२,५४८	१,७३,०९१	३,२९,५१८	६,०६,०११

वलवन्तराय मेहता समिति—

सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डो की क्रियाओ के अध्ययन के लिए श्री वलवतराय मेहता को अध्यक्षता मे दिसम्बर सन् १९५६ में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की गई थी। इसका उद्देश्य विभिन्न कार्यक्षेत्रो को दी गई प्राथमिकता तथा कार्यक्रम मे मितव्ययिता एव कायक्षमता के सम्बन्ध में अध्ययन करना था। इस समिति ने अपनी प्रतिवदेना जनवरी सन् १९५८ मे भारत सरकार को प्रस्तुत की। इसकी सिफारिशो के अनुसार सामुदायिक विकास कार्यक्रम मे सशोधन किए गए।

अभी तक यह कार्यक्रम राष्ट्रीय विस्तार सेवा और सामुदायिक विकास के नाम से दो खण्डो मे विभाजित था, परन्तु मेहता समिति ने यह सिफारिश की थी कि विकास कार्यक्रम को इनके वजाय पहले अध्याय और दूसरे अध्याय में वाँट दिया जाए। श्री

* India—1960 Table 105.

सम्मेलन ने ५ से १० सामुदायिक विकास खण्डो के लिए एक-एक उद्योग केन्द्र स्थापित करने का सुझाव स्वीकार किया। ये केन्द्र इस वर्ष खुल जायेंगे, ऐसी आशा है। इनमे ग्रामीणो के रेडियो सेट, ट्रैक्टर और सिंचाई के पम्पो की मरम्मत आदि के लिए एक-एक वर्कशॉप होगी।*

आगामी कार्यक्रम—

सामुदायिक विकास मन्त्रालय ने अप्रैल सन् १९६० में २०० पूर्व-विस्तार खडो को मध्य-चरण के खडो मे बदलने की तथा २२२ पूर्व-विस्तार खड खोलने की अनुमति दी है। ये निम्नवत् हैं :—

प्रदेश	पूर्व विस्तार खण्डो का प्रथम चरण में परिवर्तन	नये पूर्व विस्तार खण्ड
आन्ध्र	१८	२२
बिहार	२३	२९
बम्बई	२४	३३
मध्य-प्रदेश	१५	१८
मद्रास	१३	१६
उडीसा	१२	१६
पंजाब	७	९
उत्तर-प्रदेश	४३	४६
पश्चिमी बङ्गाल	१५	—
मैसूर	१०	१२
राजस्थान	८	१०
केरल	५	७
मणिपुर, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश	३	२
उत्तर-पूर्व सीमान्त अभिकरण	४	२

राज्य सरकारें पूर्व विस्तार खण्डो को प्रथम चरण के विकास खण्ड बनाते समय यह ध्यान में रखेंगी कि उन गाँवो के लोग आत्मनिर्भर हैं या नही। साथ ही, ऐसे क्षेत्रो को प्राथमिकता दी जायगी जहाँ गेहूँ और धान की खेती अधिक होती है तथा जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ एवं वर्षा भी अच्छी होती है। इसी प्रकार नए पूर्व विस्तार खण्ड खोलने मे उक्त बातो के साथ ही यह सुझाव है कि ग्रामदान मे दिए गये गाँवो या जहाँ पिछडी जातियो के लोग अधिक हैं उनको प्राथमिकता दी जाय। परन्तु यह प्रयत्न हो कि विकास खण्डो के अन्तर्गत सभी जिले आ जाएँ तथा पूर्व-विस्तार खण्ड पुराने

* भारतीय समाचार—जुलाई १, १९६०, पृ० ३६६-६७।

विकास खण्डो के, कृषि या पशु विज्ञान विद्यालयो अथवा विस्तार खण्ड ट्रेनिंग केन्द्रो के आस-पास हो।[1]

इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक ४ लाख गाँवो में ३,१०० विकास खण्ड हो जायेगे तथा अक्टूबर सन् १९६३ तक सम्पूर्ण देश मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का विस्तार हो जावेगा। तीसरी योजना के अन्त मे देश में प्रथम चरण के २,१०० दूसरी चरण के २,००० तथा १,००० विकास खण्ड ऐसे होगे जो १० वर्ष पूर्ण कर चुके होगे। इस हेतु तीसरी योजना मे ४०० करोड रु० का आयोजन है।[2]

निष्कर्ष—

इन प्रयत्नो के साथ ग्रामीण जन-सहयोग तथा कर्मचारियो की कार्यक्षमता एव लगन यदि उचित परिमाण मे मिलती रहे, तो अवश्य ही हमारे गाँवो का पुनर्निर्माण होकर वे सम्पूर्ण देश के आर्थिक जीवन की भित्ति का कार्य सम्पादन कर भारत का अधिकतम आर्थिक विकास करने मे सफल होगे। इस ओर भारत सेवक समाज सस्था का कार्य बहुत प्रशसनीय है, जो कि सर्वाङ्गीण आर्थिक विकास के लिए कृषको को नये सूत्र मे बाँध रही है तथा कृषि एव ग्रामीण विकास के अनेक कार्यक्रमो को हाथ में ले रही है। साथ ही, मूल्याङ्कन सगठन की रिपोर्टों में उपस्थित त्रुटियो को दूर करने की भी आवश्यकता है, जिससे "यह बीज एक विशाल वटवृक्ष के रूप में परिवर्तित होकर ग्रामीण जनता का आर्थिक एव सामाजिक-स्तर उन्नत करने में सहायक हो।"

———

1 भारतीय समाचार-मई १५, १९६०।

2 Third Five Year Plan—Draft Outline, p. 153.

द्वितीय भाग
II PART

अध्याय १

भारतीय उद्योगों का विकास

(Development of Indian Industries)

भारतीय उद्योगो की प्राचीन स्थिति अत्यन्त गौरवास्पद थी, इसमे किसी को किसी प्रकार की शङ्का नही है। परन्तु भारतीय उद्योगो के अतीत को देखने से पूर्व इस विषय के अध्ययन के हेतु जो कालखन्ड बनाए गये, उनकी त्रुटि का उल्लेख यहाँ पर अनिवार्य हो जाता है। सन् १८५७ के पूर्व एव सन् १८५७ के पश्चात् इन दो काल खडो में अतीत का विभाजन तात्विक दृष्टि से दोषपूर्ण है, क्योंकि किसी भी देश का विकास किसी निश्चित रेखा से दो कालखडो मे विभाजित नही किया जा सकता। भारत मे यह तथ्य विशेष रूप से लागू होता है। इसलिए यदि हम भारतीय उद्योगो की स्थिति १९ वी शताब्दी के प्रारम्भिक दशको मे क्या थी तथा आगे चलकर उसमें शक्तिशाली घटको के परिणाम किस प्रकार हुए, उनसे हमारी औद्योगिक स्थिति तथा औद्योगिक कलेवर मे किस प्रकार परिवर्तन हुए, इसका विश्लेषण करें तो अनुचित न होगा? इतना ही नही, प्रत्युत कुछ सही अर्थ मे भारतीय उद्योगो का अध्ययन करने के लिए उनकी सन् १८६० के पूर्व की स्थिति तथा सन् १८६० के पश्चात् की स्थिति का अध्ययन अधिक उपयुक्त होगा। कारण, इङ्गलैण्ड की १८ वी शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति से होने वाले परिवर्तन सन् १८६० मे पूर्ण हुए और क्रमश उसके बीज अन्य देशो मे भी फैलने लगे, विशेषत: भारत मे। क्योंकि भारत अंग्रेजो के राजकीय अधिकार मे था और इस अधिकार का इङ्गलैण्ड की आर्थिक उन्नति के लिए अंग्रेज पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते थे।

भारतीय उद्योग सन् १८५७–६० के पूर्व—

१९ वी शताब्दी के आरम्भ मे भारतीय उद्योग उन्नति के शिखर पर थे तथा भारतीय कुटीर उद्योगो की बनी हुइ वस्तुएँ विदेशो मे निर्यात की जाती थी। इस कारण भारतीय श्रमिक एव उद्योगो की कुशलता का परिचय विश्व के कोने-कोने मे विदित हो गया, जिसका प्रमाण इतिहास से मिलता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि भारतीय उद्योगो मे यन्त्रो का उपयोग न होते हुए सम्पूर्ण औद्योगिक क्रियाएँ कारीगर अपने हाथ से ही तथा अपने घरो में अथवा राजा नवाबो द्वारा सचालित कारखानो में करते थे। ट्रॅवर्नियर नामक यात्री, जिसने मुगल काल मे भारत यात्रा की थी, सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध मे लिखता है—"भारत-निर्मित वस्तुएँ इतनी सुन्दर होती थी कि वे तुम्हारे हाथ में हैं, इसका ज्ञान क्वचित ही होता था और वस्त्र अत्यन्त कोम-

लता से बुने जाते थे। १ पौंड रुई से २५० मील लम्बा कपडा बुना जाता था।" जहाज उद्योग के सम्बन्ध में श्री अशोक मेहता ने लिखा है—"समुद्री यातायात एव जहाज निर्माण मे भारत का उच्चाक था। जब वास्को-डिगामा भारत मे आया तब उसने देखा कि यहाँ के जहाजी नौवहन मे इतने पारगत थे जितना वह स्वय भी नही जानता था।" औद्योगिक आयोग (सन् १६१८) अपने वृत्तलेख में लिखा है—"आधुनिक औद्योगिक प्रणाली का जन्म-स्थान यूरोप जब असभ्य जातियो का निवास स्थान था, उस समय यहाँ के शासको की सम्पत्ति एव शिल्पियो की उच्च कला के लिए भारत विख्यात था। इसी की पुष्टि एडवर्ड थॉर्नटन नामक अंग्रेज इतिहासकार ने भी की है—"नील नदी की घाटी मे जब पिरामिड देखने को न मिलते थे, तब आधुनिक सभ्यता के केन्द्र इटली और ग्रीस जगली अवस्था मे थे, उस समय भारत वैभव और सम्पत्ति का केन्द्र था।[1] इस प्रकार भारतीय कुटीर उद्योग उन्नति के शिखर पर थे तथा भारत सभ्यता एव सम्पत्ति का केन्द्र था, इसलिए सदियो तक विदेशियो के आकर्षण का एक विषय बना रहा।

परन्तु भारतीय उद्योगो की अवनति का आरम्भ भारत में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के आगमन से प्रारम्भ हो जाता है। ईस्ट इन्डिया कम्पनी प्रारम्भ मे तो केवल इसी हेतु से आई थी कि जिससे भारतीय उद्योग निर्मित माल के विदेशो मे निर्यात द्वारा वह काफी लाभ कमावे। उसकी इस नीति मे क्रमश परिवर्तन होने लगा, जिससे भारतीय कुटीर उद्योगो की अवनति होने लगी। इस नीति का मूल उद्देश्य ही यह हो गया कि भारत कच्चा माल निर्माण करने वाला एव निर्मित माल का आयात करने वाला एक देश हो जाय। इस नीति से भारतीय कुटीर उद्योग नष्ट प्राय हो गये, जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं[2] .—

(१) भारतीय राजा एव नवाबो का अन्त।
(२) नवीन सामाजिक वर्गों का उदय।
(३) ब्रिटिश शासन की आर्थिक एव औद्योगिक नीति —
  (अ) मुक्त व्यापार नीति।
  (ब) भारी अन्तर्प्रदेशीय कर।
(४) भारतीय माल के विरुद्ध इङ्गलैंड मे वैधानिक प्रतिबन्ध।

उपरोक्त शक्तिशाली घटको के कारण "१६ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे (भारतीय) औद्योगिक स्थिति स्थिर थी, जिस पर विदेशी माँग की प्रतिक्रिया होती रही। परम्परागत औद्योगिक व्यवसायो मे परिवर्तन कठिनतम् होने से तथा जाति प्रथा के कारण ये उद्योग चालू रहे। क्योंकि इनमे तान्त्रिक शिक्षा, कुशलता तथा परम्परागत विशेष वस्तुओ के निर्माण की शिक्षा मिलती रही।"[3]

---

1 History of British Empire in India—Edward Thornton
२ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—कुटीर उद्योग का अध्याय।
3 *Economics Development of Br Overseas Empire*—Knowles

आधुनिक उद्योगों का विकास—

एक ओर तो ब्रिटिश कूटनीति के फलस्वरूप भारतीय प्राचीन कुटीर-धन्धो की स्थिति चिन्ताजनक हो रही थी और दूसरी ओर आधुनिक उद्योगो का पूँजीवादी पद्धति से श्रीगणेश हो रहा था। आधुनिक उद्योगो मे दो प्रकार के उद्योगो का समावेश होता है—बगीचा उद्योग और कारखाना उद्योग। इनमे से बगीचा उद्योग यूरोपीय देशो के ट्रॉपिकल क्षेत्रो मे बहुत होता था, इसलिए इसी का आरम्भ भारत में सर्व प्रथम हुआ और यही से भारतीय स्रोतो का विदोहन यूरोपवासियो द्वारा होना आरम्भ हुआ।[1] परन्तु इस उद्योग के अलावा यूरोपवासियो का हाथ भारत के औद्योगिक विकास मे लगभग सन् १८५० तक बहुत ही नगण्य रहा। यूरोपवासियो की भारत मे औद्योगिक निष्क्रियता के लिए निम्न कारण थे :—

(१) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपने हितो की रक्षा के लिए यूरोपवासियो पर भारतीय भूमि खरीदने के लिए लगाये गए प्रतिबन्ध, जिससे यूरोपीय लोग यहाँ पर स्थायी-रूप मे भूमि नही खरीद सकते थे।

(२) सन् १८३३ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारतीय व्यापार पर एकाधिकार।

(३) आन्तरिक यातायात साधनो का अभाव, जिससे माल के यातायात के लिये सुविधायें नही थी और सडको आदि के अभाव के कारण बाजारो का विकास भी नही हो सका था।

(४) घनी आबादी का न होना।

इन कारणो से सन् १८६० के पहले भारत मे इण्डिगो उद्योग के अलावा बगीचा उद्योग तथा अन्य निर्माणी उद्योगो का अभाव था। परन्तु जैसे-जैसे उपरोक्त कठिनाइयो का निवारण होता गया, यूरोपीय लोगो के द्वारा स्थापित आधुनिक ढङ्ग के निर्माणी उद्योगो का विकास होने लगा। इस प्रकार आधुनिक उद्योगो मे बगीचा उद्योग ही एक ऐसा उद्योग था जो १९वी शताब्दी के आरम्भ मे यूरोपियनो द्वारा सचालित था तथा इण्डिगो के बनाए हुए रगो का निर्यात-व्यापार ईस्ट इण्डिया कम्पनी बहुत बडे पैमाने पर करती थी।[2] सन् १८३५ से चाय के बगीचे का उद्योग आरम्भ हुआ तथा इसे फलता फूलता देखकर सन् १८५२ से अन्य यूरोपीय भी इस उद्योग को अपनाने लगे। फलत' इस उद्योग की जडे सन् १८५० तक दृढ हो गई, अतः "यह कहा जा सकता है कि वर्तमान चाय उद्योग की नीव सन् १८५६ से सन् १८५९ के बीच डाली गई"[3] और यह उद्योग विकसित हो गया। चाय-बगीचो की सख्या जो सन् १८५० में १ थी वह सन् १८७१ मे २९५ हो गई। बगीचो का क्षेत्रफल एव चाय

---

1 The Industrial Evolution of India—D R Gadgil, p 45, 4th Edition

2 Ibid

3 Ibid p 48.

की पैदावार इन्ही वर्षों मे क्रमशः १,८७६ एकड से ३१,३०३ एकड तथा पैदावार २,१६,००० पौंड से ५२,५१,१४३ पौंड हो गई । कॉफी उद्योग १७वी शताब्दी मे भूर-व्यापारियो द्वारा दक्षिण भारत मे आरम्भ किया गया था । परन्तु सन् १८४० तक, अर्थात् जब तक यूरोपियनो ने इस उद्योग को हाथ मे नही लिया तब तक इसका महत्त्वपूर्ण स्थान नही था । इस प्रकार वास्तव मे कॉफी उद्योग का आरम्भ सन् १८४० मे हुआ, परन्तु उद्योग की प्रगति सन् १८६० से सन् १८७९ के वर्षों में ही हुई ।

इस प्रकार सन् १८५० के पूर्व भारत में इण्डिगो उद्योग के अलावा अन्य उद्योगो का अभाव था, जिनकी स्थापना एव विकास वास्तविक रूप मे सन् १८६० से सन् १८८० की अवधि मे ही हुआ । सन् १८५० के पूर्व बगीचा उद्योग के अलावा अन्य उद्योगो का पूर्ण अभाव था । इसका यह तात्पर्य नही कि अन्य उद्योगो की स्थापना के प्रयत्न ही नही हुए । प्रयत्न तो हुए, परन्तु इक्के-दुक्के प्रयत्न सफल रहे तथा अन्य पूर्णतः असफल रहे, जैसे—रीलिंग यन्त्रो का श्रीगणेश ईस्ट इण्डिया द्वारा किया गया , इस उद्योग ने कुछ काल तक काफी प्रगति की । इसी प्रकार सन् १८२० के लगभग सेराम पेपर मिल की स्थापना हुई, जिसने काफी उन्नति की । इसी प्रकार इङ्गलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के बीज यूरोपियनो द्वारा भारत मे भी लाए गए, फलत. सन् १८३२ में भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास जहाजो की सख्या ७ थी तथा भाप के इन्जनो का उपयोग कोयले की खानो, आटे की चक्कियो, सिल्क रीलिंग आदि मे होने लगा था ।* परन्तु सन् १८५० के पूर्व उद्योगो के विकास मे बाधक शीघ्र एव आधुनिक यातायात के साधनो का अभाव एक प्रमुख कारण था । भारत मे सन् १८४९ में सर्वप्रथम बम्बई से कल्याण तक (३३ मील) रेल मार्ग बनाए गए । इसके बाद कलकत्ते से रानीगज (१२३ मील) तथा मद्रास से अर्कोनम (३३) मील के रेल माग बने और क्रमश राजनैतिक एव आर्थिक स्वाथ की दृष्टि से ब्रिटिश शासको ने रेल माग का जाल बिछाना आरम्भ किया । फलस्वरूप कोयला खान-उद्योग तथा अन्य निर्माणी उद्योगो का विकास हुआ ।

सन् १८५७-१८६० के उपरान्त—

रेल्वे एव भाप से चलने वाले जहाजी यातायात की सुलभता के कारण माल के आयात-निर्यात में सुलभता हो गई तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक यन्त्र सामग्री का आयात भी होने लगा । रेल्वे का विकास एव यातायात की सुलभता के कारण भारत मे सन् १८५१ मे पहिला वस्त्र कारखाना—दी बॉम्बे स्पिनिंग एण्ड वीविंग क० खोला गया, जिसने सन् १८५४ में उत्पादन आरम्भ किया । परन्तु सन् १८७० तक इसकी प्रगति धीमी रही, क्योंकि रुई की कीमतें ऊँची थी, विशेषत

* Development of Capitalistic Enterprise in India—Buchanan.

अमेरिकी गृह-युद्ध के कारण। इसके बाद स्थिति मे सुधार होते ही इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् १८-६ मे भारत में ५६ वस्त्र कारखाने थे, जिनमें ४३,००० व्यक्ति १३,००० कर्घों तथा १४,५३,००० चर्खों (Spindles) पर काम करते थे। रेलो के विकास के साथ ही इन्जीनियरिंग तथा कोयला-खान उद्योग का विकास और वस्त्र कारखानो से सम्बन्धित अन्य सहायक उद्योगो की स्थापना एव विकास होने लगा। सन् १८५४ मे ही आधुनिक ढङ्ग पर पटसन उद्योग की स्थापना की गई तथा सन् १८६३-६४ से उद्योग की अच्छी तरह उन्नति होने लगी। इस प्रकार सन् १८८० तक भारत में वस्त्र, पटसन एव कोयला-खान उद्योग ही महत्वपूर्ण उद्योग थे। इन उद्योगो के विकास के साथ कुटीर उद्योगो को गहरी चोट पहुँची तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा थी ही, जिससे उनकी और भी अवनति होने लगी। इन उद्योगो मे वस्त्र उद्योग के अलावा अन्य उद्योगो के विकास के लिए पूँजी एव साहस ही कारणी-भूत था।

सन् १८८० से सन् १९१४ तक इन उद्योगो ने काफी प्रगति की तथा इनकी प्रगति में सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने बल दिया। फलतः वस्त्र कारखाने एव पटसन के कारखानो की सख्या क्रमशः ५८ से २६४ एव २२ से ६४ हो गई। इसी प्रकार कोयले का उत्पादन १२,९४,२२१ टन से १,५७,३८,१५३ टन हो गया तथा अन्य खान-उद्योगो का विकास होने लगा। परन्तु यह औद्योगिक विकास इतना सीमित था जो कुटीर उद्योगो से विस्थापित जन-सख्या को काम नही दे सकता था। इस कारण जनता ने औद्योगिक विकास के लिए आवाज उठाई, जिसकी पुष्टि दुर्भिक्ष आयोग सन् १८८० तथा सन् १९०१ ने की थी, परन्तु ब्रिटिश शासन ने ध्यान नही दिया। फलत. सन् १९०५ मे राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व मे स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ हुआ। इससे अनेक छोटे-मोटे उद्योगो की स्थापना हुई, परन्तु अपर्याप्त पूँजी, अनुभव-हीनता, ब्रिटिश शासन की व्यापारिक-साम्राज्यवादी एव मुक्त-व्यापार नीति के कारण वे विदेशी प्रतिस्पर्धा मे न टिक सके। स्वदेशी आन्दोलन के साथ विदेशी माल का बहिष्कार किया जाने लगा तथा कांग्रेस ने भारतीय उद्योगो को सरकारी सहायता एव सरक्षण देने की आवाज बुलन्द की। आर्थिक आंकडो* के अनुसार सन् १८९५ तक इस प्रकार विकसित होने वाले अन्य उद्योगो मे ऊनी वस्त्र उद्योग तथा कागज उद्योग का भी बडे उद्योगो मे उल्लेख किया गया था। क्योंकि इस वर्ष मे ६ ऊनी वस्त्र तथा ८ कागज के कारखाने थे, जिनमे क्रमश ३,००० और ३,५०० श्रमिक काम करते थे। इन उद्योगो के अलावा रेल्वे एव जहाजी यातायात के विकास के साथ भारत मे इन्जीनियरिंग उद्योग तथा लोहा एव पीतल फाउन्ड्री तथा टैनिंग का उद्योग भी विकसित हो रहा था। इस प्रकार सन् १८६० के उपरान्त सन् १८९५ तक भारतीय उद्योग काफी उन्नति कर चुके थे और "यदि इसी उत्साह से हमारे

* Financial & Commercial Statistics of India

पूँजीपति अपने मार्ग का अनुसरण करते तो वे औद्योगिक निर्माण मे असफल नही हो सकते थे।''*

सन् १८८७ से भारत मे कोयले के साथ ही पैट्रोलियम तथा मैंगनीज उद्योग का विकास हुआ, जो सन् १९१४ तक काफी अच्छी स्थिति प्राप्त कर चुके थे। पेट्रोल का उत्पादन सन् १८९६ मे १,५०,४९,२८९ गैलन था, जो सन् १९१४ मे २५,९३,४२,७१० गैलन हो गया। इसी प्रकार मैंगनीज उद्योग सन् १८९२ मे प्रारम्भ हो गया था। परन्तु इसकी उन्नति केवल सन् १९००के वाद ही हुई, जब रूस-जापानी युद्ध के कारण रूस से मैगनीज का निर्यात वन्द हो गया था। इससे इस भारतीय उद्योग को प्रोत्साहन मिला, फलत मैगनीज का उत्पादन सन् १९०७ मे ९ लाख टन से भी अधिक हो गया। इस प्रकार भारत मैगनीज का विश्व मे एक वडा उत्पादक हो गया। इसके अलावा अन्य खान उद्योगो का विकास भी इस अवधि मे होने लगा, जैसे—नमक, साल्ट पीटर, अभ्रक, स्वर्ण आदि। इसी प्रकार लौह खानो के विदोहन के प्रयत्न भी सन् १९०७ से होने लगे थे, परन्तु इसका सफल प्रयत्न केवल सन् १९११ मे टाटा द्वारा टाटा आयरन एण्ड स्टील क० की स्थापना से किया गया, जिसने सन् १९१४ मे उत्पादन आरम्भ किया।

इस प्रकार भारत मे आधुनिक उद्योगो का विकास १९वी अर्द्ध-शताब्दी के के बाद विशेषत॰ यूरोपीय पूँजी एव यूरोपीय विशेषज्ञो द्वारा किया गया। इस अवधि मे शक्कर, चमडे की सफाई तथा अन्य छोटे-मोटे उद्योग भी आरम्भ किये गये। परन्तु ये उद्योग विदेशी वस्तुओ की प्रतियोगिता मे न टिक सके। भारत मे विशेषत॰ वे ही उद्योग सफलता से उन्नति कर सके, जिन उद्योगो को देशी माग एव नैसर्गिक विकास के स्रोत उपलब्ध थे तथा विदेशी प्रतियोगिता का भय न था। इस धीमी प्रगति के लिए विशेष रूप से सरकार की औद्योगिक विकास मे अरुचि, मुक्त-व्यापार नीति, तान्त्रिक शिक्षण सुविधाओ का अभाव, विदेशी प्रतिस्पर्धा, पर्याप्त विनियोग पूँजी का अभाव, देश के व्यापारिक एव औद्योगिक स्रोतो का अज्ञान, अकुशल श्रमिक, उद्योगो का असन्तुलित विकास तथा विदेशी पूँजी एव साहस का एकाधिकार प्राप्त उद्योगो मे हित ये प्रमुख कारण थे।

सन् १९११ की औद्योगिक गणना के अनुसार उस समय भारत मे ७,११३ कारखाने थे, जिनमे १० से अधिक व्यक्ति काम करते थे, परन्तु इनमें ४,५६९ कारखाने ऐसे थे, जिनमे यान्त्रिक अथवा अन्य शक्ति का उपयोग होता था। इसी गणना के अनुसार उद्योगो पर निभर जन-सख्या २१,०५,८२४ थी, जिसमे से वगीचा उद्योग वस्त्र उद्योग, खान उद्योग तथा यातायात सम्वन्धी उद्योगो मे क्रमश ८,१०,४०७,

* That India has now fairly entered upon the path which, if pursued in the same spirit which has animated its capitalists hitherto, can not fail to work out its Industrial Salvation
—Essays on Indian Economics—Ranade.

५,५७,५८६, २,२४,०८७ तथा १,२५,११७ व्यक्ति काम करते थे, अर्थात् औद्योगिक जन-संख्या का ८१% भाग केवल इन चार बड़े उद्योगो मे था।[1] इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने तक भारतीय उद्योगो ने अनेक कठिनाइयो के बीच पर्याप्त प्रगति की थी।[2]

प्रथम विश्व युद्ध मे और उसके बाद—

प्रथम विश्व युद्ध छिड़ते ही आरम्भ मे भारतीय उद्योगो को धक्का लगा, क्योकि यातायात साधनो का नियोजन प्रतिरक्षा के लिए होने से औद्योगिक यातायात मे असुविधाएं होने लगी। साथ ही, औद्योगिक आवश्यक माल के आयात मे अड़चनें उपस्थित हो गई तथा अनेक उद्योगो के लिए, जैसे—कोयला, मैंगनीज एव वस्त्र उद्योग के निर्यात मे अड़चनें आ गई परन्तु यह युद्ध का तत्कालीन प्रभाव था। इसके बाद भारतीय उद्योगो पर युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री की पूर्ति की जिम्मेदारी आ गई। कीमतें बढ़ने लगी, जिससे उद्योगो ने काफी लाभ कमाये तथा भारत का निर्यात व्यापार युद्ध-काल में काफी बढ गया और धीरे-धीरे विनिमय दर भी बढती गई। परन्तु बढती हुई विनिमय दर से युद्ध-काल मे हमारे विदेशी व्यापार पर कोई विपरीत प्रभाव नही हुआ। इस अवधि मे भारतीय उद्योगो को काफी प्रोत्साहन मिला, परन्तु यन्त्रादि के आयात एव विशेषज्ञो के अभाव के कारण उद्योगो का विकास नही हुआ। इस युद्ध से जो भारतीय उद्योगो को लाभकर बात मिली वह यह कि भारत सरकार ने सुरक्षा की दृष्टि से इन उद्योगो का महत्त्व पहिचाना तथा सन् १९१६ मे औद्योगिक विकास की सम्भावनाओ की जांच एव सिफारिश करने के लिए औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने सन् १९१८ में अपनी रिपोर्ट रसायनिक तथा तान्त्रिक अनुसन्धान, औद्योगिक एव तान्त्रिक शिक्षा के समुचित सगठन द्वारा उद्योगो को प्रत्यक्ष एव सक्रिय सहायता देने की सिफारिश की। युद्ध के लिए माल बनाने तथा आवश्यक माल खरीदने के लिए सन् १९१७ मे इण्डियन म्युनिशन्स बोर्ड तथा स्टोर्स परचेज डिपार्टमेन्ट की स्थापना हुई। इन सब क्रियाओ से भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन मिला तथा औद्योगिक विकास के लिए उन्हे अच्छा अवसर मिला।

सन् १९१९ मे युद्ध समाप्त होते ही व्यापारिक क्रियाये बढने लगी तथा मांग बढने के साथ ही उद्योगो ने विकास योजनाएं बनाना आरम्भ किया, जिससे नये उद्योगो

---

1 Industrial Evolution of India—Gadgil 4th Edn 114-115

2 "The growth of large factory fram 1890 until the world war was fairly steady in all fields Cotton spindles more than doubled cotton power-looms quadrupled, jute looms increased four and half times and coal-rising six times, while the extension of railways continued at the rate of about 800 miles per annum"—*Development of Capitalistic Enterprise in India*—Buchanon, pp 139 40.

की स्थापना तथा पुराने उद्योगो का विकास होने लगा। फलतः सन् १९१९-२० एव सन् १९२०-२१ मे क्रमश. ६०५ एव ६६५ नई कम्पनियो की रजिस्ट्री हुई, जिनकी अधिकृत पूँजी क्रमश. २७५ एव १४६ करोड रुपये थी। इस प्रकार युद्ध पूर्व जहाँ भारत मे २,६८१ कम्पनी जिनकी चुकता पूँजी ७६ करोड रुपये थी, वे बढकर सन् १९१८-१९ में २,७१३ हो गई, जिनकी चुकता पूँजी १०६ करोड रुपये थी। यही सख्या सन् १९२१-२२ मे ४,७८१ हो गई तथा इनकी चुकती पूँजी २२३ करोड रुपये थी।[1] इसी प्रकार बम्बई की वस्त्र निर्माणियो ने सन् १९१८ से सन् १९२१ के चार वर्षों मे क्रमश. २३ ७, ४० १, ३५ २ तथा ३० १% लाभाश बाँटा और यही स्थिति अन्य उद्योगो की थी, जिससे उनके अशो के बाजार मूल्य बढने लगे। यही स्थिति दीर्घकाल तक न रह सकी और सन् १९२० मे मन्दी आने मे पाँसा पलटने लगा। इसी अवधि मे विनिमय दर भी गिरने लगी तथा भारतीय व्यापारियो के आदेशानुसार माल का आयात आरम्भ हो गया, जिससे भारतीय व्यापारियो को हानि हानि हुई तथा व्यापारिक अनिश्चितता आ गई। इसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पडा।

युद्ध के बाद मन्दी आई, जिससे औद्योगिक स्थिति चिन्ताजनक हो गई। इसके लिये सरकार की चलन नीति भी जिम्मेवार थी। औद्योगिक स्थिति को सुधारने के लिये तथा उद्योगो को सहायता देने के हेतु भारत सरकार ने मुक्त व्यापार-नीति का परित्याग किया तथा औद्योगिक समिति की सिफारिशो के अनुसार फिस्कल कमीशन की नियुक्ति (सन् १९२१) की, जिसने भारतीय उद्योगो को विवेकात्मक (Discriminating) सरक्षण देने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार लोहा एव इस्पात उद्योग को सन् १९२३ मे, वस्त्र उद्योग को सन् १९२६ मे तथा कागज उद्योग को सन् १९२७ में सरक्षण दिया गया। फलत ये उद्योग विदेशी प्रतियोगिता में अपना सफल विकास तथा सुदृढ सगठन कर सके। इस सरक्षण के कारण सूती वस्त्र निर्माणियो की सख्या ३३४ (सन् १९२६-२७) से बढकर ३३९ (सन् १९३०-३१) हो गई तथा इसमे ३,९५,४७५ व्यक्ति काम करते थे। युद्ध के बाद पटसन उद्योग ने भी काफी प्रगति की, क्योंकि पटसन निर्माणियो की सख्या ७० (सन् १९१४-१५) से बढकर ९८ (सन् १९२९-३०) हो गई तथा इस उद्योग मे सन् १९२९-३० मे ३,४३,२५७ व्यक्ति काम करते थे।[2] वस्त्र, लोह एव इस्पात तथा पटसन उद्योग के साथ ही अन्य उद्योगो का भी विकास होता गया, जैसे—शक्कर, कागज, सीमेन्ट, कोयला, इञ्जीनियरिङ्ग आदि। मन्दी का समय वैसे तो औद्योगिक विकास के लिये अनुकूल नही होता, फिर भी सरक्षण, औद्योगिक कच्चा माल सस्ता होने तथा मजदूरी के निम्न स्तर के कारण भारतीय उद्योगो ने प्रगति की। परन्तु औद्योगिक विकास मे सरकार ने प्रत्यक्ष किसी प्रकार से भाग नही लिया, इस कारण आशातीत उन्नति न हो

1 Industrial Evolution of India—D R Gadgil, pp 226 27.
2 Ibid, pp 240-42.

सकी। सन् १९३७ मे कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो की स्थापना से उन्होने देश के औद्योगिक भविष्य को आशादायी बनाने के लिये एक उद्योग-मन्त्री सम्मेलन बुलाया, जिसके प्रस्तावो के अनुसार राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण हुआ। इस समिति ने विभिन्न विषयो पर छानबीन कर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये, जिनसे प्रथम पच-वर्षीय योजना को मौलिक सामग्री मिली।

इसके अलावा सन् १९३५ मे औद्योगिक विकास जो युद्ध पूर्व केन्द्रीय विषय था वह प्रान्तीय कक्ष मे दिया गया। फलत: प्रान्तो ने उद्योग विभागो की स्थापना की। इन विभागो का कार्य प्रान्तीय उद्योगो को विकास के लिए आवश्यक जानकारी एव सहायता देने का था। परन्तु इन्होने सक्रिय कार्य कुछ भी नही किया, क्योकि इनके पास औद्योगिक सहायता के लिए पर्याप्त धन का अभाव रहा। इसी कारण अखिल भारतीय रसायन सेवा योजना (All India Chemical Service Projects) का परित्याग किया गया। परन्तु उद्योगो को सहायता देने के लिए केन्द्रीय फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट देहरादून में खोला गया। इसी प्रकार प्रान्तो ने भी अपने कक्ष मे कुछ कार्यवाही की, जैसे—टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट कानपुर, रिसर्च टेनरी कलकत्ता, सोप इन्स्टीट्यूट मद्रास आदि। मत्स्य-उद्योग के लिए मद्रास मे मत्स्य-विभाग भी खोला गया। उद्योगो को आर्थिक सहायता भी प्रान्तीय औद्योगिक सहायता अधिनियम के अन्तर्गत देने का प्रबन्ध किया गया।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध ने भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन दिया तथा सरकार को प्रतिरक्षा की दृष्टि से भारत के औद्योगीकरण के महत्त्व से परिचित कराया। मुक्त व्यापार नीति का अन्त तथा विवेकात्मक सरक्षण नीति का श्रीगणेश हुआ। औद्योगिक विकास प्रान्तीय कक्ष का विषय हो गया तथा प्रान्तीय सरकारो ने उद्योगो को सहायता देने के लिए अधिनियम बनाये और औद्योगिक एव तान्त्रिक शिक्षा का किंचित प्रबन्ध किया। साराश मे, प्रथम विश्व युद्ध के बाद यद्यपि गुणात्मक दृष्टि से औद्योगिक विकास बहुत कम किन्तु सख्यात्मक दृष्टि से भारत का औद्योगिक विकास तत्कालीन परिस्थिति मे सन्तोषजनक रहा।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल—

सन् १९३९ मे विश्व-युद्ध आरम्भ होते ही योरोपीयन आयात कम हो गये, जिससे भारतीय उद्योगो को प्रतियोगिता का भय न रहा। फलतः भारतीय उद्योगो का काफी विकास हुआ, क्योकि इन्ही पर युद्ध-सामग्री की पूर्ति की जिम्मेदारी आ गई थी। परन्तु आधारभूत तथा पूँजीगत उद्योगो (Capital Goods Industry) का अभाव होने से भारत वांछनीय प्रगति न कर सका। फिर भी युद्ध-काल में भारत के औद्योगिक विकास के लिए तथा युद्ध कार्य के लिए आवश्यक वैज्ञानिक साधनो की पूर्ति के लिए 'वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान सभा' का निर्माण किया गया। इसी प्रकार शस्त्रास्त्र की कमी दूर करने के लिए चेटफील्ड्स आयोग की सिफारिशो के अनुसार

(१) देश मे खाद्यान्न की कमी पहिले से ही थी, जो तीव्रतर हो गई।
(२) वस्त्र एव पटसन उद्योग को कच्चा माल प्राप्त करने की कठिनाई उपस्थित हुई। इससे इन दो उद्योगो के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पडा।
(३) रेल यातायात पर विस्थापितो के आवागमन की जिम्मेवारी आ गई, जिससे औद्योगिक माल के यातायात मे कठिनाई प्रतीत होने लगी।
(४) अधिकाश कुशल (Skilled) श्रमिक इस्लामी होने के कारण भारतीय उद्योगो को कुशल श्रमिको का अभाव प्रतीत होने लगा।
(५) पाकिस्तान बन जाने से भारतीय उद्योगो के हाथ से एक बहुत बडा बाजार क्षेत्र निकल गया।

धीरे-धीरे राजनैतिक परिस्थिति पर काबू पाने के बाद राष्ट्रीय सरकार ने औद्योगिक उत्पादन बढाने तथा औद्योगिक नीति मे सुधार करने के हेतु दिसम्बर सन् १९४७ मे त्रिदलीय उद्योग परिषद् का आयोजन किया। इसमे उद्योग, व्यापार, श्रम एव सरकार के प्रतिनिधि थे। इस परिषद् मे श्रम एव पूँजी मे तीन वर्ष के लिए समझौते सम्बन्धी तथा श्रमिको की स्थिति एव उनकी मजदूरी के तथा पूँजी के समुचित पारिश्रमिक के निर्धारण के लिए उचित व्यवस्था करने का प्रस्ताव मान्य किया गया। साथ ही उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने निम्न सुविधाएँ दी :—

(१) सन् १९४८-४९ के बजट मे उद्योगो को कर से मुक्ति,
(२) तीन वर्ष से कम आयु वाले नए कारखानो (उद्योगो) को उनकी पूँजी पर ६% लाभाश तक आय-कर से मुक्ति,
(३) नई इमारत, यन्त्र औजार आदि पर तथा तीन पारी में काम करने वाले कारखानो को तत्कालीन दर से दुगुनी घिसावट की अनुमति,
(४) यन्त्र सामग्री तथा अन्य आवश्यक पूँजीगत माल के आयात कर मे ५०% छूट, औद्योगिक कच्चे माल को आयात-कर से पूर्ण मुक्ति तथा आयात करो मे कमी।

इन सुविधाओ से सन् १९४८ मे औद्योगिक उत्पादन युद्ध पूर्व औद्योगिक उत्पादन से १५% अधिक हो गया। यही सन् १९४७ मे युद्ध पूव स्तर से ५% कम था।[1] इसके लिए केवल लोह एव इस्पात तथा कोयला उद्योग अपवाद थे।

७ अप्रैल सन् १९४८ को भारतीय ससद मे औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमे सरकार की औद्योगिक नीति के प्रमुख उद्देश्य स्पष्ट किए गए तथा उद्योगो का निजी एव सरकारी क्षेत्रो मे विभाजन किया गया।[२] फलस्वरूप औद्योगिक

1 Hindusthan Year Book 1949
२ विशेष विवेचन के लिए "औद्योगिक नीति" अध्याय देखिए।

उत्पादन बढता रहा, जिसके निर्देशाक सन् १९४९, १९५० एव सन् १९५१ में क्रमशः १०६ ३, १०५·२ एव ११७ ४ मे।

भारत मे अनुकूल औद्योगिक वातावरण करने के लिए देश मे अनेक औद्योगिक एव तकनीकी प्रशिक्षणालय तथा औद्योगिक अनुसन्धान के लिए खोज-शालाएँ (Research Laboratories) खोली गई हैं। खोज-कार्य की देख-रेख के लिए केन्द्रीय वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की स्थापना भी की गई है, जो वैज्ञानिक खोजो का औद्योगिक क्षेत्र मे उपयोग करने का प्रथम प्रयास है। इसके अन्तर्गत अनेक अनुसन्धान-शालाएँ स्थापित की गई हैं। इसके अन्तर्गत २५ सस्थाएँ कार्य कर रही हैं। इसके अन्तर्गत एक औद्योगिक सम्बन्ध समिति है, जो उद्योगो से सम्पर्क स्थापित कर उन्हे अनुसन्धानों के उपयोग की सलाह देती है। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन के प्रमापीकरण के लिए इण्डियन स्टैन्डर्डस् इस्टीट्यूट भी है, जिसने अभी तक ४०० से अधिक प्रमाप निश्चित किये हैं।

देश मे उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के लिए निम्न अर्थ प्रदायक सस्थाओ की स्थापना की गई है, जो उद्योगो को प्रत्यक्ष दीर्घकालीन, मध्यावधि आर्थिक सहायता देती हैं :—

(१) अखिल भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (१९४८)
(२) राज्य औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (१९५१)
(३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (१९५४)
(४) राष्ट्रीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम (१९५५)
(५) लघु-उद्योग निगम (१९५५)
(६) पुर्नवित्त निगम (१९५८)
(७) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद (१९५७)

साथ ही देश मे सन् १९५१ से आर्थिक नियोजन शुरू हो गया है तथा आज दूसरी पच-वर्षीय योजना की पूर्ति के बाद भारत तीसरी पच-वर्षीय योजना मे पदार्पण कर रहा है। साथ ही नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अनुसार उद्योगो का सचालन एव नियन्त्रण देश तथा जन-हित की दृष्टि से करने के लिए सन् १९५१ मे उद्योग विकास एव नियमन अधिनियम भी बनाया गया है। इसके अलावा देश की परिवर्तनशील अवस्था के अनुसार औद्योगिक नीति मे सन् १९५६ में सशोधन किए गए हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठा रही है। फलस्वरूप औद्योगिक विकास भी तेजी से हो रहा है, जिससे विश्व के औद्योगिक देशो मे भारत का आठवाँ क्रमाक है। प्रथम योजना काल में हमारा औद्योगिक उत्पादन सन् १९५१ की अपेक्षा ३८% से बढा।[1] दूसरी योजना मे उत्पादन वृद्धि निम्नवत रही :—[2]

1 Hindusthans Year Book 1960
2 Eastern Economist Jan 1, 1960 page.

वर्ष	पूर्व वर्ष से वृद्धि	वर्ष	पूर्व वर्ष से वृद्धि
१९५२	३ ६%	१९५६	८·३%
१९५३	१ ९%	१९५७	३ ५%
१९५४	६ ९%	१९५८	१ ७%
१९५५	८ ४%	१९५९ (अर्द्ध वर्ष)	५ ९%

औद्योगिक विकास की आधुनिक प्रवृत्तियाँ—*

भारत की नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार औद्योगिक उपक्रम दो श्रेणियो मे रखे गए हैं निजी और सरकारी। यद्यपि कुछ उपक्रम निजी क्षेत्रो मे रखे गए हैं फिर भी ऐसे उपक्रमो के विकास की अन्तिम जिम्मेवारी राज्यो पर होगी। विशेषत. जब निजी क्षेत्र ऐसे उद्योगो का विकास करने के लिए अयोग्य हो, परन्तु केवल सन्नियमो से ही वांछित सफलता नही मिलती। निजी क्षेत्र सर्वसाधारण औद्योगिक नीति का एक अङ्ग (Adjunct) है और उसे सरकार के निरीक्षण एव नियन्त्रण मे कार्य करना है। इस प्रकार निजी क्षेत्र को बेलगाम स्वत त्रता नही है। फिर भी आजकल निजी क्षेत्र में कुछ ऐसे विकास हो रहे हैं जिन पर सरकार ने गम्भीरता से इस दृष्टि से सोचने की आवश्यकता अनुभव की है कि कही औद्योगिक विकास एव नियन्त्रण अधिनियम का उद्देश्य तो असफल नही हो रहा है।

एक उद्योग निजी स्वमित्त्व मे होते हुए भी राष्ट्रीय उद्योग है और राष्ट्रहित मे ही उसका सचालन होना चाहिए। आजकल कुछ व्यक्ति विदेशियो के ख्याति नाम उपक्रमो के हित ले रहे है और ऐसे व्यक्तियो को वास्तविक रूप मे न तो औद्योगिक अनुभव ही है और न औद्योगिक प्रशिक्षण ही मिला है। वे केवल पूँजीपति हैं और औद्योगिक क्षेत्र मे पदार्पण कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, जेसप एण्ड कम्पनी और ब्रिटिश इण्डिया कॉर्पोरेशन के कुछ कारखाने।

इन लोगो मे कल्पनाशील प्रारम्भण (Imaginative Initiative) का अभाव है, जो औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है। केवल उद्योग के स्वामित्त्व के हस्तान्तरण से कोई व्यक्ति उद्योगपति नही बन सकता। अपितु उसे औद्योगिक पृष्ठ-भूमि, प्रशिक्षण एव दृष्टिकोण चाहिये, जिससे वह औद्योगिक आकर्षण बन सके।

दूसरे, ऐसे व्यक्ति नव-प्राप्त उद्योगो के आधुनिकीकरण एव विवेकीकरण के विरोध मे हैं, किन्तु ये उद्योग पुराने होने के नाते इनकी यन्त्र सामग्री काफी पुरानी हो चुकी है, जिसका आधुनिक यन्त्र सामग्री से विस्थापन होना आवश्यक है। इनका विचार है कि चूंकि इन उद्योगों को खरीदने मे इन्होने पर्याप्त पूँजी लगाई है, इसलिये इनको पर्याप्त लाभ कई वर्षों तक मिलना ही चाहिए, अर्थात् ये उद्योग की समृद्धि की

* Modern Review, May 1957, page 339 340

अपेक्षा अपने निजी लाभ की ओर अधिक देखते हैं। दीर्घकालीन अवधि की दृष्टि से यह प्रवृत्ति देश हित के लिए एव औद्योगिक विकास के लिए घातक है।

तीसरे, ये उद्योग लौह एव स्पात समूह मे आते हैं, जो देश हित के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इन उद्योगो के सम्बन्ध में देश मौलिक प्रयोग नही कर सकता, इसलिए ऐसे उद्योगो को सरकार को ही अपने स्वामित्व मे लेना चाहिये।

साथ ही, इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए औद्योगिक विकास एव नियमन अधिनियम मे आवश्यक सशोधन करना चाहिए, जिससे कुछ आवश्यक योग्यता सम्बन्धी शर्तें पूरी किए विना कोई व्यक्ति औद्योगिक उपक्रम न खरीद सके।

औद्योगिक उपक्रमो को खरीदने वाले नए व्यक्ति देश हित मे उद्योग के विकास की अपेक्षा लाभ कमाने में अधिक रुचि रखते हैं। परिणामस्वरूप उद्योग के कुछ भाग पर अधिक ध्यान दिया जाता है तथा कुछ भागो की ओर किंचित भी ध्यान नही दिया जाता, क्योंकि उनके हिसाव से उद्योग के उत्पादी भाग का ही नवीनकरण होना चाहिए तथा अनुत्पादक भाग के आधुनिकीकरण की कोई आवश्यकता नही है, परन्तु कारखाने की ओर एक इकाई की दृष्टि से देखना होता है और उसकी उत्पादन-क्षमता में कोई वृद्धि नही हो सकती, जब तक सम्पूर्ण कारखाने का आधुनिकीकरण न किया जाय।

दूसरे, औद्योगिक सहकारिताओं का आधार राजनैतिक आन्दोलनो मे पीडित व्यक्तियो को कुछ आश्रय देना है। ऐसे व्यक्तियो को न तो औद्योगिक प्रशिक्षण ही प्राप्त है और न उद्योग सचालन की उनमे कोई योग्यता या पृष्ठभूमि ही है। ऐसे उपक्रमो मे देश के धन की वर्बादी की जा रही है। फलस्वरूप औद्योगिक सहकारिताओ को हानि होती है और फिर भी सरकार उनको सहायता देती जा रही है। यह जनतन्त्रात्मक नियोजित अर्थ-व्यवस्था की एक महान् त्रुटि है, क्योंकि अनियोजित उत्पादन उपक्रमो पर नियोजित व्यय करने से आयोजन की लागत वढती है, अतः निजी औद्योगिक सहकारिताओ को राज्य द्वारा आर्थिक सहायता देने की पद्धति प्रश्नात्मक है, जिसे वन्द करना चाहिए और उनको केवल राज्य वित्त निगमो द्वारा आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये, जो उनकी आर्थिक-क्षमता के ऊपर आधारित होती है।

तीसरे, तन्त्रज्ञ और इजीनीयरिंग की कमी की पुकार और दूसरी ओर उनकी वेरोजगारी, ये वातें कहाँ तक मेल खाती हैं। स्पष्ट है कि इजीनियरो एव तन्त्रज्ञो की माग एव पूर्ति मे समन्वय के प्रयत्न नही हैं, जिस ओर ध्यान देना चाहिये।

अध्याय २

औद्योगिक नीति

(Industrial Policy)

"भारतीय नवीन आर्थिक नीति एशिया और चीन की नीति से इस बात में भिन्नता स्पष्ट करती है जहाँ आर्थिक जनतन्त्र का निर्माण ऊपर से हुआ और भारत निम्न स्तर से आर्थिक जनतन्त्र की रचना के लिए प्रयत्नशील है"

—Modern Review

सन् १६४७ मे भारत सदियो की दासता से मुक्त होकर अपनी आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील हुआ। इसके पूर्व भारत के ब्रिटिश शासको की नीति मुक्त व्यापार की ही थी और उस नीति का स्पष्ट उद्देश्य भी टेअर्नी (Tierney) के शब्दो मे निम्न था .

"हमारी आर्थिक नीति का सामान्य सिद्धान्त यह हो कि इङ्गलेंड का निर्मित माल भारत मे बेचा जाय, जिसके बदले मे एक भी भारतीय वस्तु न ली जाय।"

इस उपेक्षापूर्ण नीति की मूर्खता हमारे विदेशी शासको को प्रथम विश्व युद्ध मे अनुभूत हुई और उन्होने औद्योगिक विकास के हेतु कुछ अनमने प्रयत्न किये। फलस्वरूप मुक्त व्यापार नीति का परित्याग हुआ, भारतीय उद्योगो को विवेकात्मक सरक्षण देने की नीति अपनाई गई। परन्तु फिर भी तत्कालीन भारत-शासन की कोई भी स्पष्ट उद्योग नीति न थी। द्वितीय विश्वयुद्ध तथा सन् १६०५ से आरम्भित स्वदेशी आन्दोलन एव जन-जागरण के कारण भारत की स्वतन्त्र उद्योग-नीति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। इसको मूर्त स्वरूप सन् १६४४ में मिला, जबकि सर आर्देशीर दलाल के आधीन केन्द्रीय सरकार के "नियोजन एव विकास विभाग" ने २१ अप्रैल सन् १६४५ को औद्योगिक-नीति सम्बन्धी विवरण प्रस्तावित किया।

विदेशी शासन काल में उद्योग-नीति सम्बन्धी यही पहिली घोषणा थी। इस विभाग ने औद्योगिक विकास की योजनाओ के निर्माण के लिए अनेक पटलो (Panels) की नियुक्ति की। जुलाई सन् १६४६ में नियोजन एव विकास विभाग की समाप्ति की गई। इसके तीन मास बाद अर्थात् अक्टूबर सन् १६४६ मे श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे सलाहकार-नियोजन सभा का निर्माण हुआ, जिसने नियोजन के सम्बन्ध मे वर्तमान स्थिति का अध्ययन करने, विभिन्न योजनाओ मे सामजस्य लाने एव सुधारने तथा उनके हेतु एव प्राथमिकताओ के सम्बन्ध में तथा भावी नियोजन प्रशासन के सम्बन्ध मे सिफारिशें प्रस्तुत करना थी। इस सभा ने अपनी

प्रतिवेदना फरवरी सन् १९४७ में सरकार को दी। इस रिपोर्ट ने अन्य बातो के साथ ही "अराजनैतिक स्थायी योजना आयोग तथा उसकी सहायता के लिए स्थायी प्रशुल्क सभा, वैज्ञानिक सलाहकार समिति, केन्द्रीय सांख्यिकी कार्यालय आदि के निर्माण की सिफारिश की।"

दिसम्बर सन् १९४७ मे राष्ट्रीय सरकार ने त्रिदलीय उद्योग सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि सरकार निजी एव सरकारी उपक्रमो का क्षेत्र निश्चित करने के लिए एक निश्चित एव स्पष्ट योजना बनावे। इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य औद्योगिक अशांति एव तत्कालीन शङ्कास्पद वातावरण का अन्त करना तथा एक निश्चित औद्योगिक नीति का निर्माण करना था। इस सम्मेलन ने निम्न सिफारिशें भी की —

(१) देश की सम्पत्ति एव उत्पादन साधनो का समान वितरण—जिससे भारतीय जनता के सामाजिक न्याय पर आधारित आराम एव जीवन-स्तर मे तीव्र गति से सुधार हो,

(२) जनता के एक वर्ग के हाथ में सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण न होते हुए राष्ट्रीय स्रोतो का पूर्णतम उपयोग।

(३) अधिकतम कार्यक्षमता एव उत्पादन प्राप्ति के लिए केन्द्रीय नियोजन, सामजस्य एव सचालन,

(४) प्रत्येक क्षेत्र की सम्भावनाओ से सम्बन्धित समुचित सयुक्तिक रीति से उद्योगो का देश मे वितरण, तथा

(५) मजदूरी एव लाभ निश्चित करने का समुचित आधार।

राष्ट्रीय औद्योगिक नीति—

उक्त सुझावो को भारत सरकार ने अपने औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव मे स्वीकार कर लिया। इस नीति की घोषणा तत्कालीन उद्योग-मन्त्री डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने ६ अप्रैल सन् १९४८ को की। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं —

(१) शस्त्र एव बारूद तथा एटम शक्ति का निर्माण एव नियन्त्रण, रेल यातायात का स्वामित्व एव प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के पूर्ण एकाधिकार मे रहेगा।

(२) प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकार निम्न क्षेत्रो मे नए उद्योगो की स्थापना के लिए जिम्मेवार होगी, परन्तु इसमे सरकार व्यक्तिगत साहस के साथ सहकार्य कर सकेगी। दूसरे शब्दो मे, निम्न औद्योगिक क्षेत्रो पर राज्य अथवा केन्द्र सरकार का नियन्त्रण रहेगा :—

कोयला, लोहा एव इस्पात, जहाज निर्माण, हवाई जहाज निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ तथा वायरलेस ऐपरेटस (रेडियो रिसीविंग सेट छोडकर) का निर्माण तथा खनिज तेल।

इस क्षेत्र के वर्तमान कारखाने अपना विकास दस वर्ष तक करते रहेंगे तथा

उसमे सरकार सहायक होगी । इस अवधि के बाद उनकी स्थिति का निरीक्षण किया जायगा । सरकारी उद्योगो का प्रबन्ध लोक प्रमण्डलो (Public Corporations) द्वारा होगा।

(३) विद्युत शक्ति के निर्माण एव वितरण पर सरकारी नियन्त्रण चालू रहेगा।

(४) उपरोक्त उद्योगो के अलावा तीसरी श्रेणी में ऐसे उद्योग हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं, सरकार के नियन्त्रण एव नियमन मे रहेगे । इस श्रेणी मे १८ उद्योग हैं।

(५) अन्य उद्योगो के स्थान-सीमन के सम्बन्ध में सरकारी नियन्त्रण रहेगा, परन्तु वे व्यक्तिगत प्रबन्ध एव नियन्त्रण मे विकसित होगे । इस क्षेत्र के सम्बन्ध मे औद्योगिक नीति मे स्पष्ट उल्लेख नही है।

(६) केन्द्रीय सरकार, कुटीर एव लघु उद्योगो का सगठित उद्योगो के साथ किस प्रकार समन्वय हो सकेगा, इस सम्बन्ध मे जाँच करेगी। इस कार्य के लिए केन्द्रीय कुटीर उद्योग सभा की स्थापना की गई है।

प्रस्ताव के अनुसार केन्द्रीय औद्योगिक सलाहकार सभा की स्थापना की गई थी, जिसे अब उद्योग विकास समिति कहते हैं। इस पर उद्योग, श्रम, व्यापार, प्रान्तीय सरकारे तथा ससद के सदस्यो का प्रतिनिधित्व है। समिति का कार्य केन्द्रीय सरकार को औद्योगिक नीति सम्बन्धी दुर्लभ कच्चे माल के बँटवारे के विषय मे सलाह देना तथा बडे उद्योगो के उत्पादन की सामयिक परीक्षा करना है।

(७) विदेशी पूँजी—विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति भी स्पष्ट रूप से घोषित की गई है। इस नीति के अनुसार भारतीय पूँजी विदेशी पूँजी तथा विदेशी साहस का स्वागत करेगी। क्योकि वतमान परिस्थिति मे विदेशी पूँजी एव विशेषज्ञो की भारतीय औद्योगिक विकास के लिए अतीव आवश्यकता है। परन्तु सरकार इस पर पूरी तरह से नियन्त्रण रखेगी और साधारणत: स्वामित्त्व एव प्रभावी नियन्त्रण भारतियो के हाथ में ही रहेगा। इस नियम के अपवाद भी हो सकते हैं, यदि वे देश-हित मे हो। ऐसी विदेशी पूजी वाली नई कम्पनियो को भारतीयो को तान्त्रिक एव औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा, जिससे विदेशी विशेषज्ञ भारतीयो द्वारा विस्थापित किए जा सकें। (ii) विदेशी प्रमण्डलो का राष्ट्रीयकरण होने की दशा मे उनको उचित मुआवजा दिया जायगा। (iii) पूँजी एव लाभाश की वापिसी पर यदि विदेशी विनिमय उपलब्ध हो तो सरकार किसी प्रकार की रुकावट न डालेगी।

(८) औद्योगिक श्रमिको के लिए गृह-निर्माण का उचित प्रबन्ध।

(९) प्रशुल्क नीति—प्रशुल्क नीति इस प्रकार रहेगी, जिससे अनुचित विदेशी स्पर्धा का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतो का पूर्णतम उपयोग हो सके।

(१०) कर नीति—कर नीति का उद्देश्य भी देश के औद्योगिक विकास को गति देने का होगा।

इस प्रकार-वर्तमान औद्योगिक नीति ऐसी है जिसमे सरकारी एव गैर-सरकारी दोनो ही क्षेत्रो में औद्योगिक विकास की सम्भावना काफी है। परन्तु राष्ट्रीयकरण की अस्पष्ट नीति के कारण पूंजीपतियो को सदैव राष्ट्रीयकरण का खतरा बना रहता है, अतः औद्योगिक विकास जितनी शीघ्र गति से राष्ट्रीय सरकार के होते हुए होना चाहिए था, नही हुआ। कारण, इस नीति से उद्योगपतियो का समाधान नही हुआ। जैसा कि एक उद्योगपति ने कहा था—'उत्पादन की सबसे बडी अडचन कर कलेवर (Tax Structure) है। इसी प्रकार श्री बिरला ने भी कहा था—'यदि हमे ध्येय पूर्ति करना है तो हमको अनेक अडचनो से भी अभी छुटकारा पाना है।' यह इसी बात की ओर सकेत करता है कि राष्ट्रीयकरण का भय विनियोक्ताओ को नई पूंजी लगाने में तथा उद्योगपतियो को अपने कारखानो के विकास में बाधक हुआ है। राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे सरकारी नीति मे निश्चयात्मक स्वर नही निकलता, अपितु आवश्यकतानुसार वह करवटें बदलती है।

औद्योगिक नीति की घोषणा के अनुसार सन् १९४८ मे केन्द्रीय औद्योगिक सलाहकार समिति की स्थापना की गई। इस समिति मे उद्योग, श्रम, व्यापार, ससद एव राज्यो का प्रतिनिधित्व है। समिति के प्रमुख कार्य निम्न हैं :—

(१) केन्द्रीय सरकार को औद्योगिक नीति सम्बन्धी सलाह देना।
(२) उद्योग विशेष की विभिन्न समस्याओ को हल करने एव उत्पादन की वृद्धि करने के लिए केन्द्रीय सरकार को सलाह देना।
(३) दुर्लभ कच्चे माल की प्राप्ति एव उद्योगों मे उसका वितरण करने के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को सलाह देना।
(४) उद्योगो के लिए आवश्यक पूंजी एव कच्चे माल के आयात के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार को सलाह देना।
(५) बडे उद्योगो का सामयिक परीक्षण करना तथा अपनी उत्पादन क्षमता का उपयोग करने के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार को सलाह देना। तथा
(६) केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रस्तुत अन्य औद्योगिक समस्याओ के सम्बन्ध में सलाह देना।

इस समिति के कार्य मे सहायक एव पृथक-पृथक उद्योगो की समस्याओ पर विचार करने के लिए विकास समितियां बनाई गई हैं, जो सम्बन्धित उद्योगो का कार्यक्रम निश्चित कर उनकी विकास योजनायें बनायेंगी।

केन्द्रीय औद्योगिक सलाहकार समिति का विस्थापन "उच्चस्तरीय औद्योगिक विकास समिति" से नवम्बर सन् १९५० मे किया गया। यह समिति अपने कार्यों के साथ ही उद्योगो की विकास योजनाए बनाती है तथा उद्योगो की विकास योजनाओ का परीक्षण कर उनमें सामजस्य लाने के लिए केन्द्रीय सरकार को परामर्श देती है।

उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम सन् १९५१—

केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक नीति को काम मे लाने के लिए भारतीय ससद-

मे सन् १९४९ मे उद्योग विकास एव नियन्त्रण विधेयक प्रस्तुत किया, जो सन १९५१ मे स्वीकृत होकर ८ मई सन् १९५२ से लागू हुआ। इसके वाद मई सन् १९५३ में इसकी कुछ त्रुटियो को दूर करने के लिए सशोधन किए गये। इसकी प्रमुख धाराएं निम्न हैं:—

(१) यह विधान जम्मू एव काश्मीर को छोडकर सम्पूर्ण भारत के प्रथम अनुसूची में प्रकाशित ४२ उद्योगो पर लागू होता है।

(२) इस अधिनियम से केन्द्रीय सरकार को वर्तमान उद्योगो के पजीयन (Registration), उनका उत्पादन एव विकास का नियमन करने तथा इस सम्बन्ध मे प्रान्तीय सरकारो को सलाह देने का अधिकार मिला है।

(३) कोई भी वर्तमान उद्योग पजीयन के बिना एव नया उद्योग सरकार से लाइसेंस लिए बिना अपना उद्योग सचालन नही कर सकता और न कोई नई वस्तु का उत्पादन ही कर सकता है।

(४) किसी भी उद्योग के उत्पादन मे कमी, गुणो मे निकृष्टता, लागत मे वृद्धि अथवा उपभोक्ताओ की हानि की सम्भावना हो तो केन्द्रीय सरकार ऐसे उद्योग की जांच कर निम्न आदेश दे सकेगी:—

(अ) उद्योग उत्पादन बढाने का प्रयत्न करे।
(ब) उद्योग अपने विकास का प्रयत्न करे।
(स) उद्योग ऐसी क्रियाएं न करे, जिससे उत्पादन अथवा गुणो मे कमी आवे।
(द) जिस उद्योग की जांच हो रही है, उसके मूल्य एव वितरण पर नियन्त्रण।

इन आदेशो की उपेक्षा होने पर अथवा किसी उद्योग का 'प्रबन्ध' जनहित मे न होने की दशा मे सरकार वह उद्योग अपने नियन्त्रण में ले लेगी अथवा अपने मनोनीत व्यक्तियो के हाथ में नियन्त्रण सौंपेगी। सन् १९५३ के सशोधन के आधार पर सरकार किसी भी उद्योग का प्रबन्ध बिना किसी प्रकार की जांच के अपने अधिकार में ले सकेगी।

(५) केन्द्रीय सलाहकार समिति तथा विकास समितियां—औद्योगिक विकास के लिए विकास समितियो की स्थापना इस अधिनियम का प्रमुख लक्ष्य है। ये समितियां उद्योगो से सम्पर्क रखेंगी तथा उन्हे हर प्रकार से सहायक होगी। विकास समितियो मे उद्योग के स्वामी, कर्मचारी उपभोक्ता तथा श्रमिको एव अन्य हितो के प्रतिनिधि रहेगे। यदि विकास समितियां अपना कार्य करने में असफल होती हैं तो केन्द्रीय सलाहकार समिति प्रबन्ध के नियन्त्रण अथवा परिवर्तन सम्बन्धी सूचनाएं देगी। केन्द्रीय सलाहकार समिति के ३० सदस्य होगे, जिसमे अनुसूची-बद्ध उद्योग के प्रतिनिधि, श्रमिको, उपभोक्ताओ के व अन्य प्रतिनिधि रहेगे तथा इसका एक अध्यक्ष भी होगा।

औद्योगिक विकास समितियों के कार्य—

(क) नियन्त्रित वस्तुओ का विभिन्न उद्योगो मे वितरण, उत्पादन की बिक्री तथा उत्पादन बढाने के प्रयत्न एव उद्योग की उन्नति के सम्बन्ध मे विचार करना।

(ख) उत्पादन की सीमा निश्चित करना, उत्पादन योजनाओ में सामजस्य स्थापित करना।

(ग) कार्यक्षमता के प्रमाप निश्चित करना तथा अपव्यय का निवारण हो कर कम उत्पादन व्यय मे अधिक एव अच्छी किस्म की वस्तुओ का उत्पादन सम्भव हो, इस सम्बन्ध मे सुझाव देना।

(घ) अक्षम औद्योगिक इकाइयो की कार्य-क्षमता बढाना, जिससे उनकी पूर्ण उत्पादन-शीलता का उपयोग हो सके।

(ङ) औद्योगिक विकास के हेतु औद्योगिक अनुसन्धानशालाएँ स्थापित करना तथा इस सम्बन्ध में उद्योगो को प्रोत्साहन देना।

(च) औद्योगिक श्रमिको की तान्त्रिक शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(छ) विस्थापित औद्योगिक श्रमिको को अन्य उद्योगो की शिक्षा देकर उनको रोजगार दिलाना।

(ज) उत्पादन परिव्यय सम्बन्धी हिसाब-किताब को प्रोत्साहन देना एव उनका प्रमापीकरण करना।

(झ) औद्योगिक आँकडो एव सूचनाओ को एकत्रित करने में सहायता देना तथा आँकडे एकत्रित करने की कार्य पद्धति मे सुधार करना।

(ञ) औद्योगिक क्रियाओ के विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी जाँच करना, जिससे लघु एव कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन मिले।

(ट) श्रमिको की कार्य-क्षमता बढाने के लिए उनकी काम करने की स्थिति, मजदूरी, श्रमिक कल्याण आदि सम्बन्धी सुधारो को प्रोत्साहन देना।

(ठ) केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार औद्योगिक जाँच कर आवश्यक सलाह देना।

इस प्रकार इन समितियो के निर्माण से राज्य सरकारें एव केन्द्रीय सरकार की औद्योगिक क्रियाओ मे अधिकतम सामजस्य लाने का प्रयत्न होगा। केन्द्रीय समिति के निम्न उद्देश्य होगे :—

(अ) पच-वर्षीय योजना की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय प्रयत्न एव साधनो को मजबूत बनाना,

(आ) समस्त आवश्यक क्षेत्रो मे सामान्य अर्थ-नीति की उन्नति करना, तथा

(ई) देश के सभी भागो का सन्तुलित एव शीघ्र विकास प्राप्त करना।

आलोचना—

यह अधिनियम वास्तव में उद्योगो की स्थापना से ही उन पर सरकारी नियन्त्रण

(i) देश मे 'भारतीय सविधान' का निर्माण, जिसमे नागरिको के मौलिक अधिकारो की घोषणा के साथ ही सरकारी नीति सम्बन्धी कुछ निर्देशक-सिद्धान्तो का भी उल्लेख है।

(ii) देशव्यापी आधार पर पच-वर्षीय योजनाओ का आरम्भ।

(iii) 'औद्योगिक विकास एव नियमन अधिनियम' लागू होना।

(iv) आवदी कॉंग्रेस सम्मेलन में भारत के आर्थिक विकास का लक्ष्य 'समाजवाद' रखा गया था, जिसकी पुष्टि अमृतसर सम्मेलन मे की गई। इस सिद्धान्त के अनुरूप भारतीय ससद ने भी 'समाज के समाजवादी आधार' को सरकारी सामाजिक एव आर्थिक नीति का लक्ष्य मान लिया है।

(v) समाजवादी सगठन की स्थापना के हेतु आवश्यक सशोधन भारतीय सविधान मे किये गये हैं।

ये परिवर्तन औद्योगिक विकास क्षेत्र मे राज्य का विस्तार तथा समाजवादी सगठन की स्थापना के हेतु औद्योगिक नीति मे परिवर्तनो की आवश्यकता की ओर सकेत हैं।

नवीन नीति के आधार—

इस नवीन नीति के तीन मूलभूत उद्देश्य हैं :—

(अ) सविधान में निर्दिष्ट सिद्धान्त।

(ब) समाजवादी सगठन की स्थापना।

(स) गत औद्योगिक विकास का अनुभव।

भारतीय सविधान मे न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व आदि सिद्धान्तो को स्वीकार किया गया है। सरकारी नीति सम्बन्धो निर्देशक सिद्धान्तो मे निम्न सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं —

"भौतिक साधनो का स्वामित्त्व एव नियन्त्रण अधिकतम सामुदायिक समानता लाने के लिए होना तथा अर्थ-व्यवस्था का सचालन जन-साधारण के हितो के विरुद्ध न हो और न धन एव उत्पादन साधनो का सीमित क्षेत्र मे केन्द्रीयकरण हो।"

इन आधारभूत एव निर्देशक सिद्धान्तो के अनुसार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के लिए भारत की नीति का सचालन होना चाहिए।

नवीन नीति मे सहकारिता—

इन उद्देश्यो की पूर्ति के हेतु सरकार सूक्ष्मता से, परन्तु निश्चित रूप से औद्योगिक क्षेत्र मे प्रवेश करती जा रही थी। फलत. निजी क्षेत्र विधान अथवा नियन्त्रणो द्वारा सीमित किया जा रहा था, क्योकि समाजवादी समाज की रचना के लिए यह आवश्यक था कि आर्थिक विकास एव औद्योगीकरण शीघ्र गति से हो, विशेष रूप से भारी उद्योग और यन्त्र-निर्माण उद्योग का। साथ ही, सरकारी औद्योगिक क्षेत्र का विकास किया जाय तथा बडे एव प्रगतिशील सहकारी क्षेत्र का निर्माण किया जाय।

लाभप्रद रोजगार के अवसर बढाने, जनता का जीवन स्तर उन्नत करने एव काम करने की स्थिति सुधारने के लिए ये आर्थिक आधार हैं। इसी प्रकार आय एव सम्पत्ति की वर्तमान विषमता को कम करने, निजी एकाधिकार की प्रवृत्ति रोकने तथा विविध क्षेत्रो मे कतिपय व्यक्तियो के हाथ मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण रोकने के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है, इसलिये नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार नवीन औद्योगिक इकाइयो की स्थापना एव यातायात साधनो के विकास में सरकार प्रत्यक्ष रूप से प्रगतिशील एव महत्त्वपूर्ण भाग लेगी। साथ ही, सरकार बढते हुए पैमाने पर व्यापार पर अधिकार लेगी। इसी के साथ देश की विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओ की पृष्ठभूमि मे राष्ट्रीय विकास की एजेन्सी के नाते निजी क्षेत्र को भी अपने विकास एव विस्तार के लिए अवसर मिलेगा। यथासम्भव सहकारिता-सिद्धान्त को अपनाया जावेगा तथा सहकारी सिद्धान्तो को अपनाने के लिये निजी उद्योग को धीमी गति से एव वर्धमान अनुपात मे प्रेरित किया जावेगा।

सरकार की जिम्मेवारियाँ—

समाजवादी समाज की स्थापना तथा देश के सुनियोजित विकास के लिए प्रमुख आधारभूत उद्योग, सुरक्षा उद्योग तथा जन-उपयोगी उद्योग सरकारी क्षेत्र में रहे, यह आवश्यक है। अन्य अनेक उद्योग भी जो आवश्यक हैं और जिनमे इतनी अधिक पूँजी लगानी पडती है, जो केवल सरकार ही विनियोजित कर सकती है, वे भी सरकारी क्षेत्र मे ही रहेगे।

इसलिए सरकार को अत्यन्त विशाल क्षेत्र में औद्योगिक विकास की जिम्मेवारी स्वय लेनी होगी। इस प्रकार सरकारी औद्योगिक क्षेत्र का आगामी वर्षों मे अधिक विकास होगा। समस्या के सभी पहलुओ पर विचार करने तथा योजना आयोग से परामर्श करने के बाद नवीन औद्योगिक नीति मे सरकार ने उद्योगो का तीन श्रेणियो मे वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण मे श्रेणियो की पूर्ण पृथकता नही की जा सकती। सम्भव है कि कुछ उद्योग दो श्रेणियो में आ जावें, परन्तु भावी औद्योगिक विकास योजना की चौखट मे ही होगा तथा उसमें मूलभूत सिद्धान्तो एव समाजवादी समाज के निर्माण का ध्यान रखा जायगा। सरकार को यही स्वतन्त्रता है कि वह किसी भी उद्योग को अपने नियन्त्रण मे लेगी। इस प्रकार खान उद्योग आधारभूत एव सुरक्षा उद्योगो (जिसमे वर्तमान निजी औद्योगिक इकाइयो के राष्ट्रीयकरण पर विशेष जोर न देते हुए) सहित सरकारी औद्योगिक क्षेत्र का विस्तार, यह नवीन औद्योगिक नीति की विशेषता है।

उद्योगों का वर्गीकरण—

प्रथम श्रेणी मे वे उद्योग हैं जिनके भावी विकास की जिम्मेवारी केवल सरकार पर होगी। इन उद्योगो के नाम औद्योगिक-नीति सम्बन्धी प्रस्ताव की पहिली अनुसूची मे दिये हैं, जो १७ हैं, परन्तु जहाँ पर निजी क्षेत्र मे उनके स्थापना की स्वीकृति दी गई है, उनका एव वर्तमान औद्योगिक इकाइयो का विस्तार एव विकास

तथा सामुदायिक वकशॉपो की स्थापना की जा रही है (उत्तर-प्रदेश मे औद्योगिक वस्तियो की स्थापना की गई है) । गावो के विद्युतीकरण तथा सस्ती दरो पर बिजली उपलब्ध करने से भी इन उद्योगो को काफी सहायता मिलेगी । औद्योगिक सहकारिताओ (Industrial Co-operatives) के विकास से इन उद्योगो का विकास शीघ्र गति से हो सकेगा, अतः औद्योगिक सहकारिताओ को प्रोत्साहन देने के हेतु सरकार उन्हे हर प्रकार से सहायक होगी ।

सन्तुलित आर्थिक विकास—

क्षेत्रीय आर्थिक असमानता को दूर करने तथा औद्योगीकरण का लाभ सम्पूर्ण जनता को देने के लिए यह आवश्यक है कि देश के सभी क्षेत्रो का विकास हो, अतः जो क्षेत्र औद्योगिक दृष्टि से अविकसित है उनके विकास की ओर विशेष ध्यान देना होगा । किसी विशेष क्षेत्र मे औद्योगिक केन्द्रीयकरण होने का प्रमुख कारण यातायात, विजली अथवा शक्ति आदि साधनो की वहाँ सुलभता है । अब इन सुविधाओ को समस्त देश मे, विशेषतः अनुन्नत क्षेत्रो मे पहुँचा देना राष्ट्रीय योजना का प्रमुख उद्देश्य है, जिससे ऐसे क्षेत्रो के विकास मे रुकावटें न हो । देश का आर्थिक विकास एव जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए यह आवश्यक है कि देश के सभी भाग उद्योग एव कृषि दोनो में ही सन्तुलित एव समान उन्नति करे ।

उक्त दिशा में देशव्यापी औद्योगिक विकास के लिए देश मे तन्त्रज्ञो एव प्रवन्धको की आवश्यकता होगी, इसलिए इस दिशा में आवश्यक शिक्षा सुविधाओ का प्रवन्ध सरकार कर रही है । इसके सिवा विश्वविद्यालयो तथा अन्य सस्थाओ मे व्यापारिक एव औद्योगिक प्रवन्ध के लिए भी शिक्षा देने की व्यवस्था होगी ।

औद्योगिक शान्ति—

औद्योगिक उन्नति के लिए औद्योगिक शान्ति कायम रहना आवश्यक है । उद्योग मे लगे हुए सभी छोटे वडो को जीवन की सुविधायें तथा प्रोत्साहन आवश्यक है, अतः मजदूरो का जीवन-स्तर उन्नत करना होगा, उनकी काम करने की दशा सुधारनी होगी तथा उनकी कार्यक्षमता वढानी होगी ।

समाजवादी जनतन्त्र मे देश की उन्नति मे एक मजदूर भी पूरा भागीदार है । उसे पूर्ण उत्साह से इस काम मे भाग लेना चाहिए । मजदूर और उद्योगपति दोनो को अपनी जिम्मेदारी एव एक दूसरे के महत्त्व को समझना है । मजदूरो एव तन्त्रज्ञो (शिल्पिको) को प्रवन्ध मे भी भाग लेना है, अत इस दिशा मे सरकारी क्षेत्र को उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए ।

सन् १९४८ एव सन् १९५६ की नीति की तुलना—

गत औद्योगिक नीति की अपेक्षा नवीन औद्योगिक नीति में कुछ उल्लेखनीय विचलन (Departure) हैं :—

(i) सबसे महत्त्वपूर्ण विचलन जो नवीन नीति मे है वह राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध किसी प्रकार का आश्वासन न होना है, किन्तु सन् १९४८ की नीति मे ऐसा आश्वासन था।

(ii) सरकारी क्षेत्र का विकास पर्याप्त किया गया है। यहाँ तक कि सरकार निजी क्षेत्रो में भी उद्योगो की स्थापना कर सकती है। सन् १९४८ के प्रस्ताव मे केवल कतिपय उद्योगो का विकास ही केवल सरकारी क्षेत्र मे होना था। परन्तु अब १७ महत्त्वपूर्ण आधारभूत उद्योगो का विकास केवल सरकारी क्षेत्र में होगा। इतना ही नही, अपितु दूसरी श्रेणी के उद्योग भी प्रगतिशील पद्धति से सरकारी क्षेत्र मे आ जावेंगे।

(iii) उद्योगो के वर्गीकरण मे भी शिथिलता है, जिससे योजना की आवश्यकतानुसार कोई भी उद्योग किसी भी क्षेत्र मे स्थापित किया जा सकता है। फिर वह किसी भी श्रेणी का क्यो न हो।

(iv) प्रथम श्रेणी के उद्योगो की स्थापना की सम्पूर्ण जिम्मेवारी सरकारी क्षेत्र पर होते हुए भी आवश्यक होने पर निजी क्षेत्र का सहयोग सरकार प्राप्त कर सकती है।

(v) औद्योगिक क्षेत्र को सहकारी ढङ्ग पर विकसित करने का लक्ष्य नवीन नीति की विशेषता है।

एक विहगम दृष्टि—

इस प्रकार गत अनुभव एव कठिनाइयो के आधार पर ही नवीन नीति मे ये विचलन हुए हैं, परन्तु पूर्णरूपेण यह औद्योगिक नीति मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है, जिसका लक्ष्य समाजवाद की ओर है। समाजवाद का अर्थ यहा पर भारतीय दृष्टिकोण मे बना है। भारतीय पृष्ठभूमि मे समाजवाद से यह तात्पर्य है कि "आम जनता के सहयोग से सरकार द्वारा देश के आर्थिक जीवन का सचालन एव नियन्त्रण।" क्योकि हमारी समामेलित अथवा सामूहिक शासन प्रणाली है, जिसमे वर्ग कलह अथवा विनाश के लिए कोई गुञ्जायश नही है, इसलिए नवीन नीति में निजी क्षेत्रो पर भी सरकारी-नियन्त्रण का अकुश है। इस प्रकार नवीन नीति मे सरकार के आर्थिक लक्ष्य मे गुणात्मक (Qualitative) परिवर्तन न होते हुए वास्तविक स्थिति के अनुरूप कुछ सख्यात्मक परिवर्तन किये गये हैं।

इसमें सरकारी क्षेत्र के विस्तार के साथ ही निजी क्षेत्र के अस्तित्त्व को भी अनुमति है, परन्तु निजी क्षेत्र सरकारी क्षेत्र के ट्रस्टी के नाते कार्यशील रहेगा, एक स्वतन्त्र एजेन्सी के रूप नही।

सक्षेप मे, भारतीय नवीन आर्थिक नीति एशिया और चीन की नीति से इस बात मे भिन्नता स्पष्ट करती है, जहाँ आर्थिक जनतन्त्र का निर्माण ऊपर से हुआ और भारत निम्न स्तर से आर्थिक जनतन्त्र की रचना के लिए प्रयत्नशील है। भारत की

चुनौती दी जा सकती है। साथ ही, शहरी जीवन के खतरो से समाज की रक्षा हो कर उसे अवनति से बचाया जा सकता है।

(५) (अ) राजनैतिक दृष्टिकोण से भी कुटीर-उद्योगो का विकास महत्त्वपूर्ण है। कुटीर-धन्धो के विकास से राष्ट्रीय सम्पत्ति एव आय का विभिन्न राज्यो मे समान वितरण हो सकेगा, जिससे प्रान्तीय वैमनस्य का अन्त हो कर उनको एक सूत्र मे बांधा जा सकता है।

(ब) राजकीय सुरक्षा की दृष्टि से विशालकाय उद्योगो की अपेक्षा कुटीर-उद्योगो का होना देश के लिए अधिक लाभकर होता है। इसीलिये आज-कल सर्वोन्नत अमेरिका मे भी विकेन्द्रीयकरण की धारा वह रही है। द्वितीय विश्व युद्ध मे इसका सफल प्रयोग इङ्गलेड के औद्योगिक इतिहास से मिलता है। आज यह प्रमाणित हो चुका है कि विशालकाय उद्योगो का छोटी-छोटी इकाइयो मे विकेन्द्रीयकरण औद्योगिक दृष्टि से अधिक सफल एव हितकर होता है।

स्पष्ट है कि भारतीय कुटीर-धन्धो का महत्त्व आज भी भारत के औद्योगीकरण मे इतना है, जितना सम्भवत. पहिले नही था। इसीलिये बम्बई योजना मे भी कुटीर-उद्योगो के सम्बन्ध मे लिखा है —"औद्योगिक सगठन हमारी योजना का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, उसमे बडे पैमाने के उद्योगो के साथ लघु-परिमाण एव कुटीर-धन्धो की समुचित योजना होनी चाहिये। यह इसलिये महत्त्वपूर्ण नही है कि वे रोजगार का साधन मात्र हैं, अपितु पूँजी की विशेषत प्रारम्भिक स्थिति मे बाहरी पूँजी की आवश्यकता कम करने के लिए भी आवश्यक है। सामान्यत. यह कहा जा सकता है कि आधारभूत उद्योगो मे छोटी छोटी इकाइयो के लिए कम स्थान है, परन्तु उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन मे उनकी उपयोगिता एव महत्ता अधिक है। इस क्षेत्र मे उनका कार्य अधिकतर बडी इकाइयो के लिये सहायक होगा।"

इसीलिये —"ग्रामीण विकास कार्यक्रम मे कुटीर-धन्धो का प्रमुख स्थान है। यदि कृषि का विवेकीकरण करना है तो सम्पूर्ण देश के अतिरिक्त श्रमिको को, जो कुल जन-सख्या के ⅓ हैं, काम देने का साधन खोजना होगा तथा ग्रामीण क्षेत्रो की विशाल मानवी एव आर्थिक समस्याओ को सुलझाना होगा। इसलिये निकट भविष्य मे कुटीर-धन्धो की आवश्यकता एव महत्ता सबसे अधिक है, जिस पर जोर देना होगा।"* साथ ही —"उन्हे एक ऐसी पद्धति का भाग बनाना होगा, जिसमे वर्कशॉप होगी तथा उनसे सम्बन्धित छोटे-छोटे कारखाने होगे। कृषि सम्बन्धित कुटीर-धन्धो की समुचित पद्धति ही हमारी ग्रामीण जनता को आवश्यक रोजगार दे

* The Five Year-Plan

सकती है।"[1] इस प्रकार—"आधारभूत एव लघु-परिमाण धन्धो के विकास से ही आर्थिक विषमता का अन्त होगा।[2]

कुटीर उद्योगो की प्राचीन स्थिति—

भारतीय कुटीर-उद्योग प्राचीन अवस्था मे उन्नत दशा मे थे तथा कुटीर निर्मित वस्तुयें विदेशो मे निर्यात होती थी। इससे भारत की कुशलता एव उद्योगशीलता का परिचय देश के कोने-कोने मे हो चुका था, जिसका इतिहास साक्षी है। भारतीय कुटीर निर्मित माल मे हैं —पीतल तथा अन्य धातु की वस्तुयें, हाथी-दाँत की पच्चीकारी, चित्र कला, मखमल आदि। सूती वस्त्रोद्योग का महत्त्व विदेशो मे भी था। इसी कारण भारतीय उद्योगो के माल की माँग विदेशो मे बहुत अधिक थी। बनारस की जरी, सोने और चाँदी के तार का काम भी विख्यात था। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध मे मुगलकालीन यात्री ट्रेवर्नियर लिखता है • "भारत-निर्मित वस्तुयें इतनी सुन्दर थी कि वे तुम्हारे हाथ में हैं, यह ज्ञान किंचित ही होता था। वह अतीव कोमलता से काते गये तारो से बुना जाता था तथा १ पौंड रुई मे २५० मील लम्बा कपडा बुना जाता था।" प्रो० वेबर लिखते हैं —"बहुत प्राचीन काल से बारीक कपडा बुनने, रगो का मिश्रण करने, धातुओ और बहुमूल्य रत्नो पर काम करने और इसी भाँति की अनेक कलाओ में निपुणता दिखाने मे भारतवर्ष के कारीगर ससार मे विख्यात रहे हैं। मिस्र मे ईसा से २,००० वर्ष पूव के शव उच्च कोटि की भारतीय मलमल में लपेटे हुए पाये गये। रोम में भारतीय माल की खपत बहुत होती थी और ढाका की मलमल से यूनानी परिचित थे, जिसे वे गंजेटिका (गगा वाले देश की) कहते थे।" दिल्ली मे पाया गया लौह-स्तम्भ भी भारतीय लोहा उद्योग की प्राचीन उन्नति का परिचायक है। इस प्रकार —आधुनिक औद्योगिक पद्धति के जनक पश्चिमी यूरोप मे जब असभ्य जातियो का निवास था, उस समय यहाँ के शासको की सम्पत्ति एव शिल्पियो की उच्च कलात्मकता के लिए भारत प्रसिद्ध था।"[3]

कुटीर-उद्योगों की अवनति—

कुटीर-धन्धो की अवनति का प्रारम्भ उसी समय से होता है, जब भारत मे अंग्रेज व्यापारियो ने व्यापार करने के लिए मुगल बादशाह से आज्ञा-पत्र प्राप्त किया। आज्ञा पत्र पाने के बाद अँग्रेज व्यापारियो ने भारत मे अपना व्यापारिक आसन मजबूत बनाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यवसाय करने के हेतु यहाँ आई। यह अपना व्यापारिक सिंहासन जमाकर राजकीय सत्ता हथियाने के प्रयत्न करने लगी। इस प्रकार अपनी कूट-नीति से १७वी शताब्दी मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने

---

1. Finale of Feudelism—Shri Charan Singh, Revenue Minister, U. P

2 Shri N V Gadgil on "Economic Policy" in Congress Session 1952

3 Report of the Indian Fiscal Commission, 1918.

प्रतियोगिता में वे खडे नही हो सकते थे, उसका अन्त करने मे और गला घोटने के लिए राजनैतिक शस्त्र का उपयोग किया।''

(४) भारतीय माल पर इङ्गलैड मे वैधानिक रोक—साथ ही इङ्गलैंड ने अपने देश मे एक ऐसी आर्थिक नीति का अवलम्बन किया, जिससे भारतीय माल के उपयोग पर ही वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। जो व्यक्ति इसका उलघन करता था उसे दण्ड दिया जाता था। इसका भी उदाहरण मिलता है कि जब एक अग्रेज महिला ब्रिटिश सभा गृह में गई, उसके पास भारतीय कलिको का रूमाल होने से उसे ५० पौंड दण्ड किया गया।

(५) भारतीय कारीगरो पर नियन्त्रण—ब्रिटिश पार्लियामेट ने भारत में शिल्पियो की कारीगरी पर भी नियन्त्रण लगाना शुरू किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सचालको ने कम्पनी के भारत स्थित अधिकारियो को आदेश दिया कि भारत मे वस्त्र शिल्पियो पर बडा नियन्त्रण रखा जावे, जिससे वे केवल विशेष प्रकार का कपडा विशेष नम्बर के सूत से ही बुन सकें। बुनने की मर्यादा भी नियन्त्रित कर दी गई। इस प्रकार के आदेशो का पालन बडी कडाई से होता था। यहाँ के अच्छे-अच्छे शिल्पी कम्पनी की इच्छानुसार काम करने एव अपना उत्पादन उन्हे निश्चित मूल्यो पर बेचने के लिए बाध्य किये गये। इसी प्रकार वे कोई भी माल बाजार मे स्वतन्त्रता से तब तक नही बेच सकते थे, जब तक उस पर कम्पनी की मुहर न लगी हो। इस प्रकार भारतीय शिल्पियो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चारो ओर से कडे नियन्त्रण मे रख कर भारतीय कलापूर्ण उद्योगो का गला घोट दिया।*

इस विनाशकारी नीति से यहाँ के सूती और रेशमी कपडे का व्यवसाय तीव्र गति से नष्ट होने लगा। सन् १८१३ मे भी, जब यहाँ से इङ्गलैंड के लिए कपडे का निर्यात बहुत कम हो गया था, कलकत्ता से २ करोड रुपये का सूती कपडा लन्दन भेजा गया। परन्तु केवल १७ वर्षों मे ही यह प्रभाव उल्टा हो गया, अर्थात् सन् १८३० मे कलकत्ता में इङ्गलैंड से दो करोड रुपये के कपडे का आयात हुआ। क्योकि भारत में विदेशी कपडे पर केवल २½% आय-कर था, जहाँ इङ्गलैंड मे भारतीय कपडे पर ४०% सरक्षण कर देना पडता था।

(६) विदेशी वस्तुओ की प्रतियोगिता—जब सरक्षक नीति के फलस्वरूप इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रांति सफल हो गई और वाष्प-चालित पुतली-घर रात-दिन काम करने लगे, तब माल की उत्पत्ति बहुत बडी मात्रा मे होने लगी। इसकी खपत के लिए यह विस्तृत देश बाजार बनाया गया। यन्त्रशक्ति के सामने हाथ की शक्ति ठहर न सकी और हमारे देश के कारीगरो की जीविका छीन ली गई। हाथ के बुने हुए कपडे की माँग बन्द हो गई, क्योकि मिल के सस्ते, चमकीले और भडकीले कपडो ने सबको आकर्षित

* R. C. Dutta.

किया। इस प्रकार जो काम पहिले दबाव से हुआ था, अब प्रतियोगिता से सरलता से होने लगा। यह दशा केवल सूती कपड़े की ही नही, वरन् सभी धन्धो की हुई। हाथ की बनी चीजे सस्तेपन मे मिल की बनी चीजो की बराबरी नही कर सकती थी। खरीदने वालो का ध्यान चीजो की मजबूती और कला से हट कर सस्तेपन की ओर गया और स्वदेशी माल के बदले विदेशी माल की खपत बढने लगी। चीजो की उत्तमता की दृष्टि से अब भी भारतीय कारीगर आगे है। सन् १८१३ मे सर टामस मुनरो ने एक समिति के सामने साक्षी देते हुए कहा था—"मै एक भारतीय दुशाला ७ वर्ष से काम मे ला रहा हूँ, परन्तु अभी तक उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ है। मैने ऐसा कोई विलायती दुशाला नही देखा, जिसे मुफ्त मे मिलने पर भी मै काम मे लाऊँ।" लेकिन अग्रेज् यहाँ के धन्धो को कुचलने पर उतारू थे।

(७) यातायात के आधुनिक साधनो की उन्नति—भारतवर्ष मे जहाज बनाने का धन्धा १९ वी शताब्दी के आरम्भ मे भी उन्नत था, लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सचालको की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण यहाँ के धन्धे को धक्का लगा और भारतीय जहाजो के बजाय अग्रेजी जहाज यहाँ से माल ले जाने लगे। तब तो भारतीय जहाजो का टिकना असम्भव ही हो गया। इधर स्थल पर सडको और रेलो के बनाने से विदेशी माल देश के कोने कोने मे जाने लगा। गाँव के घरेलू धन्धे भी नगरो के शिल्प की भाँति नष्ट होने लगे। इस देश मे रेलो का निर्माण इतनी तेजी से हुआ कि यहाँ के धन्धो को आकस्मिक-धक्का-लगा-और कारीगरो को अन्य धन्धा अपनाने का अवसर ही नही मिला। अगर रेलो का विस्तार धीरे-धीरे होता और केवल विदेशी माल का ध्यान न रखकर यहाँ के धन्धो की उन्नति का ध्यान रखा गया होता तो हमारे शिल्पियो को विवश होकर खेती पर निर्भर नही होना पडता। स्वेज नहर के बन जाने से इङ्गलैड आने-जाने का अन्तर कम हो गया और वहाँ से मिलो क. माल शीघ्रता और सरलता के साथ यहाँ आने लगा। सन् १९३० के बाद यहाँ के जहाजो का किराया घट गया था और इङ्गलैड का तैयार माल बहुत सस्ती दर से जल्दी आने लगा था, जिससे यहाँ के धन्धो को और भी धक्का लगा। धन्धे तो नष्ट हुए ही, विदेशी व्यापार विदेशी जहाज कम्पनियो के हाथ मे चला गया, जो अपने लाभ की दृष्टि से किराया लेती थी। आवागमन के साधनो की उन्नति से जहाँ और देशो की आर्थिक दशा सुधरती है, वहाँ भारत की दशा और भी बिगडने लगी। क्योकि इस देश मे आवा-गमन के साधन देश की आर्थिक उन्नति को ध्यान मे रखते हुए उन्नत नही किये गये। रेल, तार, डाक, सडकें, जहाज सबका निर्माण और उनके सचालन की नीति एक ही थी, अर्थात् अग्रेजी व्यापार की वृद्धि और वहाँ के तैयार माल की इस देश मे खपत।

(८) भारत सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति—इस देश की अग्रेजी सरकार ने यहाँ के धन्धो के प्रति केवल उपेक्षा ही नही दिखाई, वरन् अप्रत्यक्ष रूप से उनको नष्ट किया। इङ्गलैड के व्यवसायियो को भारतवर्ष के बाजार मे माल भेजने के लिए

(८) आज भी गावो मे यातायात के पर्याप्त साघन नही हैं। इस कारण बडे-बडे कारखानो द्वारा बनाया हुआ माल वहाँ तक सरलता से नही पहुँच पाता ।

(९) कुछ गृह-उद्योगो मे कारीगरो ने बदली हुई परिस्थिति मे अपनी उत्पादन पद्धति मे आवश्यक हेर-फेर कर लिया है। उन्होने नये औजारो तथा नये कच्चे माल का उपयोग करके अपने धन्धे की रक्षा की है। उदाहरण के लिए, बुनकर मिल के बने सूत को तथा फ्लाईशटल लूम को, रगरेज आधुनिक रगो को, दर्जी सीने की मशीन को काम मे लाता है ।

(१०) स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव से जनता का ध्यान गृह-उद्योगो की ओर फिर आकर्षित हुआ। गृह-उद्योग-धन्धो के प्रति सर्व साधारण मे सहानुभूति जागृत हो गई। म० गान्धी ने ग्राम-उद्योग-सघ की स्थापना की, जिसने बहुत से धन्धो के विकास में प्रशसनीय उन्नति की है ।

कुटीर-उद्योग किन्हे कहेगे ?—

"कुटीर-उद्योग" से स्पष्ट है कि जो उद्योग-धन्धे कारीगरो द्वारा प्रमुखत अपने परिवार के व्यक्तियो की सहायता से अपने अपने घरो मे चलाये जाते हैं, उन्हे हम कुटीर-धन्धे कह सकते हैं। बॉम्बे इकॉनॉमिक तथा इण्डस्ट्रियल सर्वे समिति के अनुसार "कुटीर-उद्योग अथवा लघु-उद्योग उनको कहा जाता है, जिनमे काम करने वालो की सख्या ५० से अधिक नही है तथा जिनकी लागत ३०,००० रु० से अधिक न हो। परन्तु ऐसे उद्योगो को लघु उद्योग कहना ही अधिक उचित होगा। कुटीर-धन्धे केवल उ हीं उद्योगो को कहा जा सकता है, जो घर पर ही परिवार के सदस्यो की सहायता से किये जायें और यदि ऐसे धन्धे कारखानो मे किये जाते हो तो काम करने वालो की सख्या ९ से अधिक न हो। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि कुटीर-उद्योगो का सचालन घर पर ९ व्यक्तियो से अधिक व्यक्तियो द्वारा नही होना चाहिये। इसके विपरीत उद्योग धन्धे वे हैं, जिनका सचालन घर पर अथवा कारखानो मे होते हुए भी ९ से ५० तक व्यक्ति काम करते हो। फिर उनमें किसी प्रकार की बाहरी शक्ति, जैसे—बिजली, जल-विद्युत इत्यादि का प्रयोग होता हो अथवा न होता हो। उदाहरणार्थ, कुम्हार मिट्टी के बरतन बनाने का काम स्वय अथवा अपने पारिवारिक सदस्यो की सहायता से करता है, इसलिये उसका धन्धा कुटीर धन्धा है। इसके विपरीत कानपुर मे दरी, गमछे बनाने के छोटे मोटे कारखाने हैं, जिनमे बिजली अथवा किसी बाहरी शक्ति का प्रयोग नही होता, परन्तु उनमें ९ से अधिक व्यक्ति काम करते हैं। इसीलिये उसे कुटीर-धन्धा न कहते हुए लघु-उद्योग कहा जायगा ।

इण्डियन फिस्कल कमीशन (सन् १९५०) ने कुटीर धन्धो को दो भागो में बाट दिया है :—(१) ग्राम्य कुटीर उद्योग तथा (२) शहरी कुटीर उद्योग। इसके

साथ इनका उप विभाजन भी किया गया है। ग्राम्य कुटीर धन्धो का विभाजन कृषि सहायक ग्राम्य कुटीर-धन्धे तथा अन्य कुटीर-धन्धो मे तथा शहरी कुटीर-उद्योगो का उप विभाजन किंचित् शहरी शिल्प तथा अधिक शहरी शिल्प मे किया गया है। किंचित् शहरी शिल्प वाले शहरी कुटीर-धन्धो मे उन धन्धो का समावेश होता है, जिनमे परम्परागत कुशलता एव कारीगरी होती है, जैसे—बनारसी जरी का उद्योग अथवा चन्देरी का जरी उद्योग। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी में उन कुटीर-धन्धो का समावेश होता है, जिनमे अधिक आधुनिकता है तथा जो बहु-परिमाण उद्योगो से समानता रखते है। उदाहरणार्थ, मदुरा का हैण्डलूम उद्योग, जिसमे अधिक आधुनिकता है तथा परम्परागत कुशलता एव कारीगरी का आभास नही मिलता। इसी प्रकार कृषि-सहायक कुटीर-धन्धो में टोकरी बनाना, सूत कातना आदि ऐसे उद्योगो का समावेश होता है जो आमतौर से फुरसत के समय किसान के परिवार के लोग मिल कर अपनी आय बढाने के लिए करते हैं। दूसरी श्रेणी के अन्य ग्राम्य कुटीर-धन्धो मे उन धन्धो का समावेश होता है, जिन पर आमतौर से शिल्पी की उपजीविका निर्भर रहती है, जैसे—कुम्हार, लुहार, सुनार, चटाई-उद्योग इत्यादि।

ग्रामीण क्षेत्रो के लिये उपयुक्त कुटीर-धन्धे—

भारतीय ग्रामीण क्षेत्रो मे जिन कुटीर-धन्धो का विकास सफलता से किया जा सकता है, उनका विवरण राष्ट्रीय योजना आयोग ने निम्नवत किया है :—[1]

(१) कृषि सहायक एव कृषि-सम्बन्धी उद्योग—धान और दालें दलना, गेहूँ अथवा अन्य अनाज पीसना, तेल, गुड एव शक्कर उद्योग, मिठाइयाँ, फलो से मुरब्बे एव अचार बनाना तथा उसकी सुरक्षा (Fruit Preservation), विभिन्न प्रकार की तम्बाकू बनाना, बीडी बनाना, दुग्धशाला, गाय, मुर्गी तथा मधुमक्खियो को पालना।

(२) वस्त्र-उद्योग—बिनौले निकालना एव रुई धुनना, कताई, बुनाई, रेशम के कीडे पालना, ऊन कातना और बुनना, चटाइयाँ बनाना, कपडो की छपाई और कढाई।

(३) लकडी का काम—लकडी चीरना, फर्नीचर, गाडियाँ, कघे, खिलौने तथा छोटे-छोटे औजार बनाना।

(४) धातु का काम—कच्चे धातु को शुद्ध करना, लुहारी, चाकू, छुरी, बक्स, ताले, पीतल, ताबे आदि के बर्तन बनाना, तार खीचना आदि।

(५) चर्म-उद्योग—चमडा कमाना, रगना तथा उसके जूते तथा अन्य वस्तुएँ बनाना, हड्डियो से खाद बनाना, सीग के कघे, बटन आदि बनाने का काम।

(६) मिट्टी का काम—कुम्हार का काम—ईंट के भट्टे, खपरे बनाना, चूना, तैयार करने, चीनी के बर्तन आदि बनाना।

---

* The First Five Year Plan

(७) रसायनो का काम—लाख बनाना और उससे चूडियाँ चपेटे आदि बनाना, साबुन, रग एव वार्निश बनाना और करना ।

(८) अन्य उद्योग—मछली का तेल निकालना तथा उससे खाद और जिलेटन तैयार करना, बटन एव कागज इत्यादि का काम करना ।

उपरोक्त कुटीर-उद्योगो मे से अधिकतर उद्योग भारत के विभिन्न भागो मे पाये जाते हैं, परन्तु वे नष्ट प्राय: अवस्था मे हैं, जिनका पुनर्जीवन होना चाहिए । इसी प्रकार जो उद्योग अविकसित दशा मे हैं, उनके समुचित पुनगठन एव विकास की आवश्यकता है, क्योकि ग्रामीण अर्थ व्यवस्था की उन्नति से ही भारत की सर्वाङ्गीण उन्नति हो सकती है । पच-वर्षीय योजना की "ग्रामीण विकास योजना में ग्राम्य उद्योग धन्धो का केन्द्रीय स्थान है, इसलिए उनके विकास के लिए उतनी ही प्राथमिकता दी गई है जितनी कृषि-उत्पादन बढाने को ।"

कुटीर-उद्योगो की वर्तमान समस्याएँ—

स्वदेशी आन्दोलन के कारण तथा तत्पश्चात् सरकारी सहायता के कारण कुटीर-उद्योगो को २० वी शताब्दी से काफी प्रोत्साहन मिला है । फिर भी कुटीर-उद्योगो की स्थिति विशेष अच्छी नही है और न उनका सगठन ही सुदृढ है । भारतीय हाथ कर्घा उद्योग की स्थिति विशेष रूप से बर्मा तथा लका द्वारा इस उद्योग के माल के आयात पर सन् १९४७ पर रोक लगाने से गिर गई है । इसी कारण इस उद्योग के प्रोत्साहन के लिए सन् १९४९ से भारत सरकार ने हाथ कर्घा उद्योग के उत्पादन से आयात-निर्यात प्रतिबन्ध हटा दिये हैं, जिससे इस उद्योग ने सन्तोष की साँस ली । भारतीय कुटीर धन्धो की समस्याओ की ओर 'उत्तर प्रदेश इण्डस्ट्रियल फिनान्स कमेटी' ने सकेत किया है, जिनका हल कुटीर-उद्योगो के विकास के लिए अतीव आवश्यक है ।

(१) लाभ तथा कच्चा माल प्राप्त करने मे कठिनाई—कुटीर उद्योग के सामने कच्चा माल प्राप्त करने की समस्या उग्रतर है, विशेषत हाथ कर्घा उद्योग की । इसके अलावा हाथ कर्घा उद्योग को अच्छी किस्म का एव उच्च कोटि का कच्चा माल पर्याप्त नही मिलता, क्योकि वह साधारणत सगठित उद्योगो मे चला जाता है । इस कारण, कुटीर उद्योगो को कच्चे माल के लिए अधिकतर स्थानीय व्यापारियो पर निर्भर रहना पडता है । साथ ही, कुटीर-उद्योगो का कच्चे माल की खरीद के लिए कोई सगठन न होने से उनको मँहगी कीमतो मे कच्चा माल खरीदना पडता है, जो कारीगर स्वय ही आवश्यकतानुसार खरीदता है ।

इस समस्या के उचित हल के लिए गाँवो मे सरकारी-क्रय समितियो का निर्माण होना चाहिए अथवा मद्रास तथा उत्तर-प्रदेश के ढग पर औद्योगिक सहकारिताओ का आयोजन होना चाहिए, जो कुटीर उद्योगो के लिए कच्चे माल की खरीद एव निर्मित माल की बिक्री करें । ऐसी समितियाँ बम्बई, मद्रास तथा उत्तर-प्रदेश में

अधिकतर देखने को मिलती हैं। अन्य राज्यो मे भी इस दिशा मे उन्नति कर कुटीर-उद्योगो का विकास करना चाहिए।

(२) आवश्यक पूंजी की कमी—कुटीर-उद्योगो को आवश्यक कच्चा माल, अच्छे औजार आदि खरीदने के लिए न तो उनके पास पूंजी ही पर्याप्त होती है और न उनको पर्याप्त मात्रा मे उचित व्याज पर ऋण ही उपलब्ध है। इस कारण उनको गाँव के महाजन अथवा बनियो पर निर्भर रहना पड़ता है, जो उन्हे ऊँची व्याज दरों पर ऋण देते है। परिणामस्वरूप शिल्पी हमेशा ऋण-ग्रस्त रहते हैं तथा अपनी निर्मित वस्तुएं परिस्थितिवश चाहे जिन दामो पर महाजनो अथवा बनियो को बेच देते हैं। सरकार ने इस सम्बन्ध मे कोई विशेष व्यवस्था नही की है। यद्यपि राज्य अर्थ प्रमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत लगभग सभी राज्यो मे अर्थ प्रमण्डल बनाये गये हैं, फिर भी आर्थिक प्रदाय की कमी है। राज्य सरकारें कुटीर-उद्योगो को कुछ आर्थिक सहायता प्रान्तीय औद्योगिक-सहायता अधिनियम के अन्तगत देती हैं, परन्तु वह अपर्याप्त है इसलिए फरवरी सन् १९५५ मे लघु उद्योग निगम की स्थापना की गई है, जो इन उद्योगो की आर्थिक एव शिल्पिक समस्याओ को हल करेगी।

रिजर्व बैंको ने कुटीर-उद्योगो के विकास के लिए राज्य-सहकारी बैंको के माध्यम से २% व्याज पर ९ से १५ मास की अवधि तक आर्थिक सुविधाएं देने का विशेष आयोजन किया है, परन्तु इस काय के लिए औद्योगिक सहकारिताओ की स्थापना की आवश्यकता है, जिससे कुटीर उद्योगो की आर्थिक, कच्चे माल की तथा निर्मित माल के विक्री की समस्यायें हल होकर उनकी नींव सुदृढ हो सकेगी। साथ ही, आजकल प्रान्तीय औद्योगिक सहायता अधिनियम के अन्तर्गत दी जाने वाली सहायता की आवश्यकता न रहेगी, जिसका उपयोग कुटीर-उद्योग सम्बन्धी अन्य कार्यों के लिये—जैसे शिक्षा प्रयोग आदि—किया जा सकेगा।

(३) विक्रय सुविधाओ का अभाव—कुटीर उद्योगो के उत्पादन की विक्री के लिये समुचित सुविधायें नही हैं, जिससे कारीगर को अपना उत्पादन परिस्थितिवश वाध्य होकर अलाभकर कीमतो मे बेचना पड़ता है। इसके लिये पर्याप्त आर्थिक प्रदाय का अभाव ही है। यह आर्थिक प्रदाय उनको ऊँचे व्याज पर महाजनो से मिलता है, जो उनका उत्पादन मनचाही कीमतो मे लेते हैं तथा उन्हे बाजारो में बेचकर अच्छा लाभ कमाते है, परन्तु गरीब कारीगर भूखा ही रहता है।

इस कार्य के लिए केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ मे केन्द्रीय कुटीर उद्योग-एम्पोरियम की स्थापना की है। यह देशी एव विदेशी मांग द्वारा कुटीर-उद्योगो के माल के विक्रय मे सहायता देकर प्रोत्साहन देता है। इस एम्पोरियम ने कुटीर-उत्पादन के लिए संयुक्त-राज्य, श्री लङ्का, अफगानिस्तान, जापान, न्यूजीलैंड आदि देशो में प्रदर्शनियो का आयोजन किया, जिससे वहाँ की माग से लाभ हो सके। उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत, मद्रास, काश्मीर, असम, पजाव तथा बम्बई प्रान्तो मे भी

कुटीर निर्मित माल के विपणन के लिए एम्पोरियम हैं, जो देश की विभिन्न प्रदर्शनियों मे माल के विज्ञापन के हेतु दुकान रखते हैं।* परन्तु ऐसे एम्पोरियम प्रत्येक प्रान्त में होने चाहिए, जो केन्द्रीय एम्पोरियम से सहयोग लेकर कुटीर-उद्योगो के उत्पादन का विपणन करें। इस प्रकार के सूत्रबद्ध सगठन से ही यह समस्या ठीक रीति से हल हो सकती है।

(४) उत्पादन की लागत निकालने मे कारीगरो का अज्ञान—उत्पादन लागत के सही अनुमान तथा गणित पर ही उद्योग की लाभ हानि निर्भर होती है। परन्तु भारतीय शिल्पियो की रूढिवादिता, अज्ञान एव अशिक्षा के कारण वे अपना उद्योग वैज्ञानिक ढङ्ग पर नही करते तथा उत्पादन लागत भी नही आँक सकते। इस कारण वे अपने उद्योग को सुदृढ आधार पर रखने मे असमर्थ हैं। इस अभाव को दूर करने के लिए उनको प्राथमिक शिक्षा एव उत्पादन परिव्यय निकालने की सरल पद्धति की शिक्षा का आयोजन करना चाहिए।

(५) उच्च कोटि का एव समान उत्पादन मे कठिनाई—कुटीर-उद्योगो का उत्पादन उच्च कोटि का नही होता और न एक ही शिल्पी द्वारा बनाई गई एक ही नमूने की वस्तुएँ समान होती हैं। यह कुटीर निर्मित माल का सबसे बडा दोष है। इसके लिए शिल्पी जिम्मेवार न होते हुए जिस परिस्थिति मे वे काम करते हैं वह जिम्मेवार है। एक ओर तो उन्हे उच्च कोटि का पर्याप्त कच्चा माल नही मिलता, दूसरी ओर उनके सामने आर्थिक समस्याएँ होती हैं। इससे वे अपनी पूर्ण रुचि से काम नही कर पाते, परन्तु केवल इसीलिए करते है कि उन्हे करना पडता है। फलत: वे उच्च कोटि का माल नही बना पाते। एकरूप उत्पादन तभी सम्भव हो सकता है जब शिल्पियो को उच्च कोटि का पर्याप्त कच्चा माल मिले, अत. यदि उनकी पहली एव दूसरी समस्या हल हो जाती है तो तीसरी समस्या स्वयमेव हल हो जायेगी। हमारे शिल्पी आज भी उच्च कोटि की वस्तुएँ अत्यन्त कोमलता से बना सकते हैं, परन्तु आज की परिस्थिति मे उस माल के लिए ग्राहक कहाँ हैं? नवनिर्मित लघु उद्योग निगम इनकी इन समस्याओ को हल करने मे उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

(६) शिल्पियो की रूढिवादिता, अशिक्षा एव अज्ञान—शिल्पियो के इस त्रिदोष के कारण उन्हे बाजार की स्थिति एव माँग का ज्ञान नही होता और न वे उत्पादन लागत ही निकाल सकते हैं। इस कारण लाभ को ध्यान मे रखकर बिक्री करने मे वे असमर्थ हैं तथा रूढिवादिता के कारण कुटीर-उद्योगो के औजारो मे नवीनता एव उत्पादन तन्त्र में आधुनिकता लाने का प्रयत्न नही करते। फलत: उत्पादन लागत अधिक होने से वे यन्त्र निर्मित सस्ते माल की प्रतियोगिता नही कर पाते। साथ ही, वे विज्ञापन, प्रचार आदि साधनो द्वारा माल की बिक्री नही बढा पाते हैं।

इन दोषो के निवारण के लिए कारीगरो को प्राथमिक एव औद्योगिक शिक्षा

---

* Since Independence—Govt of India Publication

का आयोजन होना चाहिए। उनको यह शिक्षा मिलने पर वे कुटीर-उद्योग के लिये समुचित, आधुनिक एव वैज्ञानिक यन्त्रो तथा औजारो का उपयोग सफलता से कर सकेंगे। इसी प्रकार कुटीर-उद्योग के अनुसन्धान की विभिन्न राज्यो मे जो व्यवस्था है उस व्यवस्था का उपयोग कारीगरो के व्यवहार मे हो सके, इसलिए उन्हे उन अनुसन्धानो का एव नवीन क्रियाओ का प्रत्यक्ष ज्ञान देना चाहिये। उत्पादन की शिल्पिक शिक्षा मे सिनेमा का उपयोग सफलता से किया जा सकता है। कुटीर-उद्योगो की व्यावहारिक शिक्षा के लिए प्रान्तीय जेल उद्योगो का उपयोग भी होना चाहिए। कुटीर-उद्योग विकास केन्द्र प्रत्येक जिले मे खोलना चाहिए, जहाँ पर कुटीर-उद्योगो की प्रात्यक्षिक शिक्षा दी जाये तथा ये केन्द्र विभिन्न कुटीर-उद्योगो की समस्याओ को हल करने का प्रयत्न करें।

(७) अच्छे औजारो का अभाव—छोटे-छोटे यन्त्र एव अच्छे औजारो का कुटीर-उद्योगो मे नगण्य उपयोग होता है। इनके सफल उपयोग के लिए कारीगरो की निरक्षरता एव रूढिवादिता का निवारण कर उद्योगो का आधुनिक ढंग पर पुनर्गठन करना चाहिए। इस ओर कुटीर-उद्योग सभा ने उल्लेखनीय प्रगति की है। इस सभा ने कुटीर-उद्योगो का आधुनिक ढग पर सगठन करने मे काफी सहायता देकर प्रान्तो को भी प्रोत्साहन दिया है।*

इन समस्याओ के साथ ही कुटीर-उद्योगो के समुचित विकास मे बाधक निम्न दोषो को दूर करने के प्रयत्न होने आवश्यक हैं —

(१) कुटीर-उद्योग के उत्पादन पर आर्थिक भार—कुटीर-उद्योगो के उत्पादन के अन्तर्प्रान्तीय आवागमन पर सन् १९४९ तक रोक थी तथा वह स्थानीय एव प्रान्तीय करो से मुक्त नही था। आज भी कुटीर-उद्योगो के उत्पादन पर स्थानीय कर देने पडते हैं, जिससे पहिले से ही महँगी वस्तु की कीमत और भी बढ जाती है। अत: कुटीर-निर्मित माल पूर्ण रीति से कर मुक्त होना चाहिए, जिससे उनका आर्थिक प्रभार कम हो।

(२) कुटीर-उद्योगो के प्रादेशिक वितरण मे असन्तुलन—कुटीर-उद्योगो के विकास एव प्रान्तीय वितरण में सन्तुलन का अभाव है, अत कुटीर-उद्योगो का विकास इस प्रकार से होना चाहिये कि जिससे प्रत्येक प्रान्त मे सभी प्रकार के कुटीर-उद्योग हो, परन्तु इसमे कच्चे माल की सुलभता को ध्यान मे रखना आवश्यक है। इस प्रकार के वितरण से अन्तर्प्रान्तीय यातायात व्यय कम होकर कुटीर-निर्मित उत्पादन सस्ते दामो पर बिक सकेगा तथा प्रत्येक प्रदेश भी स्वय निर्भर हो सकेगा।

(३) सगठित उद्योग एव कुटीर-उद्योगो मे असामजस्य—सगठित उद्योग एव कुटीर-उद्योगो का विकास इस योजना से हो कि वे परस्पर प्रतियोगी न रह कर सहयोगी रहे तथा देश की अर्थ-व्यवस्था के पोषक हो सकें। इसलिए दोनो ही

* The Fifth Year, pp 89-91

प्रकार के उद्योगो के क्षेत्र का समुचित रीति से निर्धारण होना चाहिए। यथासम्भव जो माल कुटीर-उद्योगो मे अच्छी तरह बन सकता है उसे कुटीर-उद्योगो के लिए सुरक्षित करना चाहिए। क्योंकि—"भारत का भविष्य बहु प्रमाण एव कुटीर-उद्योगो के अधिकारो के समुचित समायोजन पर ही निर्भर है। वास्तव मे यदि हम देश का ग्रामीण जीवन पुनर्जीवित करना चाहते है और बेकारी की समस्या को हल करना चाहते हैं तो हम देश के विभिन्न भागो मे केवल बहु-परिमाण-उद्योगो के विकास से ही नही कर सकते, अपितु विभिन्न क्षेत्रो में मध्य-परिमाण तथा लघु-परिमाण उद्योगो के प्रादेशिक नियोजन से कर सकते हैं।"*

(४) जन सहयोग—कुटीर-उद्योगो का विकास उनकी वस्तुओ की मांग एव खपत पर निभर है, जिसके लिए जनता का सहयोग आवश्यक है, क्योकि कुटीर-उद्योगो की अवनति जन-सहयोग के अभाव मे ही हुई थी। इस हेतु राज्य सरकारो एव केद्रीय सरकार को अपने कार्यालयो के लिए कुटीर-उद्योगो का माल खरीदना चाहिए। इस सम्बन्ध मे गत वर्ष प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो ने शासकीय विभागो को पत्र भेजे हैं, परन्तु पत्रो से 'कोट और नेकटाई' प्रवृत्ति का अन्त नही होता, जबकि इसकी आवश्यकता है। यही बात भारतीय राजदूतावासो के लिए भी होनी चाहिए, क्योकि सरकार का प्रत्यक्ष एव रचनात्मक कार्य ही जनता मे इस प्रवृत्ति का निर्माण करेगा। उपदेश की अपेक्षा प्रत्यक्ष व्यवहार ही अधिक प्रभावी कार्य करता है। साथ ही, स्वतन्त्र भारत के नागरिको को चाहिए कि वे इस सम्बन्ध मे नव-निर्मित चीन का अनुकरण करें।

कुटीर उद्योग एव सरकार—

कुटीर-उद्योगो की उन्नति के लिए सन् १९४७ के पहिले जो अधूरे सरकारी प्रयत्न हुए, उनमे प्रान्तो मे उद्योग-विभागो की स्थापना का उल्लेख आता है, परन्तु इन विभागो ने कुटीर उद्योगो के विकास के लिए आत्मीयता एव तत्परता से काम नही किया। इसी कारण केवल इने-गिने उद्योगो, जैसे—हाथ कर्घा, धातु, लकडी उद्योग, हाथी दाँत का काम आदि को ही साधारण मनुष्य कुटीर-उद्योग समझता है। भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व गत २० वर्षो के सरकारी प्रयत्नो का केवल यही फल था।

कुटीर-उद्योग के विकास को वास्तव मे स्वतन्त्रता के बाद ही गति मिली। जब १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्रता के उपलक्ष मे दिवाली मनाई जा रही थी, उसी समय कुटीर-उद्योगो को स्नेह मिला। इसके बाद राष्ट्रीय सरकार ने इस उद्योग की विविध समस्याओ को हल करने का बीडा उठाया। दिसम्बर सन् १९४७ में कुटीर उद्योग सभा का निर्माण हुआ, जिसका सन् १९५० मे पुनगठन हुआ। इस सभा के ४८ सदस्य हैं तथा सभा के निम्न कार्य हैं :—

* Parliamentary Speech of Dr S.P Mukherji, Dated 9-3-1949

(अ) लघु परिमाण एव कुटीर-उद्योग के विकास एव सगठन के विषय मे केन्द्रीय सरकार को सलाह एव सहायता देना।

(आ) वहु-परिमाण एव कुटीर उद्योगो मे सामजस्य एव सहयोग लाने के लिए जाँच करना एव केन्द्रीय सरकार को आवश्यक सलाह देना।

(इ) लघु-परिमाण एव कुटीर-उद्योगो के विकास की प्रान्तीय सरकारो की योजनाओ की जाच कर उनमे सामजस्य लाना।

(ई) कुटीर एव लघु-परिमाण उद्योगो के उत्पादन को भारत मे एव विदेशो मे वेचने के लिए सलाह देना।

(उ) शासकीय समिति की सहायता से शासकीय क्रियाएँ करने के लिये शासकीय सस्था का कार्य करना।

इसी सभा की सिफारिशो के अनुसार अप्रैल सन् १९४९ मे कुटीर उत्पादन की बिक्री के लिए दिल्ली केन्द्रीय कुटीर-उद्योग एम्पोरियम तथा हाथ कर्घा उद्योग की समस्याओ को हल करने के लिए सन् १९४९ मे 'अखिल भारतीय हाथ-कर्घा सभा' का निर्माण किया गया। दूसरे, १ जुलाई सन् १९५० मे ½" से अधिक चौडी किनारी वाली धोतियाँ, चौखटे की लुङ्गी, गमले, चद्दरें, पलँगपोश तथा पलँगपोश की कुछ किस्मे, मेजपोश, छोटे तौलिये (Napkins), गॉज़, (Gauze), बैंडेज, जेकोनेट तथा सादी बुनावट का निम्न कोटि के कपडे का उत्पादन हाथ-कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित किया गया है, जो वस्त्र निर्माणियाँ न बना सकेंगी।* इसी प्रकार १७ जून सन् १९५० से २½" से चौडी किनारी वाली साडियाँ भी हाथ-कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित (Reserved) की गई है। अखिल भारतीय हाथ-कर्घा सभा के अलावा एक स्थायी हाथ-कर्घा समिति भी है, जिसके ९ सदस्य है। इस समिति के निम्न कार्य हैं —

(१) विभिन्न प्रान्तो के हाथ-कर्घा उद्योग के लिए भारत निर्मित सूत का अनुपात क्या हो, इसकी सिफारिश केन्द्रीय सरकार को करना।

(२) प्रान्तीय सरकार अथवा मान्य एसोसिएशनो के माध्यम से रग, रसायन एव अन्य माल आदि उचित मूल्यो पर प्राप्त कराने मे जुलाहो को सहायता देना।

(३) हाथ-कर्घा उद्योगो के उत्पादन के विपणन के लिए बाजारो की खोज करना तथा इस विषय के अच्छे साधनो के सम्बन्ध में रिपोर्ट देना।

(४) उत्पादन की किस्म एव विपणन पद्धति के सुधार के लिए आवश्यक अनुसन्धान करना।

---

* Times of India Year Book

(५) आवश्यकता पड़ने पर हाथ-कर्घा उद्योग की दशा के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार को रिपोर्ट देना ।

कुटीर निर्मित माल को लोकप्रिय बनाने के लिए हवाई अड्डो पर प्रदर्शन भवन (Show-room) बनाए गए हैं तथा इनका आयोजन विदेशो मे भारतीय राज-दूतावासो मे किया गया है। सरकार का विचार कुटीर-उद्योग-म्यूजियम स्थापित करने का है, जिससे कुटीर उद्योगो की तान्त्रिक शिक्षा एव नए नमूनो की खोज के लिए हरदुआगज (अलीगढ) मे केन्द्रीय कुटीर-उद्योग इन्सटीट्यूट की स्थापना की है। इसने कुटीर-उद्योगो के विकास एव नये यन्त्रो के उपयोग के लिए एक योजना बनाई है, जैसे—घडी के पुर्जे बनाना इत्यादि। कुटीर उद्योग विशेषज्ञ-समिति की सिफारिशो के अनुसार सन् १९५० मे इसका एक स्त्री-विभाग भी दिल्ली मे खोला गया है। इण्डियन स्टैन्डर्ड इन्सटीट्यूट ने कुटीर निर्मित वस्तुओ के प्रमाप भी तैयार किए हैं, जैसे—ताले, सरकने वाले दरवाजो के बोल्ट इत्यादि। सरकार कुटीर-उद्योगो के विकास के लिए आर्थिक सहायता भी देती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रान्तीय सरकारें कुटीर-उद्योगो के विकास के लिए आर्थिक सहायता तथा ऋण सुविधायें देती हैं।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार ने कुटीर-उद्योग एव लघु-उद्योगो की समस्याओ के हल के लिये तथा प्रान्तीय प्रयासो को बल देने के लिये ६ समितियाँ बनाई हैं :—

(१) अखिल भारतीय खादी एव ग्रामोद्योग सभा।
(२) ,, ,, हस्त शिल्प सभा।
(३) ,, ,, हस्त कर्घा सभा।
(४) ,, ,, लघु उद्योग सभा।
(५) ,, ,, काइर (Coir) सभा।
(६) ,, केन्द्रीय सिल्क सभा।

इनमें से अन्तिम दो सस्थायें वैधानिक सस्थायें हैं।

राष्ट्रीय लघु-उद्योग कॉर्पोरेशन—

फरवरी सन् १९५५ में राष्ट्रीय लघु-उद्योग कॉर्पोरेशन की स्थापना की गई है, जिसका उद्देश्य लघु-उद्योगो की उन्नति करना, उनको सरक्षण, आर्थिक सहायता तथा अन्य सहायता देना है। यह कॉर्पोरेशन केवल ऐसे लघु-उद्योगो को सहायता देगा जो शक्ति का प्रयोग करते हो एव जिनमे ५० से कम व्यक्ति काम करते हो अथवा जो शक्ति का प्रयोग न करते हो, परन्तु उनमे १०० से अधिक व्यक्ति काम न करते हो तथा उनकी पूँजी ५ लाख से अधिक न हो। इसके निम्न कार्य हैं —

(१) सरकारी आदेशो का समुचित हिस्सा लघु-उद्योगो को दिलाना।
(२) जिन उद्योगो को ऐसे आदेश मिले हैं उनको आदेशो की पूर्ति के लिये आवश्यक आर्थिक एव शिल्पिक सहायता देना।
(३) सगठित एव लघु-उद्योगो मे सामञ्जस्य लाना, जिससे लघु-उद्योग सगठित उद्योगो की पूरक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकें।

(४) लघु-उद्योगो को बैंको अथवा अन्य संस्थाओ से मिलने वाले ऋणो की जमानत देना एव अभिगोपन (Underwrite) करना।

इस कॉर्पोरेशन की पूंजी १० लाख रुपए है, जो १०,००० अशो मे विभाजित है। इस कॉर्पोरेशन के अनुबन्ध विभाग (Contract Division) ने सरकारी क्रय विभाग से सम्पर्क स्थापित कर लघु औद्योगिक इकाइयो को अनुबन्ध देने की योजना बनाई है। इसके अन्तर्गत ५,१५२, लघु-औद्योगिक इकाइयो की सूची नवम्बर सन् १९५९ तक बनाई गई है। लघु एव कुटीर-उद्योगो को ४ ५ करोड रु० के अनुबन्ध इस योजना के अनुसार दिए गए हैं। जनवरी सन् १९५९ से निगम स्टेट बैंक द्वारा लघु-उद्योगो को अनुबन्धो की पूर्ति के लिए दिए गए ऋणो की गारन्टी भी देता है। इस निगम ने लघु उद्योगो को क्रय-विक्रय (Hire-purchase) पद्धति पर यन्त्र सामग्री देने की योजना भी प्रारम्भ की है, जिसके अन्तगत सन् १९५९ सितम्बर तक १ ८४ करोड रु० के यन्त्र आदि लघु उद्योगो को दिए।[1] इस निगम की क्रियाओ को विकेन्द्रित करने के हेतु सन् १९५७ मे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास एव दिल्ली मे एक-एक सहायक निगम स्थापित किया गया है। सन् १९५९ मे इस निगम ने दिल्ली तथा अन्य केन्द्रो पर "औद्योगिक डिजाइन प्रदर्शनी" का आयोजन भी किया था, जिससे यूरोप एव अमेरीका के डिजाइनो से लघु-उद्योग परिचित हो सके। केन्द्रीय सरकार भी निगम की क्रियाओ के सचालन हेतु ऋण एव अनुदान देती है।

सामुदायिक योजना प्रशासन ने भी लघु उद्योगो के विकास के लिए खड-स्तरीय औद्योगिक अधिकारियो की नियुक्ति सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय सेवा-विस्तार खडो में की है। साथ ही २६ चुने हुए क्षेत्रो मे गहन-विकास कार्यक्रम भी लागू किया है।[2]

सन् १९५९-६० मे निगम ने सहायक उद्योगो की स्थापना के लिए काफी प्रयत्न किए एव उनमें सफल भी रहा। बगलौर की लघु-उद्योग सेवा सस्था ने इस क्षेत्र मे कुछ औद्योगिको को बडे उद्योगो के साथ छोटे छोटे सहायक उद्योग खोलने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार मद्रास, कलकत्ता, पटना और बम्बई मे भी सहायक उद्योग खोलने की योजनाएं तैयार की जा चुकी हैं।[3]

लघु-उद्योगो का उत्पादन बेचने के लिए निगम की ९ दुकानें काम कर रही हैं। इन दुकानो ने सन् १९५९-६० में १६ लाख रु० का माल बेचा। साथ ही ६ लाख रु० के जूते, चमडे का सामान, बनियानें, सूती मोजे, खेल के सामान, काच के मोती आदि का निर्यात किया।[3]

---

1 Report on Currency and Finance 1958-59 of the R B I. p 50

2 India–1960 p 325

3 भारतीय समाचार—मई १५, १९६०।

प्रारम्भ कर रही है और सरकार की ओर से रिजर्व बैंक ऋणो की गारन्टी देगी। इससे लघु औद्योगिकों को दिये जाने वाले ऋणो की जोखिम कम होगी तथा डुबत ऋण से होने वाली हानि मे भारत सरकार और ऋण देने वाली सस्था दोनो ही हिस्सेदार होगे। इस योजना के अनुसार १ ऋण के पीछे सरकार १ लाख रु० तक की हानि उठावेगी। यह योजना उत्तर प्रदेश मे आगरा, गुजरात मे अहमदाबाद एव सूरत, पजाब मे अमृतसर एव लुधियाना, मैसूर मे बगलौर, प० बगाल में कलकत्ता और हावडा, मद्रास मे कोयमबटूर और मद्रास, उडीसा मे कटक, महाराष्ट्र मे वृहत्तर बम्बई और कोल्हापुर, आन्ध्र मे हैदराबाद और कृष्णा, मध्य-प्रदेश मे ग्वालियर, राजस्थान मे जयपुर, असम मे कामरूप, बिहार मे रॉंची, केरल मे तिरुअनतपुरम तथा केन्द्र-शासित प्रदेश दिल्ली मे लागू होगी। दो वर्ष पश्चात् इस योजना के सम्बन्ध मे पुन. विचार होगा। ध्यान मे रहे कि इसी प्रकार की गारन्टी योजना औद्योगिक सहिकारिताओ के लिए सन् १९५५-५६ मे लागू हो चुकी है।[1]

पच-वर्षीय योजनाओं में—

प्रथम पच-वर्षीय योजना के अन्तगत विभिन्न सभाओ के माध्यम से कुटीर एव लघु-उद्योगो के विकास पर निम्न व्यय किया गया :—[2]

करोड रुपयो मे (सन् १९५१-५६)

कोयर (Coir)	०.३
हाथ करघा	१२ २
खादी	१२ ३
ग्राम-उद्योग	२ ६
लघु उद्योग	४ ४
हस्त शिल्प	० ८
सिल्क एव सेरीकल्चर	० ७
योग	३३ ६

द्वितीय योजना के अन्तगत कुटीर एव लघु उद्योगो के विकास के लिए २०० करोड रुपये का आयोजन है, जबकि पहिली योजना मे केवल १५ करोड रुपये का आयोजन ही प्रारम्भिक अवस्था मे था। विकास योजना के अन्तर्गत औद्योगिक सहकारिताओ के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा। साथ ही, उनकी शिल्पिक उन्नति भी की जायगी, जिससे वे सगठित उद्योगो से प्रतिस्पर्धा योग्य बन सकें तथा शिल्पिक उन्नति ऐसी पद्धति से होगी जिससे बेकारी मे वृद्धि न हो। इन प्रयत्नो से स्पष्ट है कि कुटीर एव लघु उद्योग भविष्य मे अपने बलबूते पर सफलता से कार्य कर सकेंगे। दूसरी योजना की राशि निम्न है :—

1 भारतीय समाचार—जुलाई १५, १९६०।

2. India–1960, Table 189

(करोड रुपयों में)

हाथ कर्घा	५९ ५
खादी	१६.७
ग्राम उद्योग	३८.८
हस्त शिल्प	९.०
लघु-उद्योग	५५.०
सिल्क और सेरीकल्चर	५ ०
कायर की कताई, बुनाई	१ ०
अन्य (प्रशासन, अनुसन्धान आदि)	१५ ०
योग	२०० ००

दूसरी योजना मे प्रगति—

योजना के १० वर्षों मे ग्राम एव लघु-उद्योगो का काफी विकास हुआ है। इस अवधि मे हाथ-कर्घा कपडे का उत्पादन ७४ २० करोड गज से २१२ ५० करोड गज, खादी का ७० लाख गज से ८ करोड गज और कच्चे रेशम का २० लाख पौंड से ३७ लाख पौंड हो गया है। कुछ लघु-उद्योगो मे जैसे हाथ के औजार, सिचाई की मशीनें, बिजली के पखे और साइकिलें तैयार करने वाले उद्योगो मे भी काफी विकास हुआ है। लगभग सभी राज्यो में लघु-उद्योग सहायक सस्थाएं बना दी गई हैं। इसके सिवा ४२ विस्तार केन्द्र भी स्थापित किए गये हैं। दूसरी योजना के अन्त तक ६० औद्योगिक सस्थान बन जावेंगे, जिनमे ७०० छोटे-छोटे कारखाने होगे।[1] इनमे १०,००० व्यक्तियों को पूर्ण रोजगार मिलेगा। ऐसा अनुमान है कि लघु-उद्योगो से ३ लाख व्यक्तियो को दूसरी योजना के अन्त तक पूर्ण रोजगार मिल जायगा।[2] कर्वे समिति तथा अम्बर चर्खा जांच समिति की सिफारिश के अनुसार सन् १९५८-५९ वर्षान्त तक २,४५,०१५ अम्बर चर्खों का प्रयोग होने लगा है तथा इनसे कपडे का उत्पादन सन् १९५६-५७, १९५७-५८ व १९५८-५९ में क्रमश १८ ८, १११ ५ एव २४० ४ लाख चौरस गज हुआ। अम्बर चर्खा कार्यक्रम से मार्च सन् १९५९ तक १,१६,३९७ व्यक्तियो को रोजी मिली तथा हाथ कर्घों की सूत सम्बन्धी मिलो पर जो निर्भरता थी वह कम हो गई है।

तीसरी योजना में—

तृतीय योजना में छोटे तथा ग्रामोद्योगो के क्षेत्र मे अस्थायी तौर पर निम्न-लिखित लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं। कोष्ठ में दूसरी योजना तक की प्रत्याशित सफलता के आंकडे दिये गये हैं :—

1. उद्योग व्यापार पत्रिका, अगस्त सन् १९६०।
2. Third Five Year Plan—An Outline

हाथ करघा वस्त्र, बिजली करघा वस्त्र, परम्परागत खादी और अम्बर खादी ३ अरब ५० करोड गज (२ अरब ६१ करोड गज) ।

कच्चा रेशम ५० लाख पौंड (३० लाख ७० हजार पौंड), औद्योगिक बस्तिया ३६० (६०) और हाथ करघा विभाग मे बिजली करघा कारखाना की स्थापना १३ हजार (३ हजार ५००) ।

तीसरी योजना मे सरकारी विभाग में २ अरब ५० करोड रुपए का व्यय निर्धारित किया गया है । विभिन्न विभागो में व्यय करने के लिए प्रदान किया गया धन निम्नलिखित है । कोष्ठ में दूसरी योजना के आँकडे दिये गये हैं :—

हाथ करघा विभाग में हाथ करघा तथा बिजली करघा के लिए ३६ करोड रुपए (३२ करोड १० लाख रुपए), खादी, अम्बर खादी और ग्रामोद्योग ८६ करोड रुपये (८० करोड ५० लाख रुपये), लघु उद्योग एव औद्योगिक बस्तियाँ १ अरब ७ करोड रुपये (५६ करोड ३० लाख रुपये), हस्तशिल्प ८ करोड रुपये (५ करोड ३० लाख रुपये), रेशम के कीडो का पालन ७ करोड रुपये (३ करोड ८० लाख रुपये) और नारियल-जटा-उद्योग ३ करोड रुपये (२ करोड रुपये) ।

सरकारी विभाग के अतिरिक्त निजी विभाग द्वारा २ अरब ७५ करोड रुपये व्यय किये जाने की आशा है । कुल व्यय के आधार पर विभिन्न कार्यक्रमो से ५० लाख व्यक्तियो को अधिकाधिक रोजी तथा ८ लाख व्यक्तियो को पूरे समय की नौकरी मिल सकेगी ।

तीसरी योजना में कुटीर एव लघु उद्योगो के कार्यक्रम के सम्बन्ध में निम्न निर्देशक उद्देश्य होगे :—

(१) समाज की बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए लघु एव बडी औद्योगिक इकाइयो के सम्बन्धित लक्ष्य विभिन्न उद्योगो के उत्पादन कार्यक्रम के एक भाग के बतौर स्पष्ट होगे,

(२) लघु औद्योगिको को सगठनात्मक एव तकनीकी कुशलता में सुधार के लिए सहायता दी जावेगी, तथा

(३) शिल्पियो एव कारीगरो को सहकारी-सगठन बनाने में, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रो में, सहायता दी जावेगी ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि देश के औद्योगिक जीवन में कुटीर उद्योगो को समुचित स्थान प्रदान करने में राष्ट्रीय सरकार योजनाबद्ध रीति से कटिबद्ध है । यह इस बात का सकेत है कि कुटीर एव लघु उद्योगो का भविष्य उज्ज्वल है ।

अध्याय ४

संगठित-उद्योग : १

(Organised Industries—1)

Organised Industries -I

भारत म वहु परिमाण एव यन्त्र-चालित सगठित उद्योगो की स्थापना एव विकास गत एक शताब्दि मे हुआ। भारत विश्व के औद्योगिक देशो में आज आठवां देश होते हुए भी यहां औद्योगिक विकास उतना नही हुआ है, जितना होना चाहिए था। इस धीमे विकास के लिये भारत सरकार की औद्योगिक नीति जिम्मेवार थी, जिसमे भारतीय उद्योगो को विशेष प्रोत्साहन नही मिल रहा था। अतः इन उद्योगो का अध्ययन भी हमारे देश के आर्थिक विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

[१] सूती-वस्त्र उद्योग

भारत मे सूती-वस्त्र उद्योग के पहिले कारखाने की स्थापना कलकत्ते मे सन् १८१८ में होते हुए भी इसकी आधारशिला सन् १८५१ मे वम्बई मे एक कारखाने की स्थापना से रखी गई और सन् १८५४ मे उत्पादन आरम्भ हुआ। इस उद्योग ने सन् १९५३ मे अपनी शताब्दि मनाई, जो उद्योग की महत्ता का परिचायक है। इस प्रकार इस उद्योग का सन् १८५१ में सगठित पद्धति पर विकास होना आरम्भ हुआ। यह कारखाना श्री कोवास जी० एन० डॉवर ने बॉम्बे स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स के नाम से स्थापित किया। सन् १८५४ मे इस कारखाने ने अपना उत्पादन आरम्भ किया, परन्तु सन् १८६१ तक इसकी प्रगति साधारण थी। इस कारखाने की सफलता देख अनेक नए कारखानो की स्थापना होने लगी, जिससे सन् १८६१ में कारखानो की सख्या १२ हो गई। परन्तु सन् १८६० मे १८७० तक के दस वर्ष उद्योग की प्रगति के लिए हितकर नही थे, क्योकि इस अवधि मे अमेरिकन गृह युद्ध के कारण रुई के भाव बढे हुए थे। सन् १८७१ मे इस परिस्थिति मे सुधार हुआ, फलत. सन् १८७३ तक कारखानो की सख्या २० हो गई। इनमें से २ कलकत्ते मे तथा शेष १८ बम्बई मे थे। सन् १८७० तक इस उद्योग की विशेषता यह थी कि उद्योग विशेषत. सूत का निर्माण ही करता था, क्योकि चीन एव लका के बाजारो मे सूत की मांग अधिक थी। सन् १८८० मे इङ्गलैंड ने इन बाजारो को हस्तगत किया तथा साथ ही चीन मे भी वस्त्र उद्योग का आरम्भ हुआ, जिससे यह महत्त्वपूर्ण बिक्री केन्द्र भारत के हाथ से निकल गए। इसलिए भारत को कपडे के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक हो गया।

बम्बई के वस्त्र-निर्माणियो की सफलता से प्रोत्साहित होकर ग्रहमदाबाद, नागपुर, शोलापुर आदि शहरो मे भी क्रमश. कारखानो की स्थापना होने लगी थी। इस समय कानपुर तथा मद्रास मे भी वस्त्र निर्माणियो की स्थापना की गई। इस प्रकार सन् १६०० मे भारत मे १६३ वस्त्र निर्माणियाँ थी, जिनमे १६१ हजार श्रमिक काम करते थे।* सन् १६०५ मे स्वदेशी आदोलन शुरू हुआ, जिससे देशी उद्योगो को प्रोत्साहन मिला तथा नवीन उद्योगो की स्थापना होने लगी। फलस्वरूप सूती वस्त्र-निर्माणियो की सख्या भी बढती गई तथा सन् १६१४ मे यह सख्या २६४ हो गई, जिसमे २,६०,८४७ श्रमिक काम करते थे।

सन् १८८० से सन् १६१४ तक सूती वस्त्र उद्योग का जो विकास हुआ, उसमें दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख थी —एक तो, कताई-यन्त्रो (Spindles) की अपेक्षा कर्घों की सख्या मे द्रुत गति से वृद्धि तथा अच्छे वस्त्र निर्माण की ओर प्रवृत्ति।

प्रथम विश्व-युद्ध एव पश्चात्—

प्रथम विश्व-युद्ध आरम्भ होते ही उद्योग को साहजिक ही प्रोत्साहन मिला, क्योकि इङ्गलैंड तथा विदेशो से कपडे का आयात बन्द हो गया तथा भारतीय उद्योग पर दुहरी जिम्मेदारी आ गई। एक, देशी माँग के पूर्ति की तथा दूसरे, युद्ध कार्य के लिए आवश्यक वस्त्र निर्यात करने की। इस प्रोत्साहन के होते हुए भी उद्योग के विकास मे व्यावहारिक बाधायें थी, जैसे—यन्त्रो, औजारो तथा आवश्यक रग रसायनो के आयात मे असुविधाएँ। इस युद्ध से एक और लाभ हुआ कि भारत का विदेशी व्यापार अमरीका, इङ्गलैंड और जापान के साथ बढा। किन्तु कठिनाइयो के कारण कारखानो को अपनी पूरी उत्पादनक्षमता से कार्य करना पडा। युद्ध के प्रथम दो वर्षों मे भारत का निर्यात बढा, किन्तु अन्तिम दो वर्षों मे चीन एव जापान की प्रतियोगिता के कारण निर्यात कम होता गया •—

वर्ष	निर्यात (मिलियन पौंड मे)
सन् १६१४–१५	१४३
सन् १६१५–१६	१७८
सन् १६१६–१७	१३०
सन् १६१७–१८	७३

यन्त्रादि आयात की कठिनाइयो की उपस्थिति मे भी युद्ध-काल मे इस उद्योग का विकास हुआ तथा मिलो की सख्या २६४ से २७१ हो गई, जिसमे करोडो रुपये की पूँजी लगी हुई थी।

युद्धोत्तर-काल में—

युद्धोत्तर-काल मे विश्व का घटना-चक्र तीव्र गति से घूमने लगा। एक ओर रुई की कीमतें गिर रही थी तो दूसरी ओर वस्त्र उत्पादन की कीमतें बढ रही थी, जो

* Industrial Evolution of India—D R Gadgil,

उद्योग के विकास के लिए हितकर था। इससे उद्योग अपनी उन्नति करने लगा। इस परिस्थिति मे उद्योगो ने काफी लाभ कमाये तथा अशधारियो को भी अधिक लाभांश मिला। बढते हुए लाभो के कारण विनियोग-पूंजी इस उद्योग की ओर आकर्षित होने लगी तथा नए कारखानो की स्थापना को गति मिली। इसमे सन् १९२० से सन् १९२५ के पांच वर्षो में ८४ नए कारखानो की स्थापना हुई। सन् १९२१ मे वस्त्र आयात पर ३½ प्रतिशत की दर से रेवेन्यू कर लगाया गया और इसी समय भारतीय रुई के लिए विदेशी माग भी बढी। इस कारण उद्योग के लाभ बढ रहे थे और उद्योग मे तेजी थी जिसमें सन् १९२२ मे उच्चाक था।

सन् १९२३ मे साधारण परिस्थिति होते ही सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को कठिनाइयो का सामना करना पडा, ऐसी स्थिति मे वस्त्र निर्माणियो को भी इस परिस्थिति से मिलान करने मे कठिनाइयाँ आई, परन्तु भारतीय वस्त्र-निर्माणियो की कठिनाइयो का स्वरूप अति विस्तृत था, क्योकि उनको तीव्र जापानी प्रतियोगिता का सामना करना पड रहा था। विशेषत बन्दरगाही शहरो मे और दूसरी ओर वे कठिनाइयाँ थी ही, जो सम्पूर्ण विश्व मे इस उद्योग को प्रभावित कर रही थी। ऐसी कठिनाइयो मे मूल्य-स्तर मे गिरावट, रुई की कीमतो मे वृद्धि, वस्तु एव सूत के बाजारो मे माग की कमी तथा उत्पादन का सचय विशेष थी। इसी मन्दी से कताई उद्योग को गहरा धक्का लगा, परन्तु बुनकर निर्माणिया किसी तरह अपना काम चलाती रही। फलस्वरूप "इस मन्दी मे उद्योग की कार्यशील पूंजी का बहुत-सा भाग बेकार हो गया, परन्तु दूसरी ओर मजदूरी का स्तर ऊचा होने से उद्योग की लागत उसी स्तर पर रही।"[1] बम्बई की निर्माणियो पर यह प्रभाव विशेष पडा, क्योकि अन्य स्थानो की निर्माणियो ने मूल्य स्तर के साथ मजदूरी का मिलान किया, परन्तु बम्बई मे सन् १९२५ तक यह सम्भव न हो सका, लेकिन जब नियोक्ताओ ने इस दिशा मे प्रयत्न किए तब श्रमिक आन्दोलन ने उग्र रूप धारण किया, फलत सन् १९२५ से सन् १९३५ के दस वर्षों मे श्रमिक अशाति के कारण बम्बई की निर्माणियो मे एक वर्ष की उत्पादन हानि हुई।[2] अत सन् १९२६ मे कपडे के उत्पादन से उत्पादन-कर हटा लिया गया, परन्तु इससे उद्योग की स्थिति मे विशेष सुधार नही हुआ।

उद्योग को प्रशुल्क सरक्षण—

इस परिस्थिति से विवश होकर उद्योग ने सन् १९२५ मे प्रशुल्क सरक्षण की माग की। फलत. सन् १९२६ मे उद्योग की जाँच के लिए प्रशुल्क सभा की नियुक्ति हुई। इस सभा ने उद्योग के पक्ष मे निर्णय देते हुये सिफारिश की कि (1) रेवेन्यू कर मे ४% की वृद्धि की जाय, जिससे जापान को मिलने वाले अयोग्य लाभ को मिटाया जा सके, परन्तु सरकार ने इस उद्योग के प्रति अपना दृष्टिकोण रूक्षता का रखा, जिससे उद्योग को जापानी प्रतियोगिता का सामना करना ही पडा। (ii) उद्योग के सरक्षण

1 Dr S D Mehta–quoted from Amrit Bazar Patrika 2 4 54,
2 Ibid,

के लिए विदेशी वस्त्रो के आयात पर ११% से १५% तक सरक्षण-कर लगाया जायें। (iii) इस उद्योग के लिये आवश्यक यन्त्रादि एव सामग्री का आयात कर-मुक्त हो तथा (iv) निर्माणियो को अच्छा सूत बनाने के लिए अच्छे सूत के उत्पादन पर सरकार आर्थिक सहायता (Bounties) दे।

इन सिफारिशो के अनुसार सन् १६२७ मे भारतीय-प्रशुल्क अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम के अनुसार सूत के आयात पर उसके मूल्य का ५% अथवा १ आना ६ पाई की दर से (इन दोनो मे जो अधिक हो) सरक्षण कर लगाया गया तथा यन्त्रादि का आयात-कर मुक्त कर दिया गया। यह सरक्षण ३१ मार्च सन् १६३० तक के लिए दिया गया था। परन्तु सन् १६२६ में हिल्टन यग समिति की सिफारिशो के अनुसार रुपया और स्टर्लिंग मे गठबन्धन होकर रुपये की विनिमय दर १८ पैंस निश्चित कर दी गई और इधर श्रमिक आन्दोलन था ही। फलत. इस सरक्षण मे भी उद्योग की स्थिति सन्तोषप्रद न रही, इसलिए उद्योग ने सरकार से अधिक सरक्षण के लिए फिर अनुरोध किया तथा जुलाई सन् १६२६ मे उद्योग की जाँच के लिए श्री जी० एस० हार्डी की नियुक्ति हुई। इन्होने अपनी रिपोर्ट मे बढती हुई जापानी प्रतियोगिता से वस्त्र उद्योग की सुरक्षा के लिए भली-भाँति सरक्षण देने की सिफारिश की। इधर सन् १६२६-३० से मन्दी भी जोरो पर थी, जिससे भारत सरकार की आय कम हो रही थी। जापानी प्रतियोगिता तो थी ही और इसी समय सन् १६३० में स्वदेशी आन्दोलन ने भी जोर पकडा, इसलिये सरकार ने अपने बजट के घाटे को पूरा करने के लिए आयात-कर बढा दिये। फलस्वरूप सन् १६३१-३२ मे वस्त्र का आयात केवल ७६० मिलियन गज ही रह गया, जो सन् १६२६-३० मे १,८६७ मिलियन गज था।

श्री हार्डी के अनुसार वस्त्र उद्योग को सरक्षण देने के लिए सन् १६३० में वस्त्रोद्योग-सरक्षण अधिनियम स्वीकृत किया गया। इस अधिनियम से :—(अ) विदेशी वस्त्र-आयात पर आयात कर ११% से १५% तक किया गया, (ब) ब्रिटिश उगम के अलावा अन्य देशो से सूती माल के आयात पर ५% अतिरिक्त कर लगाए गए, तथा (स) विदेशी ग्रे-रग की वस्तुओ के आयात पर ३½% प्रशुल्क कर लगाया गया। यह सरक्षण ३१ मार्च सन् १६३३ तक की अवधि के लिये था। इसी समय सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ रही थी, इसलिये उनको पूरा करने के लिये सन् १६३१ के पूरक बजट मे आयात करो पर २५% अतिरिक्त कर लगाया गया। फिर भी भारतीय उद्योग जापानी प्रतियोगिता से टक्कर लेने मे असमर्थ रहा। साथ ही, सन् १६३२ मे जापान ने प्रतिस्पर्धात्मक-मौद्रिक अवमूल्यन (Competitive Monetary Depreciation) नीति अपना कर यह प्रतियोगिता और तीव्र कर दी। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत सरकार ने जुलाई सन् १६३२ मे इस उद्योग की पुन जाँच करवाई। फलस्वरूप ब्रिटेन के अलावा अन्य देशो के माल के आयात पर ३१¼% से ५०% तक आयात-कर लगा दिया गया तथा पुन सन् १६३३ में ७५% किया गया। उद्योग को यह सरक्षण ३१ मार्च सन् १६३०

तक मिलता रहा। तत्पश्चात् सन् १९३३ में भारत-जापान व्यापार समझौता तथा बम्बई लकाशायर मिलो में मोदी लीज समझौता हुआ, जिससे सरक्षण करो मे आवश्यक परिवतन किए गये। सन् १९३९ मे इन्डो-ब्रिटिश व्यापारिक समझौता हुआ, जिससे आयात-करो के आधारभूत दर निश्चित किये गये, जो कपडे पर १०½%, छपे हुए कपडे पर १५% अथवा २ आना ७ पाई प्रति पौण्ड तथा अन्य वस्तुओ पर १४% निश्चित किये गये। इस समझौते के अनुसार इङ्गलैण्ड ने भारत से निश्चित परिमाण मे रुई खरीदना निश्चित किया। इन दरों में इङ्गलैण्ड द्वारा भारतीय रुई के क्रय के अनुसार परिवर्तन हो सकता था। भारतीयो के विरोध करने पर भी भारत सरकार ने इन दरो को ही कायम रखा।

इस उद्योग के सगठन मे अनेक त्रुटियाँ थी, जिस कारण सन् १९२९ से सन् १९३४ तक की मन्दी मे इस उद्योग की स्थिति चिन्ताजनक हो गई थी। इस स्थिति के लिये उद्योग के समुचित सगठन का अभाव तथा अच्छे समय मे सचित कोष का निर्माण न होना, ये दो मुख्य कारण थे।[1] उद्योग को सरकारी आर्थिक आवश्यकताओ के कारण आयात-करो की वृद्धि से जो सरक्षण मिला वह यदि न होता तो सम्भवत· भारत मे यह उद्योग वर्तमान अवस्था मे न होता।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व—

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भारत में ३७९ वस्त्र निर्माणियाँ थी, जो भारतीय माँग का ६४% प्रदाय करती थी तथा शेष २७% की पूर्ति हाथ-कर्घा-उद्योग एव ९% आयात द्वारा होती थी। सन् १९२२ से सन् १९२६ तक की अवधि मे भारतीय कारखाने लम्बे रेशे की रुई से सूत उत्पादन करने लगे, परन्तु सन् १९२९ तक भारत मे ९२% सूत का उत्पादन २० नम्बर सूत से अच्छी किस्म का नही था। सन् १९३९ में भारत मे सूत का यही प्रतिशत ५०% था तथा कपडे की किस्मे, डिजायन आदि की श्रेणी भी सुधर गई थी। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक वस्त्र कारखानो की सख्या २५७ से ३७९, स्पिन्डिल्स की सख्या ६७ लाख से १०० लाख तथा कर्घो की सख्या ११७ हजार से बढकर २०२ हजार हो गई। इसी कारण सूत एव कपडे का उत्पादन बढ गया था, जो देशी माँग के ६४% की पूर्ति करता था।[2] इससे हमारी आयात पर निर्भरता कम हो गई तथा उत्पादन की किस्म मे सुधार हो गया था, जिससे वह उपभोक्ताओ की विभिन्न रुचियो का समाधान कर सकता था।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं पश्चात्—

सितम्बर सन् १९३९ से द्वितीय महासमर की शख ध्वनि होते ही उद्योग को पुन प्रोत्साहन मिला। कारण, ब्रिटिश वस्त्र-उद्योग युद्धोपयोगी उत्पादन में लग गया

---

1 "लोकसत्ता दिनाङ्क २१-६-५३" प्रा० वा० सी० काले।

2 Industrial Evolution of India by D. R Gadgil.

एव जापान से शत्रुता होने से भारत को मित्र देशो की सेना तथा उपभोक्ताओ की माँग की पूर्ति करने का एकाधिकार मिल गया। इस कारण कारखानो की सख्या सन् १९४५ मे ३८९ से बढ कर ४१७ हो गई और इसी प्रकार स्पिन्डिल्स एव कर्घों की सख्या क्रमश. १,०२,३८,१३१ तथा २,०२,३८८ हो गई। साथ ही, कारखानो की बढती हुई माँग का पूरा करने के लिए पूरी उत्पादनशीलता से कार्य करना पड़ा। फलतः ३१ मार्च सन् १९४४ के वर्षान्त मे सूत एव कपडे का उत्पादन क्रमश' १,६८० मि० पोण्ड तथा ४,८७०'६ मि० गज हो गया था, जो पहले सब वर्षों से अधिक होते हुए भी भारत की सम्पूरण माँग की अधूरी पूर्ति कर सकता था।

वस्त्र-नियन्त्रण—

द्वितीय महायुद्ध मे विदेशो से आने वाले कपडे का आयात बन्द हो गया और दूसरी ओर सेना आदि के लिए कपडे की माँग बढती गई। फलत. सन् १९४२ से कपडे की कीमते बढने लगी, जो सन् १९३९ की अपेक्षा चौगुनी हो गई। इधर भारत से कपडे का निर्यात् बढता जा रहा था और देशी माँग भी बढ रही थी। इस समस्या को हल करने के लिए देशी माँग की पूर्ति कपडे के समुचित वितरण द्वारा करने का सोचा गया, इसलिये सरकार को उद्योग पर नियन्त्रण लगाना आवश्यक हो गया। इस प्रकार वस्त्र कारखानो पर नियन्त्रण रखने के निम्न आदेश समय-समय पर प्रसारित किये गये थे :—

(१) कॉटन क्लॉथ एण्ड यार्न कन्ट्रोल ऑर्डर जून सन् १९४३
(२) ,, ,, ,, (सन् १९४५ सशोधित सन् १९४७)
(३) कॉटन टैक्सटाइल इन्डस्ट्री (कन्ट्रोल ऑफ प्रॉडक्शन) ऑर्डर सन् १९४५
(४) ,, ,, (कन्ट्रोल ऑफ मूवमेंट) ऑडर सन् १९४६
(५) ,, ,, (रॉ मटेरियल एण्ड स्टोर्स) ऑर्डर सन् १९४६

इनमें पहिले दो आदेशो का हेतु कपडे के उत्पादन, वितरण एव कीमतो पर नियन्त्रण रखना था, तीसरे का हेतु कपडे का स्थानीय उत्पादन बढाना, चौथे का हेतु कपडे के यातायात पर नियन्त्रण रखना, पाचवे का उद्देश्य कपडे के उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चे माल एव अन्य साधनो की कीमतो पर नियन्त्रण रखना था। इसके बाद सन् १९४६ के अन्त मे कपडे की परिस्थिति मे सुधार होने लगा। फलत जनवरी सन् १९४७ से वस्त्र-उद्योग से मूल्य नियन्त्रण हटा लिया गया, जिससे उत्पादको को विविध कपडो की कीमतें निश्चित करने की स्वतन्त्रता हो गई।

विभाजन का वस्त्र-उद्योग पर परिणाम—

अगस्त सन् १९४७ मे भारत का विभाजन हुआ, जिसमे पाकिस्तान को अविभाजित भारत की १४ वस्त्र-निर्माणियाँ तथा अच्छे किस्म की रुई उपजाने वाला ७३% प्रदेश मिला। फलत. भारत में वस्त्र कारखानो की सख्या केवल ४०९ ही रह गई। दूसरे, विभाजन के कारण पाकिस्तान से रुई का आयात दुलभ हो गया तथा भारतीय

निर्माणियो का उत्पादन पर्याप्त रुई न मिलने से गिरने लगा।[1] फलत सूत एव कपडे का उत्पादन जो सन् १९४८-४९ मे १,४७५ मि० पौंड एव ४,३८१ मि० गज था, वह सन् १९४९ ५० तथा सन् १९५० ५१ मे क्रमश १ २९० मि० पौंड एव ३,७७९ मि० गज तथा १,१९२ मि० पौंड एव १,६७६ मि० गज रह गया। भारतीय वस्त्र कारखानो के सामने अच्छे किस्म की रुई प्राप्त करने की समस्या उत्पन्न हो गई। इस समस्या को सुलझाने के लिये पाकिस्तान के साथ व्यापारिक समझौते भी हुए, परन्तु उनमे आशातीत सफलता नही मिली। इसलिए 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत 'अधिक औद्योगिक कच्चा माल' उपजाना आरम्भ किया। इससे रुई एव पटसन की फसल की कृषि भूमि बढाई गई, जिससे देश को रुई के सम्बन्ध में स्वय निर्भर बनाया जा सके। साथ ही, तत्कालीन समस्या को दूर करने के लिये इजिप्त, अफ्रीका आदि देशो से रुई का आयात होने लगा। इस कारण सन् १९५१ से वस्त्र उद्योग का उत्पादन फिर से बढने लगा।

तालिका १

वस्त्र-उद्योग[2]

वर्ष	कारखानो की संख्या	कर्घे (हजार)	स्पिन्डल्स (हजार)	उत्पादन		निर्यात (मि० गज)
				सूत (मि०पौंड)	कपडा (मि० गज)	
१९४७–४८	४०८	१९७	१०,२६६	१,३३०	३,७७०	१९२
१९४८–४९	४१६	१९८	१०,५३४	१,४७५	४,३८१	३४१
१९४९–५०	४२५	२००	१०,८४९	१,२९०	३,७७९	६९०
१९५०–५१	४४५	२०१	११,२४१	१,१९२	३,६७६	१,२१०
१९५१–५२	४५३	२०४	११,४२७	१,३२५	४,२९७	४२३
१९५२–५३	४५३	२०४	११,४२७	१,५७०	४,८००	६५०

उद्योग की समस्याये—

इस उद्योग को मजबूत आधार पर स्थिर रखने के लिए निम्न समस्याओ का हल आवश्यक है :—

(१) यन्त्र सामग्री का आधुनिकीकरण—वस्त्र-उद्योग के विकास से यह स्पष्ट हो चुका है कि उद्योग ने अपनी पूरी उत्पादनशीलता से काम करते हुए अनेक लाभ कमाए, परन्तु इन लाभो से न तो समुचित सचित निधि का निर्माण ही किया गया और न पुरानी एव घिसी हुई यन्त्र सामग्री का नई एव यथाविधि यन्त्र सामग्री से विस्थापन ही। इस कारण भारतीय वस्त्र-उद्योग के उत्पादन की कीमतें अधिक रहती हैं। इसलिए मिलो की यन्त्र सामग्री के आधुनिकीकरण तथा उत्पादन पद्धतियो के विवेकीकरण की अतीव आवश्यकता है। इस हेतु भारत सरकार ने १३,५०० स्वचालित

1 देखिए तालिका १।

2 India—1954

कर्घे लगाने की अनुमति उद्योग को दी है। इनमे से ६,००० निर्यात-प्रोत्साहन योजना के अन्तर्गत हैं। इनमे से ३,००० अक्टूबर सन् १९५८, ३,००० जुलाई सन् १९५९ में लगाने की अनुमति दी थी तथा शेष २,५०० प्रति वर्ष के दर से सन् १९५९ से सन् १९६१ के तीन वर्षों में पायलट योजना (दिसम्बर १९५८) के अन्तगत लगाए जायँगे। इनको मिला कर देश मे कुल स्वचालित कर्घों का सख्या ३०,००० होगी, जो कुल कर्घो के १३-१४% होगी, जब कि जापान और अमरीका में यही प्रतिशत क्रमश: ३७% एक १०० है।*

(२) वस्त्र उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रो का निर्माण – यह उद्योग यन्त्र सामग्री के लिये विदेशो पर ही निर्भर है। इस निर्भरता को त्यागने के लिये भारतीय साइन्स को वस्त्र उद्योग की आवश्यक यन्त्र सामग्री के निर्माण की ओर ध्यान देना चाहिये। भारत में इस उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्र निर्माण करने वाले इने-गिने कारखाने हैं, जिनमे बिरला की टेक्सटाइल मशीनरी क० का उल्लेख किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे बहुत कार्य होने की आशा है और सन् १९५६ की औद्योगिक नीति भी इसी ओर सकेत करती है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे कपडा उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रो का उत्पादन १७ करोड रुपये के मूल्य का करने का लक्ष्य है। इसके अलावा यह भी आवश्यक है कि इस कार्य की जांच के लिए 'केन्द्रीय यन्त्र उत्पादन विकास सभा' की स्थापना की जाय। यदि भारत की पूँजीगत वस्तुओ की विदेश निर्भरता कम हो जाती है तो भारत केवल स्वय निर्भर ही न होगा, अपितु जो विदेशी विनिमय व्यय होता है, उसका उपयोग अन्यत्र हो सकेगा। यह सन्तोष की बात है कि इस क्षेत्र मे भारत प्रगति कर रहा है।

भारत मे उत्पादन

वर्ष	कलिको कर्घे (सख्या)	रिंग स्पिनिंग फ्रेम (सख्या)	वर्ष	कलिको कर्घे (सख्या)	रिंग स्पिनिंग फ्रेम (सख्या)
१९५२	२,३०४	२८८	१९५६	२,८६८	१,११६
१९५३	२,४२४	२०४	१९५७	२,८६८	१,३५८
१९५४	१,८८४	३६०	१९५८	३,१९२	८७६
१९५५	२,७३६	८६४			

(३) विदेशी प्रतियोगिता—युद्ध के बाद लगभग सभी देशो ने अपना औद्योगिक पुनर्गठन एव पुनर्निर्माण कर लिया है। जापान भारत को प्रतियोगिता में फिर से आ गया है, जिससे हमारे हाथ से निर्यात बाजार निकलते जा रहे हैं।

* Commerce Annual number 1959

कपड़े का निर्यात

वर्ष	मिलियन गज मे	वर्ष	मिलियन गज में
१९४७	२६६	१९५४	८३४
१९४८	३४४	१९५५	७३५
१९४९	५०९	१९५६	७२१
१९५०	१,१३३	१९५७	७९६ ३९
१९५१	५८०	१९५८	५४३ ७०
१९५२	५८६	१९५९	५४९ १७
१९५३	६२८		

इतना ही नही, प्रत्युत सन् १९५३ में विश्व मे वस्त्र निर्यात मे जापान का क्रमाक पहिला था। ऐसी अवस्था मे हमारे वस्त्र निर्माताओ के सामने आज दो समस्याएँ हैं :—(१) अपने वर्तमान निर्यात-बाजार कायम रखना तथा (२) देशी बाजार मे सफल प्रतियोगिता। इस हेतु उद्योग को अपनी उत्पादनशीलता को बढा कर उत्पादन की लागत कम करने के लिए प्रयत्न करने चाहिए। क्योकि आज 'उत्पादक-बाजार' न रहते हुए 'उपभोक्ता-बाजार' हो गया है, इसलिए उत्पादन तन्त्र मे सुधार एव वैज्ञानिकन की अतीव आवश्यकता है। साथ ही, श्रमिको की कार्य-क्षमता बढाने के लिए तान्त्रिक शिक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है। इस दिशा में भारतीय टेक्सटाइल एसोसिएशन को अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरे, वस्त्र उद्योग पर लगाए गए अनेक करो से वस्त्र उत्पादन की कीमतें बढ जाती हैं, अत: इन करो मे भी कमी होनी चाहिए। विदेशी निर्यात बढाने के लिए एक्सपोर्ट प्रमोशन कमेटी भी काफी प्रयत्नशील है।

(४) हाथ कर्घा एव मिलो मे सामजस्य—हाथ-कर्घा उद्योग एव मिल-उद्योग मे सामजस्य होना भी आवश्यक है, परन्तु इस सामजस्य के लिए मिल-उद्योग पर करो (Cess) का बोझा लादकर हाथ-कर्घा उद्योग को प्रोत्साहन देना उचित नही है। क्योकि इससे मिलो के वस्त्र उत्पादन की कीमतें बढेगी। हाँ, उत्पादन की कुछ किस्मे अवश्य हाथ-कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित रखी जा सकती हैं। परन्तु यह सामजस्य अधिक घनिष्ट होना चाहिए, इसलिये भारत सरकार ने नवीन औद्योगिक नीति मे यह स्पष्ट किया है कि हाथ कर्घों की शिल्पिक विधि मे सुधार किया जायगा तथा वर्तमान हाथ-कर्घों का विस्थापन क्रमश शक्ति सचालित कर्घों से किया जायगा, जिससे यह उद्योग मिल उद्योग से प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति बढा सके। इस नीति का स्वागत सभी क्षेत्रो मे हुआ है।

(५) पर्याप्त कच्चे माल का अभाव—भारत के विभाजन मे लम्बे रेशे

की रुई पर्याप्त मात्रा मे नही मिलती, फलत भारत को इजिप्त, अमरीका, अफ्रीका आदि देशो से महँगे दामो पर रुई खरीदनी पडती है। इस दिशा मे भी स्वय-निर्भर होने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं और लम्बे रेशे वाली रुई के उत्पादन के प्रयोग भी हो रहे हैं। इससे यह आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक रुई के सम्बन्ध मे देश स्वय निर्भर हो जायगा। दूसरे, रुई की कीमतो पर भी उचित नियन्त्रण आवश्यक है, जिससे उत्पादन-लागत न बढे।

डी० एस० जोशी समिति—

सन् १९५६ में जब यह उद्योग सकट से गुजर रहा था तब उद्योग की जाच करने के लिए भारत सरकार ने टैक्सटाइल कमिश्नर श्री डी० एस० जोशी की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी।[1] इस समिति ने अन्तरिम रिपोर्ट मे उत्पादन कर कम करने की सिफारिश की थी।

इन अन्तरिम सिफारिशो पर भारत सरकार ने तत्काल ही कार्यवाही की तथा उत्पादन करो मे सशोधन, सूत निर्यात की सुविधाएँ आदि दी गई है, जिससे मिलो के पास स्टॉक सग्रह न हो। इसी प्रकार सूत-निर्माण की सन् १९६१ तक की नीति भी घोषित की गई।[2]

समिति की अन्य प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

(१) मिलो के पास स्टॉक बढने का कारण विभिन्न किस्मो के उत्पादन मे असतुलन है, इसलिए सस्ती किस्मो की जगह उपभोक्ताओ की रुचि के अनुकूल रगे हुए, छपे हुए, ब्लीच किये हुए तथा अच्छी किस्म के कपडो का अधिक उत्पादन किया जाय।

(२) बन्द कारखानो के सम्बन्ध मे समिति की राय है कि जिन कारखानो के पास अपर्याप्त एव रद्दी यन्त्र हैं उनको उसी स्थिति मे चालू न किया जाय, किन्तु उनका विस्थापन सुसज्जित इकाइयो से किया जाय।

(३) उद्योग की कार्यक्षमता बढाने के लिए 'सलाहकार समिति' की स्थापना की जाय, जिसमे सभी हितो तथा प्रमुख सूती वस्त्र केन्द्रो का प्रतिनिधित्व हो। यह (I) उद्योग की विभिन्न इकाइयो की कार्य-प्रणाली को प्रभावित करने के लिए टेक्सटाइल कमिश्नर को सलाह देगी। (II) टेक्सटाइल कमिश्नर को उद्योग की सीमान्त एव उप सीमान्त इकाइयो का परीक्षण करने एव उनकी उन्नति के लिए सुझाव देने मे भी सहायता देगी। समिति को उद्योग के सम्बन्ध मे अद्यावधि जानकारी देने के लिए टेक्स्टाइल कमिश्नर के कार्यालय मे एक 'विशेष सर्वे कक्ष' के सुदृढ सगठन की सिफारिश भी की गई है।

---

1 Journal of Industry and Trade, July 1958
2 भारतीय समाचार १५ दिसम्बर सन् १९५८।

(४) अ—जिन मिलो के प्रवन्ध में गैरजिम्मेवारी है अथवा जहाँ उनकी कमजोरी की जडे गहरी हैं, ऐसी मिलो की प्रारम्भिक जाच करने एव उनको सरकारी नियन्त्रण में लेने के लिए 'उद्योग विकास एव नियमन अधिनियम' की सम्बन्धित धाराए लागू की जायें। इनका उद्देश्य प्रबन्ध अथवा स्वामित्व पर नियन्त्रण करने का होना चाहिए।

(४) ब—सरकार द्वारा लिए गए कारखानो के प्रबन्ध के लिए एक स्वायत्त निगम की स्थापना पर्याप्त पूँजी से की जाय, जिसकी सचालक सभा में अनुभवी एव सवहितैषी मिल मालिक, जिम्मेवार श्रम-नेता, तान्त्रिक तथा कुशल प्रबन्धको को आर्कपित किया जाय। इस कॉर्पोरेशन का प्रबन्ध एव सचालन आदर्श पद्धति पर हो तथा उसको निजी कारखानो की अपेक्षा कोई अधिक सुविधाए न दी जायँ।

(५) सीमान्त इकाइयो को सकट से बचाने के लिए समिति ने उद्योग-विकास एव नियमन अधिनियम का सशोधन करने की सिफारिश की है, जिससे समाप्ति आवेदन (Winding up Petition) के होते हुए भी सरकार उस पर नियन्त्रण कर सके।

(६) इस वर्ष स्पिन्डलो की सख्या १३ ०३ मिलियन है, जो १ ५ मि० स्पिन्डलो से बढ जावेगी, जिससे सूत का उत्पादन बढेगा। परन्तु देशी खपत मे कोई वृद्धि अपेक्षित नही है, इसलिए अधिक सूत को निर्यात करने की तथा इस हेतु दीर्घ-कालीन निर्यात नीति अपनाने की सिफारिश की है।

साथ ही, यह भी सिफारिश की है कि यद्यपि मिलो को स्पिन्डलो के लिए लाइसेंस दिए गए हैं, फिर भी इस प्रणाली को प्रत्येक की स्थिति जाँच करके बन्द किया जाय, जिससे सूत का उत्पादन नियन्त्रित किया जा सके।

(७) समिति ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए भी सुझाव दिए हैं।[1]

इन सिफारिशो को सरकार ने स्वीकार कर लिया है तथा उन पर क्रमशः कार्यवाही कर रही है।

वस्त्र उद्योग का वर्तमान सकट (१९६०)—

निम्न तालिका से सूती वस्त्र उद्योग के उत्पादन की कल्पना होती है —[2]

वर्ष	सूत (लाख पौड)	कपडा (लाख गज)	वर्ष	सूत (लाख पौड)	कपडा (लाख गज)
१९५२	१४,४९२	४५,०८६	१९५७	१७,९०१	५३,१७४
१९५३	१५,०५१	४८,७८६	१९५८	१६ ८५४	४९,२७०
१९५४	१५,६१०	४९,९७७	१९५९	१७,२२८	४९,२५४
१९५५	१६,३०४	५० ९४५	१९६० (जन०)	१ ४४१	४,१७८
१९५६	१७,७१२	५३,०६६	१९६० (फर०)	१ ३८८	४,०२८

1. Amrit Bazar Patrika July 26, 1958
२ उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त सन् १९६०।

इससे स्पष्ट है कि उद्योग की प्रगति सन् १९५८ मे बाधित हुई। इस वर्ष कपडे का स्टॉक मिलो के पास जमा रहा और अनेक मिलो को आर्थिक हानि भी हुई, जिससे १९ मिल बन्द हुए। इसी प्रकार सन् १९५९ मे भी ३० मिल बन्द रहे, परन्तु कर सुविधायें, उत्पादन करो मे छूट, सरकार की सक्रिय आर्थिक सहायता आदि के कारण सन् १९५९ में मिलो ने पूर्ण क्षमता से कार्य किया, जिससे उत्पादन बढा। परन्तु सन् १९६० फिर से वस्त्र उद्योग के लिए सकट का वर्ष रहा।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था के दसवें वर्ष मे देश मे "वस्त्र सकट" समझ मे आने वाली बात नही है। यह बात जरूर है कि जनमत के दबाव से भारतीय सूती मिल सघ (इण्डियन काटन मिल्स एसोसियेशन) ने यह घोषणा कर दी है कि महीन, मोटे और मध्यम दर्जे के कपडे के मूल्य मे दस प्रतिशत से साढे २७ प्रतिशत तक की कटौती की जायगी। तथापि यह भी सत्य है कि सिर्फ मूल्य में घटौती से मूल समस्या का समाधान नही होता। वस्तुत' आज की स्थिति के लिये सरकार और वस्त्र निर्माता दोनो जिम्मेदार हैं।

यह सर्व विदित है कि देश के सगठित उद्योगो मे वस्त्र-उद्योग सबसे आगे है। फिर यह सकट क्यो ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमे कपडे की समस्या की गहराइयो मे जाना पडेगा। मूल बात तो यह है कि हमारे देश मे उपभोक्ताओ का हित राजनीति का शिकार बन गया है। विज्ञान के इस युग मे हाथ मशीन का मुकाबला नही कर सकता, दूसरे शब्दो मे, मशीन द्वारा निर्मित वस्तु हाथ की बनी चीज से काफी सस्ती बैठेगी। इसी प्रकार मिलो मे जिस पैमाने पर उत्पादन हो सकता है, हाथ से चलाये जाने वाले उपकरणो द्वारा नही हो सकता। हाँ, यह बात जरूर है कि कुछ मामलो मे हाथ का काम मिल के काम से श्रेष्ठ होता है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ व्यापक उत्पादन की जरूरत हो, वहाँ मिलो से काम लिया जाय और जहाँ उत्कृष्टता वाछित हो, वहाँ हाथ को कुशलता दिखाने का अवसर दिया जाये। हमारे देश मे कपडे के निरन्तर अभाव की जड मे इन दो उत्पादन-पद्धतियो का असतुलित विकास ही है।

हाथ कर्घा और मिल—

प्रथम पच-वर्षीय आयोजना के अन्तर्गत ४७,००० लाख गज कपडा तैयार करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, जबकि वास्तविक उत्पादन ५०,००० लाख गज हुआ था। दूसरे आयोजना काल मे पहले ५५,००० लाख गज कपडा तैयार करने का लक्ष्य रखा गया था, जिसमे से १०,००० लाख गज कपडा निर्यात के लिये रख छोडने का इरादा था। लेकिन जून सन् १९५६ मे भारत सरकार ने अपनी सशोधित वस्त्र-उत्पादन-नीति घोषित की, जिसके अनुसार सन् १९६०-६१ तक मिलो मे ५३,५०० लाख गज, अम्बर चर्खा सूत से ३,००० लाख गज तथा हाथ-करघो पर २२,००० लाख गज कपडा तैयार करने की व्यवस्था की गई और १,५०० लाख गज का एक

भौर कोटा भविष्य मे वितरण के लिए रखा गया। इस प्रकार सन् १९६०-६१ तक कपडे का कुल उत्पादन ८४,००० लाख गज तक ले जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।' इसमे से १०,००० लाख गज कपडा निर्यात के लिए अलग रखने का विचार था। इसका अर्थ यह हुआ कि देश मे खपत के लिए लगभग ७४,००० लाख गज कपडा उपलब्ध होगा। लेकिन वास्तविक उपलब्धि इससे कम रही है।

दूसरी आयोजना की प्रगति पर सन् १९५८-५९ के लिए प्रकाशित आयोग की रिपोर्ट के अनुसार कपडे का उत्पादन इधर गिर गया है। सन् १९५७ में ५३,१७० लाख गज कपडा तैयार हुआ था, जो सन् १९५८ मे घटकर ४९,२३५ लाख गज रह गया। सन् १९५९ में उत्पादन बढा है। सन् १९६० के प्रथम ६ महीने के लिए प्राप्त सूचनानुसार मिलो का उत्पादन सामान्य स्तर पर चलता रहा है। सन् १९६० के जून तक मिलो का उत्पादन २४,५१० लाख गज रहा, जबकि सन् १९६० की इसी तिमाही मे २४,४५० लाख गज कपडा बनाया। यदि उत्पादन की यह सुधरी हुई गति बनी भी रही, तो भी इस वर्ष के अन्त तक मिल-उत्पादन निर्धारित लक्ष्य तक पहुँच सकेगा, इसमे सन्देह है।

वतमान सकट का एक और कारण है। वह है प्रति व्यक्ति खपत का गलत लक्ष्य। सन् १९५५ मे यह विचार व्यक्त किया गया था कि सन् १९६१ तक देश मे प्रति व्यक्ति कपडे की खपत २२ गज तक पहुँच जानी चाहिए। इस लक्ष्य के समर्थन मे तब कई तर्क प्रस्तुत किए गए थे और सन् १९५८ तक अधिकारी वर्ग इसी लक्ष्य पर अडा हुआ था। लेकिन इसके बाद अधिकारियो का विश्वास डोलने लगा। सन् १९५९ मे वे इस निश्चय पर पहुँचे कि सन् १९६६ तक प्रति व्यक्ति खपत का लक्ष्य २० ३ गज रखने से भी काम चलेगा। अब इस लक्ष्य को और घटा दिया गया है और खयाल है कि सन् १९६६ तक प्रति व्यक्ति खपत १८ ५ गज रखना ही सम्भव हो सकेगा। यह इस सदी के तीसरे दशक (सन् १९३०-३९) की घनघोर मन्दी के समय की औसत खपत से सिर्फ २'५ गज अधिक है और सन् १९४८-४९ के औसत से १'५ गज ऊँचा।

कपडे की सम्भावित और वाछनीय खपत के सम्बन्ध में सरकार की यह ढुलमुल नीति दीर्घकालिक दृष्टि से उपभोक्ताओ के लिए हानिकर प्रमाणित हुई है। एक ओर तो विकास-अभियान के कारण लोगो की जेब मे पैसे ज्यादा आ रहे हैं, दूसरी ओर कपडे जैसी महत्त्वपूर्ण उपभोग्य वस्तु की उपलब्धता को जानबूझकर सकुचित करने का प्रयास किया जा रहा है। सन् १९३०-३९ की तुलना मे पैसे की उपलब्धता जहाँ ४०० से ५००% तक बढ गयी है, वहाँ कपडे की खपत की सुविधा मे सिर्फ लगभग १३% वृद्धि आज की मँहगाई का अपना आप में एक बडा सबूत है।

उत्पादन नीति—

जैसा कि उपर्युक्त आँकडो को देखने से स्पष्ट हो जायेगा, हमारे देश मे मिल-उत्पादन पर अकुश लगाकर हाथकरघा को प्रमुखता देने का अस्वाभाविक प्रयत्न किया

जा रहा है। जहाँ तक अधिक से अधिक लोगो को रोजगार देने का प्रश्न है, हाथकरघे के महत्त्व से इनकार नही किया जा सकता। परन्तु साथ साथ यह भी मानना पडेगा कि हाथकरघे पर उत्पादित कपडा मिल कपडे के मुकावले कभी सस्ता नही हो सकता। हाँ, खास-खास प्रकार के कपडे तैयार करने मे हाथ करघा का अपना महत्त्व है। जैसे, मद्रासी लुगिया, रेशमी कपडा, भारी किनारी की साडिया, दो-सूती, चादरें और तौलिये, दरी और कालीन वनाने का काम हाथकरघे को पूर्ण रूप से सौपा जा सकता है। इन चीजो का उपयोग जिस वर्ग के लोग करते हैं, वे इनकी ऊँची कीमतें भी दे सकते हैं। लेकिन अल्प-वित्त-भोगियो को जानबूझकर ऊँचे दाम चुकाने को वाध्य करना एक नैतिक अपराध ही माना जायेगा। यहाँ इस बात पर प्रकाश डालने की जरूरत नही कि हाथकरघा उद्योग को खडा रखने के लिए केन्द्रीय राजस्व को प्रति वर्ष करोडो रुपए से हाथ धोना पडता है।

वर्तमान 'वस्त्र-सकट' का कारण, जैसा कि केन्द्रीय वाणिज्य और उद्योगमन्त्री ने बताया है, देश में इस बार उत्पादन में गिरावट ही है। उधर मिल उद्योग का कहना है कि क्योकि छोटे रेशे की रुई की कमी है, इसलिए मोटे कपडे का उत्पादन गिर गया है। इसलिए इस प्रकार के कपडे के दाम चढ गये हैं। यदि यह तर्क ठीक है तो वाजार मे माग अधिक और सप्लाई कम होने से भाव बढ सकते थे। लेकिन मिलो ने स्वय ही इसके दाम क्यो चढा दिए हैं, निश्चय ही इस सकट के लिए भविष्य के बारे मे हमारे अविश्वास और मुनाफाखोरी की मनोवृत्ति ही जिम्मेदार है और सरकार ने रुई आयात नीति मे विलम्ब करके आग मे घी डालने का काम किया है, जो घोषणा अब की गयी है, यदि वह कुछ पहले ही की जाती, तो शायद भावो की तेजी को कुछ हद तक लगाम लग सकती थी।

दीर्घकालिक लक्ष्य—

इसी सिलसिले मे यहा भी उल्लेख कर दिया जाये कि तीसरी आयोजना मे कुल ९३,००० लाख गज (मिल ५८,००० लाख गज और हाथकरघा तथा शक्ति-चालित करघा ३५,००० लाख गज) उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया है, उसके वटवारे पर फिर से विचार करना आवश्यक है। सिर्फ सिद्धान्त के नाम पर अपनी क्षमता को सीमित करना आज की परिस्थिति में हमारे लिए घातक ही प्रमाणित होगा। निर्यात के मोर्चे पर चीन हमारा तगडा प्रतिद्वन्द्वी बनता जा रहा है। यदि चीन का उत्पादन स्तर यही बना रहा, तो वह दिन दूर नही, जब सिर्फ निर्यात मे ही नही, वल्कि प्रति व्यक्ति आतरिक खपत के मामले मे भी वह हमे पीछे छोड देगा। वैसे भी, जनकल्याणकारी होने का दावा करने वाली सरकार का कर्त्तव्य जनसामान्य का जीवन-स्तर उन्नत करना ही होना चाहिए, सिद्धान्त के नाम पर उसकी सम्भव प्रगति को अवरुद्ध करना नही।*

* नवभारत टाइम्स अगस्त १३, १९६०।

[२] लोहा एवं इस्पात उद्योग

भारत के प्राधारभूत उद्योगो मे लोहा एव इस्पात सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग है। इस उद्योग के बिना कृषि एव अन्य किसी उद्योग के विकास के लिए आवश्यक यन्त्र सामग्री नही मिल सकती। साथ ही, इस उद्योग के अभाव मे एक साधारण से कृषि यन्त्र, जैसे हल के लिए भी हमको विदेशो पर निर्भर रहना होगा। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास एव प्रगति के लिए तो यह उद्योग आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण है ही, परन्तु राजनैतिक सुरक्षा में भी इस उद्योग की महत्ता कम नही है। इसलिए वर्तमान युग को यदि लोहा एव इस्पात युग कहा जाय तो अनुचित न होगा।

उगम एव विकास—

भारत प्राचीन काल से ही इस उद्योग मे निपुण रहा है। इसका उदाहरण दिल्ली के पास लोह-स्तम्भ से मिलता है, जो २,००० वर्ष पहले बनाया गया था। श्री वॉल के अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण आज के बडे बडे कारखानो मे भी होना असम्भव है। भारतीय इस्पात-उद्योग के लिए दमास्कसब्लेड्स का उदाहरण सभी को विदित है, जो विश्व ख्याति प्राप्त कर चुके थे। भारत की कैंची, चाकू आदि वस्तुओ का निर्यात इङ्गलैण्ड को होता था। परन्तु प्राचीन इतिहास की पृष्ठि-भूमि मे आज हम देखते हैं कि भारत में लोहा एव इस्पात की बहुत कमी है। भारत की लोहा एव इस्पात की वार्षिक खपत २½ लाख टन है, जहाँ वार्षिक उत्पादन केवल १ लाख टन है, परन्तु विदेशी सत्ता एव प्रभुत्व के कारण इस उद्योग की अवनति हुई, जिस ओर १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारतियो ने कोई ध्यान नही दिया।

लोहा एव इस्पात उद्योग की स्थापना के असफल प्रयत्नो का प्रारम्भ १७वी शताब्दी के अन्त मे हुआ, परन्तु मोट्टी तथा फरकुहार (Mottee & Furquhar) ने सन् १७७९ में लोहा तथा इस्पात बनाना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् सन् १८०८ में श्री डकन ने मद्रास मे लोहा-स्रोत खोज कर अपना कारखाना खोला। तत्पश्चात् सन् १८२५ मे गोसियाह हीथ (Gosiah Heath) ने मद्रास मे कारखाना खोला, जिसके लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आर्थिक सहायता दी। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अनेक कठिनाइयो से असफल रहा, फलत. ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसे खरीद कर सन् १८७४ तक असफलता से चलाया। फिर सन् १८७५ मे 'बारकपुर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' की स्थापना की गई, परन्तु यह किसी प्रकार ६ वर्ष तक चली और फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इसे खरीद लिया। दो वर्ष के बाद इस कारखाने का आधुनिकीकरण किया गया तथा नाम भी बदल कर 'दी बगाल आयरन एन्ड स्टील कम्पनी' रखा गया। यह पहला कारखाना है, जिसने आधुनिक पद्धति से पिग आयरन का उत्पादन शुरू किया, परन्तु यह कम्पनी इस्पात का उत्पादन करने में असफल रही।

लोहा एव इस्पात के उत्पादन का सफल एव उल्लेखनीय प्रयत्न सर जे० एन० टाटा का रहा, जिन्होने अपने २० वर्ष के अथक परिश्रम तथा जर्मन एव अमरीकी

विशेषज्ञो की सहायता से साकची (आज का जमशेदनगर) मे सन् १९०८ मे अपना कारखाना खोला। इन्ही के प्रयत्नो से एशिया के लोहा एव इस्पात उद्योग में भारत को गौरव प्राप्त है। इस विख्यात कारखाने का नाम 'दी टाटा आयरन एन्ड स्टील कम्पनी' (TISCo) है। इस कारखाने मे सन् १९११ मे पिग आयरन तथा सन् १९१३ मे इस्पात का उत्पादन हुआ और सन् १९१६ मे इसने पूर्ण उत्पादन क्षमता प्राप्त कर ली। इसकी सफलता के पश्चात् सन् १९१८ मे इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना हीरापुर मे, जो आसनसोल से ४ मील है, हुई। प्रथम विश्व युद्ध के वाद स्थापित कारखानों मे यह पहिला कारखाना था। इसके वाद सन् १९२१ मे यूनाइटेड स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ एशिया (मनोहरपुर) तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (भद्रावती) की स्थापना सन् १९२३ मे हुई।

प्रथम विश्व युद्ध—

सन् १९१४ मे प्रथम विश्व-युद्ध छिड जाने से हमारे लोह एव इस्पात उद्योग को मन माँगा वर मिला, जिससे उद्योग को प्रोत्साहन मिला। क्योकि इस उद्योग पर फौजी रेलो के लिये रेल की पटरी, स्लीपर्स इत्यादि का प्रदाय मेसोपोटामिया, पेलेस्टाइन, पूर्वी अफ्रीका आदि मे करने की जिम्मेवारी आई। इस कारण उद्योग को असीमित लाभ हुये। इन लाभो के कारण अन्य तीन उपरोक्त उद्योगो की स्थापना हुई। इन लाभो का सदुपयोग कर टाटा ने अपनी कुशल नीति का परिचय दिया और सन् १९१७ में अपनी विकास योजना वना कर सन् १९४२ मे पूरी की। इन लाभो के कारण ही भारत मे वगाल और मद्रास मे अनेक फाउन्ड्री वर्क्स की स्थापना की गई। फलस्वरूप आज भारत मे १३४ ऐसे कारखाने (Rolling Mills) हैं, जो लोहा एव इस्पात क्षेप्यक (Scrap Billets) से ५,००,००० टन का वार्षिक उत्पादन कर रहे हैं।

सरक्षण—

युद्धोत्तर काल में उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पडा, इसलिये सरकार ने सरक्षण की माँग की। सन् १९२१-२२ के फिस्कल कमीशन की सिफारिश के अनुसार जुलाई सन् १९२३ मे प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति हुई, जिसने रिपोर्ट मे लिखा है :—"सरक्षण के अभाव मे यह उद्योग भविष्य के अनेक वर्षों मे भी विकास नही कर सकता और सम्भव है कि फौजी एव सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस उद्योग का कही अन्त न हो जाय, इसलिये इस उद्योग को सरक्षण लेने का पहिला अधिकार है।" फलस्वरूप सन् १९२४ मे उद्योग को तीन वर्ष के लिये सरक्षण देने के लिये इस्पात सरक्षण कानून बना। इस कानून से इस्पात के आयात मूल्य पर ४० प्रतिशत कर लगाया गया तथा आर्थिक सहायता भी दी गई। आरम्भ में यह सहायता ५० लाख रुपये वार्षिक थी, परन्तु विदेशी इस्पात का मूल्य गिरने से यह सहायता राशि और वढा दी गई तथा सरक्षक-आयात कर भी वढाये गये। इस सहायता से उद्योग द्रुत गति से विकास करने लगा

तथा आयात भी कम हुये। सन् १९२६-२७ में प्रशुल्क सभा द्वारा इस उद्योग की पुन. जांच हुई तथा सिफारिश की गई कि इस उद्योग को संरक्षण अधिक समय के लिये मिले। इसलिये सन् १९२८ मे उद्योग को ७ वर्ष तक सरक्षण देने के लिये इस्पात सरक्षक (सशोधन) कानून बना। इस कानून मे ब्रिटिश तथा नॉन ब्रिटिश इस्पात के आयात-करो मे भिन्नता थी। सन् १९३३ मे पुन· उद्योग की जाँच कर सरक्षण अवधि बढा दी गई। इस प्रकार सरक्षण के कारण उद्योग की उत्पादनशीलता सन् १९१४ मे १,६२,२७२ टन पिग आयरन से सन् १९३५ मे १३,४३,००० टन हो गई थी। इस उद्योग को सन् १९४७ तक सरक्षण मिलता रहा, जिसको चालू रखने के लिये उद्योग ने पुनः मांग नही की, इसलिये प्रशुल्क सभा की सिफारिश के अनुसार उद्योग को सन् १९४७ से सरक्षण नही है। परन्तु सन् १९४७ में जो सरक्षण-कर थे, वे अब आय-कर (Revenue) हो गये हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध एव युद्धोत्तर काल—

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ होते ही जहाजी कठिनाइयो के कारण विदेशी आयात रुक गए, जिसमे इस उद्योग पर विविध किस्मो का फौलाद* तैयार करने की एव पूर्ति की जिम्मेवारी आ गई। इसे उद्योग ने पूरी तरह निभा कर अपनी कार्य-क्षमता का परिचय दिया। इधर देशी मांग भी थी, जिसको पूरा करने की जिम्मेवारी थी ही, परन्तु इन विविध मागो को पूरा करने की दशा में यह उद्योग न होने से सरकार को इस पर नियन्त्रण लगाना पड़ा। सन् १९४१ मे युद्ध की मांग पूर्ति करने के लिए टाटा ने जमशेदपुर मे व्हील टायर एण्ड एक्सल प्लाट की स्थापना की, जिससे रेल के पहिये भी भारत मे बनने लगे। (यहाँ पर यह ध्यान रहे कि ऐसे प्रयत्न पहिले भी अन्य कारखानो द्वारा किये गये थे, परन्तु वे असफल रहे। यह प्लाट 'दी जमशेदपुर इञ्जीनियरिंग एण्ड मशीन मैन्यूफेक्चरिंग कम्पनी' के नाम से विख्यात है। टाटा की सफलता एव अथक प्रयत्नो के कारण ही सिंघभूमि स्थित ईस्ट इण्डियन रेल्वे वर्कशॉप भी टाटा के नियन्त्रण मे १ जून सन् १९४५ से हो गया। इसमे बॉइलर और लोकोमोटिव का उत्पादन होता है। इसी प्रकार रेल के डिब्बो का लोहे का ढाँचा बनाने वाला सिंघभूमि वर्कशॉप, जिसे सरकार ने सन् १९२७ मे पेनिन्सुला लोकोमोटिव कम्पनी से खरीदकर ईस्ट इण्डिया रेल्वे को दे दिया था, वह सन् १९४३ मे बन्द हो गया। इसे युद्ध-काल मे फौजी उपयोग के लिए सुरक्षा विभाग ने ले लिया। युद्ध के बाद जब सरकार इसे बन्द करने का विचार कर रही थी तो टाटा ने इसे १६ वर्ष के लिए खरीद लिया तथा 'टाटा लोकोमोटिव एण्ड इञ्जीनियरिंग कम्पनी' के नाम से चालू किया। इस कम्पनी ने सन् १९५१ में १२५ बॉइलरो का उत्पादन किया। इतनी प्रगति के बाद भी इस उद्योग का वर्तमान इस्पात उत्पादन बहुत कम है, जो भारतीय आवश्यकता के लिए अधूरा है।

* e g high speed steels, hot-die steels tap-steels, nickel-chrome steels, special steels for shear blades and punches, die steels for the mints, armour piercing steels, wheels and tyres

मूल्य नियन्त्रण—

जैसा ऊपर कहा गया है, युद्ध के कारण यह उद्योग देशी मांग को पूरा करने मे असमर्थ रहा, जिससे इस्पात की कीमतें बढने लगी, इसलिए सरकार को इस उद्योग के उत्पादन पर मूल्य-नियन्त्रण लगाना पडा। वैसे तो १ अक्टूबर सन् १९३९ से सुरक्षा विभाग की सम्पूर्ण खरीद नियन्त्रित कीमतो पर ही होती थी। परन्तु व्यापारिक कीमतो पर नियन्त्रण नही था, इसलिए १ जुलाई सन् १९४४ से इन पर भी नियन्त्रण लगाया गया। इसी प्रकार लोहा एव इस्पात कारखानो के उत्पादन का अश-वितरण (Rationing) भी किया, जिससे ये वस्तुएँ केवल परमिट लेने पर ही मिल सकती थी। इस नियन्त्रण के अनुसार इस्पात की उच्चतम् कीमत निश्चित् कर दी गई, परन्तु उत्पादको को अपनी अलग रिटेशन कीमतें रखने की स्वतन्त्रता थी। रिटेन्शन मूल्य से जितना विक्रय मूल्य अधिक होता था उतनी राशि से सरकार ने आयात मे सहायता देने के लिए एक निधि बनाया। सन् १९१९ मे टाटा, मैसूर आयरन स्टील वर्क्स तथा स्कॉब[1], इन निर्माताओ के इस्पात के रिटेन्शन मूल्य प्रशुल्क सभा ने दो वर्ष के लिये निश्चित किए थे। इनमे समयानुसार परिवर्तन किए जाते हैं।

१ अप्रैल सन् १९५५ से ३१ मार्च सन् १९५९ तक की अवधि के लिए मैसूर आयरन एड स्टील वर्क्स के रिटेन्शन मूल्य मे २ रु० प्रति टन की वृद्धि की गई है। इसी अवधि के लिए इस कारखाने मे निर्मित लोहे के ठोको के रिटेन्शन मूल्य मे १ रु० प्रति टन की वृद्धि हुई है। इसके पूर्व रिटेन्शन मूल्य ४२५ रु० प्रति टन था।[2]

उद्योग की वर्तमान स्थिति एव भविष्य—

भारत के लोहा एव इस्पात की वर्तमान स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक है, जिसकी कल्पना निम्न तालिका से होगी :—

वर्ष	पिग आयरन (हजार टन)	स्टील का उत्पादन (हजार टन)
१९५०	१,५६२ ४	१,००४·५
१९५१	१,७०८ ८	१,०७६·४
१९५२	१,६८४ ८	१,१०२ ८
१९५३	१,६५४ ८	१,०१७ ६
१९५४	१,७९२ ८	१,२४३ २
१९५५	१,७५६ ८	१,२६०·०
१९५६	१,८०७ ८	१,३१६·४
१९५७	१,७८९ ८	१,३४६ ४
१९५८	२,००३	१,३०० ०
१९५९	—	१,७७० ०[3]

१ स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ बगाल।
२ भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।
३ भारतीय समाचार जुलाई १, १९६०।

इससे स्पष्ट होता है कि उद्योग का उत्पादन बढ रहा है, जिसमे केवल सन् १९५२-५३ का वर्ष अपवाद है। इस वर्ष में उत्पादन की कमी होने का कारण यही था कि इस उद्योग के विभिन्न कारखानो—टाटा आयरन एण्ड स्टील क० तथा मैसूर स्टील क०—की विकास योजनाएँ पूरी हो रही थी।

उद्योग का आधार—

भारतीय लोहा एव इस्पात उद्योग की यह प्रगति इसके उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत करती है। भारत मे सिंघभूमि (बिहार) जिले मे ही १०,००० मि० टन से अधिक लोहा है, जो वर्तमान गति से विदोहन होने पर आगामी २,००० वर्ष के लिए पर्याप्त होगा। इस उद्योग के लिए कोयले की आवश्यकता होती है, परन्तु भारत मे लोहे एव कोयले की खानो की दूरी २०० मील है तथा खानो से केवल १,५०० मि० टन कोयला मिल सकेगा, जिसका उपयोग यदि मितव्ययिता से किया गया तो १५० वर्ष के लिए काफी होगा। इस उद्योग की तीसरी आवश्यकता मैगनीज की है, जिसका उत्पादन भारत में अधिक होता है, परन्तु केवल पूँजी की कमी है, अत. इस उद्योग मे सरकार हाथ बँटाने लगी है, जिससे उद्योग की उत्पादन-शीलता बढ कर देश स्वय पूर्ण हो सके।

इस्पात की बढती हुई माग को पूरा करने के लिए सरकार वर्तमान इकाइयो की उत्पादन क्षमता बढाने के लिए सहायता देती है तथा सरकारी क्षेत्र मे भी इस्पात कारखानो की स्थापना की गई है। दूसरी योजना में टाटा आयरन एव स्टील कम्पनी का उत्पादन ८ लाख टन इस्पात से १५ लाख टन तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का ३ लाख टन से ८ लाख टन करने का लक्ष्य है। इस हेतु इन दोनो इकाइयो पर क्रमश. ८४ ६ तथा ४२ ५ करोड रु० पूँजीगत व्यय होगा। इसी प्रकार मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स का उत्पादन १ लाख टन तक बढाने का लक्ष्य है।[1]

सरकारी क्षेत्र में—

इसके अलावा भारत सरकार ने देमाग तथा क्रप्स (Demag & Crupps), इन दो जर्मन सयोगो की सहायता से रूरकेला (उडीसा) मे एक वृहद् इस्पात कारखाना खोला है। इसकी पूँजीगत लागत १७० करोड रु० होगी। इस कारखाने में कुल ६ भट्टिया (Open hearth furnace) होगी, जिनसे प्रति वर्ष १० लाख टन इस्पात-पिंड (Ingots) का उत्पादन होगा, जिससे ६२० हजार टन तैयार इस्पात और १५० हजार टन इस्पात की बिलैटें बनेंगी। इस समय तीन भट्टिया चालू हो गई हैं तथा चौथी भट्टी तैयार हो रही है। प्रत्येक भट्टी एक पाली मे २५० टन इस्पात बना सकती है।[2]

इस्पात कारखाने के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता पूर्ति के लिए दिसम्बर

---

1 India—1960

२ भरतीय सामाचार—अप्रेल १५, १९६०।

सन् १९५९ तथा ७ जून सन् १९६० को दो ऑक्सीजन प्लाट चालू हो गए, जो दैनिक २०० टन ऑक्सीजन तैयार करेंगे। इसी प्रकार इस्पात के पाइप बनाने का यन्त्र भी लगाया जा रहा है, जो प्रति मास ८,६०० से ३१,००० टन तक पाइप का उत्पादन करेगा। यह मशीन सितम्बर सन् १९६० तक चालू होने की आशा है।[1]

सरकारी क्षेत्र में दूसरा कारखाना भिलाई (मध्य-प्रदेश) मे रूस के तान्त्रिक सहयोग मे बन रहा है। यहा पर २४ दिसम्बर सन् १९५९ से इस्पात का उत्पादन आरम्भ हो गया तथा मई सन् १९६० तक १ लाख टन इस्पात की सिल्लिया तैयार हुई इनमे से ८८,००० टन देश के रि-रोलिंग मिलो को भेजी जा चुकी हैं।[2] इस कारखाने की पूंजीगत लागत १३० करोड रु० होगी, जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ७,७०,००० टन स्टील तथा ३ लाख टन पिग आयरन होगी।

तीसरा कारखाना दुर्गापुर (पश्चिमी बगाल) मे ब्रिटिश स्टील निर्माताओ के तान्त्रिक सहयोग मे खोला गया है। इसकी पूंजीगत लागत १३७ करोड रु० तथा वार्षिक उत्पादन क्षमता ३ ५० लाख टन पिग आयरन और ७ ९० लाख टन स्टील होगी।[3] इस कारखाने की पहिली भट्टी २५ अप्रेल सन् १९६० को चालू हुई तथा इस्पात उत्पादन का प्रथम महत्त्वपूर्ण चरण आरम्भ हुआ। ऐसी ८ भट्टिया इस कारखाने मे लगाई जावेंगी। एक भट्टी एक बार मे २०० टन इस्पात उत्पादन करेगी।[4] इसी प्रकार दूसरी भट्टी ३० जून सन् १९६० को चालू होगई। इससे इस कारखाने मे ११,००० टन इस्पात पिंड का उत्पादन हुआ तथा २७ जून सन् १९६० को तैयार इस्पात मिलो को पहिली खेप पश्चिमी बगाल और पूर्वी पजाब की रोलिंग मिलो को भेजी गई।

इन तीनो कारखानो का प्रबन्ध हिन्दुस्तान स्टील लि० के नियन्त्रण मे होता है। ये तीनो ही कारखाने पूर्णत. सरकारी नियन्त्रण मे हैं तथा इनकी अधिकृत एव चुकता पूंजी ३०० करोड रु० है।

तीसरी योजना मे—

दूसरी योजना काल मे ६० लाख टन इस्पात पिण्ड बनाने का लक्ष्य था, जिससे ४५ लाख टन इस्पात का तैयार सामान बनाया जायगा। दूसरी योजना मे इस्पात का उत्पादन बढाने के कार्यक्रम मे जमशेदपुर, बर्नपुर एव भद्रावती के कारखानो के विस्तार की व्यवस्था थी। इसके सिवा सरकारी क्षेत्र के तीनो कारखानो मे आरम्भ मे १० लाख टन इस्पात पिण्ड बनाने का लक्ष्य था, परन्तु उसमे बढती हुई मांग के अनुसार परिवर्तन किया गया है, जिससे उपरोक्त लक्ष्य के साथ ही ७ ५० लाख टन ढलवा लोहा बनाने का लक्ष्य भी पूरा हो जाय।

तीसरी योजना मे सन् १९६५-६६ मे विक्री के लिए ७३ लाख टन तैयार

---

१ भारतीय समाचार—जुलाई १ १९६०।
२ भारतीय समाचार—जून १५, १९६०।
3 India—1960
४ भारतीय समाचार—जून १, १९६०।

इस्पात और १५ लाख टन आयरन की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार मिश्रित, (Alloy) औजार तैयार करने और विशेष प्रकार के इस्पात की आवश्यकता २ लाख टन होगी। इसका बहुत बडा भाग रूरकेला तथा ऑर्डिनेन्स फैक्टरियो से पूरा होगा। सरकारी क्षेत्र में ५० हजार टन की जो कमी रहेगी उसे एक नए कारखाने की स्थापना से पूरा किया जायगा, जिस पर ३५ करोड रु० व्यय होगा। यह कारखाना बोकारो (विहार) में खोला जायगा। तीसरी योजना में इस्पात उत्पादन की क्षमता मे भिलाई २५ लाख टन, दुर्गापुर १६ लाख टन, रूरकेला १८ लाख टन, मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की क्षमता मे १ लाख टन और नए बोकारो प्लान्ट की उत्पादन-क्षमता मे १० लाख टन की वृद्धि की जायगी। इसी प्रकार पिग आयरन की उत्पादन-क्षमता मे ९·५० लाख टन की वृद्धि भी जायगी। इस कार्यक्रम पर ५७१ करोड रु० व्यय का अनुमान है, किन्तु योजना मे ५०६ करोड रु० की व्यवस्था है। लो शफट ब्लास्ट फरनैस टैकनिक पर कच्चा लोहा तैयार करने का एक और कारखाना स्थापित किया जायगा।[1]

संक्षेप में—

इन योजनाओ के फलस्वरूप यद्यपि भारत इस्पात का निर्यात करने योग्य नही हो सका है फिर भी हमारे आयात काफी कम अर्थात् ७५० लाख टन हुए, जबकि सन् १९५८ में ११ ७० लाख टन लोह एव इस्पात का आयात हुआ था।[2] इस प्रकार इतनी बडी मात्रा मे लोह एव इस्पात निर्माण करने वाला एशिया मे भारत ही एक देश है, किन्तु यहाँ पर कमी केवल कुशल श्रमिको तथा कोयले की है। कुशल श्रमिक एव शिल्पिको की कमी दूर करने के लिए देश मे तान्त्रिक प्रशिक्षण योजनाएँ कार्यान्वित हो रही है। हीराकुण्ड मे (उडीसा) ७ ५ लाख रु० की लागत से पोलिटेकनिक इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई है, जिसमे ३ लाख रु० टाटा तथा शेष उडीसा सरकार ने दिए है। केवल लोहा एव इस्पात का उत्पादन ही नही गिरा वरन् अनेक महत्त्वपूर्ण उद्योगो पर इसका बुरा प्रभाव पड रहा है। कोयले की कमी से भारी राष्ट्रीय संकट पैदा हो गया है और नए उद्योग खोलने मे भी कठिनाई पैदा हो गई है।[3] अत इस ओर सरकार एव योजना आयोग को शीघ्र ध्यान देकर उचित कार्यवाही करनी चाहिए। शिल्पिको की कमी दूर करने एव वृहत यन्त्रो का उपयोग सिखाने के लिए दो प्रशिक्षण केन्द्र खोले गए है तथा उडीसा स्कूल ऑफ इञ्जीनीयरिंग की वर्कशॉप मे भी प्रशिक्षण का आयोजन किया गया है, जहाँ के स्नातक सहकारी क्षेत्र के स्टील प्लाटो मे काम करेंगे। साथ ही, देशी लोहे से इस्पात की अनेक किस्मे बनाने एव अधिकतम उपयोग करने के सम्बंध मे खोज करने के लिए राष्ट्रीय मेटालर्जिकल

---

1 Third Five Year Plan—Draft Outline
भारतीय समाचार अप्रैल १५, १९६० & नवभारत टाइम्स १९-८-१९६०।

२. भारतीय समाचार—जुलाई १,१९६०।

३ नवभारत टाइम्स सितम्बर १४, १९६०।

लेवोरेटरीज की स्थापना भी की गई है । इन गतिविधियो से स्पष्ट है कि भारत एशिया में लौह एव इस्पात का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र होगा ।

[३] पटसन उद्योग

आज का 'डॉलर कमाने वाला' जूट उद्योग १९वी शताब्दी मे महत्वपूर्ण कुटीर उद्योग ही था । १९वी शताब्दी मे भारत से सयुक्त राज्य को जूट तथा जूट उत्पादन के निर्यात का विदेशी व्यापार मे बडा हाथ था, जिसकी आमदनी पर ही बङ्गाल की अधिकतर जनता का पालन होता था । इसका श्रेय ईस्ट इण्डियन कम्पनी को ही देना होगा, क्योंकि इसी कम्पनी के प्रयत्नो से निर्माणी उद्योग का कच्चा माल तथा रेशे की भांति पटसन विश्व-परिचित हुआ । फलतः भारत के कुटीर-धन्धो का बुना हुआ माल विदेशो मे जाने लगा तथा विशेपज्ञ जूट की वस्तुओ का निर्माण बढाने के लिए प्रयत्नशील हुए । यह समस्या डडी (स्कॉटलेंड) मे हल हुई, जहाँ सर्व प्रथम सन् १८३२ मे यन्त्रो की सहायता से जूट का माल बनने लगा । यन्त्रो से उत्पादन के साथ कुटीर निर्मित जूट के माल का महत्त्व जाता रहा, फिर भी माल्दा, रगपुर (बङ्गाल) आदि जिलो में आज भी जूट के थैले, वैडमिटन-नेट्स आदि बनाये जाते हैं । वर्तमान उद्योग एव प्राचीन कुटीर-उद्योग मे केवल एक विशेपता है कि प्राचीन उद्योग जहाँ देश की आन्तरिक माँग पर ही निर्भर था, वहाँ वर्तमान उद्योग विदेशी माँग पर ही अधिक निर्भर है । यह इस ओर सकेत है कि यदि उद्योग की वर्तमान समस्यायें समुचित रीति से हल नही हुई तो उद्योग का अस्तित्व खतरे मे पड जायगा ।

उगम एव विकास—

भारत मे शक्तिचालित यन्त्रो का प्रथम उपयोग सन् १८५५ मे आरम्भ हुआ । जूट की कताई के लिये जॉर्ज ऑकलेंड ने कलकत्ते से १० मील दूर हुगली नदी के किनारे 'रिभा' नामक स्थान मे पहिला कारखाना खोला । इसके ४ वर्ष बाद सन् १८५९ मे बुनाई के लिए शक्ति-सचालित कर्घे का उपयोग 'दी बोर्नियो कम्पनी' द्वारा किया गया, जिसका नाम बाद मे 'बडा नगर कम्पनी' रख दिया गया । इससे भारत मे यन्त्र निर्मित जूट की वस्तुयें, थैले इत्यादि बनने लगे तथा उद्योग का विकास होने लगा ।*

१८८५	६,७००	कर्घे
१९००	१५,३३६	,,
१९१०	३१,७५५	,,
१९२०	४०,४७७	,,
१९३०	५८,६३९	,,
१९४०	५५,३८६	,,
१९४१	६५,७२०	,,

* इस सख्या में केवल दी इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन के सदस्यों के ही कर्घे हैं ।

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि उद्योग के प्रारम्भिक १० वर्षों मे (सन् १८५४ से सन् १८६४ तक) केवल बोर्नियो कम्पनी की ही स्थापना हुई, परन्तु सन् १८६४ के पश्चात् उद्योग का विकास होता गया, क्योकि बङ्गाल (भारत) के पास जूट की फसल का एकाधिकार था। फिर भी सन् १८५४ तक ऐसी कोई मिल नही थी, जो डन्डी से प्रतियोगिता कर सके, इसलिये सन् १८५४ तक एशिया, आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि बाजारो की माँग को पूरा करने वाला यही एकमात्र केन्द्र था। आधुनिक सङ्गठित कारखानो की स्थापना होते ही भारत को कई लाभ थे, जिससे डन्डी से जूट का एकाधिकार भारत ने छीन लिया। जूट की फसल का भारत को एकाधिकार, जूट फसल की पृष्ठ भूमि मे मिलो की स्थापना व केन्द्रीयकरण तथा कलकत्ते से सभी स्थानो के लिए उपलब्ध व्यापारिक जल-मार्ग, ये कारण प्रमुख थे। फलस्वरूप सन् १८७६ तक भारत ने आस्ट्रेलिया, एशिया तथा कुछ अश मे अमरीकी बाजारो को भी हथिया लिया। सन् १८६४ से सन् १८८२ तक मिलो की सख्या २२ हो गई थी, जिनमे २७,४९४ व्यक्ति काम करते थे तथा स्पिन्डल्स एव कर्घों की सख्या क्रमश. ७७,८४० एव ४,७४६ थी। इन मिलो मे से १७ मिलें तो कलकत्ते के आस-पास होने से उनको कच्चे माल तथा निर्यात दोनो ही की सुविधायें मिलती थी। इस प्रकार इस उद्योग का विकास योरोपीय पूँजी एव नियन्त्रण में सङ्गठित ढङ्ग पर होता गया। विदेशी माँग के कारण मिलो की सख्या भी बढती गई, जो क्रमश सन् १८८५, सन् १८९० तथा सन् १८९५ मे २४, २७ तथा २९ हो गई। सन् १८९५ मे जूट-उद्योगो मे कुल २,०१,२१७ स्पिन्डल्स, १०,०४८ कर्घे तथा ७५,१५७ व्यक्ति काम करते थे। मिलो की स्थापना इस अवधि मे कलकत्ते के आस-पास ही हुई, फलत २९ मिलो मे से २६ बडी मिलें कलकत्ते के आस पास तथा शेष ३ बङ्गाल के अन्य भागो मे थी। जूट मिलो की सख्या मे इतनी वृद्धि नही हुई, जितनी कि स्पिन्डल्स और लूम्स मे देखने को मिलती है। सन् १८९५ से सन् १९१४ की अवधि मे कृषि मे मन्दी रही, जिससे कृषि पर निर्भर उद्योगो को क्षति पहुँची। परन्तु जूट-उद्योग पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा और मिलो की सख्या २९ (सन् १८९५) से बढकर सन् १९१३-१४ मे ६४ हो गई, जिनमे २,१६,२८८ व्यक्ति, ३६,०५० कर्घे तथा ७,४४,२८९ स्पिन्डल थे।

इस उद्योग के सन् १८८५ से सन् १९१४ तक के विकास से स्पष्ट है कि (I) उद्योग का सगठन अच्छा रहा, जो कृषि मन्दी के प्रभाव से अछूता रहा। (II), उद्योग ने मिलो की बाढ की अपेक्षा कर्घों एव स्पिन्डल्स की वृद्धि पर अधिक ध्यान दिया। (III) श्रमिकों के अनुपात की अपेक्षा स्पिन्डल्स एव कर्घो की सख्या बढती गई, जो इस बात का प्रतीक है कि उद्योग ने श्रम-व्यय को यन्त्रो के उपयोग से कम कर उद्योग को मितव्ययी बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। परन्तु इसका विकास बढते हुए निर्यातो के कारण ही हुआ। सन् १९०५ ०६ की मन्दी का उद्योग पर अप्रत्यक्ष परिणाम अवश्य हुआ, क्योकि कृषि निर्यात लगभग बन्द हो जाने से बारदाने की माँग गिर गई थी। दूसरी ओर, अमरीका और जर्मनी जूट के माल पर सरक्षण

करों द्वारा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दे रहे थे तथा कच्चा जूट का कर-मुक्त आयात कर रहे थे। इसका प्रभाव उद्योग पर होना चाहिए था, परन्तु वह न होते हुए कच्चे जूट तथा जूट-वस्तुओं का निर्यात बढ़ता ही रहा।[1]

प्रथम विश्व युद्ध-काल—

जूट की विशेष स्थिति के कारण इस युद्ध में भी इस उद्योग ने बहुत लाभ कमाये। युद्ध के कारण यन्त्र-सामग्री का आयात बन्द हो जाने से नई मिलों की स्थापना नहीं हो सकती थी और दूसरी ओर, युद्ध-जन्य बढ़ती हुई माँग की पूर्ति की जिम्मेवारी उद्योग पर ही थी। इसलिए सरकार ने फैक्टरी एक्ट की कुछ धाराओं से इस उद्योग को छूट दी, जिससे वर्तमान मिलों को उत्पादनशीलता बढ़ाना सम्भव हो। इस अवधि में उद्योग ने अधिकतर सरकारी आदेशों के अनुसार माल की पूर्ति की। युद्ध के अन्तिम वर्षों में सरकार द्वारा कच्चे जूट का निर्यात बन्द कर दिया गया। भारतीय मिलों में कच्चे जूट की युद्ध पूर्व वार्षिक खपत ४४ लाख गाँठें थी, जो युद्ध काल के (सन् १९१५ से सन् १९१८ तक) चार वर्षों में औसतन् ५५ लाख गाँठें वार्षिक होगई थी। इन दिनों कच्चे जूट की कीमतें तथा मजदूरी की दर समान रही, लेकिन जूट की कीमतें बढ़ती गई। इससे जूट-कारखानों को सन् १९१५ से सन् १९१८ तक के चार वर्षों में क्रमशः ५,८७,५४९ एवं ७३% लाभ मिला।[2]

युद्धोत्तर जूट-उद्योग—

ऊँच नीच और तेजी-मन्दी का घटनाचक्र सदा ही रहता है, फिर जूट उद्योग कैसे अछूता रहता? (i) युद्ध समाप्त होते ही जूट-उद्योग पर सकट के बादल मडराने लगे, क्योंकि युद्ध-जन्य आदेश आना बन्द हुए, जिससे माँग कम हो गई। (ii) कच्चे जूट की कीमतें तथा श्रम व्यय बढ़ने लगा। (iii) युद्ध-काल में कमाये गये असीमित लाभ से नये उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों ने अपना विस्तार आरम्भ किया, क्योंकि युद्ध समाप्त होने से वस्त्र-आयात सुलभ हो गये थे। (iv) कोयले की कमी प्रतीत हो रही थी। तथा (v) महत्त्वपूर्ण कारण विश्व-व्यापी व्यापारिक एवं औद्योगिक मन्दी की लहर थी। इन कारणों से उद्योग सकट में आ गया तथा परिस्थिति सुलझाने के लिए काम के घन्टे कम किये गये तथा कम करघों का उपयोग होने लगा। यह स्थिति सन् १९२९ तक रही। इस अवधि में मिलों की सख्या ९५ हो गई, जिनमें ११,४०,४३५ स्पिन्डल्स, ३५,९०० करघे तथा ३,४३,२८७ व्यक्ति काम करते थे। सन् १९२९ से सन् १९३९ तक उद्योग को ऊँच-नीच का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप अगस्त सन् १९३९ में बगाल की प्रान्तीय सरकार ने कच्चा जूट तथा हेसियन के मूल्य निश्चित कर दिये।

---

1 Industrial Evolution of India by D R Gadgil
2 Review of the trade of India, (1917-18), p 21.

द्वितीय विश्व-युद्ध एव बाद मे—

अगस्त सन् १६३६ में हेसियन और कच्चे जूट की कीमतें निश्चित एव नियन्त्रित की गई और ३ सितम्बर सन् १६३६ से द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होते ही उद्योग को प्रोत्साहन मिला, क्योकि कच्चा जूट एव जूट की वस्तुओ की कीमतें बढने लगी तथा मांग भी बढी। इसलिए उद्योग पुनः अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करने लगा तथा सभी प्रकार के नियन्त्रण उद्योग से हटा दिये गये। परन्तु सन् १६४० मे जूट की वस्तुओ की मांग कम हो गई, जिससे उद्योग को अपने काम के घटे और कर्घों की संख्या कम कर उत्पादन को सन्तुलन मे रखना पडा। दूसरे, अमरीका, मित्र राष्ट्रीय देश तथा भारत सरकार ने उद्योग से नियन्त्रित मूल्यो पर खरीद आरम्भ की, जिससे उद्योग प्रथम विश्व-युद्ध की भांति लाभ न कमा सका। इस अवधि में उद्योग की उत्पादनशीलता प्रभावित करने वाली निम्न घटनाएं हुई—(१) कोयला एव विद्युत शक्ति की कमी, (२) यातायात असुविधाएं, तथा (३) सन् १६४३ का बगाल-अकाल। इन आपत्तियो एव ऊंच-नीच से उद्योग केवल अपने मजबूत सगठन के आधार पर ही बच सका। इसलिए जूट उद्योग जांच समिति ने इस उद्योग के आधुनिकीकरण तथा वैज्ञानिकन की सिफारिश की है।

भारत का विभाजन एव रुपये का अवमूल्यन—

सन् १६४७ मे भारत और पाकिस्तान के बँटवारे से उद्योग को गहरी चोट लगी, क्योकि अच्छे जूट की पैदावार करने वाला पूर्वी बगाल का प्रदेश पाकिस्तान के हिस्से में चला गया, जो कुल जूट उत्पादक क्षेत्र का ७३% था। जूट के कारखाने भारत के हिस्से मे रहे। इससे भारत के जूट उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या खडी हो गई, जिसके लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पडा। भारत सरकार भी इस मामले में सतर्क थी, जिससे भारत मे जूट का उत्पादन बढाने के प्रयत्न होने लगे और जूट कृषि क्षेत्र का विस्तार हुआ—

सन्	जूट का कृषि क्षेत्र	जूट की फसल (हजार गाँठें)[1]
१६४७–४८	६५१ हजार एकड	१,६६६
१६४८–४६	८३४ ,,	२,०५५
१६४६–५०	१,१६३ ,,	३,०८६
१६५०–५१	१,४५३ ,,	३,३०१
१६५१–५२	१,६५१ ,,	४,६७८
१६५५–५६	१,७३६ ,,	४,१६८
१६५६–५७	१,६०८ ,,	४,२८८
१६५७–५८	१,७४२ ,,	४,०५२
१६५८–५६	१,८२७ ,,	५,१७८[2]

1 India 1960 and Amrit Bazar Patrika, "Golden Fibre Supplement", Feb 1958

2. अन्तिम अनुमान—India 1960.

इसलिए सरकार को निम्न कार्यवाहियाँ करनी पड़ी :—पाकिस्तान से कच्चे जूट के आयात सम्बन्धी समझौता, कच्चे जूट की खरीद के अधिकतम् मूल्य तथा देशी उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्न। पाकिस्तान से व्यापारिक समझौते के अनुसार सन् १९४७, सन् १९४९ तथा सन् १९५० मे क्रमश: ५०, ४० तथा ७ २३ लाख गाँठो का आयात करना था। परन्तु पाकिस्तान ने अपनी चालबाजी से किसी समझौते का पूरी तरह पालन नही किया। इसी बीच सितम्बर मे भारतीय रुपए का अवमूल्यन सन् १९४९ मे हुआ और दूसरी ओर पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न होने से जूट प्राप्त करने की समस्या फिर उपस्थित हो गई, जिससे विवश होकर भारत को पाकिस्तानी रुपए की दर १००=१४४ भारतीय रुपए मे माननी पडी। इस समस्या के कारण भारत जूट की फसल पैदा करने मे आत्म निर्भर हो रहा है, जिसकी खेती आजकल पश्चिमी बगाल, बिहार, उडीसा, आसाम, उत्तर-प्रदेश तथा मद्रास मे हो रही है। उद्योग की वार्षिक खपत ६२ लाख गाँठें है, अत शेष के लिए हमको पाकिस्तान पर निर्भर रहना पडता है। सन् १९६० ६१ तक यह उत्पादन ५५ लाख गाँठ करने की योजना है, परन्तु मूल्यो की कमी के कारण सन् १९५९-६० मे जूट का कृषि क्षेत्र कम हो गया तथा निसर्ग की प्रतिकूलता के कारण इस वर्ष मे जूट का उत्पादन ४३ लाख गाठें होगा, ऐसा अनुमान है। इस कारण सम्भवत. सन् १९६०-६१ तक योजना के लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव प्रतीत होती है।[1]

तीसरी योजना मे जूट उत्पादन का लक्ष्य ६५ लाख गाँठें है तथा जूट-उत्पादक राज्य जूट के कृषि क्षेत्र को सीमित कर जूट की किस्म एव प्रति एकड जूट की उपज बढाने के लिए प्रयत्नशील है। यह कार्यक्रम बिहार में तीसरी योजना में लागू होगा। इस कार्यक्रम के अनुसार तीसरी योजना के अन्त तक लगभग २॥ लाख एकड भूमि मे अच्छे किस्म के जूट की खेती होगी। जूट की खेती के उन तरीको की जानकारी कराने के लिए लगभग ५,००० किसानो को प्रशिक्षित किया जायगा।[2]

वर्तमान अवस्था—

भारतीय पटसन-उद्योग आज भी अधिकतर योरोपीय प्रबन्ध मे है। आज भारत मे पटसन के कारखानो एव प्रेसो (Jute Press) की कुल सख्या ११६ है, जिनमे से १०९ बगाल मे, ३ उत्तर-प्रदेश में, ३ बिहार मे तथा १ मध्य-प्रदेश मे है। जूट-निर्माणियो के प्रादेशिक विभाजन से यह स्पष्ट है कि पटसन-उद्योग का केन्द्रीयकरण बगाल मे ही है। इस उद्योग की स्थायी पूँजी २,२९४ लाख एव कार्यशील पूँजी ४,३१६ लाख रुपए है, जिसमे विदेशी पूँजी केवल १,५०७ लाख रुपये है। उद्योग मे अधिकतर पूँजी भारतीय ही है। पटसन के निर्यात करो से भारत को सन् १९४८-४९ से सन् १९५१-५२ के चार वर्षो मे क्रमश ६ ३, ८ ८, २३ ९ तथा

1 Commerce Annual number, p 209
2 नवभारत टाइम्स, अगस्त २७, १९६०।

५६'३ करोड रुपए की आय हुई। यह भारत के आर्थिक कलेवर में उद्योग का महत्त्व प्रदर्शित करती है।

पटसन उद्योग की वर्तमान अवस्था की कल्पना निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

उत्पादन एव निर्यात

वर्ष	कच्चे जूट की खपत (हजार गाँठें)	उत्पादन (हजार टन)	निर्यात (हजार टन)
१९५४	५,३८४	९२७'७	८४० ६
१९५५	५,९८१	१,०२७ २	८४९ १
१९५६	६ ३४१	१,०९२'८	८६१ ५
१९५७	६,१५२	१,०२९ ९	८६४ ५
१९५८	६,१४५	१,०६१ ८	८१५'८
१९५९ (जून अक्टूबर)	५,०५४	८६९ ९	६४३ १ (जून सितम्बर)

कच्चे माल का उत्पादन भारत मे बढाने के कारण हमारी पाकिस्तानी जूट आयात पर निर्भरता जो पहले ७१% थी वह अब केवल ५% रह गई है। पटसन के सम्बन्ध मे जो सशोधन हो रहे हैं उनसे यह प्रमाणित हो गया है कि भारतीय जूट किसी भी तरह पाकिस्तानी जूट से निम्न कोटि का नही है। पटसन उद्योग पर विदेशी माँग का प्रभाव अधिक है, इसलिए जूट के नवीन उद्योगो के सम्बन्ध मे सन् १९४८ से जूट-टैक्नॉलॉजी आवश्यक अनुसन्धान कर रही है। इन अनुसन्धानो की सफलता से विदेशी माँग के कारण होने वाले उतार-चढाव न्यूनतम होकर उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता न घटाते हुए परिवर्तनशील स्थिति में भी अपना मिलान करने मे सफल हो सकेगा।

जूट उद्योग का उत्पादन एव निर्यात देखने से यह स्पष्ट होता है कि सन् १९५७ व १९५८ मे उद्योग के निर्यात कम रहे। परन्तु सन् १९५९ से स्थिति मे सुधार होने लगा। इसके लिए निम्न कारण प्रमुख थे :—

(१) सख्यात्मक (Quantitative) आत्मनिर्भरता के कारण कच्चे माल की पूर्ण उपलब्धि,

(२) कताई एव तैयार माल बनाने के यन्त्रो का आधुनिकीकरण, तथा

(३) उत्पादक इकाइयो के समग्रीकरण से विवेकीकरण।

जूट मिलो मे अभी तक ६०% मिलो का आधुनिकीकरण हो गया है। इस हेतु मिलो ने अपने निजी साधन तथा राष्ट्रीय विकास निगम से प्राप्त ऋणो का उपयोग किया। इस हेतु रा० वि० निगम ने ४ ६० करोड रु० के २२ ऋण दिए। इस समय उद्योग के २०% मिलो का आधुनिकीकरण हो रहा है तथा सम्पूर्ण उद्योग का आधुनिकीकरण तीसरी योजना के अन्त तक हो जायगा। अभी तक १०,००० कर्घों के

लिए पर्याप्त बुनाई, कताई आदि यन्त्रो का १० ५ करोड रु० की लागत से आधुनिकीकरण किया गया है।

विवेकीकरण के अन्तर्गत अनार्थिक इकाइयो के श्रमिक एव उत्पादन का स्थानान्तरण अधिक कार्यक्षम इकाइयो मे किया गया तथा कई मिले बन्द की गई। फिर भी उद्योग का सकल उत्पादन प्रभावित नही हुआ। जो मिलें बन्द हुई उनका हस्तान्तरण दूसरी कार्यक्षम मिलो मे उत्पादन अधिक मितव्ययिता से केन्द्रीकृत करने के लिए हुआ। इसके अलावा मिलो ने विशेषीकृत माल का उत्पादन गत कुछ वर्षों से आरम्भ किया है, जिसकी माँग विदेशो मे भी काफी है। साथ ही, हमारी अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ ही देश में भी पैंकिंग सामग्री की माँग बढ रही है, जो पटसन उद्योग के स्थायी भविष्य की ओर सकेत है।*

वर्तमान समस्याएँ—

श्री के० डी० जालान (अध्यक्ष इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन) के अनुसार '—"हम दुर्लभता के जाल से अब मुक्त हो चुके हैं, फिर भी परिमाण की अपेक्षा किस्म की अच्छाई के लिए हमको पाकिस्तान पर निर्भर रहना होगा।" आज भारत की एकाधिकार स्थिति का लोप हो गया है, पाकिस्तान तथा अन्य देशो में जहाँ जूट की भाति अन्य रेशो की फसलें होती हैं वहा भी उनका तैयार माल बनाने के कारखाने खोले जा रहे हैं, जिनको भारत से भी सस्ते दर पर कच्चा जूट पडेगा।" इससे स्पष्ट है कि उद्योग की निम्न मुख्य समस्यायें हैं .—

(१) अच्छे किस्म के कच्चे जूट की फसल की पैदावार।
(२) जूट की प्रतिवस्तु (Substitutes) का भय।
(३) पाकिस्तानी प्रतियोगिता का भय।

(१) कच्चे जूट की कमी—भारत मे जूट का उत्पादन बढाने के लिए अनवरत प्रयत्न हो रहे है, जिससे हमारी पाकिस्तान पर निर्भरता काफी कम हो गई है। परन्तु आज उद्योग को कच्चे माल की कमी है, जिससे पूर्ण उत्पादन-क्षमता का उपयोग नही हो रहा है। क्योकि इण्डियन सेन्ट्रल जूट कमेटी के अनुसार वर्तमान आवश्यकता ७२ लाख गाँठ है, जबकि देशी उत्पादन केवल ४३ ० लाख गाँठ है। अत. पटसन की पैदावार बढाने की तीव्र आवश्यकता है। तीसरी योजना मे कच्चे जूट का उत्पादन ६५ लाख गाँठो तक बढाने की योजना है तभी हम कच्चे माल के सम्बन्ध मे आत्मनिर्भर हो सकेंगे।

(२) जूट की प्रतिवस्तु का भय—यह भारत को पहिले से ही डर था, क्योकि प्रत्येक देश आत्म-निभर होना चाहता है। इसलिए उद्योग को द्विविध तैयारी करनी होगी :—माँग कम होने की दशा में उत्पादन परिवर्तन करने की तथा माँग बढाने के लिए विपणि-खोज की।

---

* Commerce Annual number, 1959, page 138

(३) पाकिस्तानी प्रतियोगिता—पाकिस्तान मे इस समय १२ जूट मिले हैं, जिनमे ६,७५० कर्घे हैं। पाकिस्तानी यन्त्र सामग्री आधुनिक है तथा वहाँ की जूट की फसल भी अच्छे किस्म की है। स्पष्ट है कि पाकिस्तानी प्रतियोगिता का भारतीय उद्योग को सामना करना पडेगा। अत जूट उद्योग को विशेषीकृत उत्पादन मे वृद्धि करनी पडेगी। विशेषीकृत उत्पादन भारतीय जूट मिलो ने आरम्भ कर दिया है, जैसे वॅगिंग कपडा, जूट कार्पेट, केनवास, ट्वाईन यार्न आदि। ऐसी वस्तुओ का उत्पादन सन् १९५८-५९ (जुलाई-जून) में ८४,६०० टन हुआ, जबकि सन् १९५४-५५ में ३८,१०० टन था। इन वस्तुओ की मांग भी विदेशी बाजारो मे, विशेषत. अमेरिका मे, बढ रही है। इसलिए उद्योग को इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

जूट के मूल्यो में कमी—

इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है उत्पादन-व्यय तथा प्रतिस्पर्धा। वस्तुतः अन्य समस्याएँ इसी पर आधारित हैं। जूट के तैयार सामान के भाव मे प्रायः चार बातो का समावेश होता है—कच्चे माल की लागत, उत्पादन-व्यय, उत्पादन का लाभ तथा एजेन्टो और दलालो का कमीशन। यह तो सहज ही है कि इन खर्चो मे एक विशेष सीमा तक ही कमी की जा सकती है। परन्तु पिछले वर्षों मे इस उद्योग की तुलनात्मक स्थिति के मुकाबले मे न्यूनतम् व्यय करने के अधिक प्रयत्न किए गए हैं। बदले मे काम आने वाली पैंकिंग सामग्री, बोरो तथा बिक्री के नए तरीको और विदेशी जूट उद्योगो के कारण भारतीय जूट उद्योग की तुलनात्मक स्थिति अधिक निश्चित होती जा रही है।

आधुनिकीकरण—

जूट मिलो के आधुनिकीकरण के सम्बन्ध मे इसी अध्याय मे उल्लेख है। इस हेतु सरकार जूट-उद्योग को आवश्यक यन्त्रो के आयात के लिए लाइसेंस दे रही है। इसी प्रकार राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने ४ ६० करोड रु० के ऋण २२ मिलो को यन्त्रो के आधुनिकीकरण के लिए स्वीकृत किए। इसमे से १७ मिलो ने २ ६४ करोड रु० निकाले। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने देशी जूट मशीनरी के क्रय करने हेतु अल्पकालीन ऋण योजना भी बनाई है, जिसके अन्तगत ५ लाख रु० तक का ऋण एक मिल को दिया जायगा। यह मिलो की समय सूचकता की ओर सकेत है।

नवयुग का आरम्भ—

अब यह उद्योग वाछनीय दिशा की ओर बढ चुका है और अपना खोया हुआ स्थान प्राप्त कर रहा है। उद्योग ने सन् १९४९ से नए बाजारो की खोज करने का कार्य-क्रम भी अमेरिका, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया की महत्त्वपूर्ण मण्डियो से शुरू किया। इसके साथ ही विविध देशो मे प्रचार-काय, जन-सम्पर्क और विज्ञापन आदि आन्दोलन भी तेजी से आरम्भ किए हैं। सक्षेप मे, यह उद्योग दो लक्ष्यो की पूर्ति की ओर बढ रहा है :—

(१) उत्पादन के अभिनवीकरण तथा बढी हुई कार्यक्षमता द्वारा पुरानी मडियो से अधिकतर प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति प्राप्त करना।

(२) बाजारो का विस्तार और जूट के सामान के लिए नए क्षेत्रो की खोज।

इस हेतु इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन ने विदेशो मे अपने कार्यालय एव प्रतिनिधियो की नियुक्ति \की है।

[४] शक्कर-उद्योग

उगम और विकास—

भारत मे सगठित ढङ्ग पर शक्कर का उत्पादन सर्व प्रथम सन् १९०३ में आरम्भ हुआ, परन्तु सन् १९३१ तक भारतीय बाजारो मे विदेशी शक्कर ही बहुतायत से आती थी तथा उस समय भारत मे छोटे-बडे सब मिलाकर कुल ३२ कारखाने थे। इनका अस्तित्व भी खतरे मे था, क्योकि वे विदेशी उद्योग के साथ स्पर्धा करने मे असमर्थ थे। साराश मे, यह उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे कुटीर-उद्योग के रूप मे सगठित था और केवल कुछ थोडे से ही आधुनिक सगठित कारखाने थे। इसलिये सन् १९३०-३१ में इम्पीरियल कौसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च ने इस व्यवसाय की ओर सरकार का ध्यान आकर्पित किया तथा उद्योग को प्रोत्साहन के लिये कुछ सुझाव दिये। इसलिए सन् १९३१ में उद्योग की जाँच के लिये प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की गई, फलत सन् १९३१ मे शक्कर उद्योग सरक्षण अधिनियम स्वीकार हुआ और उद्योग को सरक्षण दिया गया। यह सरक्षण १५ वर्ष के लिये अर्थात् ३१ मार्च सन् १९४६ तक के लिये था, जिस अवधि मे उद्योग को अपनी प्रतियोगिता शक्ति बढानी थी।

इस अधिनियम से शक्कर आयात पर ७।) रु० प्रति हण्ड्रेडवेट के दर से सरक्षण कर लगा दिया गया, जिससे यह उद्योग तत्कालीन आर्थिक मन्दी के दुष्परिणामो से बचकर विदेशी प्रतियोगिता मे टिक सके। इससे इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। यहाँ पर यह ध्यान मे रहे कि इसके पूर्व शक्कर पर जो आयात कर था वह केवल रेवेन्यू कर के रूप मे था। सन् १९३० मे ही मूल्यानुसार कर के स्थान पर यह कर ६) प्रति हण्ड्रेडवेट कर दिया गया था, जो सरक्षण के बाद ७।) रु० हो गया। फलतः विदेशी शक्कर के आयात सन् १९३६-३७ में १९ हजार टन रह गये, जहाँ सन् १९३१ में १० लाख टन आयात थे। इससे सरकारी आय कम हो गई, जिसे पूरा करने के लिये तथा आधुनिक यन्त्रो से सुसज्जित कारखानो को उत्तेजना देने के लिए सरकार ने १।) प्रति हण्ड्रेडवेट की दर से शक्कर उद्योग पर आबकारी कर लगाया। सरक्षण काल मे उद्योग की प्रगति तेजी से होती गई, जिससे शक्कर उत्पादन बढ गया तथा सन् १९३७ में गन्ने की उपज का कृषि क्षेत्र ४५ लाख एकड हो गया।

व	कारखानो की सख्या	उत्पादन
१९३१–३२	३२	५,००,००० टन
१९३२–३३	५७	६,४५,३८३ ,,
१९३३–३४	११२	७,१८,९०६ ,,
१९३४–३५	१३०	७,७१,६०० ,,
१९३६–३७	१३७	१२,३७,००० ,,

यह कर निम्नवत् था :—सन् १९१६ के पूर्व मूल्य के ५% तथा सन् १९१६ से १०%, सन् १९२१ से १५% तथा सन् १९३० मे ५५%। इसका परिणाम यह हुआ कि शक्कर का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो गया तथा शक्कर की कीमतें गिरने लगी। और भारतीय शक्कर कारखानो मे गला काट प्रतिस्पर्धा होने लगी। इस प्रतियोगिता के निवारण तथा उत्पादनाधिक्य से होने वाली समस्याओ के हल के लिये इसी वर्ष 'शक्कर अभिषद' (Sugar Syndicate) की स्थापना की गई। इसके अलावा उत्तर-प्रदेश एव विहार सरकार ने शक्कर-नियन्त्रण अधिनियम स्वीकृत किए, जिनके अनुसार कोई भी नया कारखाना लायसेंस प्राप्त किये विना नही खोला जा सकता था। दूसरे, प्रत्येक शक्कर कारखाने को अभिषद् का सदस्य बनना भी अनिवार्य था। इसके बाद शक्कर उद्योग पर आवश्यक नियन्त्रण रखने के लिए सन् १९४० में शक्कर-आयोग की भी नियुक्ति की गई।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं पश्चात्—

सन् १९३७ मे इस उद्योग की उस वर्ष मे फिर से प्रशुल्क सभा ने जाँच की तथा यह सिफारिश की कि अन्य वर्तमान करो के अलावा शक्कर के विदेशी आयात पर ६।।।) प्रति हण्ड्रेडवेट की दर से प्रशुल्क कर लगाया जाय।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के समय शक्कर के १४५ कार-खाने थे तथा उनका कुल उत्पादन १३,९३,२०० टन था। अर्थात् इस समय भी उद्योग के सामने उत्पादनाधिक्य की समस्या थी, इसलिए उत्तर प्रदेश एव विहार सरकारो ने शक्कर के उत्पादन को नियन्त्रित करने के लिए प्रत्येक कारखाने के उत्पादन का कोटा निश्चित किया। साथ ही शक्कर के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सन् १९४२ के निर्यात प्रतिवन्धो को हटा दिया। परन्तु उत्पादन का कोटा केवल उत्तर-प्रदेश एव विहार राज्यो मे ही था, जिससे शक्कर उत्पादन पर विशेष प्रभाव नही पडा।

वर्ष	कारखानो की सख्या	उत्पादन (हजार टन)
१९३९-४०	१४५	१३,९३ २
१९४१-४२	१५०	८,१८ ५
१९४३ ४४	१५१	१३,७४ ०
१९४५-४६	१४५	१०,५५ ८

१६४६-४७	१४१	११,४२·२
[1]१६४७-४८	१४०	१६,६४·०
१६४८-४६	१३६	१०,०७·०
१६४६-५०	१३६	६,७८·०
१६५०-५१	१३६	११,१६·०
१६५१-५२	१३६	१४,८३·०
१६५७-५८	—	२०,०६·०[2]
१६५८-५६	—	२०,८४·०[2]

स्पष्ट है कि एक ओर तो युद्ध के कारण मांग बढ रही थी और दूसरी ओर उत्पादन कम हो रहा था, फलत. शक्कर की कीमतें बढने लगी, इसलिए शक्कर-उद्योग के विकास के हेतु सन् १६४२ में सरक्षक आयात कर ११।।≡) प्रति हड्रेडवेट कर दिया गया तथा शक्कर की कीमतो पर नियन्त्रण रखने के लिए शक्कर-नियत्रण आदेश लागू किया गया। इसके अलावा सन् १६४० में सरकार ने आबकारी कर २) से ३) प्रति हड्रेडवेट कर दिया, जो आज भी है।

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि शक्कर उत्पादन एक सा नही रहा—कभी कम तो कभी अधिक। युद्धकाल मे सन् १६३६-४० मे सबसे अधिक उत्पादन हुआ था, उतना एव उससे अधिक उत्पादन केवल सन् १६५१-५२ मे ही हो सका है। इस ऊँच-नीच के अनेक कारण हैं। गन्ने के उत्पादन में कमी, क्योकि शक्कर का उत्पादन गन्ने की फसल एव गन्ने से प्राप्त होने वाले शक्कर-परिणाम पर निर्भर रहता है। (ii) यन्त्र सामग्री की घिसावट से भी कारखाने उतनी उत्पादन क्षमता प्राप्त नही कर सकते। ध्यान मे रहे कि उद्योग की यन्त्र सामग्री सन् १६३१ से सन् १६३४ मे खरीदी गई थी, जिसमे किसी प्रकार के सुधार नही हुए थे और न उनका विस्थापन ही हुआ था। (iii) सन् १६४३ से सन् १६५४ तक शक्कर के ३० कारखाने ऐसे हैं जो किसी न किसी कारण से बन्द पडे हैं, जिनको कार्यान्वित करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नही हुए।

सन् १६४७ मे शक्कर का विनियन्त्रण कर दिया गया, जिससे शक्कर की कीमतें बढने लगी, तथा शक्कर का अभाव भी प्रतीत होने लगा, जो सन् १६४८ में तीव्रतर हो गया। इसलिए सरकार ने गन्ने के कर (Cess) मे कमी, कारखानो को विस्तार की सुविधाएँ, आबकारी कर मे छूट आदि सुविधाएँ दी, इससे शक्कर का उत्पादन सन् १६४७-४८ एव सन् १६४८-४६ में बढा। परन्तु सन् १६४६-५० मे शक्कर के उत्पादन मे कारखानो की सख्या मे वृद्धि होते हुए भी कमी आ गई। इसके प्रमुख करण थे.—(i) गन्ने के कृषि क्षेत्र मे कमी। (ii) गन्ने से प्राप्त होने वाले शक्कर-द्रव्य मे कमी। (iii) शक्कर की बढती हुई कीमतो के कारण आम जनता शक्कर को खरीदने में असमर्थ थी, जिससे शक्कर की जगह गुड की खपत बढी। (iv) गुड की खपत बढने

१ सन् १६४८-४६—अगले सब आँकडे India 1954 से।

2 India 1960

से उपलब्ध गन्नो का बहुत सा भाग गुड-निर्माण की ओर जाने लगा। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सरकार ने 'शक्कर एव गुड नियन्त्रण आदेश' द्वारा शक्कर एव गुड की अधिकतम कीमतें निश्चित की, जिसकी सिफारिश टैरिफ बोर्ड द्वारा की गई थी। टैरिफ बोर्ड का मत था कि इन दोनो ही वस्तुओ के सम्बन्ध में सरकारी नीति मे समानता रहे। इस आदेश के कारण गुड-उद्योग की गन्ने के लिए अधिक कीमत देने की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति कम हो गई, जिससे सन् १९५०-५१ मे शक्कर का उत्पादन बढा। इसी प्रकार कुछ अश तक शक्कर की बिक्री का दिसम्बर सन् १९५० से आशिक विनियन्त्रण किया गया, जिससे शक्कर के उत्पादन मे वृद्धि हुई तथा उपभोक्ता की आवश्यकताओ की पूर्ति होने लगी। यही नीति आगे भी अपनाई गई, जिसमे शक्कर का उत्पादन बढ गया। टैरिफ बोर्ड की सिफारिश के अनुसार सन् १९५० से सरक्षण का अन्त कर दिया गया।

व्यवसाय का वितरण एव विशेषताएँ—

किसी भी उद्योग का स्थानीयकरण मूलतः यातायात की सुविधा, कच्चे माल की प्राप्ति तथा विद्युत प्रसाधनो पर निर्भर रहता है। इसी दृष्टि से बिहार एव उत्तर-प्रदेश मे गन्ने की बहुलता होने के कारण अधिकतर कारखाने इन दो प्रान्तो मे मिलते हैं। इनके अतिरिक्त इस उद्योग का केन्द्रीयकरण मद्रास एव बम्बई में भी मिलता है। इस प्रकार इस व्यवसाय का अधिकाश भाग उत्तर-प्रदेश, बिहार, बम्बई, आन्ध्र एव मद्रास प्रान्तो मे केन्द्रित है। अन्य भागो मे—मध्य-प्रदेश में ६, पञ्जाब मे ७, पश्चिमी बङ्गाल और मैसूर मे ४-४ हैं।

अन्य भारतीय उद्योगो की अपेक्षा शक्कर व्यवसाय की निम्न विशेषतायें हैं —

(१) यह व्यवसाय उत्पादन एव पूँजी आदि की दृष्टि से भारत का दूसरा बडा व्यवसाय है। इसमे कुल पूँजी ७२ करोड रुपये है तथा १४० हजार श्रमिक ३,५०० पदधीकारियो तथा यातायात एव ग्रामीण गुड-व्यवसाय मे अनेक व्यक्तियो को रोजगार देता है।

(२) इस व्यवसाय के लिये गन्ने की खेती मे भारत के लगभग २ करोड किसान लगे हुये हैं। इस व्यवसाय ने विदेशी शक्कर के आयात मे खर्च होने वाले विदेशी विनिमय मे बचत कर भारत को आत्म निर्भर बनाया है।

(३) प्रारम्भ से ही उद्योग एव उत्पादन तथा उसकी कीमतें, गन्ने के उत्पादन, उसकी अच्छाई तथा उसकी कीमत पर निर्भर हैं। इसके विपरीत अन्य उद्योगो मे कच्चे माल का उत्पादन, उसकी अच्छाई एव कीमत, उद्योग की माँग आदि पर निर्भर रहता है।

(४) यह एक ऐसा उद्योग है जिसको सन् १९३१ से सन् १९५० तक सरक्षण मिला, जिससे यह उद्योग सरक्षण के प्रथम ७ वर्षों में ही स्वय निर्भर हो गया।

(५) इस उद्योग को सरक्षण से जो लाभ हुआ है, वह केवल मिल मालिको को ही न मिलते हुए गन्ने की उपज करने वाले किसानो को भी मिला है। उद्योग एव कृषि मे ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य किसी भी सरक्षित उद्योग मे नही मिलता।

पच-वर्षीय योजनायें—

पहिली योजना मे शक्कर के कारखानो की सख्या १६० तथा १५·४ लाख टन का उत्पादन लक्ष्य था, बढती हुई माग के कारण यह १८ लाख टन किया गया है।

गन्ने का उपयोग

वर्ष	उत्पादन ('००० टन)	गन्ने का का औसत उपयोग ('००० टन)			
		शक्कर	गुड	खडसारी	अन्य
१९५२-५३	४९ ७८९	२५ ३६	५३·५२	३ ३९	१७ ७३
१९५३ ५४	४३ ८७३	२२ १९	५५ ८२	३ २४	१८ ७५
१९५४-५५	५६ ९२३	२८ ००	८० ६३	३ ००	१८ ३७
१९५५-५६	५९·३१७	३१ ९३	४७ ६२	२ ८५	१७ ६०
१९५६-५७	६६·९९८	३१ १९	४७ ७७	२ ५४	१८ ५०
१९५७ ५८	६३ ९५४	३० ८०	४५ ५५	५ ३०	१८ ३५

पच वर्षीय योजना की अवधि मे शक्कर का उत्पादन निम्न रहा :—

वर्ष	कारखाने	उत्पादन ('००० टन)
१९५१	१३९	१,११४ ८[1]
१९५२		१,४९४ ०
१९५३		१,२९१ २
१९५४		१,०८८ ०
१९५५		१,५९४ ८
१९५६	१४३	१,८५६ ४
१९५७	१६६	२,००७ ६
१९५८	१५७	२,००६ ४
१९५९	१६४	१,९१९·०[2]

द्वितीय पच वर्षीय योजना मे शक्कर उत्पादन का लक्ष्य २२ ५ लाख टन तथा तीसरी योजना मे ३० लाख टन रखा गया है।[3] परन्तु दूसरी योजना के अन्त तक लक्ष्य पूरा हो सकेगा यह निश्चित नही कहा जा सकता। क्योकि सन् १९६० में फिर से शक्कर की कमी का अनुभव हो रहा है और इसलिए सरकार को शक्कर का पुनः

1 Journal of Industry & Trade, April 1960
2 भारतीय समाचार जून १, १९६०।
3 Third Five Year Plan—A Draft Outline

वितरण करना पड़ा। शक्कर के उत्पादन की कमी का कारण गन्ने में शक्कर की मात्रा मे कमी है। सन् १९५७-५८ मे जहाँ १० ०१% शक्कर गन्ने से निकाली जा सकती थी, वहाँ सन् १९५८-५९ मे ९ ८४% मिली। दूसरे, गन्ने का प्रदाय गुड एव खडसारी निर्माताओ को अधिक परिमाण मे होता रहा।[१] साथ ही, खडसारी और गुड उद्योगो को करो मे भी सुविधायें मिलती रही। परिणामस्वरूप सन् १९५७-५८ में जहाँ शक्कर कारखानो मे १९ ७५ मि० टन गन्ने की पिलाई हुई वही सन् १९५८-५९ में केवल १९·१२ मि० टन गन्ने की पिलाई हुई।

सन् १९५९-६० वर्ष—

इसी प्रकार सन् १९५९-६० वर्ष मे शक्कर उत्पादन मे वृद्धि होगी, ऐसी सम्भावनाएँ हैं, क्योकि उद्योग की उत्पानक्षमता मे १,३२,००० टन से वृद्धि होने से उद्योग की कुल उत्पादनक्षमता २३,३०,००० टन हो गई है। उत्पादनक्षमता मे वृद्धि का कारण ७ नये कारखानो की स्थापना तथा ८ कारखानो की विस्तार योजनाओ की पूर्ति है। दूसरे, शक्कर उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने एक योजना बनाई है। इस योजना के अनुसार—(१) कारखानो द्वारा दी जाने वाली गन्ने की न्यूनतम कीमतो में १२½% की वृद्धि, (२) शक्कर की एक्सफेक्ट्री कीमतो मे लगभग ५% की वृद्धि, (३) शक्कर कारखानो के २५-१०-१९५९ के स्टॉक पर २ ५२ रु० प्रति हड्रेडवेट की दर से विशेष आबकारी कर, तथा (४) सन् १९५९-६० मे गत दो वर्षों के औसत उत्पादन से अधिक उत्पादन होने पर आधारभूत-आबकारी कर मे ५०% की छूट (आबकारी कर की वर्तमान दर ११ २५ रु० प्रति हड्रेडवेट)। फिर भी शक्कर उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि की आशाएँ नही हैं, क्योकि सन् १९५९-६० मे यद्यपि गन्ने का क्षेत्र सन् १९५८-५९ के ४ ८० मि० एकड से बढकर ४ ९२ मि० एकड हो गया है, फिर भी अधिक वर्षा एव बाढो के कारण गन्ने की कम उपज होने के अनुमान हैं। वास्तविकता तो भविष्य ही बतावेगा।[२]

७ मई सन् १९६० तक देश मे २३ ५० लाख टन शक्कर उत्पादन हुआ, जो पिछली साल के अब तक के उत्पादन (१८ ८८ लाख टन) से अधिक रहा। यह प्रगति गन्ने की अच्छी फसल तथा शक्कर उत्पादन बढाने के उक्त सरकारी प्रयासो का ही परिणाम है, जो इस ओर सकेत है कि दूसरी योजना के अन्त तक शक्कर उत्पादन का लक्ष्य पूर्ण होगा।[३] ध्यान में रहे कि सन् १९५८ से भारत शक्कर का निर्यात कर रहा है।

उद्योग की वर्तमान समस्यायें—

(१) शक्कर उद्योग को केवल देशी माँग की पूर्ति करने का ही लक्ष्य न

१ देखिए तालिका पृष्ठ ९०।
2 Commerce Annual Number 1959, pp 211-12
३ भारतीय समाचार, जून १, १९६०।

रखते हुए उमे विदेशी मॉग के लिए बाजारो की खोज करनी चाहिए। अभी तक भारत का निर्यात अभ्यश ५०,००० टन वार्षिक है। शक्कर का निर्यात बढाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने शक्कर-निर्यात-समिति की नियुक्ति की थी। समिति की रिपोर्ट के अनुसार देश के बाजार मे शक्कर की कीमत बढा कर शक्कर निर्यात को प्रोत्साहन देना चाहिए, क्योकि प्रतिस्पर्धात्मक दृष्टि से भारतीय शक्कर की कीमत जहाँ २८॥) प्रति मन है, वहाँ विदेशी अभ्यश २ लाख टन वार्षिक किया जाय।

(२) हमारे यहाँ अच्छे किस्म की शक्कर का उत्पादन होना अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशा मे ब्यूरो ऑफ सुगर स्टैन्डर्डस् (सन् १९३५) उल्लेखनीय कार्यवाही कर रहा है। वह इस सम्बन्ध मे कारखानो को भी आवश्यक परामर्श देता रहता है। फलस्वरूप दाना शक्कर २८ अश (Grade 28) अन्य शक्कर प्रमापो से काफी अच्छी है। इस किस्म का उत्पादन सन् १९५०-५१ के वर्ष मे काफी अधिक हुआ, जो कुल उत्पादन का ५५·६% था। इस प्रकार इम सस्था के प्रयत्नो से शक्कर की विशेषता एव ग्रेड्स मे भी वृद्धि हुई है। सन् १९५०-५१ मे कुल २३ ग्रेडों की शक्कर का उत्पादन हुआ। इम प्रगति से स्पष्ट है कि उद्योग अपनी तान्त्रिक क्षमता बढाने के लिए प्रयत्नशील है। फिर भी भारतीय वैज्ञानिको को इस दिशा मे काफी उन्नति करनी होगी।

(३) भारतीय उत्पादको मे व्यापारिक नैतिकता होनी चाहिए, क्योकि बगाल सुगर व्यापारी सघ के अनुसार,—"कारखानो से व्यापारी वर्ग को उनके सौदो के अनुसार शक्कर का प्रदाय न होते हुए उससे कम दर्जे की शक्कर का प्रदाय अनेक कारखानो द्वारा किया गया है।" यह प्रवृत्ति भारतीय शक्कर व्यवसाय की उन्नति के लिए हानिकर है। इसलिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिमसे कुछ महत्त्वपूर्ण केन्द्रो मे शक्कर की किस्मो का निरीक्षण बोरो से नमूने निकाल कर किया जाय और जो कारखाने इसके लिए दोषी हो, उन्हे दण्ड मिले।

(४) उद्योग की महत्त्वपूर्ण समस्या 'गन्ने की उपज एव गन्ने से शक्कर की प्राप्ति के कम परिमाण' की है। यद्यपि गत वर्षों में गन्ने की उपज बढाने के लिए कृषि क्षेत्र बढाया गया, परन्तु प्रति एकड गन्ने की उपज कम हो गई है। इसी प्रकार गन्ने से शक्कर प्राप्ति का परिमाण भी कम है। इन दिशाओ मे अभी तक विशेष प्रगति नही हुई है। उत्तर-प्रदेश में उपज बढाने के लिए किसानो में स्पर्धा रखी जाती है, जो इस दिशा मे एक उल्लेखनीय कदम है। इसी प्रकार बम्बई, उत्तर-प्रदेश तथा विहार में कुछ चुने हुए खेतो में गन्ने का उत्पादन ७० से १०० टन प्रति एकड प्राप्त किया गया था। यदि इस प्रकार गहरी खेती, वैज्ञानिक साधन तथा अनुसन्धान के उपयोग से प्रति एकड उपज बढाई गई तो शक्कर की कीमते भी कम हो सकेंगी। इस समस्या को हल करने के लिए ही सन् १९३६ में दी इन्स्टीट्यूट ऑफ सुगर-टैक्नॉलॉजी की स्थापना कानपुर में की गई थी और सन् १९५२ मे लखनऊ के पास सुगर-रिसर्च इन्स्टीट्यूट (भद्रक) की स्थापना की गई है, जो विभिन्न राज्यो मे होने वाले अनु-

सन्धानो का समन्वय करेगी। यही पर इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ सुगर टेकनॉलॉजी भी स्थानान्तरित किया जायगा, जिससे सम्पूर्ण भारत को उसका लाभ मिल सकेगा।

गन्ने के विकास के लिए मैसूर राज्य ने एक नई योजना १ अप्रैल सन् १९५८ से तीन वर्ष के लिए लागू की है। इसके अन्तगत १० गन्ना विकास केन्द्र स्थापित होगे, जहाँ खाद, क्रम आदि के सम्बन्ध मे गहन खोज की जायगी। खाद आन्दोलन, सुधरे हुए बीजो का वितरण, इनामी प्लॉट, प्रयोग एव प्रचार तथा सहायता फॉर्मों की सम्बन्धी क्रियाओ मे गहनता लाई जायगी। इस प्रकार गन्ने की उपज बढाने एव उसको किस्म उन्नत करने के प्रयत्न व्यापक रूप मे होने की आवश्यकता है।*

(५) इसके अतिरिक्त ईंधन तथा भाप के उपयोग मे मितव्ययिता की आवश्यकता है। जैसा कि श्री नारग ने कहा है—बचत होकर यन्त्रो की घिसावट भी कम होगी, जो उद्योग के स्थायित्व की दृष्टि से वांछनीय है अत. भारतीय वैज्ञानिको को इस सम्बन्ध मे अधिक ध्यान देना चाहिए, क्योकि यदि ईंधन एव वाष्प का समुचित उपयोग मितव्ययिता से हो सकता है तो शक्कर का उत्पादन व्यय कम होकर उसकी कीमतें भी गिरेंगी।

(६) शक्कर जैसे भारत के एक महत्त्वपूर्ण उद्योग के लिए भी आवश्यक यान्त्रिक भागो का आयात विदेशो से होता है। गत ५ वर्ष मे ४ करोड रुपए के अलग-भागो (Spare Parts) का आयात हुआ। भारत मे सरकार को इस उद्योग की स्थापना के लिए आवश्यक पूँजी एव तन्त्रज्ञो की सहायता द्वारा प्रोत्साहन देना चाहिए, जिससे विदेशी विनिमय की बचत होकर उद्योग का आधुनिकीकरण हो सकेगा।

इस दिशा मे वालचन्द नगर इन्डस्ट्रीज लिमिटेड ने शक्कर कारखानो के लिए यन्त्र सयत्र स्वय तैयार करके उल्लेखनीय कार्यवाही की है। इन्होने बहुत भारी यन्त्र पजाब, आसाम, और मद्रास के तीन कारखानो को बनाकर दिये हैं। पानीपत मे यह कारखाना काम भी कर रहा है। कम्पनी की योजना है कि शक्कर मिलो की सम्पूर्ण मशीनरी वह तैयार करे, इस हेतु जेकोस्लोवाकिया की "स्कोडा कम्पनी" का सहयोग प्राप्त किया गया है। इस सम्बन्ध मे भारत के उद्योग मन्त्री श्री मनुभाई शाह का कथन है कि देश इस दिशा मे शीघ्र ही स्वावलम्बी हो जायगा। सन् १९६० मे ४, सन् १९६१ मे ८, सन् १९६२ मे २१ तथा तीसरी योजना के अन्त तक १०५ सयन्त्र बनाने लगेगा। इससे भारत शक्कर उद्योग की दृष्टि से पूर्णत. आत्मनिर्भर हो जावेगा।

सुझाव—

(१) अनुसन्धान कार्यों के ज्ञान का वितरण अखिल भारतीय ढग पर हो। इसलिए एक शक्कर-पत्रिका (Sugar Journal) मासिक प्रकाशित हो, जिसमे शक्कर एव गन्ने सम्बन्धी अनुसन्धान एव जानकारी का वितरण हिन्दी मे किया जाय। साथ ही, किसानो से सम्बन्धित अनुसन्धानो का वितरण चलते-फिरते चित्रपटो द्वारा उन

* Commerce, May 24, 1958

प्रदेशो मे किया जाय जहाँ गन्ने की खेती होती है क्योकि भारतीय किसान अशिक्षित हैं और वे प्रकाशित अनुसन्धानो से प्रत्यक्ष लाभ नही उठा सकते ।

(ii) शक्कर-व्यवसाय के लिए गन्ने का उत्पादन एव गन्ने मे शक्कर का परिमाण बढाने के लिए जो खोज हो उसकी ओर सरकार को विशेष ध्यान देना चाहिए एव अधिक व्यय करना चाहिए, परन्तु वर्तमान अवस्था मे यह नही हो रहा है । उदाहरणतः उत्तर-प्रदेशीय सरकार को पिछले १० वर्ष मे गन्ने के कर से १,०७७ लाख रुपये की आय हुई, जिसका केवल १० प्रतिशत ही सुधार-कार्य (तथा बहुधा अधिकारियो के वेतन) मे व्यय किया गया । सरकार को चाहिए कि गन्ने के कर से जो आय हो उसकी सम्पूर्ण राशि गन्ने की उपज सुधारने के कार्य मे खर्च करे । इस हेतु इस आय को पृथक निधि मे 'शक्कर एव गन्ना सुधार कोष' मे रखा जाना चाहिए, क्योकि "यदि वे (बिहार एव उत्तर-प्रदेशीय सरकार) शक्कर व्यवसाय को कामधेनु समझ कर, उसको जितना चाहे उतना दूध देने की आशा करें तो एक समय आयगा जब इन प्रदेशो का शक्कर-उद्योग अनार्थिक हो जायगा एव क्रमश महत्त्व खो बैठेगा ।" इसलिए इस उद्योग की समस्याओ को हल करने के लिए समुचित आयोजन करना चाहिए ।

(iii) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ सुगर टैक्नॉलॉजी, कानपुर मे हाल ही मे एक अनुसन्धान हुआ है, जिसके अनुसार मोलासेस से प्लास्टिक बनाया जा सकता है, जो अन्य क्रियाओ द्वारा बनाये गये प्लास्टिक से अच्छा होता है । अत इस अनुसन्धान का प्रत्यक्ष उपयोग करके शक्कर व्यवसाय के अन्तर्गत प्लास्टिक उद्योग का विकास किया जाय तो इससे शक्कर उद्योग मितव्ययी होकर उसका आर्थिक कलेवर सुदृढ हो सकेगा ।

(iv) अभी तक मोलासेस के सम्बन्ध मे मूल्य-निर्धारण करने की प्रथा नही है, जिसे अपनाना चाहिए । इससे प्रान्तीय डिस्टीलरीज को एक निश्चित दर पर ही मोलासेस दिये जा सकें तथा उनका कोटा भी निर्धारित किया जाय । इसी प्रकार शक्कर, गुड एव खडसारी शक्कर के मूल्यो का निर्धारण करते समय सरकार जिस प्रकार शक्कर के विभिन्न उत्पादन घटको को विचार मे लेती है, उसी प्रकार खडसारी एव गुड की कीमतो का निर्धारण भी करे । इससे इन तीनो उद्योगो मे परस्पर आर्थिक सन्तुलन स्थापित होकर वे प्रतियोगी नही रहेगे ।

अध्याय ५

संगठित उद्योग : २

(Organised Industries—2)

[१] कागज-उद्योग

भारत मे प्राचीन काल से ही कागज हाथ से बनाया जाता था। सगठित ढङ्ग पर सबसे पहला कारखाना सन् १७१६ में डॉ० विलियम केरी ने तजावर जिले के ट्राकुवार मे स्थापित किया, परन्तु इसकी विशेष प्रगति नही हुई। इसके बाद सन् १८६७ मे दूसरा कागज का कारखाना बेली पेपर मिल, बेली (बङ्गाल) मे स्थापित किया गया, जिसका एकीकरण टीटागढ पेपर मिल में सन् १९०३ मे हो गया। इस कारखाने की स्थापना के कारण ही आगे नये कारखाने खोले गये, जिनमे आज भारत के महत्त्वपूर्ण कागज निर्माता टीटागढ पेपर मिल की स्थापना, सन् १८८४ मे केवल तीन मशीनो से हुई थी। इस प्रकार इस उद्योग का आरम्भ हुआ। यातायात, कच्चे माल एव विद्युत शक्ति की दृष्टि से उद्योग का केन्द्रीयकरण बङ्गाल मे रानीगज के आस-पास के क्षेत्रो मे हुआ है।

विकास—

यद्यपि कागज बनाने का पहिला कारखाना सन् १७१६ मे स्थापित हुआ, फिर भी इसका विकास बेली पेपर मिल की स्थापना (सन् १८६७) से ही वास्तविक रूप मे आरम्भ होता है। क्योकि इसी कारखाने की सफलता से आगे अनेक मिलो की स्थापना हुई। इस उद्योग के विकास का इतिहास धूप छाँव का इतिहास है। अनेक बाधाओ से टक्कर लेते हुए किसी प्रकार उद्योग अपना अस्तित्व बनाये रख सका।

प्रथम विश्व-युद्ध—

सन् १९१४ मे प्रथम विश्व-युद्ध हुआ, तब उद्योग को आयात की कमी के कारण अप्रत्यक्ष रूप से विकास के लिए गुञ्जाइश मिली। फलस्वरूप सन् १९१८ में नेहट्टी मिल की स्थापना हुई, जिसने सन् १९२२ से उत्पादन आरम्भ किया। इस प्रकार युद्ध के आरम्भ के समय भारत मे कुल ५ कागज मिलें थी, जिनकी उत्पादन-क्षमता ३०,००० टन तथा वार्षिक उत्पादन २७,००० टन था। युद्ध के कारण उद्योगो को प्रोत्साहन तो अवश्य मिला, परन्तु युद्ध समाप्त होते ही उद्योग को प्रतियोगिता एव युद्धोत्तर मन्दी का सामना करना असम्भव हो गया। फलत. सन् १९२४ में उद्योग

ने सरक्षण की माँग की और उसे प्रारम्भिक स्थिति में ७ वर्ष के लिए सरक्षण दिया गया।

युद्धोत्तर-काल—

सन् १९२४ मे सरक्षण मिलने के कारण उद्योग ने अपनी उत्पादनशीलता बढाई, जिससे उद्योग का वार्षिक उत्पादन सन् १९३१ मे ४५,६०० टन हो गया। इसके बाद सन् १९३१ मे प्रशुल्क सभा ने उद्योग की फिर से जाँच की तथा अपनी रिपोट मे यह बताया कि सरक्षण की अवधि मे उद्योग ने सन्तोषप्रद प्रगति की है। इसके साथ ही उद्योग को आगामी ७ वर्ष के लिए (अर्थात् सन् १९३८ तक) सरक्षण देने की सिफारिश की। इस अवधि मे केवल पेपर मिलो की सख्या ही नही बढी, अपितु उत्पादन की किस्मे भी बढ गई। सन् १९३१ मे जहाँ केवल ५ कारखाने थे, वहाँ सन् १९३७ मे १० कारखाने हो गये, जिनका वार्षिक उत्पादन इन्ही वर्षों मे क्रमश. ४८,५३१ तथा ५३,८११ टन था। इस अवधि मे केवल लिखने एव छपाई का कागज ही मिलो ने नही बनाया, अपितु विशेष किस्मो का कागज, जैसे—बैंक पेपर, ब्लाटिंग पेपर, स्टॉबोर्ड आदि का निर्माण भी किया।

भारत मे स्टॉबोर्ड बनाने का सबसे पहिला कारखाना सन् १९३० में सहारनपुर में खोला गया, जिसने सन् १९३२ मे उत्पादन-कार्य आरम्भ किया। प्रारम्भ मे इस कारखाने को तीव्र प्रतियोगिता का विशेषत. जापानी प्रतियोगिता का सामना करना पडा। फिर भी भारतीय कारखानो के स्टॉबोर्ड का उत्पादन सन् १९३७ मे ८,००० टन हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध एव बाद मे—

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व-युद्ध छिड जाने से उद्योग के विकास को अवसर मिला। फलतः भारत मे आज स्टॉबोर्ड बनाने वाले १८ कारखाने हैं, जिनका वार्षिक उत्पादन ३०,००० टन तथा उत्पादन-क्षमता ५०,००० टन है, जबकि देशी माँग केवल २५,००० टन ही है। इसी प्रकार पेपर-बोर्ड के लिये भारत सन् १९३७ तक विदेशी आयात पर ही निर्भर था, जो सन् १९३७-३८ मे १०,००० टन था। परन्तु युद्ध के कारण पेपर-बोर्ड बनाने को भी प्रोत्साहन मिला और आज भारत मे पेपर-बोर्ड बनाने वाला सबसे बडा कारखाना दी रोहतास इण्डस्ट्रीज लि०, डालमियाँनगर (बिहार) है तथा भारत मे पेपर-बोर्ड का वार्षिक उत्पादन २४,००० टन है, जो देशी माँग के लिए पर्याप्त है।

क्राफ्ट पेपर का उपयोग पैंकिंग के लिए अधिक होता है। इसके लिए भारत विशेषत. स्केन्डिनेविया पर निर्भर था। इस किस्म के कागज का सन् १९३७-३८ मे १३,८०४ टन आयात हुआ। परन्तु युद्ध में आयात बन्द हो जाने से देशी उद्योग को प्रोत्साहन मिला, जिससे ओरियन्टल पेपर मिल ने इस किस्म का कागज बनाना आरम्भ किया। इसका वार्षिक उत्पादन सन् १९५१ मे १५,००० टन तथा उत्पादन-

क्षमता २०,००० टन थी। इस प्रकार कागज की विभिन्न किस्मो का निर्माण भारत मे वर्तमान माग के अनुसार पर्याप्त है, केवल न्यूज-प्रिन्ट की कमी थी। इस कमी को दूर करने के लिए मध्य प्रदेश मे नेपा मिल्स की स्थापना की गई है, जिसने जनवरी सन् १९५५ से उत्पादन आरम्भ किया एव इसकी उत्पादनक्षमता ३१,००० टन है। इस प्रकार इस उद्योग की प्रगति धीमी गति से हुई, परन्तु इसने भारत को कागज की विभिन्न किस्मो मे आत्म-निभर बनाकर विदेशी विनिमय की बचत की है। प्रगति की कल्पना नम्न तालिकाओ से होती है :—

उत्पादन क्षमता एव उत्पादन

वर्ष	कारखाना	(टनो में) वार्षिक उत्पादन-क्षमता	वार्षिक उत्पादन (टनो मे)
१९१३	५	३४,०००	२७,०००
१९२३	६	३६,८५०	२६,२८४
१९३७	१०	n a	४८,५३१
१९४४	१६	१,०३,८००	१,०३,७८४
१९४९	१६	१,१०,०००	१,०३,१९५
१९५१	१८	१,५८,५००	१,३१,९१५

प्रथम पच-वर्षीय योजना के अन्तगत इस उद्योग के उत्पादन लक्ष्य निम्न थे —

(हजार टन)

	१९५० ५१			१९५५-५५		
	कारखाने	वार्षिक उत्पादन क्षमता	उत्पादन	कारखाने	वा० उत्पादन क्षमता	उत्पादन
कागज व पट्ठा	१७	१३६-६	११४	१९	२१६	२००
स्ट्रॉ बोर्ड	१८	४८५	२२	२०	५८ ५	५२ ६
न्यूजप्रिंट	—	—	—	१	१०	२७

इस अवधि मे कागज उद्योग की प्रगति की कल्पना निम्न तालिका से होगी:—

विभिन्न किस्मो के कागज का उत्पादन[1] (टनो मे)

वर्ष	१९५१	१९५२	१९५३	१९५४	१९५५	१९५६	१९५७
किस्म							
(१) छपाई एवं लिखने का कागज	७९२६०	९१४२८	९५६२८	१०२८७६	११९४९६	१२२९८८	१२६५१६
(२) रैपिंग कागज	२५४८८	२१५४०	२११४४	२४१५६	२८३२०	३०९२४	३८०१६
(३) विशेष किस्मों का कागज	३१२०	२८२०	३४२०	४७८८	५६०४	५७७२	७२००
(४) पट्ठा	२४०४३	२१७२०	१९५१२	१३५०८	३१४६४	३३७२०	३८४००
(५) कुल उत्पादन	१३१९१६	१३७५०८	१३९७०३	१४५३२८	१८४८८४	१९३४०४	२१०१३२
(६) कारखानों की संख्या	१८	१८	१९	२०	२०	२३	

दूसरी योजना के अन्तर्गत उद्योग का विकास कार्यक्रम निम्नवत है :—

		न्यूज प्रिंट	कागज और पट्ठा
अनुमानित उत्पादन क्षमता	(३१-३-५६)	—	२,१०,०००
,, उत्पादन	(१९५५-५६)	—	१,८०,०००
,, आवश्यकता	(१९६०-६१)	१,२०,०००	३,५०,०००
उत्पादन क्षमता	(,,)	३०,०००	४,५०,०००
उत्पादन	(,,)	३०,०००	३,५०,०००

प्रथम योजना की अवधि मे भारत मे सन् १९५३ मे नेपा पेपर मिल्स की स्थापना हुई, जो न्यूजप्रिंट उत्पादन करने वाला पहिला कारखाना है। इसमे जनवरी सन् १९५५ से उत्पादन आरम्भ हुआ। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ३०,००० टन तथा सन् १९५८-५९ का उत्पादन २१,८३८ टन है। उसके पूर्व के तीन वर्षो मे (सन् १९५५-५६ से सन् १९५७ ५८) इसका उत्पादन क्रमश. ३,४५५, १३,५३४ तथा १४,१४५ टन था।[2] दूसरी योजना मे न्यूजप्रिंट की उत्पादन क्षमता ९०,००० टन करने का लक्ष्य रखा है। इस हेतु राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की सहायता से दो नए कारखानो की स्थापना होनी थी, जिनकी प्रत्येक की उत्पादन-क्षमता ३०,००० टन तथा ६ करोड़ रुपये पूँजी विनियोग होना था। "ये योजनाएँ तेजी से कार्यान्वित की जा रही है। ये योजनाएँ सरकार के विचाराधीन हैं, जो आयात की हुई लुगदी से प्रति दिन १०० टन न्यूजप्रिंट तैयार करेगी। इसी प्रकार १० टन प्रति दिन न्यूजप्रिंट उत्पादन करने वाली मिलो की स्थापना के भी ३-४ सुझाव हैं।"[3]

1 Second Five Year Plan—A Draft Outline
2 India—1960, भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।
३ आर्थिक समीक्षा—मार्च १९, १९६० पृष्ठ ८-९।

दूसरी योजना के आरम्भ मे स्ट्रॉबोर्ड और मिलबोर्ड की २३ इकाइया जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ७०,००० टन थी, इस क्षेत्र मे ६ नई इकाइयाँ और ६ नई स्कीमो को जिनकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता ४५ से ५० हजार टन है, लाइसेंस दिए गये हैं। इनके कार्यान्वित होने पर स्ट्रॉबोर्ड और मिलबोर्ड बनाने वाले कारखानो की उत्पादनक्षमता १,२०,००० टन हो जायेगी। कुछ नई इकाइयो को भी इसलिए लाइसेंस दिया गया है और १,२०,००० टन की उत्पादनक्षमता का लक्ष्य पूरा हो चुका है। स्ट्रॉबोर्ड और मिलबोर्ड का सम्पूर्ण यन्त्र सयत्र देशी साधनो द्वारा तैयार होने से उद्योगो को इस क्षेत्र मे प्रवेश करने का प्रोत्साहन मिला है। इस कारण नई इकाइयो को मुक्त रूप से लाइसेंस दिए जा रहे है।

एक इकाई सिगरेट-कागज तैयार कर रही है। व्यापार और उद्योग मे काम आने वाली दूसरी प्रकार के पतले कागज की माग भी बढ रही है, जिसे बनाने का काम अभी हाल ही मे एक मिल ने आरम्भ किया है। इसी प्रकार की दूसरी मिल को भी लाइसेंस दिया गया है।

वर्तमान स्थिति—

भारत मे कागज उद्योग का विकास विशेष महत्त्व रखता है। भारत मे कागज की प्रति व्यक्ति खपत २ पौंड है, जबकि अमरीका मे ४१८ पौंड और यूरोपीय देशो तथा जापान में १०० से २२२ पौंड तक है। दूसरी योजना के लक्ष्यो के अनुसार कागज और पट्ठे की उत्पादन-क्षमता ५,३०,००० टन (लक्ष्य ४,५०,०००) टन हो गई है और ३,२०,००० टन उत्पादन का लक्ष्य भी सन् १९६०-६१ तक पूरा हो जावेगा। इस प्रकार इस उद्योग के वर्तमान स्थिति की कल्पना निम्न तालिका से होगी.—

	सख्या	उत्पादन-क्षमता (वार्षिक)	
(१) कागज उत्पादन करने वाले वर्तमान कारखाने (१-२-१९६०)	२२	३,२४,०००	टन
(२) कारखाने जिनमे उत्पादन आरम्भ होने वाला है	७	३३,८४०	,,
(३) (i) कागज की बडी इकाइयाँ जिन्हे लाइसेंस दिए गए	७	१,४१,८००	,,
(ii) कागज उद्योग की बडी इकाइयाँ जिन्हे विस्तार के लिए लाइसेंस दिए गए	६	१,०१,५००	,,
(४) (i) कागज उद्योग की छोटी इकाइयाँ जिन्हे नई इकाइयो के लिए आयात लाइसेंस मे सम्मिलित किया गया	१२	३१,०००	,,

करने की दशा मे काफी प्राविधिक उन्नति हुई है । रेयन लुगदी के उत्पादन मे दूसरे प्रकार का कच्चा माल उपयोग मे लाने के प्रत्यन हुए हैं । इनमे अधिक उपयोगी कच्चा माल बास है । केरल में इस श्रेणी की लुगदी प्रति दिन १०० टन उत्पादन की योजना कार्यान्वित हो रही है । मैसूर राज्य के उत्तरी कानरा जगलो मे प्राप्त बास के प्रसाधनो पर आधारित दूसरी योजना सरकार द्वारा मान्य की गई है तथा तीन और योजनाओ के सम्बन्ध मे बातचीत चल रही है । इन सब योजनाओ के कार्यान्वित होने पर सन् १९६३ तक देश रेअन लुगदी के सम्बन्ध मे आत्मनिर्भर हो जायगा ।

इसी प्रकार रद्दी कागज, चिथडे, भूसा आदि कच्चे माल की लुगदी पर चलने वाली छोटी इकाइयाँ स्थापित की जा रही हैं । अभी तक १०,००० टन लुगदी का आयात कागज उद्योग करता है । इन इकाइयो को लगभग वार्षिक १५,००० टन लुगदी की २-३ वर्ष तक आवश्यकता होगी । आसाम लुगदी मिल (उत्पादन क्षमता ३०,००० टन) का कार्य शीघ्र ही आरम्भ हो रहा है । इसके सिवा डाग जगलो मे उत्पन्न बास से वार्षिक १५,००० टन लुगदी बनाने की एक योजना सरकार ने स्वीकार की है । इन योजनाओ की पूर्ति पर देश आत्म-निर्भर हो जायगा ।

इस प्रकार सरकार इस उद्योग को सुदृढ आधार पर स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है और इसी हेतु कागज उद्योग के लिए विकास परिषद् का निर्माण भी किया गया है, जो उत्पादन, वितरण, प्रशिक्षण, अनुसन्धान, कार्यक्षमता आदि विभिन्न अगो पर अधिक जिम्मेवारी के साथ विचार कर उद्योग की विविध समस्याओ को सुलझाने का प्रयास करेगी । इससे स्पष्ट है कि उद्योग का भविष्य ज्योतिर्मय है ।*

[२] सीमेट उद्योग

वतमान युग में वायुयानो के उतरने के लिए सीमेट कान्क्रीट की सडक, यन्त्रो की स्थापना मे, मकान बनवाने मे, यातायात एव अन्य विकास योजनाओ मे सीमेन्ट का स्थान महत्त्वपूर्ण है । देश के औद्योगीकरण एव विकास योजनाओ की पूर्ति के लिए लोहे एव इस्पात तथा कोयले के साथ मे ही सीमेट का भी महत्त्व है । परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस महत्त्व के होते हुए भी भारत मे सन् १९०४ तक इस उद्योग की स्थापना के प्रयत्न नही हुए और आज भी अपने वर्तमान उत्पादन से, जो सन् १९५९ मे ६८ १४ लाख टन है, यह उद्योग भारतीय माँग को पूरा करने मे असफल है ।

उगम एव विकास—

भारत मे पोर्टलेंड सीमेट बनाने का पहिला कारखाना सन् १९०४ मे मद्रास राज्य मे खोला गया था, परन्तु वह असफल रहा । इसके ९ वर्ष बाद पोरबन्दर मे

---

* भारत का कागज उद्योग—केन्द्रीय उद्योग मन्त्री श्री मनुभाई शाह (आर्थिक समीक्षा—मार्च ११, १९६०) ।

दूसरा छोटा कारखाना खोला गया। इसके बाद ही लखेरी और कटनी मे कारखाने खोले गए, जिन्होने सन् १९१४-१५ मे सीमेट उत्पादन प्रारम्भ किया। इसी समय प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ, इसलिए ये तीनो ही कारखाने सफलतापूर्वक चलने लगे। इनके नाम इण्डियन सीमेट कम्पनी लखेरी (बूदी), पोर्टलैंड सीमेट कम्पनी (पोरबन्दर) तथा कटनी सीमेट एण्ड इन्डस्ट्रियल कम्पनी हैं।

विश्वयुद्ध प्रथम—

इस युद्ध के आरम्भ होते ही सीमेट की माग बढी, क्योकि विदेशी आयात, जो लगभग १ ८ लाख टन वार्षिक था, बन्द हो गया। इससे उद्योग को प्रोत्साहन मिला, फलतः सीमेट के ७ नए कारखाने खोले गये। युद्ध-जन्य माग की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने सम्पूर्ण सीमेंट-उत्पादन अपने अधिकार मे ले लिया तथा जनता की माँग के लिए कुछ न था। इसी कारण ये ७ कारखाने बाजार के प्रादेशिक क्षेत्र के अनुसार खोले गये। फिर भी इनमे प्रतियोगिता होने लगी। इस तीव्र स्पर्धा के कारण ७ कम्पनियो मे से तीन का विलय हो गया, जिसके हिस्सेदारो को २ करोड से २½ करोड के लगभग घाटा हुआ। फिर भी जो कम्पनियाँ सीमेट क्षेत्र मे थी, उनकी उत्पादन क्षमता बढ रही थी। सन् १९२४ और सन् १९३० मे सीमेट का वार्षिक उत्पादन २ ३ तथा ५ ६४ लाख टन था, जहाँ सन् १९१४ मे केवल ९४५ टन वार्षिक उत्पादन था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध इस उद्योग के विकास के लिए वरदान साबित हुआ, जिससे भारत की सीमेट की उत्पादन क्षमता बढ गई।

दी इण्डियन सीमेट मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन—

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् सन् १९२३-२६ में जो मन्दी आई उससे कई कम्पनियो का विलय हो गया तथा उद्योग की स्थिति डावाडोल हो गई थी। इसलिए इस उद्योग की जाँच के लिए टेरिफ बोर्ड की नियुक्ति हुई। टेरिफ बोर्ड ने अपनी रिपोर्ट मे सीमेट निर्माताओ मे परस्पर सहयोग की स्थापना पर जोर दिया। फलत. सन् १९२५ मे दी इण्डियन सीमेट मैन्युफेक्चरर्स एसोसियेशन की स्थापना हुई। इस एसोसियेशन का उद्देश्य परस्पर सहकारिता से सीमेट के विक्रय-मूल्य निश्चित करना था। उत्पादन एव बिक्री के सम्बन्ध मे प्रत्येक सदस्य कारखाने की स्वतन्त्र व्यवस्था थी। इतने पर भी सीमेट निर्माताओ ने इस सहयोग से कार्य किया कि इस एसोसियेशन का चार वर्ष की कार्यवाही में मूल्य-कमी (Price-cutting) का एक भी उदाहरण नही मिलता। एसोसियेशन ने सीमेट की माँग बढाने, ग्राहको को सीमेट के उपयोग तथा उस सम्बन्ध मे तान्त्रिक सलाह देने के लिए सदस्य निर्माताओ के सहयोग से सन् १९२७ मे कान्क्रीट एसोसियेशन ऑफ इण्डिया की स्थापना की। अर्थ व्यवस्था के लिए प्रत्येक सदस्य अपनी कुल बिक्री पर ५ आने प्रति टन की दर से चन्दा देता था। यह इस उद्योग की अपनी विशेषता है, जो अन्य किसी भारतीय उद्योग में नही है।

दी सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी—

दी इण्डियन सीमेंट मैन्युफेक्चरर्स एसोसियेशन को सदस्य कारखानो ने जो सहयोग दिया, उससे एसोसियेशन को यह विश्वास हुआ कि यदि वे अपने उत्पादन की बिक्री केन्द्रीय सगठन से करेंगे, तो विक्रय व्यय मे मितव्ययिता होकर सीमेंट की कीमत कम हो सकती है। इसलिए सन् १९३० मे दी सीमेंट मार्केटिङ्ग कम्पनी लि० की स्थापना की गई और मैन्युफेक्चरर्स एसोसियेशन खतम कर दिया गया। इस नई सस्था ने प्रत्येक सदस्य निर्माता की उत्पादन-क्षमता के अनुसार बिक्री का कोटा निश्चित कर दिया, जिसकी बिक्री इस सस्था के माध्यम से होने लगी। इससे प्रतियोगिता का अन्त तो हुआ ही और वितरण व्यय में भी मितव्ययिता हुई। यातायात आदि के खर्च कम होने से सीमेन्ट की बिक्री की कीमत भी निश्चित कर दी गई, जिससे उपभोक्ताओ को भी लाभ हुआ। मार्केटिङ्ग कम्पनी की सफलता एव प्रभावी नियन्त्रण के कारण सन् १९३४ मे चार और सीमेंट निर्माणियो ने इसकी सदस्यता प्राप्त की, जिससे सीमेंट की कीमतें २५% कम हो गई।

दी एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनीज लि०—

उद्योग के विभिन्न निर्माताओ के सहयोग से निर्माताओ ने उद्योग को सुसगठित ढङ्ग पर सचालन करने के हेतु तथा वैज्ञानिक साधनो का उपयोग कर सीमेंट का उत्पादन एव वितरण मितव्ययी बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। इस हेतु पी० ई० दिनशॉ ने विभिन्न सीमेंट कम्पनियो के समावेशन (Merger) की एक योजना बनाई। तदनुसार सोनेवेली पोर्टलेंड सीमेंट कम्पनी के अलावा सभी तत्कालीन कम्पनियो के समावेश से सन् १९३६ मे दी एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड की स्थापना हुई। इस कम्पनी के निर्माण से भारत के एक राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण उद्योग का सङ्गठित ढङ्ग पर विकास होने लगा। यहाँ पर यह ध्यान रहे कि यह सब टेरिफ बोर्ड के सुझावो के ही अनुसार हुआ था। इस प्रकार विभिन्न कम्पनियो के परस्पर सहयोग के कारण सन् १९३० से सन् १९३६ तक के ६ वर्षों में सीमेंट की कीमतें १० रु० प्रति टन कम हो गई, जो उपभोक्ताओ के हित मे ही था।

इसके पश्चात् सन् १९३८ में डालमियाँ समूह की सीमेंट निर्माणियो ने ए० सी० सी० कम्पनी से तीव्र प्रतियोगिता शुरू की। इनके साथ वार्तालाप होते होते सन् १९४० मे समझौता होकर इन दोनो समूहो के उत्पादन की केन्द्रीय बिक्री के लिए सीमेंट मार्केटिङ्ग कम्पनी फिर काय करने लगी। इन दो समूहो के अलावा चार और कम्पनियाँ भी सीमेंट उत्पादन कर रही हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध और सीमेंट—

३ सितम्बर सन् १९३९ मे दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ा। युद्ध आरम्भ होते ही सभी वस्तुओ की कीमतें बढने लगी, जिससे सीमेंट का उत्पादन तथा पैकिङ्ग व्यय भी बढ़ गया। फलत, सीमेंट की कीमतें भी बढी। युद्ध-काल मे इस उद्योग पर इण्डस्ट्रीज

एण्ड सिविल सप्लाई विभाग का नियन्त्रण था। उद्योग का लगभग ८०% उत्पादन मध्य एवं पूर्वी एशियाई देशों में निर्यात के लिए केवल भारत सरकार द्वारा खरीदा जाता था। शेष जनता की मांग के लिए मिलता था, जो अधूरा होने से सरकार ने वितरण पर भी नियन्त्रण लगाया, जिससे केवल अनिवार्य कार्यों के लिए ही सीमेंट दिया जाता था।

युद्ध समाप्त होते ही सीमेंट की सरकारी मांग कम हो गई। फिर भी सरकारी विकास योजनाओं के कारण सरकार एवं जनता दोनों की ही सीमेंट के लिए मांग बढ़ गई है। सन् १६४७ में डालमियां सीमेंट समूह तथा ए० सी० सी० में कीमतों के विषय में मतभेद होने से डालमियां समूह की निर्माणियां अब अलग हो गई हैं। सन् १६४७ में सीमेन्ट के १८ कारखाने थे, जहां १४ ४८ लाख टन सीमेन्ट का उत्पादन हुआ।

भारतीय सीमेंट उद्योग ने उत्पादन-क्षमता बढ़ाने में गत वर्षों में काफी प्रगति की है, जो निम्न आंकड़ों से स्पष्ट होती है :— (हजार टन)

सन् १६३८	१,४०४	सन् १६४५	२,००६
सन् १६४०	१,७१२	सन् १६४६	१,५४२
सन् १६४१	२,०७३	सन् १६४७	१,४४८
सन् १६४२	२,१८८	सन् १६४८	१,५५३
सन् १६४३	२,११८	सन् १६४६	२,१०२
सन् १६४४	२,०४८	सन् १६५०	२,६१३

इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि सन् १६३८ से सन् १६४२ तक सीमेंट उत्पादन बराबर बढ़ रहा था। परन्तु बाहरी कठिनाइयों के कारण तथा कड़े नियन्त्रण की वजह से उद्योग के उत्पादन को कुछ क्षति पहुँची, जिससे सन् १६४३-४४ तथा ४६ में उत्पादन कम हुआ और यही प्रवृत्ति आगे भी रही। सन् १६४६ से उद्योग की प्रगति अच्छी हो रही है, इस कारण आज सीमेंट की कीमतें स्थायी होकर यह उद्योग मजबूत नींव पर स्थापित हो गया है। सन् १६४७ से सन् १६४६ तक उत्पादन कम होने के कारणों में भारत का विभाजन एक प्रमुख कारण रहा। सन् १६५० से उत्पादन में वृद्धि हो रही है, इसमें दो कारण प्रमुख हैं —पहला, सौराष्ट्र, मद्रास तथा ट्रावनकोर-कोचीन में तीन सीमेंट निर्माणियों की स्थापना, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २६,००,००० टन है। दूसरे, अप्रैल सन् १६५१ में बम्बई में एक नई सीमेंट कम्पनी का उद्घाटन हुआ। इस कारण सन् १६५१ में सीमेंट निर्माणियों का कुल उत्पादन ३,१६५ ६ हजार टन हुआ।

प्रथम योजना काल में उद्योग की प्रगति का परिचय निम्न तालिका से मिलता है :—

वर्ष	सीमेंट उत्पादन (हजार टन)	अस्बेस्टॉस सीमेंट शीट (हजार)
१९५०	२,६१२ ४	८६'४
१९५१	३,१९५ ६	८२ ८
१९५२	२,५३७ ६	८७ ६
१९५३	३,७८० ०	७९ ६
१९५४	४,३९८ ०	३९ २
१९५५	४,४८७ २	१०४'४
१९५६	४,९२८ ४	१२०'०
१९५७	५,६०१ ६	१५८ ४
१९५८	६,०६८'०	—
१९५९	६,८१४'०	—

स्पष्ट है कि सन् १९५७ मे सीमेंट उद्योग ने प्रगति की है। सन् १९५७ में उत्पादन क्षमता एव उत्पादन ६५ ६ लाख और ५६ १ लाख टन रहा, जब कि सन् १९५६ में यही क्रमशः ५६ और ४९ लाख टन था।

दूसरी योजना मे ५४ नवीन योजनायें स्वीकृत की गई हैं, जिनमे से २५ योजनायें नए कारखानो की स्थापना तथा ३९ योजनाये वर्तमान कारखानो के विस्तार की हैं, जिससे वार्षिक उत्पादन क्षमता १ करोड टन होगी। इसमे से ११ विस्तार योजनाओ की पूर्ति तथा ४ नये कारखानो की स्थापना सन् १९५८ के अन्त तक हो जायगी, जिससे देश की उत्पादन क्षमता मे १८ लाख टन की वृद्धि होगी। इसके सिवा ११ और योजनायें सन् १९५९ के अन्त तक पूरी होगी जिससे इस तिथि तक कुल उत्पादन क्षमता १०४ लाख टन वार्षिक होगी।[1] इसके साथ ही देश मे सफेद सीमेंट बनाने की योजना भी है। इस हेतु प्रयोगिक यन्त्र हैदराबाद की प्रादेशिक अनुसन्धानशाला मे लगाये गये हैं।[2] दूसरी योजना के अन्त तक उद्योग की उत्पादन क्षमता एव उत्पादन का लक्ष्य १२० लाख और १०० लाख टन निर्धारित किया है।

इस प्रकार सन् १९५९ मे देश मे ३२ कारखाने थे, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८३ ५ लाख टन थी, जो दूसरी योजना के अन्त तक १०२ २ लाख टन हो जायगी। सीमेंट कारखानो को बढाने के लिए अमेरिका के शिल्प सहयोग मिशन और विकास ऋण विधि से विदेशी मुद्रा ली गई है। अनुमान है कि सन् १९६२ तक देश के कारखानो से ही देशी माँग की अधिकांश पूर्ति होने लगेगी।

1 Journal of Industry and Trade July 1958, p 950.
२ भारतीय समाचार १ अक्टूबर सन् १९५८।

सीमेंट का निर्यात बढाने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। निर्यात के लिए जो ४ लाख टन सीमेंट रखा गया था उसमे से जनवरी सन् १९६० के अन्त तक ३,०१,४१० टन सीमेंट निर्यात करने की कार्यवाही हो चुकी है और लगभग २३९ हजार टन सीमेंट निर्यात हो चुका है।[1]

तीसरी योजना मे सन् १९६५-६६ तक सीमेंट उत्पादन का लक्ष्य १३० लाख टन रखा गया है, जबकि सन् १९६०-६१ मे सीमेंट का लक्ष्य ८८ लाख टन प्राप्त करने की आशा है। यह लक्ष्य सन् १९६०-६१ में जो उत्पादन स्तर अनुमानित है उससे ५०% वृद्धि का परिचायक है।

इस प्रगति से स्पष्ट है कि यह उद्योग भविष्य मे विदेशी विनिमय अर्जन करेगा और साथ ही देश की बढती हुई माग की पूर्ति भी भली-भाँति कर सकेगा।

[३] कोयला उद्योग

प्रत्येक देश की औद्योगिक प्रगति के लिये कोयला और लोहा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन हैं। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे जहाँ तीन लौह एव इस्पात के कारखाने खोलने की योजना है वही इस उद्योग के लिए आवश्यक कोयले की भी पर्याप्त व्यवस्था होना आवश्यक है, क्योंकि यह महत्त्वपूर्ण औद्योगिक ईंधन (Fuel) है। इसलिए साधारणतः उद्योगो की स्थापना कोयले के समीपस्थ क्षेत्रो में ही होती है। देश की औद्योगिक शक्ति का अनुमान आजकल उस देश में प्राप्त होने वाली कोयले की मात्रा से लगाया जाता है।

वर्तमान स्थिति—

कोयले के उत्पादन मे भारत का विश्व मे आठवाँ स्थान है, परन्तु भारतीय कोयला अन्य देशो की अपेक्षा निम्न कोटि का है। भारत मे कोयले के प्रमुख क्षेत्र रानीगज और गिरिडीह हैं। भारत की कुल खानो मे से ७०% खाने केवल रानीगज और झरिया मे ही हैं, जहाँ से लगभग ८०% कोयला प्राप्त होता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोयला उद्योग अधिक प्रगति कर रहा है, जो इस उद्योग के वार्षिक उत्पादन से स्पष्ट होता है —

वर्ष	उत्पादन[2] ('०० टन)	वर्ष	उत्पादन (लाख टन)
१९५०	३१,९९२	१९५५	३८२*
१९५१	३४,२०८	१९५६	३९४*
१९५२	३६,२२८	१९५७	४३५*
१९५३	३५,८४४	१९५८	४५३*
१९५४	३६,७६८	१९५९	४७८ ३०†

१ भारतीय समाचार—अप्रेल १५, सन् १९६०।

2 Hindusthan Year Book 1954—Sarkar

* India 1960

† भारतीय समाचार—जून १५, १९६०।

लागत का खदान कार्य कर रहा है। लिग्नाइट का उत्खनन सन् १९६१ के आरम्भ में शुरू हो जायगा।[1]

इस प्रकार द्वितीय पच-वर्षीय योजना का लक्ष्य इस उद्योग का युक्तिपूर्ण सगठन करना है। इसकी आवश्यकता कोयले के प्रादेशिक वितरण तथा धातुशोधन के लिए उच्च कोटि के कोयले को सुरक्षित करने की दृष्टि से भी है। कोयले के प्रादेशिक उत्पादन मे वृद्धि होने से रेलें समीपस्थ कोयला क्षेत्र से माल को निर्दिष्ट स्थान तक जल्दी से जल्दी पहुँचा सकेगी और रेले कोक बनाने का बढिया कोयला बचा सकेंगी। क्योकि रेलें लम्बी यात्रा मे आम कोयला भाप बनाने के लिए प्रयोग करती हैं अथवा दुर्गम प्रदेशो मे जाने मे। जब माल कम दूर ढोना होगा तो वे योजना के अनुसार घटिया कोयले का ही उपयोग करेंगी।

कोयला खदानो का पुनर्गठन—

कोयले के स्रोतो मे फिजूलखर्ची के निवारण के लिये तथा कोयले की उत्पादन पद्धति मे सुधार करने के लिये कोयले की खानो का एकीकरण द्वारा पुनगठन करने की योजना बनाई है। झरिया मे ७३४ और रानीगज मे ६६६ ऐसी खदाने हैं जिनका मासिक उत्पादन १०,००० टन से भी कम है। इतना ही नही, अपितु अनेक मे आवश्यक यन्त्र एव सामग्री एव तन्त्रज्ञो की कमी है, जिससे वे वैज्ञानिक एव नियोजित पद्धति से कोयले का विदोहन नही कर सकती। इसलिए राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिये इन खदानो का पुनर्गठन अनिवार्य हो गया है। इस पर विचार करने के लिये सन् १९५५ मे कोयला खदान एकीकरण समिति की नियुक्ति की गई थी। इस समिति ने अपनी सिफारिशे प्रस्तुत की हैं, जिसके अनुसार जिन खदानो का मासिक उत्पादन १०,००० टन से कम, क्षेत्र १०० एकड से कम तथा जिनमे कोयले का सग्रह ५० से कम वर्षों के लिये है उनका एकीकरण किया जायगा।[2]

तीसरी योजना मे—

योजना आयोग का अनुमान है कि इस्पात, थर्मल शक्ति एव रेल्वे के लक्ष्यो के आधार पर तीसरी योजना के अन्त तक कोयले की मॉग ९७ मि० टन होगी। इसके अनुसार तीसरी योजना मे ३७ मि० टन की उत्पादन मे वृद्धि होना चाहिए, क्योकि दूसरी योजना के अन्त मे कोयले का उत्पादन लक्ष्य ६० मि० टन रखा गया था। किन्तु यह लक्ष्य योजना की अवधि मे पूरा होने की सम्भावनाएँ नही हैं। यद्यपि दूसरी योजना मे निजी क्षेत्र की वर्तमान खदानो से ही अतिरिक्त उत्पादन पर्याप्त हुआ है फिर भी तीसरी योजना के लक्ष्य की पूर्ति के लिए नई खदानो को खोलना होगा। इस हेतु अधिक प्रयत्न एव पूँजी विनियोग की आवश्यकता होगी।

कोयला कार्यक्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण हेतु स्टील उद्योग के लिए कोकिंग कोयले

---

1 India—1960

2 Amrit Bazar Patrika May 1958

का तथा रेल्वे एव कुछ अन्य उद्योगो के लिए उच्च कोटि के नॉन कोकिंग कोयले का प्रदाय करना होगा। यद्यपि इन उद्योगो की तीसरी योजना मे कोयले की सही आवश्यकता के सम्बन्ध मे निश्चित जानकारी नही है। फिर भी अनुमान है कि इन उद्योगो को तीसरी योजना में ११ मि० टन कोकिंग कोयला तथा १० मि० टन नॉन-कोकिंग कोयले की अतिरिक्त आवश्यकता होगी। यह रानीगज एव झरिया की निजी क्षेत्र की कोयला खदानो से ही प्रमुख रूप मे पूरी हो सकेगी। अन्य कोयले का अतिरिक्त उत्पादन विशेष रूप से करनपुरा (बिहार), मध्य-प्रदेश, उडीसा और आध्र की कोयला खदानो से होगा। इस हेतु सरकारी क्षेत्र के कोयला उत्पादन के लिए १३८ करोड रु० तथा बोकारो स्टील प्लाट की योजना राशि (२०० करोड रु०) मे कुछ राशि का आयोजन है।[1]

भारतीय कोयला परिषद की बैठक में कोयले की उत्पादन वृद्धि एव उसकी किस्म तथा इस हेतु आवश्यक तकनीकी विशेषज्ञो एव इञ्जीनियरो की आवश्यकता की पूर्ति के सम्बन्ध मे विचार किया गया।[२] इस प्रकार कोयला उद्योग के विकास के लिए विशेष प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे भारत का औद्योगिक उत्पादन कोयले की कमी के कारण प्रभावित न हो सके।

उद्योग की समस्याएँ—

(१) भारतीय श्रमिक की उत्पादनशीलता कम है, जो प्रति व्यक्ति (Per man shift) ०.४१ टन है, जिसमे वृद्धि की आवश्यकता है। इसलिये कोयला खदानो का अधिक यन्त्रीकरण करना होगा तथा श्रमिको को अपनी उत्पादनशीलता बढाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, जिससे स्रोतो का मितव्ययितापूर्ण उपयोग हो सके।

(२) तन्त्रज्ञो की कमी—प्रत्येक स्तर पर आवश्यक तन्त्रज्ञो की कमी है, जो वर्तमान प्रशिक्षण सुविधाओ से पूरी नही हो सकती, इसलिये वर्तमान प्रशिक्षण विद्यालयो एव महाविद्यालयो का विस्तार होना चाहिए। साथ ही, राज्य सरकारो की कोयला खदानो की साथ कक्षाओ में प्रशिक्षितो की सख्या बढाई जानी चाहिये। निम्न स्तर के कुशल कर्मचारियो की कमी को दूर करने के लिये सामजस्यपूर्ण प्रयत्न होना चाहिये, जिससे सभी खदान उद्योगो की माँग पूरी हो सके।

---

1 Third Five Year Plan—Adraft outline, page 211-12
२ भारतीय समाचार, जून १, १९६०

अध्याय ६

भारतीय तटकर नीति

(Indian Fiscal Policy)

विश्व के विभिन्न राष्ट्रो मे यह सिद्धान्त मान्य कर लिया गया है कि राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास में प्रगतिशील एव सक्रिय भाग ले। प्रत्येक देश की सरकारी औद्योगिक नीति का यह प्रमुख भाग रहा है कि सरकार अपने राष्ट्रीय साधनो के अनुसार एव देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक उत्तरदायित्व स्वय अपने ऊपर लेती ह। देश के औद्योगीकरण को गति देने में सरकार की तटकर नीति महत्त्वपूर्ण होती है। इसी दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति के अनुसार :—"सरकार की प्रशुल्क नीति ऐसी रहेगी, जिससे अनुचित विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतो का पूर्णतम् उपयोग हो सकेगा तथा उपभोक्ताओ पर अनुचित प्रभार भी नही रहेगा।"* परन्तु इसके पहिले भारत सरकार की नीति क्या थी, यह देखना होगा।

सन् १६२१ के पूर्व—

सन् १६२१ मे भारत पर विदेशी सत्ता का केवल राजनैतिक ही नही, अपितु आर्थिक पजा भी था। भारत की आर्थिक एव व्यापारिक नीति का सचालन इङ्गलैण्ड मे बैठ कर भारत सचिव करता था। तत्कालीन आर्थिक नीति की विशेपता भारत का आर्थिक शोपण कर अग्रेजी उद्योगो को वल देने में थी। इसलिए उस समय भारत जैसा विशाल वाजार इङ्गलैण्ड के उद्योगो को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत केवल कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश वना रहे तथा यहाँ का औद्योगिक विकास न हो। फलत. भारतीय शासन की मुक्त व्यापार नीति रही, जिसमे विदेशी निर्माता मजे से भारतीय उद्योगो का गला घोट सकते थे, क्योकि सन् १८६० तक तो भारत में उधोगो का विकास ही नही हुआ था और जो कुछ थोडा सा था भी, वे विदेशी माल की प्रतियोगिता में असमर्थ थे। इसके अलावा भारत मे औद्योगिक विकास आधुनिक ढग पर होने के पहिले से ही विदेशी निर्माताओ ने विशेपत. इङ्गलैड ने अपना आसन जमा लिया था। इङ्गलैड मे औद्योगिक क्रान्ति होने के पूर्व कुछ समय तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से भारतीय कुटीर उद्योगो को बल मिला, परन्तु यह नीति अधिक काल तक न टिक सकी। इस प्रकार भारत मे पूर्णरूपेण मुक्त व्यापार नीति का ही अवलम्ब किया गया, जो सन् १८८२ से सन् १८६४ तक रही।

---

* India—A Government of India Publication

सन् १८९४ मे एक ओर तो भारतीय रुपए का अवमूल्यन हो रहा था ओर दूसरी ओर भारत सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ रही थी। अत: सरकार को आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दिसम्बर सन् १८९४ मे ५% आयात कर लगाना पडा। परन्तु रेल्वे के लिए आवश्यक सामान एव यन्त्र-सामग्री आयात कर से मुक्त थी और लोहा एव इस्पात के आयात पर १% आयात कर था। आयात कर के लगाते ही लकाशायर एव मैनचेस्टर के मिल-मालिको ने हायतोबा मचाया, इसलिए भारत सरकार ने २० नम्बर सूत एव इससे अच्छी किस्म के सूत पर तथा भारतीय कपडे के उत्पादन पर ५% उत्पादन कर लगा दिया, जिससे आयात कर का लाभ भारतीय निर्माताओ को न मिले। इस प्रकार आयात कर की पूर्ति उत्पादन करो से होती थी, जिससे उसका लाभ किसी भी प्रकार से भारतीय उद्योगो को न मिले। यह नीति सन् १९१६ तक रही तथा उसका पालन भी कडाई के साथ किया गया। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग धन्धे प्रोत्साहन के अभाव मे न पनप सके और भारत अधिकाश रूप मे कच्चे माल का निर्यात करने वाला कृषि प्रधान देश रह गया।

प्रथम युद्ध-काल मे (i) भारत का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने, आयात बन्द होने तथा युद्ध-जन्य आवश्यकताओ की वृद्धि के कारण शासको को अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुई। (ii) भारत मे सन् १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन की जडे मजबूत होने लगी, जिससे अँग्रेजो की भारत सम्बन्धी नीति की कडी आलोचना हो रही थी। (iii) जर्मनी के अनुभव से जहाँ उद्योगो को विदेशी प्रतिस्पर्धा से सरक्षण देकर औद्योगिक विकास हुआ था, उसके आधार पर सरक्षण नीति जापान आदि देशो मे अपनाई गई थी। (iv) युद्ध के सचालन मे भारत से व्यक्ति, सामग्री तथा धन मे जो सहायता मिली, उसके फलस्वरूप सन् १९१७ मे मॉटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो की घोषणा हुई। (v) सन् १९१६ के औद्योगिक आयोग ने भारत के औद्योगीकरण के सम्बन्ध मे छानबीन कर जो निर्णय दिया, उसमे कहा—"भविष्य मे देश के औद्योगिक विकास मे सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए, जिससे भारत मनुष्य एव सामग्री की दृष्टि से आत्म निर्भर हो सके।"[1] औद्योगिक आयोग ने यह सुझाव दिया था :— "औद्योगिक जिम्मेदारी लेने के लिए सरकार अपने पास वैज्ञानिक एव तान्त्रिक विशेषज्ञो की पर्याप्त नियुक्ति करे, जो उद्योगो को सलाह दे सकें।" परन्तु अभाग्यवश आयोग की सिफारिशो को ताक मे रखा गया।[2]

भारत मे जो राजनैतिक परिवतन एव जागृति हो रही थी उससे अँग्रेज शासको को भारत के प्रति रुख में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, अतः अगस्त सन् १९१७ मे मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो की घोषणा हुई। इसमे भारतीयो को 'स्वय निर्णय' का,

1 Industrial Commission, 1916

2 Industrialization—P. S Loknathan, p 6

अपनी व्यापारिक तथा आर्थिक नीति मे सशोधन एव सुधार करने का अधिकार मिला, जो भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर पहला कदम था।

भारतीयो को स्वय निर्णय का अधिकार देने के लिये सन् १९१९ मे गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया बिल के परीक्षण के समय सयुक्त प्रवर-समिति ने यह मत दिया :—"भारत एव इङ्गलैंड की सरकार के सम्बन्धो को अन्य किसी बात से इतना खतरा नही है जितना कि भारत की तटकर नीति से, जिसका सचालन व्हाइटहॉल से ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारिक हितो के लिए होता है और आज भी यही विश्वास है, इसमे सन्देह नही। इस समस्या का समुचित हल तभी सम्भव है, जब भारत सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य का अविच्छिन्न भाग होने के नाते भारत की आवश्यकता के अनुसार प्रशुल्क व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दी जाय, जिसका विश्वास एक प्रतिज्ञा से दिया जा सकता है।"*
फिर भी यह स्वतन्त्रता प्रत्यक्ष कार्य प्रणाली मे सीमित थी, यद्यपि प्रतिज्ञा (Convention) की दृष्टि से आर्थिक नीति के सम्बन्ध मे भारत पूर्ण स्वतन्त्र था और दूसरी ओर साम्राज्य का अविच्छिन्न अङ्ग होने के नाते साम्राज्य की नीति के बन्धन मे भी था।

तटकर आयोग (Fiscal Commission) सन् १९२१—

इस आर्थिक स्वतन्त्रता का परिचय तब मिला, जब ७ अगस्त सन् १९२१ को भारत की तटकर नीति के सम्बन्ध में सिफारिशे करने के लिए तटकर आयोग की नियुक्ति हुई। इस आयोग के सभापति सर इब्राहीम रहिमत उल्ला थे। आयोग का प्रमुख हेतु सभी हितो को ध्यान मे रखकर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जाच करना, शाही अधिमान के सिद्धान्त को लागू करने की वांछनीयता पर राय देना तथा इस सम्बन्ध मे सिफारिशे करना था।

इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९२२ मे सरकार को प्रस्तुत की, जिसमे भारतीय उद्योगो को विवेकात्मक सरक्षण देने की नीति की सिफारिश की। आयोग ने भारतीय उद्योगो की जाच करने के पश्चात् यह निर्णय दिया कि भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी इसमे उद्योगो के विकास के लिए प्राकृतिक सुविधाएं बहुत हैं। कच्चे माल की विपुलता, सस्ता एव पर्याप्त श्रम तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति के निर्माण के साधन भी हैं। इसी प्रकार पटसन तथा वस्त्र उद्योग ने जो विकास किया उससे स्पष्ट है कि भारत प्राकृतिक साधनो का पूर्ण लाभ उठाने मे समर्थ है। ऐसी स्थिति मे भारतीय उद्योगो को सरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि उपभोक्ताओ, जन-साधारण, कृषि, औद्योगिक विकास के हित से तथा व्यापार सन्तुलन को अनुकूल रखने के लिए कुछ चुने हुए उद्योगो को सरक्षण देना चाहिए, जिससे सरक्षण का भार जनता पर अधिक न पड़े।

---

* Tariffs & Industry—by John Mathai

साराश मे, उद्योगो मे विवेकात्मक सरक्षण नीति अपनाई गई, जिससे केवल उन्ही उद्योगो को सरक्षण दिया जा सकता था, जो निम्न शर्तें पूरी करते हो :—

(१) नैसर्गिक लाभ—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसको नैसर्गिक लाभ प्राप्त हो, जैसे— कच्चे माल का विपुल प्रदाय, सस्ती शक्ति, श्रम का पर्याप्त प्रदाय अथवा विस्तृत-घरेलू बाजार। ये लाभ विभिन्न उद्योगो की दृष्टि से विभिन्न सापेक्ष (Relative) महत्त्व के होगे, किन्तु उनके सापेक्षिक महत्त्व की जाँच कर निर्धारण करना होगा। उद्योगो की सफलता उनको प्राप्त होने वाले तुलनात्मक लाभो पर निर्भर है। ऐसा कोई भी उद्योग जिसको ऐसे तुलनात्मक लाभ उपलब्ध नही हैं, उनके साथ समान शर्तों पर प्रतियोगिता नही कर सकता। इसलिए भारतीय उद्योगो को सरक्षण देने के पूर्व उसे प्राप्त होने वाली नैसर्गिक सुविधाओ का विश्लेषण किया जाय, जिससे किसी भी ऐसे उद्योग को सरक्षण न मिल सके, जो समाज पर स्थायी रूप से भार बन जाय।

(२) आवश्यक सहायता—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसका विकास सरक्षण के अभाव में होना असम्भव हो अथवा देश के हित की दृष्टि से उसका विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए वह न हो सके। यह एक निर्विवाद उप सिद्धान्त (Corollary) है, जिस आधार पर सरक्षण की सिफारिश की गई। सरक्षण का प्रमुख हेतु ऐसे उद्योगो का विकास करना है, जो सरक्षण के अभाव मे विकसित नही हो सकते थे अथवा उनका विकास तीव्र गति से न होता।

(३) विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य—सरक्षण ऐसे उद्योग को दिया जाय, "जो अन्तत सरक्षण के बिना विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य हो। इस शर्त की पूर्ति की सम्भावना आँकने के लिए पहिली शर्त के अनुसार 'नैसर्गिक लाभो' के सम्बन्ध मे सावधानी से विचार करना होगा। सरक्षण से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्योगो को अस्थायी सरक्षण देना है, जो अन्तत: सरक्षण के बिना अपने बल पर खडे हो सकें।"

सरक्षण के इस त्रिमुखी सिद्धान्त के अलावा टटकर आयोग ने सरक्षण की अन्य कुछ शर्तो की ओर सकेत किया है, जो कम महत्त्वपूर्ण हैं। सरक्षण देते समय जिन उद्योगो का उत्पादन-व्यय कम हो सकता है अथवा जो बहु-परिमाण उत्पादन कर सकते हों तथा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय मे कर सकते हो, ऐसे उद्योगो को प्राथमिकता देनी चाहिये। सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योग तथा आधार-भूत उद्योगो को किसी भी दशा मे सरक्षण देने की सिफारिश आयोग ने की है। इसी प्रकार आयोग ने ऐसे विदेशी माल पर जिसका राशि-पातन (Dumping) होता हो अथवा जिनके निर्यात को विदेशो से आर्थिक सहायता मिलती हो अथवा जो देश स्पर्धा-त्मक अवमूल्यन मे निर्यात करते हो, ऐसे माल के आयात से होने वाली हानि से सुरक्षा के लिए सरक्षण देने की सिफारिश की। प्रत्येक प्रार्थी उद्योग को सरक्षण के सम्बन्ध मे आवश्यक जाँच करने के लिए, प्रशुल्क सभा की नियुक्ति करने की सिफारिश आयोग

ने की थी। यह सभा उद्योग के सरक्षण के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक सलाह देगी।

शाही अधिमान (Imperial Preference) के सम्बन्ध में आयोग ने 'शत सहित शाही अधिमान' की सिफारिश की। इस नीति के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन को प्रशुल्क करो के सम्बन्ध मे कुछ छूट दी जाय, परन्तु ऐसी छूट की आशा भारत ग्रेट ब्रिटेन से न करे। जहा तक साम्राज्य के अन्य देशो का सम्बन्ध था, ये सुविधाए परस्पर आधार पर हो। अर्थात् यदि भारत को अन्य देश सुविधाएं देते है, तो भारत भी अन्य देशो को सुविधाएं दे, अन्यथा नही।

विवेकात्मक सरक्षण नीति कार्य रूप मे—

आयोग की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार ने फरवरी सन् १९२३ से सरक्षण की नीति अपनाई। सरक्षण के लिये सबसे पहले माग करने वाला लोहा एव इस्पात-उद्योग था, परन्तु साथ ही अन्य उद्योग भी थे। इस सम्बन्ध मे आवश्यक जांच करने एव सरक्षण की सिफारिश करने के लिए जुलाई सन् १९२३ मे प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति की गई।

इस सभा ने सर्व प्रथम इस्पात-उद्योग तथा जिन उद्योगो मे इस्पात का कच्चे माल की भाँति उपयोग होता है, ऐसे उद्योगो की जाँच की। इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग, कागज, बांस, दियासलाई, शक्कर, भारी रसायन आदि अन्य उद्योगो की जांच की, जिन्हे सरक्षण दिया गया। इसी प्रकार कोयला, सीमेंट, कांच और तेल उद्योग की जांच भी प्रशुल्क सभा ने की थी, परन्तु इनको सरक्षण नही दिया। इस प्रकार सन् १९२३ से सन् १९३९ तक प्रशुल्क सभा ने ५१ उद्योगो की जांच की, जिनमे नये प्रार्थी उद्योग तथा सरक्षण की पुन. प्राप्ति के लिये आवेदन तथा अन्य तान्त्रिक जांचो का समावेश है। इन विविध जांचो के फलस्वरूप ३५ वर्तमान उद्योगो को सरक्षण दिया गया, १० को नही दिया तथा ६ उद्योगो को सरक्षण देने से इन्कार किया गया।

इन विभिन्न सरक्षित उद्योगो मे लोहा एव इस्पात तथा उससे सम्बन्धित उद्योगो की सरक्षण के लिए सर्व प्रथम सन् १९२४ मे जाँच की गई। बाद मे सरक्षण चालू रखने के लिये सन् १९२६, १९३०, १९३३, १९३५ तथा सन् १९३७ मे जांच की गई। परन्तु सन् १९४७ से लोहा एव इस्पात उद्योग को सरक्षण नही दिया गया और न इस उद्योग ने सरक्षण की मांग ही की। इस प्रकार इस महत्त्वपूर्ण आधारभूत उद्योग को सन् १९२४ से सन् १९४७ तक सरक्षण मिला। इस अवधि मे उद्योग ने अपना आसन स्थिर कर उत्पादन मे भी उल्लेखनीय प्रगति की।* यह उद्योग आधारभूत

* देखिए तालिका—Tariffs & Industry—Dr John Mathai

वर्ष	इस्पात	कॉटन पीस गुड्स	गन्ने से शक्कर	दियासलाई	कागज
१९२२-२३	१३१००० टन	१७२५मि० गज	२४००० टन	८०००००ग्रोस	२४००० टन
१९३९-४०	१०७०००० ,,	४०१३ ,,	१२४२००० ,,	२२०००० ,,	७०००० ,,

एव सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक था और तटकर आयोग की सभी शर्तों को पूरा करता था, इसलिए इसे सरक्षण मिला। वस्त्र उद्योग को सन् १९२७ से सन् १९४७ तक, शक्कर उद्योग को सन् १९३१ से सन् १९५० तक सरक्षण दिया गया। इस प्रकार लोहा इस्पात, वस्त्र, शक्कर व कागज तथा दियासलाई उद्योगो को सरक्षण मिला, जिससे देश आत्म निर्भर हो सके।

भारत मे दियासलाई उद्योग को सस्ता श्रम प्रदाय एव वृहत् घरेलू बाजार प्राप्त था, इसलिए इस उद्योग पर १॥) प्रति ग्रॉस प्रशुल्क आयात कर लगाने की सिफारिश प्रशुल्क सभा ने की। इस सिफारिश को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा दियासलाई पर पहिले से ही (सन् १९२२) इसी दर पर जो आयात कर था, उसे सन् १९२८ में सरक्षण कर मे बदल दिया। परन्तु दियासलाई उद्योग पर उत्पादन कर लगाते ही उसका सरक्षण आयात कर भी बढा दिया गया। इस कारण भारत में दियासलाई उद्योग ने काफी तेजी से प्रगति की है। इसी कारण आज भारत मे ५० दियासलाई के कारखाने हैं, जिनमें १६,००० व्यक्ति काम करते है तथा उनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८,००,००० बक्सो की है।

भारी रसायनिक उद्योग का विकास भारत में नवीन है। इस उद्योग को सरक्षण देने के सम्बन्ध में प्रशुल्क सभा ने जाँच कर दो सिफारिशें की—(i) रेलभाडा कम करना तथा (ii) उद्योग को ७ वर्ष के लिये सरक्षण। परन्तु भारत सरकार ने पहिली सिफारिश को ठुकरा दिया और दूसरी सिफारिश की सरक्षण की अवधि को घटा कर ३ वर्ष किया, अर्थात् १ अक्टूबर सन् १९३१ से सरक्षण दिया, परन्तु वह भी १८ मास की अवधि मे बिना किसी उचित कारण के समाप्त कर दिया। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध काल मे इस उद्योग ने सरक्षण के अभाव में भी काफी प्रगति की तथा भारी रसायनो की माँग अब बढती जा रही है। सन् १९५१ में इस उद्योग के ४९ कारखाने एव वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० टन थी, जो भारत की वार्षिक माँग के लिए अधूरी थी। सन् १९५३ मे इसी उद्योग की उत्पादन-क्षमता लगभग ७२,००० टन थी।

विवेकात्मक सरक्षण नीति की आलोचना—

तटकर आयोग ने विवेकात्मक सरक्षण का जो त्रिमुखी सिद्धान्त प्रस्तुत किया था उसका हेतु केवल इतना ही था कि तीन मे से कोई भी एक शर्त यदि उद्योग पूरी करता है, तो वह सरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया गया, जिससे इस विवेकपूर्ण सरक्षण नीति का उपयोग विवेकहीनता से हुआ।

(i) इस सम्बन्ध मे तटकर आयोग सन् १९२५ का कथन है—"सरक्षण को आर्थिक विकास का साधन न समझते हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया, जिससे कुछ उद्योगो को सरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की

शक्ति प्रदान की जाय।" अर्थात् उद्योगो का महत्त्व देश के हित की दृष्टि से कभी नही आंका गया, जैसा कि मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग से अथवा भारी रसायनिक उद्योग सम्बन्धी अविवेकपूर्ण नीति से स्पष्ट है। इस कारण देश का असन्तुलित औद्योगिक विकास हुआ। मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग के सरक्षण के लिए जब सन् १९२४ मे जाँच की गई तो उसे सरक्षण इसलिए नही दिया गया कि वह अन्ततः सरक्षण के अभाव में नही टिक सकता। सन् १९२८ मे जब इस उद्योग ने पुन. सरक्षण की माग की और प्रशुल्क सभा ने उसके उत्पादन व्यय तथा कीमतो की जाँच की तब यह मत दिया कि उद्योग स्वय निर्भर हो नही होगा अपितु उसे अधिक सरक्षण की आवश्यकता नही है। केवल इतना ही सरक्षण काफी होगा कि सन् १९२७ मे मैग्नेशियम क्लोराइड से जो आयात कर हटा लिया था, उसे फिर सरक्षण कर के रूप मे लगा दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि इस नीति की प्रत्यक्ष कार्यवाही मे कितनी कठिनाई होती है।[1]

(ii) भारतीय उद्योगो के कच्चे माल की विपुलता के सम्बन्ध मे लगाई गई शर्त भी न्यायोचित नही है, क्योकि जब इङ्गलेड और जापान के वस्त्र उद्योग देश मे रुई की पर्याप्त उपज न होते हुए भी इतने सुदृढ हो सके तो भारतीय उद्योगो पर ही ऐसी शर्त क्यो ?

(iii) तटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने स्थायी प्रशुल्क सभा नियुक्त न करते हुए प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग सभाएँ नियुक्त की, जिनके सभासदो मे समय समय परिवर्तन होता रहता था। इस कारण प्रशुल्क सभा कोई भी दीर्घकालीन नीति नही अपना सकी, जिसका स्थायी रूप से अनुकरण होता। यह इस नीति का सबसे बडा दोष था।

इस प्रकार विवेकात्मक सरक्षण नीति के अतर्गत :—"अरुचि तथा अवहेलना से उद्योगो को जो निरुत्साहित सहायता दी जाती थी, उससे उद्योगो को उसके भाग्य पर छोडने के अलावा किसी प्रकार से उनकी सुरक्षा नही की। साधारणत प्रशुल्क कार्य-प्रणाली तथा सरकार की विलम्बकारी नीत से जो सरक्षण मिलता भी था वह बेकार साबित होता था।"[2]

सरक्षण नीति का मूल्याकन—

सरक्षण नीति का मूल्याकन तभी न्यायोचित रीति से हो सकता है, जब देश की आर्थिक स्थिति सरक्षण की अवधि मे अबाधित रही हो। (i) भारत की आर्थिक स्थिति पर सन् १९२५ से सन् १९३१ तक मन्दी का प्रभाव रहा। (ii) प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का विकास तेजी से हो रहा था, जिसका परिणाम भारतीय अर्थ व्यवस्था पर हुए विना नही रहा। फिर भी इस नीति के विरोध मे जो आक्षेप हैं तथा जिस

1 Tariffs & Industry—Dr John Mathai, pp 11-12,
2 B P. Adarkar—The Indian Fiscal Policy

आर्थिक परिस्थिति से भारत जा रहा था, उसके होते हुए भी भारतीय उद्योगो ने सरक्षण की अवधि मे काफी प्रगति की है।

(1) सन् १६२६ की आर्थिक मन्दी मे जब अन्य देशो मे उत्पादन गिर रहा था उस समय भी भारत के प्रमुख उद्योगो का उत्पादन स्थिर रहा और कुछ उद्योगो का बढा भी। औद्योगिक उत्पादन की यह स्थिरता सरक्षण के कारण ही रही। (11) इससे मन्दी के दुष्परिणामो से भारतीय उद्योगो की रक्षा हुई तथा विकास तीव्र गति से होता गया । इस्पात, कागज, दियासलाई आदि सरक्षित उद्योगो ने अपनी उत्पादन-शक्ति बढाकर देश मे होने वाले आयात कम किये। इससे देश के विदेशी विनिमय की बचत हुई। (111) औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल आदि की पूर्ति (जैसे— रुई, बाँस एव बाँस की लुगदी, गन्ना आदि) आवश्यकताएँ बढाने से कृषकों को लाभ हुआ तथा देश मे रोजगारी के अवसर बढे। सरक्षित उद्योग-क्षेत्र मे नए-नए कारखाने खोले गये तथा उनसे सम्बन्धित सहायक उद्योगो का विकास भी हुआ। ये लाभ विवेकात्मक सरक्षण नीति की सफलता के परिचायक हैं । हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि सरकार उद्योगो को सरक्षण देने मे इतनी शर्तें न रखती तो सम्भवत. देश मे आधारभूत उद्योगो का विकास तेजी से होता। परन्तु यह साम्राज्य-वादी नीति के विरोध में था और भारत सरकार केवल सीमित क्षेत्र मे ही कार्य कर सकती थी।

द्वितीय-विश्व युद्ध एव युद्धोत्तर सरक्षण नीति—

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व युद्ध छिडते ही आयात कम हो गये तथा भारतीय उद्योगो पर युद्ध-जन्य माँग की पूर्ति करने की जिम्मेवारी आ गई। युद्ध के कारण आयात बन्द होने एव माँग बढने से भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन मिला, जिसमे सरक्षण की कोई आवश्यकता न रही। युद्ध काल मे भारतीय उद्योग युद्ध के सफल सचालन मे अधिकतम् योग दे सकें, इसलिए भारत ने सन् १६४० मे यह आश्वासन दिया कि युद्धोत्तर काल मे वर्तमान उद्योगो तथा युद्ध काल में स्थापित नये उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता का भय होने पर सरकार सरक्षण देगी। युद्ध के समय जो उद्योग सरक्षण पा रहे थे, उनका सरक्षण चालू रहा।

द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभव से, जिससे सुरक्षा के खतरे बढ गये थे तथा युद्ध के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ, उससे देश का औद्योगीकरण अनिवार्य हो गया। "उच्च आर्थिक शक्ति एव विकसित तथा कार्यक्षम औद्योगिक कलेवर जिस देश में है, केवल वही देश अपनी सुरक्षा अथवा हमला कर सकता है।"* इसी दृष्टि से युद्धोत्तर औद्योगिक नीति की घोषणा अप्रैल सन् १६४५ मे हुई। इस नीति के अनुसार नवम्बर सन् १६४५ में युद्धकालीन प्रसूत उद्योगो की जाँच के लिए २ वर्ष के लिये एक

* Industrialization—by P S Loknathan.

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गई। यह जाँच तीन सूत्रो को ध्यान मे रख कर होनी थी :—

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एव क्रियाशील हैं अथवा नही।

(२) समुचित समय तक सरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा सरक्षण के अभाव मे चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि मे आवश्यक है तो सरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नही होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ से अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष मे ४२ उद्योगो की जाच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ मे प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये पुर्नार्माण हुआ, जिससे अन्तरिम अवधि मे स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगो को जिनकी सरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हे इस तिथि के बाद सरक्षण देने के सम्बन्ध मे जाँच करना।

(२) देश मे निर्मित वस्तुओ के उत्पादन-मूल्यो की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) सरक्षित उद्योगो की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिससे सरक्षण करो अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे सरक्षण करो अथवा सहायता मे सशोधन करने की आवश्यकता के सम्बध मे सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर सरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णत हो रही है एव उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे —मूल्यानुसार एव निश्चित करो का विभिन्न वस्तुओ पर लगाये गये प्रशुल्क करो का मूल्याकन एव विदेशो को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओ का अध्ययन करना। साथ ही, सयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धो का सरक्षित उद्योगो पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एव पूर्व स्थापित उद्योगो की जाँच का तथा शक्कर, लोहा एव इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चाँदी का तार, इन

---

1. Hindustan Year Books
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

६ उद्योगो के सरक्षण को समाप्त करने तथा अन्य ३४ उद्योगो को सरक्षण देने की सिफारिश की ।

अस्थाई प्रशुल्क सभा की आलोचना—

इसकी कार्य नीति से स्पष्ट है कि विभिन्न उद्योगो के सरक्षण का आधार विवेकात्मक सरक्षण नीति से किसी प्रकार अच्छा न था । (i) इस नवीन नीति मे सरक्षण पाने वाले उद्योग का सगठन व्यापारिक आधार पर होना आवश्यक था । इससे कोई भी नवीन स्थापित उद्योग प्रशुल्क सभा के विचार क्षेत्र मे नही आ सकता था और न कोई उद्योग ही सरक्षण की मॉग कर सकता था, जिसकी पूर्ण रूप से स्थापना न हुई हो ।* (ii) सरक्षण की दूसरी शर्त के अनुसार उसी उद्योग को सरक्षण दिया जा सकता था, जो प्राकृतिक एव आर्थिक सुविधाओ तथा लागत की दृष्टि से निश्चित समय मे अपना विकास कर सकेगा तथा सरक्षण की आवश्यकता न रहेगी। यह शर्त इतनी विचित्र है कि इस सम्बन्ध मे पहिले से ही कोई निश्चित मत नही बनाया जा सकता था । (iii) सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक उद्योगो को सरक्षण देने के सम्बन्ध मे यह शर्त थी कि सरक्षण देते समय यह देखना होगा कि जनता पर सरक्षण का भार अधिक न पडे । परन्तु किसी भी अवस्था मे सरक्षण का भार जनता पर तो पडेगा ही और उसके साथ ही सरक्षण से होने वाले लाभो से जनता का भी हित होगा, इसलिए ऐसा एकागी विचार अनुपयुक्त था । (iv) अस्थाई प्रशुल्क सभा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिये सरक्षण की सिफारिश नही कर सकती थी । इससे उद्योग को सरक्षण से आशातीत लाभ होगा, यह अपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि एक तो सरक्षण के सम्बन्ध मे अनिश्चित भविष्य होने से उद्योगो को प्रोत्साहन का अभाव रहता था और इतनी थोडी अवधि में सरक्षण के परिणामो की जॉच भी ठीक रीति से नही हो सकती थी । परन्तु सन् १९४७ के पुनर्गठित प्रशुल्क सभा के सरक्षण का क्षेत्र व्यापक हो गया, क्योकि इस सभा ने आयात सरक्षक करो से सरक्षण देना पर्याप्त नही समझा । प्रत्युत कुछ उद्योगो की सहायता के लिए विकास कोष के निर्माण से सहायता देने की सिफारिश भी की । इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् की सरक्षण नीति व्यापक एव देशी उद्योगो के लिए पोषक है ।

भारतीय तटकर आयोग सन् १९४९-५०—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा में भारत सरकार ने अपनी तटकर नीति स्पष्ट की थी । इसका उद्देश्य सरकार की आर्थिक नीति, भारत का जनरल एग्रीमेट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ (सन् १९४७) तथा हवाना चार्टर का उत्तरदायित्व देखते हुये भावी प्रशुल्क नीति निश्चित करना एव उसकी कार्यवाही के लिए स्थायी व्यवस्था करना था । इसीलिए सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ मे भारतीय-तटकर-आयोग की नियुक्ति की ।

---

* भारतीय अर्थ शास्त्र की समस्यायें—पी० सी० जैन ।

आयोग का कार्य निम्न बातो को ध्यान में रख कर प्रशुल्क नीति निश्चित करना था :—

(१) पिछले आयोग की नीति, उसके परिणाम एव क्रियाओ की जाँच करना।

(२) भविष्य मे उद्योगो को सरक्षण देने की नीति निश्चित करना —

(अ) इस नीति को व्यवहार मे लाने के लिए सुझाव देना।

(ब) इस नीति की कार्यवाही से सम्बन्धित अन्य सुझाव देना।

(३) भारत की विदेशी आर्थिक जिम्मेदारियो के सम्बन्ध मे विचार करना।

(४) आयोग को यह देखना था कि उसकी सिफारिशें भारतीय सविधान एव भारत सरकार की सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा से विसगत न हो।

इस आयोग ने अपना कार्य २५ जून सन् १९४९ को आरम्भ किया और २५ मई सन् १९५० में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। इसकी प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

आर्थिक उन्नति की रूपरेखा—

आयोग ने सरकारी नीति को ध्यान मे रख कर यह मान लिया है कि भारत मे योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था होगी। इसी आधार पर आयोग ने अपनी सिफारिशें की हैं। इस आयोग ने प्रशुल्क सरक्षण को भारत के आर्थिक विकास का प्राथमिक साधन मान लिया है तथा यह आर्थिक विकास की योजना के अनुरूप होगा।

सरक्षण के लिए निम्न सिद्धान्तो की सिफारिश की है :—

(१) योजनाबद्ध क्षेत्र के उद्योगो को तीन समूहो मे बाँटना चाहिए :—

(अ) सुरक्षा एव अन्य सुरक्षात्मक (Strategic) उद्योग।

(ब) आधारभूत एव मूल उद्योग।

(स) अन्य उद्योग।

पहिले समूह के उद्योगो को किसी भी स्थिति मे राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से सरक्षण देना चाहिये, फिर उसका जनता पर भार कितना ही क्यो न हो। दूसरे समूह के उद्योगो के सम्बन्ध मे प्रशुल्क अधिकारियो को यह अधिकार हो कि वे ऐसे उद्योगो को दिये जाने वाले सरक्षण का स्वरूप एव उसका परिमाण, ऐसी सहायता अथवा सरक्षण सम्बन्धी शर्ते एव प्रतिबन्धो का निर्णय करें तथा किस हद तक सरक्षित उद्योग इन शर्तों को पूरा करते है, यह देखें। तीसरे समूह के उद्योगो को सरक्षण देने समय निम्न बातो पर ध्यान दिया जाय (अ) उद्योग को प्राप्त आर्थिक सुविधाएँ, (आ) उद्योग की वास्तविक अथवा सम्भवनीय लागत, (इ) उद्योग का समुचित समय में विकास होने की सम्भावना तथा (ई) सरक्षण के बिना उसके सफल सचालन की सम्भावना। इससे साथ ही यदि उद्योग को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सरक्षण अथवा

सहायता देना वाछनीय है तथा अन्य सुविधाओ को देखते हुए उसके सरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को सरक्षण देना चाहिए ।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नही आते, उनके सरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तो के आधार पर करना चाहिये ।

(३) सरक्षण के लिए कोई एक शर्त ही आवश्यक न हो, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा सम्पूर्ण देशी मांग की पूर्ति करने की शक्ति । यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त है तो उसे सरक्षण दिया जा सकता है । इसलिए आयोग ने सिफारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नही है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एव पर्याप्त श्रम ।

(ब) किसी भी उद्योग को सरक्षण देते समय यह सपूर्ण देशी माग की पूर्ति करे, यह साधारणत अपेक्षित नही है ।

(स) उद्योग के सरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए ।

(द) सरक्षित उद्योगो के उत्पादन का कच्चे माल की भाति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक सरक्षण मिलना चाहिए । इसका परिमाण निश्चित नही किया जा सकता है तथा वह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओ पर प्रभाव, उत्पादन की मांग आदि बातो के अनुसार निश्चित होना चाहिए ।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे हैं अथवा नए हैं उनको सरक्षण मिलना चाहिये, विशेषत ऐसे उद्योगो को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके सचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञो की अधिक आवश्यकता है ।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को सरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इनकी सख्या एव सरक्षण अवधि यथासम्भव कम हो, जो ५ वर्ष से अधिक न हो ।

(४) सरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नही है । ऐसे कर केवल उसी दशा मे लगाए जाएँ, जब बजट के स्रोतो के लिए आवश्यक हो तथा अन्य साधन उपलब्ध न हो । इसी प्रकार सरक्षित उद्योगो के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं । उद्योग को सरक्षण देने का स्वरूप एव पद्धति अधिकाशत उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए ।

आयोग की अन्य सिफारिशे—

(१) सरक्षण-करो की वार्षिक आय के कुछ भाग से एक विकास-कोष

बनाया जाय। इस कोष का उपयोग उद्योगो को सहायता (Subsidy) देने के लिए हो।

(२) उद्योगो को तीव्र गति से विकास करने की सुविधाएँ देने के लिए एक सगठन (After-care Organisation) बनाया जाय।

(३) स्थायी-प्रशुल्क आयोग का निर्माण किया जाय, जिसके सभापति सहित ५ सदस्य हो। इसका निम्न कार्य हो :—

(अ) सरक्षण सम्बन्धी जाँच।

(ब) राशिपातन (Dumping) सम्बन्धी मामलो की जाँच।

(स) सरक्षण कर तथा आयात करो के परिवर्तन सम्बन्धी जाँच।

(द) व्यापार समझौते के अन्तर्गत दी जाने वाली प्रशुल्क सुविधाओ की जाँच।

जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ मे भारत की सदस्यता के सम्बन्ध मे आयोग ने कहा कि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय नही दिया जा सकता। फिर भी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन (I. T O) का भविष्य निश्चित नही होता, तब तक भारत को जी० ए० टी० टी० की सदस्यता छोडना लाभकर न होगा। अत प्रशुल्क सुविधाओ के आदान-प्रदान सम्बन्धी सरकारी नीति उचित है, यह निर्णय आयोग ने दिया। भावी प्रशुल्क व्यवहारो के सम्बन्ध मे, भारत को जो प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हो, उनके विषय में सरकार को निम्न बातो की ओर ध्यान देना चाहिए —

(i) वस्तुएँ ऐसी हो जिनमे तत्सम् वस्तुओ के साथ विश्व-बाजारो मे प्रतियोगिता है।

(ii) वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको विश्व-बाजारो मे अन्य देशो के प्रति-वस्तुओ की प्रतियोगिता का भय है।

(iii) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुओ को ऐसी सुविधायें मिलती हैं।

इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय भारत का लक्ष्य —

(i) पूँजीगत वस्तुओ पर,

(ii) अन्य यन्त्र एव सामग्री पर,

(iii) आवश्यक कच्चे माल पर केन्द्रित होना चाहिये।

स्थायी प्रशुल्क सभा—

स्थायी प्रशुल्क सभा के निर्माण के लिए १२ सितम्बर सन् १९५१ को प्रशुल्क आयोग अधिनियम स्वीकृत हुआ। तदनुसार २१ जनवरी सन् १९५२ को स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति हुई, जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (फिस्कल कमीशन) है। इस आयोग के तीन सदस्य हैं, जिनमे से एक सभापति है। अधिनियम के अन्तर्गत आयोग मे न्यूनतम् एव अधिकतम् सदस्यो की सख्या ३ व

५ है । विशेष कार्यों के लिए दो अतिरिक्त सदस्यो से अधिक सदस्यो की नियुक्ति नही की जा सकती । जनता के लिए आयोग की सभाएं सामान्यत खुली है, परन्तु विशेष मामलो मे उस पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है । आयोग के काय पहिली प्रशुल्क सभाओ से अधिक व्यापक हैं । इसी प्रकार सरकार को किसी भी उद्योग की जांच आयोग को सौपने तथा उसकी आयोग से रिपोर्ट मांगने का अधिकार है । जैसे :—

(१) किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये सरक्षण देना ।

(२) किसी उद्योग के सरक्षण के लिए कस्टम तथा अन्य करो में परिवर्तन ।

(३) किसी वस्तु के राशिपातन तथा सरक्षित उद्योग द्वारा सरक्षण का दुरुपयोग होने की दशा मे कार्यवाही करने के सम्बन्ध मे ।

(४) रहन-सहन का व्यय तथा मूल्य स्तर पर सरक्षण का परिणाम ।

(५) व्यापार एव वाणिज्यिक समझौतो के अन्तगत दी जाने वाली सुविधाओ का किसी निश्चित उद्योग के विकास पर प्रभाव ।

(६) सरक्षण के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली कोई अव्यवस्था ।

आयोग के कार्य—

(१) पूर्व स्थापित उद्योगो के अलावा ऐसे उद्योगो को सरक्षण देने के सम्बन्ध में विचार करना, जिनकी स्थापना न हुई हो, परन्तु सरक्षण मिलने पर उनकी स्थापना हो सकती है ।

(२) आयोग अपनी ओर से सरक्षित एव असरक्षित उद्योगो की जांच कर सकता है । इसी प्रकार सरकारी आदेश पर वह किसी उद्योग को प्राथमिक सरक्षण देने तथा विशेष वस्तुओ की कीमतो के सम्बन्ध मे जांच कर सकता है । अपनी ओर से आयोग ऐसी जांच नही कर सकता ।

(३) सरक्षण की कार्यवाही के सम्बन्ध में सामयिक जांच कर रिपोर्ट देना ।

(४) आयोग को सरक्षण की दरे, सरक्षण अवधि तथा सरक्षित उद्योग के उत्तरदायित्व सम्बन्धी शर्तें निश्चित करने का पूर्ण अधिकार है ।

सन् १९५१ मे ही सरकार ने इस अधिनियम मे सशोधन किये, जिससे सरकार को यह अधिकार मिला कि वह किसी भी स्थिति मे उद्योग को सरक्षण देने के लिए तटकर लगा सकती है । इसका उद्देश्य देश की कीमतो तथा विदेशी कीमतो के अन्तर का लाभ उठाने के लिए सट्टेबाजी का जोर न बढे, यह है ।

जॉच के सिद्धान्त—

किसी भी उद्योग के सरक्षण का विचार करते समय आयोग निम्न बातो की ओर ध्यान देगा —

(१) भारत एव प्रतियोगी देशो में उस वस्तु की उत्पादन लागत ।

(२) प्रतियोगी वस्तुओ का आयात-मूल्य ।

तब इस आयोग ने 'सशर्त शाही अधिमान' अपनाने की सिफारिश की और मत दिया कि भारत की औद्योगिक प्रगति उसके विशाल साधन एव जन सख्या की दृष्टि से बहुत कम है। अतः वह शाही अधिमान नीति सामान्य सिद्धान्तो पर नही अपना सकता। 'सशर्त शाही अधिमान' के अन्तर्गत निम्न शर्तें थी—

(१) किसी वस्तु के सम्बन्ध मे प्रशुल्क सुविधाएँ देने के विषय मे भारतीय ससद की राय ली जाय।

(२) भारतीय उद्योगो को दिया हुआ सरक्षण ऐसी प्रशुल्क सुविधाओ से कम न हो और न प्रभावित हो।

(३) भारत को ऐसी सुविधाएँ देने से सम्भावित लाभ की तुलना मे किसी प्रकार उल्लेखनीय हानि न हो।

(४) इङ्गलैंड के सम्ब ध मे यह अधिमान ऐच्छिक हो तथा अन्य देशो के लिए परस्पर आधार पर हो।

इस सिफारिश के होते हुए भी भारत सरकार को साम्राज्यवादियो की चाल मे आना ही पडा, जिससे सन् १९२७ मे ब्रिटिश इस्पात, सन् १९३० मे ब्रिटिश सूती वस्त्र के आयात तथा सन् १९३३ मे ब्रिटिश उगम की वस्तुओ के आयात पर प्रशुल्क सुविधाएँ दी गई। इसके पहले भी भारत से ब्रिटिश माल के आयात पर अन्य देशो के माल की अपेक्षा आयात करो मे छूट मिलती थी। जैसे—सन् १९१८ मे चाय के निर्यात् कर में छूट, सन् १९१९ मे चमडे के निर्यात करो मे १०% की छूट आदि। परन्तु अन्त मे सन् १९३२ मे भारत और ब्रिटेन मे ओटावा समझौता हुआ, जिससे भारत मे शाही अधिमान को अपना लिया गया।

वर्तमान स्थिति—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक स्थिति मे जो महान् परिवर्तन हुए उससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ गई। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सङ्घ आदि विभिन्न सस्थाओ का विकास हुआ। ऐसी स्थिति मे तथा द्वितीय विश्वयुद्ध मे इङ्गलेंड की जो आर्थिक हानि हुई तथा अमरीका का महत्त्व आर्थिक क्षेत्र मे बढा, उससे इङ्गलेंड को अमरीकी पूँजी की दासता माननी पडी। फलत शाही अधिमान नीति को धक्का लगा तथा विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के जो अनेक सम्मेलन हुए, उनमें अमरीका ने इस नीति का घोर विरोध किया। यह नीति आज राष्ट्रसघ-अधिमान के रूप मे कार्य कर रही है। इसी प्रकार व्यापारिक समझौतो द्वारा भी एक दूसरे देशो को प्रशुल्क-अधिमान दिए जा सकने हैं। इस सम्बन्ध मे श्री० टी० टी० कृष्णामाचारी ने कहा—"अधिमान सम्बन्धी यह चित्र स्थिर न रहते हुए प्रति वर्ष एव प्रति मास बदलता रहता है, किन्तु वतमान स्थिति मे यह चित्र भारत के लिए हानिकर नही है।"* इसी सम्बन्ध मे भावी नीति को स्पष्ट

* Loksabha Debate on 25-9-54

करते हुए उन्होने कहा—"वर्तमान समय मे हमारा विचार सयुक्त राज्य को अधिमान देने की नीति परित्याग करने का नही है, क्योकि इससे होने वाले लाभ हमारे पक्ष में हैं। ये अधिक न हो, परन्तु निश्चित हैं, इसलिए मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि वर्तमान समय मे यदि हम शाही अधिमान नीति को बनाए रखते हैं तो भी भारत के हित बिल्कुल सुरक्षित हैं।" इससे स्पष्ट है कि जब यह नीति भारत के विपक्ष मे होगी, उसमे अवश्य ही देश-हित मे परिवर्तन होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् सन् १९४९-५० के तटकर आयोगके सामने जब यह प्रश्न रखा गया, तब उसने यह निर्णय दिया :—"इन सुविधाओ के सम्बन्ध मे कोई भी निश्चित निर्णय नही दिया जा सकता, क्योकि यह समझौता होने के कुछ मास पश्चात् ही द्वितीय युद्ध आरम्भ हो गया, जिससे सारी परिस्थति ही बदल गई।" साथ ही, उपलब्ध आँकडो के आधार पर आयोग का मत है :—"भारत ने सन् १९३८ ३९ में शाही अधिमान के अन्तर्गत समर्थित (Preferred) और असमर्थित (Non Preferred) माल के कुल निर्यात का ३४ १% ब्रिटेन को किया, जो सन् १९४८ ४९ में २३ ५% रह गया। इसी प्रकार समर्थित माल का निर्यात ४३ ७% से २० ७% रह गया।" इससे स्पष्ट है कि समर्थित सामान के निर्यात के लिए भारत अब ब्रिटेन पर निर्भर नही है, जितना वह पहले था। दूसरे, भारत के कुल निर्यात माल मे ७८% निर्यात समर्थित वस्तुओ का है, जो सन् १९३८-३९ मे केवल ५८·२% था। यह प्रवृत्ति इस ओर सकेत करती है कि भारत के निर्यात व्यापार मे अब शाही अधिमान का महत्त्व नही है और न ब्रिटेन को ऐसे अधिमान देने से भारत को कुछ विशेष लाभ ही है। स्पष्ट है कि अब भावी अधिमान नीति द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतो के आधार पर अपनाई जाये, जिससे भारतीय हित की समान रूप से रक्षा हो।[1] इसी दृष्टि से तटकर आयोग ने किसी भी देश को अधिमान देते समय निम्न बातो को ध्यान मे रखने की सिफारिश की है :—[2]

अशुल्क सुविधाएँ प्राप्त करते समय—

(१) ऐसी वस्तुओ को सुविधाएँ मिलें, जिन्हे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे समान वस्तुओ से प्रतियोगिता हो। (२) ऐसी वस्तुएँ हो, जिन्हे बाजार मे अन्य देशो से प्रतिवस्तु की प्रतियोगिता होती हो। (३) ऐसी वस्तुएँ कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुएँ हो।

अशुल्क सुविधायें देते समय—

(१) पूँजीगत वस्तुओ, (२) अन्य यन्त्र एव यन्त्र-सामग्री, (३) आवश्यक कच्चे माल के आयात की सुविधाये दी जायें।

---

१ भारतीय अर्थशास्त्र की समस्याएँ—पी० सी० जैन।

2 R B I Report on Currency & Finance 1950-51

वर्तमान नीति—

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद प्रशुल्क नीति, विनिमय-नियन्त्रण आदि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई थी, उस सम्बन्ध मे विश्व आर्थिक परिषद (सन् १९२७) का मत था —"अब समय आया है, जब प्रशुल्क करो का गतिरोध किया जाय।" इस परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए द्विपक्षीय एव बहुपक्षीय समझौते की पद्धति अपना कर अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता पर जोर दिया। परन्तु सन् १९३०-३१ तक तो उत्तमता-प्रधान व्यवहार नीति ही अधिकतर अपनाई गई। इसके बाद विश्व मन्दी के भँवर मे फँस जाने से अनेक देशो को यह नीति छोडकर राष्ट्रीय अर्थवाद को अपनाना पडा। इस हेतु यह आवश्यक था कि विदेशी व्यापार का योजनाबद्ध विकास किया जाय, इसलिए विभिन्न देश बहुपक्षीय अथवा द्विपक्षीय समझौते की ओर अग्रसर हुए। भारत मे ब्रिटिश-भारत, भारत-जापान एव भारत ब्रह्मा समझौता इसी बात की ओर सकेत करते हैं। सन् १९३६ मे ही भारत-ब्रिटेन समझौते का विरोध करते हुए श्री जिन्ना ने कहा :—"यह सभा सिफारिश करती है कि भारत सरकार भारत का महत्त्वपूर्ण देशो से तथा सयुक्त राज्य से होने वाले व्यापार की प्रवृत्ति का परीक्षण करे तथा भारत का निर्यात व्यापार बढाने के लिए ऐसे देशो के साथ जब कभी एव जहाँ भी सम्भव हो, द्विपक्षीय समझौतो की सम्भावना की जाँच करे।" परन्तु तत्कालीन शासन ने इस सिफारिश को ठुकरा दिया और कहा कि भारत का हित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतन्त्रता में है, न कि द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतो मे। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक परिस्थितियो में जो उलट-फेर हुये, उससे परिस्थिति बदल गई है तथा द्विपक्षीय समझौतो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सहकारिता प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त है। फलस्वरूप सन् १९४८ मे ५४ राष्ट्रो ने हैवाना चार्टर पर हस्ताक्षर किये हैं। इस चार्टर के प्रमुख हेतु इस प्रकार हैं :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को प्रोत्साहन देना तथा अविकसित देशो के आर्थिक-विकास को प्रोत्साहन देना।

(२) सभी देशो के बाजारो मे, निर्मित माल मे तथा उत्पादन सुविधाओ मे बराबर अधिकार देने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बाधक प्रशुल्क कर आदि तथा विवेकात्मक व्यापारिक व्यवहारो को कम करना।

(४) आय, माँग, उत्पादन, उपभोग एव वस्तुओ के विनिमय मे वृद्धि करना।

(५) वस्तु नीति, व्यापारिक व्यवहार, वाणिज्यिक नीति, आर्थिक एव रोजगार क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित समस्याओ को परस्पर विचार-विनिमय एव सहकार्य से हल करना तथा सुविधात्मक बनाना।*

वर्तमान समय मे भारत अपनी सयुक्त राज्य एव अन्य राष्ट्रसघीय देशो के प्रति-अधिमान नीति को कार्यान्वित कर सकता है, परन्तु ऐसे अधिमानो को कालान्तर मे

---

* Report of the Indian Fiscal Commission 1949-50

पूर्णरूपेण हटाना होगा अथवा उसी प्रकार की सुविधाएं अन्य देशो को भी देनी होगी। इसी प्रकार अन्य देशो से प्रशुल्क सुविधाएं प्राप्त कर कोई भी देश अपने औद्योगिक बाजारो को बढा सकता है, परन्तु ऐसी सुविधाएं अपवादात्मक एव अस्थायी होगी। कर-सघ (Customs Union) द्वारा अन्तरिम अधिमान समझौते भी किये जा सकते हैं। इससे भारत को लाभ होगा और इस सम्बन्ध में भारत सरकार को जो सुझाव भारतीय तटकर आयोग ने दिये है, (उल्लेख पहिले किया गया है) उन्हे अपनाना ही श्रेयस्कर होगा।

हैवाना चार्टर के अनुसार अभी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सघ का निर्माण नही होता, तब तक कोई भी देश अपनी स्वतन्त्र नीति अपना सकता है, परन्तु तब तक जी० ए० टी० टी० (G A T T) से निकलना भारत के हित में नही होगा।*

इस समझौते पर भारत ने ८ जून सन् १९४८ को हस्ताक्षर किये थे तथा उसके अनुसार ३ फरवरी सन् १९४९ को प्रशुल्क करो मे आवश्यक परिवतन किये। इस प्रकार भारतीय नीति देश हित मे कार्यान्वित हो रही है।

अध्याय ७

औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour)

"भारतीय श्रमिक वर्ग का उदय एक विशेष परिस्थिति एव पृष्ठभूमि में हुआ इसी कारण उसकी अपनी विशेषतायें हैं।"

श्रमिक वर्ग का विकास—

भारत मे औद्योगिक श्रमिक वर्ग का उदय नवीन ही है तथा यहाँ की अधिकतर जन-सख्या कृषि पर निर्भर है—यह सत्य आज भी सन् १९५१ की जन गणना से स्पष्ट होता है। प्राचीन काल मे भारतीय जन सख्या कृषि एव ग्रामोद्योगो पर निभर थी, परन्तु अंग्रेजो की कूटनीति से भारतीय ग्रामोद्योगो का पतन होते ही कृषि पर जन-सख्या का भार बढता गया तथा उसी के साथ भारतीय जन-सख्या की वृद्धि ने योग दिया, फलत बेकारी, दरिद्रता एव ऋणग्रस्तता बढती गई और खेती एक अलाभकर

* Report of the Indian Fiscal Commission 1949-50.

उद्योग हो गया। इस कारण गावो मे बेकार रहने वाली जनता शहरो के विकसित उद्योगो मे काम के लिए आने लगी । इस प्रकार भारत में विभिन्न परिस्थितियो मे श्रमिक वर्ग का उदय हुआ तथा इनकी सख्या प्रथम विश्व युद्ध के कारण तीव्र गति से बढती गई, क्योकि इन युद्धो के कारण ही अग्रेजी शासन मे भारतीय उद्योगो के विकास को प्रोत्साहन मिला। भारत मे औद्योगिक श्रमिको के आकडे सबसे पहले सन् १८६२ मे लिए गये थे, जब इनकी सख्या ३,१६,७१६ थी और सन् १९५७ मे यही ३०,८७,८६४ थी। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग, जिसमे सबसे अधिक श्रमिक काम करते हैं, वह कारखाना उद्योग है।[1] भारत के श्रमिको के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ की रिपोर्ट मे लिखा है:—"सन् १९२१ मे कृषि श्रमिको की सख्या २१५ लाख थी, जो सन् १९३१ की जन-गणना मे ३१५ लाख हो गई, जिसमे २३० लाख भूमि विहीन थे। इस प्रकार इण्डियन फ्रैंचाइज समिति के अनुसार सन् १९३१ में २५० लाख श्रमिक कृषि के अलावा अन्य उद्योगो मे थे। इस प्रकार भारत के विभिन्न उद्योगो मे मे लगे हुए १ ५४ करोड कर्मचारियो मे से ५६५ लाख श्रमिक हैं, जो अपनी उपजीविका का साधन मजदूरी ही समझते हैं।"[2]

श्रमिको का वितरण—

भारत की ३५ ८६ कोटि जन सख्या की दृष्टि से औद्योगिक श्रमिको की सख्या एव उसका कृषि-निर्भर जन सख्या से अनुपात सकेत करता है कि भारत की आर्थिक दशा अविकसित है। सन् १९४९ मे कारखानो के श्रमिको की कुल सख्या २४,३३,९८८ थी।[3]

कारखाना उद्योग मे सन् १९५६ मे सभी राज्यो मे दैनिक औसत श्रमिको की सख्या २८,८२,३०९ और रेल उद्योग मे १०,५४,८०८ थी। श्रमिको की सबसे अधिक सख्या कारखाना उद्योग मे थी, जिनमे से केवल बम्बई मे ९,९८,२५१ श्रमिक थे। खान उद्योग के श्रमिको मे सबसे अधिक श्रमिक कोयला उद्योग मे हैं, जिनकी सख्या जुलाई सन् १९५७ मे ३,७०,२४४ थी। कारखाना उद्योग मे भी इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमे नवम्बर सन् १९५८ मे ७,६८,५०६ श्रमिक दैनिक औसतन थे, जिनकी सख्या सन् १९५३ मे ७,४३,९८४ थी।[4]

इस प्रकार आज भी भारत में सबसे अधिक श्रमिक निर्माणी उद्योग में लगे हुए हैं तथा इनकी सख्या मे देश के औद्योगीकरण के साथ वृद्धि होगी, अत. इनकी विशेषताएँ देखना भी आवश्यक है।

---

1 Labour in India & India 1960
2 "Industrial Labour in India"—I L O Report of 1938, p 30,
3 India 1957 Table CLXX & CLXIX
4 India 1959,

भारतीय श्रमिकों की विशेषतायें—

भारतीय श्रमिको की विशेषताएं निम्नलिखित है :—

(१) अस्थायी-प्रकृति—भारत मे औद्योगिक श्रमिक वर्ग का उदय, जैसा हम अभी देख चुके हैं, पृथक से नही हुआ, अपितु वे कृषि-क्षेत्रो से केवल अपनी आय बढाने के लिए अथवा अवकाश के समय आते हैं अथवा जब उन्हे गांव में पर्याप्त आय नही मिलती तब आते हैं। इसी प्रकार उनका हेतु पूरा होने पर वे गांवो को वापिस चले जाते हैं।

(२) एकता का अभाव—भारतीय श्रमिक वर्ग दूर-दूर के गांव से एव भिन्न-भिन्न प्रान्तो से औद्योगिक शहरो मे मजदूरी के लिए आते हैं, जिससे उनकी बोली, रहन-सहन, रीति-रिवाज, सम्प्रदाय आदि मे भिन्नता होती है। इस कारण वे सब एक सूत्र मे नही रहते तथा उनमे एकता का अभाव रहता है।

(३) अनियमित उपस्थिति—भारतीय श्रमिक आस-पास के गांवो अथवा प्रान्तो से आने के कारण उनका अपने गांव के प्रति गहरा आकर्षण होता है, इस कारण वे समय-समय पर गांव जाते हैं। इसी प्रकार कृषि-क्षेत्रो से आने वाले श्रमिक, कृषि मौसम मे अथवा फसल पर जब गांवो मे अधिक काम होता है, अपना काम छोड कर चले जाते है, जिससे उनकी उपस्थिति कारखाने मे अनियमित रहती है। आस-पास के गांवो से आने वाले श्रमिक तो हर महीने ही अक्सर अपने गांव जाया करते हैं, जिसमे कारखाने के काम में बाधा पडती है।

(४) अज्ञान एव अशिक्षा—भारत की सम्पूर्ण जन-सख्या मे केवल ७% जनता लिखना-पढना जानती है तो फिर अशिक्षित जन सख्या के बारे में सोचना ही वृथा है। साधारण शिक्षा का अभाव होने के कारण वे अपना काम जिम्मेवारी से नही करते और न ठीक ढग से ही करते हैं। इसके अलावा उनका भाग्य पर अटूट विश्वास होता है। अज्ञानवश इस अन्ध-श्रद्धा के कारण उनमे आलस्य एव निठल्लापन आ जाता है, जिससे वे अपने काम का महत्त्व नही समझते। साथ ही, भारतीय श्रमिको में जब साधारण शिक्षा का अभाव है तो औद्योगिक शिक्षा का अभाव हो तो आश्चर्य नही। इस कारण वे बेफिक्री के साथ यन्त्र-औजारो का उपयोग करते हैं।

(५) अक्षमता—भारतीय श्रमिको का सबसे बडा एव औद्योगिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लक्षण उनकी अक्षमता है, जो विश्व-विदित है। भारतीय श्रमिक की कार्य-क्षमता अन्य देशो की तुलना मे बहुत ही कम है। श्री अलेक्जेण्डर मेकरॉबर्ट के अनुसार भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अग्रेज श्रमिक ४ गुना अधिक कार्यक्षम होता है।

(६) भारतीय श्रमिको का प्रदाय—भारतीय श्रमिको का प्रदाय उद्योगो को उनकी आवश्यकतानुसार नही मिलता, क्योकि भारतीय श्रमिको मे कुशल श्रमिकों की अपेक्षा अकुशल श्रमिको की सख्या अधिक है। इसका कारण यही है कि हमारी अधिकतर जन सख्या कृषि-उद्योग मे लगी हुई है, जो सरलता से कृषि का पुनर्गठन

करने से उद्योगो में लगाई जा सकती है। सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की २५ करोड जन-सख्या कृषि पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्भर है तथा शेष १० करोड जन-सख्या सगठित उद्योग, खान-उद्योग, यातायात, व्यापार एव वाणिज्य पर निर्भर है, जिससे स्पष्ट है कि एक ओर तो कृषि पर निभर जनता बढती जा रही है, जबकि कृषि योग्य भूमि मे उल्लेखनीय विकास नही हुआ है और दूसरी ओर औद्योगिक विकास हो रहा है। यहाँ पर काम करने के लिए योग्य श्रमिको का अभाव है।

(७) रहन-सहन का निम्न-स्तर—भारतीय श्रमिको के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त गिरा हुआ है। इसका कारण उनको कम मजदूरी मिलना है, क्योंकि कोई भी मनुष्य जब तक उसके पास अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन न हो, अपने रहन-सहन का स्तर उन्नत नही कर सकता, अत. यह दोष श्रमिको का न होते हुए उस परिस्थिति का है, जिसमे वे पले एव रहते हैं। श्रमिको की आय की सूचना के अनुसार उनकी औसत आय सन् १९५६ मे केवल ११३ करोड रुपये वार्षिक थी।*

भारतीय श्रमिकों की अक्षमता—

भारतीय श्रमिको की अक्षमता लोक-प्रसिद्ध विशेषता है, परन्तु भारतीय श्रमिको की अक्षमता का विचार करने के पूर्व हमे यह विचारना होगा कि क्या वास्तविक मे यह उनका दोष है ? अक्षमता के कारणो का विचार करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि श्रमिको की कार्यक्षमता निम्नलिखित बातो पर निर्भर रहती है—जलवायु, मजदूरी की पद्धति, काम करने की परिस्थिति, उपयोग मे आने वाली यन्त्र-सामग्री, साधारण एव औद्योगिक शिक्षा, रहन-सहन का स्तर तथा श्रम प्रबन्ध। इन घटनाओ के विवेचन से ही किसी देश के श्रमिको की अक्षमता अथवा कुशलता के विषय मे निर्णय किया जा सकता है। इनमे से अनेक बातें तो ऐसी होती हैं, जो श्रमिको पर निभर न रहते हुए उद्योगपतियो अथवा निर्माताओ के ऊपर निर्भर रहती हैं। जैसे.—काम करने की परिस्थिति, काम के घण्टे, यन्त्र सामग्री, औद्योगिक शिक्षा एव श्रम प्रबन्ध। इनकी समुचित व्यवस्था को पूर्ण जिम्मेदारी नियोक्ताओ पर रहती है। इन्ही घटको पर श्रमिको को काम करने में रुचि रहेगी अथवा नही, इसका निर्णय लिया जाता है, इसलिए यह कहना यथार्थ है कि किसी भी देश की "औद्योगिक क्षमता की जिम्मेदारी उद्योगपतियो पर होती है।" इस कसौटी पर यदि भारतीय श्रमिको की तुलना अन्य देशो के श्रमिको के साथ मे की जाय तो भारतीय श्रमिको की काम करने की परिस्थिति तथा उनको दी जाने वाली सुविधाएँ अन्य देशो की तुलना में नही के बराबर हैं।

क्या भारतीय श्रमिक वास्तव मे अकुशल है ?—

अलेक्जेन्डर मेकरॉबर्ट के अनुसार अग्रेज श्रमिक भारतीय श्रमिक से ४ गुना

* India 1960.

अधिक कार्यक्षम है परन्तु इस प्रकार की व्यक्तिगत आधार पर की गई तुलना इतनी विश्वसनीय नही कही जा सकती, जितनी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की है। इस सम्बन्ध में हैराल्ड बटलर के निरीक्षण के अनुसार योरोपीय देशो की तुलना मे भारतीय श्रमिको की अक्षमता निर्विवाद सत्य नही है। इसके साथ ही भारतीय श्रमिको को पूरी तरह अक्षम भी नही कहा जा सकता, किन्तु कुछ उद्योगो मे तो वह इतना कार्यक्षम है, जितना अन्य देशो का श्रमिक है। उदाहरणस्वरूप, टेक्सटाइल इण्डस्ट्री में साधारणत. प्रति श्रमिक एक यन्त्र की देखभाल करता है, परन्तु अहमदाबाद तथा बम्बई की कुछ मिलो मे एक श्रमिक २ से ६ यन्त्रो तक की देखभाल करता है। इस अवस्था मे उसके काम के घण्टे कम और अधिक मजदूरी मिलती है। इसी प्रकार अन्य मिलो के प्रबन्धको का भी यह कहना है कि लंकाशायर मिलो की तुलना मे उनका उत्पादन ८५% होता है, परन्तु उनके श्रमिक शिक्षित होते हैं और साधारण श्रमिको से उन्हे अधिक मजदूरी मिलती है। श्री बटलर का साधारण श्रमिको के विषय में यह निष्कर्ष है कि भारतीय श्रमिक योरोपीय श्रमिको की अपेक्षा २५% से ५०% कार्यक्षम है, जो भिन्न-भिन्न उद्योगो मे भिन्न-भिन्न हैं। भारतीय अक्षमता के कारणो मे श्री बटलर ने श्रमिको की दरिद्रता, अस्वास्थ्य तथा निरक्षरता आदि कारणो को प्रमुख बताया है, जिनमे उनकी अक्षमता विश्व विख्यात हो गई है। भारतीय श्रमिको से कार्यक्षमता की तभी आशा की जा सकती है, जब इन दोषो का निवारण होगा एव कार्य करने की स्थिति मे सुधार होगा।

भारतीय श्रमिको की अक्षमता के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) अस्थाई प्रकृति —इस प्रवृत्ति के कारण श्रमिक फसल के समय, विशेष उत्सवो आदि के समय अपने गांव जाते रहते हैं, जिससे भारत में अभी तक स्थायी श्रमिक वर्ग का निर्माण नही हो सका है। इस प्रकार श्रमिको का गांवो के साथ सम्बन्ध रहता है और कारखानो मे उनकी उपस्थिति पूरे वर्ष तक नियमित नही रहती, जिसका प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर होता है।

(२) निरक्षरता—भारतीय श्रमिक ही क्या अपितु ९०% भारतीय जनता अशिक्षित है। इस कारण उनमे जिम्मेदारी की भावना नही आती तथा उन्हे काम करना है, इस कारण ही वे काम करते हैं, अत वे अपनी कार्यक्षमता को वांछित स्तर पर नही ला पाते। इसके साथ ही यन्त्रो पर काम करने के लिए थोडी बहुत औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। परन्तु भारतीय मिलो में औद्योगिक शिक्षा का कोई प्रयत्न नही किया गया है, न उम्मेदवारी प्रथा ही विशेष प्रचलित है। फलत' मजदूर को न तो साधारण शिक्षा ही मिलती है और न औद्योगिक शिक्षा ही। इस कारण श्रमिक कार्यक्षम नही हो पाते।

(३) दरिद्रता एव रहन-सहन का निम्न स्तर—भारतीय श्रमिक गांवो से शहरो के कारखानो मे काम करने के लिए केवल अपनी आय बढाने के लिए

अथवा साहूकारों से अपना पीछा छुड़ाने के लिए आते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी गिरी हुई होती है कि उनको जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ भी पूर्णतया नहीं मिलने पाती। इस कारण वे सदैव ऋण-भार से दबे रहते हैं। इसका मानसिक प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर बुरा होता है।

(४) कम मजदूरी—भारतीय श्रमिकों को मजदूरी इतनी कम मिलती है, जो उनके रहन सहन के व्यय के लिए अपर्याप्त होती है। फिर वह साधारण आराम की वस्तुएँ कहाँ से प्राप्त करें, कैसे अपना मनोरंजन करें तथा कार्यक्षमता को बढ़ावें? इसके अलावा काम करने की परिस्थिति एवं कौटुम्बिक जीवन का अभाव ये दो उसके दैनिक जीवन के ऐसे पहलू हैं, जिस कारण वह अपना दुःख भूलने के लिए शराबखोरी में पड़ जाता है।

(५) अस्वास्थ्य—उपरोक्त कारणों से उसका मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य खराब होता है और जीवन-स्तर नीचा होता है। इस कारण उसका जो भी साधारण स्वास्थ्य होता है, नष्ट हो जाता है, जिससे वह कार्यक्षमता का वांछित स्तर प्राप्त नहीं कर सकता।

(६) काम करने की परिस्थिति—इसमें श्रमिकों के काम के घण्टे, कारखाने में उनके लिए उपलब्ध सुविधाएँ आदि का समावेश होता है। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय श्रमिकों के काम करने के घण्टे भारत की जलवायु की दृष्टि से बहुत अधिक होते हैं। यह मान भी लिया जाय कि पहले की अपेक्षा फैक्टरी एक्ट द्वारा काम के घंटे कम कर दिये गये हैं, फिर भी वे अधिक ही हैं। साथ ही, भारत में ऐसी बहुत कम मिलें हैं, जहाँ श्रमिकों के लिए आवश्यक सुविधाओं की अच्छी व्यवस्था हो। इस कारण उनको मिलों में काम करने में रुचि नहीं रहती, जिससे उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है।

(७) श्रमिकों की दोषपूर्ण भर्ती—भारतीय कारखानों में मजदूरों की भर्ती करने का ढंग भी अजीबोगरीब है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। भारत में नये श्रमिकों की भर्ती जॉबर करते हैं, जो श्रमिकों से भर्ती करने के लिए, उनकी तरक्की के लिए नजराना लेते हैं, जिससे बेचारा मजदूर जो पहले से ही कम मजदूरी पाता है, उनकी मजदूरी और भी कम हो जाती है। जॉबर की मर्जी पर ही अधिकांशतः मजदूरों को निकाल दिया जाता है, इसलिए भी मजदूरों को उन्हें खुश करने के लिए समय-समय पर उनके हाथ गरम करने पड़ते हैं। दूसरे, भर्ती करते समय श्रमिकों की साधारण शिक्षा, उनका अनुभव, उनकी रुचि इत्यादि बातों पर भी ध्यान नहीं दिया जाता।

(८) जलवायु—जलवायु का कार्यक्षमता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि लगातार काम करना सम्भव बनाने के लिये समशीतोष्ण जलवायु अधिक लाभकर होती है। इसके विपरीत गरम जलवायु काम करने में शिथिलता लाती है

तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भी सुखकर नही होती। इस कारण भी भारतीय मजदूरो की कार्यक्षमता पर बुरा असर पडता है।

(९) गृह-समस्या—भारत मे सभी बडे-बडे औद्योगिक शहरो मे गृह-समस्या गम्भीर है। मजदूरो को रहने के लिये मकान ही क्या, बल्कि अलग अलग कमरे भी नही मिलते, जिससे एक ही कमरे मे ४ से ८ मजदूर तक रहते हैं। फिर ये कमरे कारखाने के आस-पास हो, ऐसा भी नही है। इसमे मजदूरो को परेशानी तो होती ही है और साथ ही एक कमरे मे इतने मजदूरो का रहना भी स्वास्थ्य के लिये हानिकर होता है। इस वजह से उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है।

(१०) दोषपूर्ण प्रवन्ध—दोषपूर्ण प्रवन्ध मे श्रम-प्रवन्ध मे परस्पर सहकारिता का अभाव, कार्य का अनुचित विभाजन, प्रवन्धको का अनुचित व्यवहार तथा प्रवन्धको की श्रमिको के प्रति सकुचित धारणा तथा घिसी हुई यन्त्र-सामग्री आदि का समावेश होता है, जिस पर श्रमिको की कार्यक्षमता निर्भर रहती है। दोषपूर्ण प्रवन्ध होने के कारण श्रमिको पर अकुशलता की सारी जिम्मेवारी नही लादी जा सकती।

कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए सुझाव—

श्रमिको की कार्यक्षमता को बढाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे औद्योगिक सगठन के उक्त दोषो को तथा श्रमिको के दोषो को दूर करने का प्रयत्न हो। इनमे से श्रमिको के दोषो को दूर करने के लिए निरक्षरता-विरोधी आन्दोलन शुरू होना चाहिए। मिलो की ओर से प्राथमिक विद्यालय खोले जाने चाहिये, जहाँ पर श्रमिको के बालको को एव आश्रितो को मुफ्त शिक्षा मिलनी चाहिए। इसके साथ ही इन विद्यालयो में रात मे वयस्क श्रमिको की शिक्षा का प्रवन्ध भी होना चाहिए, जिससे वर्तमान एव आगामी श्रमिक शिक्षित हो सकेंगे और उनके दृष्टिकोण का विकास होकर वे अधिक जिम्मेवारी से काम कर सकेंगे। इस प्रकार के प्राथमिक विद्यालय जे० के० मिल्स कानपुर ने जे० के० इण्डस्ट्रीज की ओर से देहातो मे खोले हैं, परन्तु वर्तमान श्रमिको के लिए कुछ नही किया। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य केवल टाटा इण्डस्ट्रीज मे ही देखने को मिलता है, जहाँ श्रमिको एव कर्मचारियो की साधारण एव औद्योगिक यान्त्रिक शिक्षा का समुचित प्रवन्ध है। भारत-सरकार ने भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य की है, परन्तु वह केवल कागजो मे ही है।

श्रमिको का जीवन-स्तर एव स्वास्थ्य उन्नत करने के लिए उन्हे पर्याप्त मजदूरी मिलनी चाहिये। इस दिशा मे सरकार आवश्यक न्यूनतम मजदूरी एक्ट के अनुसार आवश्यक कदम उठा रही है, जिससे श्रमिको की न्यूनतम मजदूरी उनके लिये पर्याप्त हो। इसके साथ ही श्रम-सुधार कार्य की ओर मिल मालिको को अधिक ध्यान देना चाहिए। सन् १९२७ की इण्डियन टैरिफ वोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार इस दिशा मे बम्बई की मिलो से बम्बई के आसपास की मिलो मे भी अधिक सुधार कार्य हुआ है, जहाँ श्रमिक एव नियोक्ताओ मे परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे हैं। नियोक्ताओ को चाहिये कि वे अपनी

मिलो मे मजदूरो के लिए तथा स्त्री-मजदूरो के लिये आवश्यक सुविधायें प्रदान करें। मजदूरो के लिए सस्ते दरो पर कैण्टीन की व्यवस्था भी होनी चाहिए। यथासम्भव प्रत्येक मिल मे एक सहकारी उपभोक्ता समिति होनी चाहिए, जहाँ से श्रमिक सस्ती कीमत पर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद सकें। मिल मालिको को आवश्यक पूँजी देकर सहयोग देना चाहिए। समिति से प्राप्त लाभ को श्रमिको को बाँट दिया जाय, जिससे उनकी आय मे वृद्धि होगी। श्रमिको की औद्योगिक शिक्षा के लिये सिनेमा का उपयोग अच्छी तरह से किया जा सकता है। श्रमिको का स्वास्थ्य सुधारने के लिये खेलो की सुविधा सभी श्रमिको को मिलनी चाहिये तथा मिल मे वार्षिक स्वास्थ्य प्रदर्शिनी होनी चाहिए, जिसमे केवल मिल के श्रमिक ही हिस्सा ले सकें। इनमे स्त्री-श्रमिक, पुरुष-श्रमिक, एव श्रमिको के बच्चो के अच्छे स्वास्थ्य के लिये तीन तीन इनाम (अर्थात् ६ इनाम) दिये जाने चाहिए, जिससे प्रत्येक श्रमिक प्रतियोगिता की भावना से अपना स्वास्थ्य बनाने का प्रयत्न करेगा। कारखानो की इमारतें बनाते समय स्वच्छ हवा, प्रकाश, पानी इत्यादि की ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। वर्तमान मिलो मे इस ओर फैक्ट्री एक्ट द्वारा आवश्यक सुधार कर दिये गये हैं। गृह-समस्या सुलझाने के लिये समुचित प्रयत्न किये जाने चाहिये। इस दिशा मे भारत सरकार ने श्रमिको के लिये गृह-योजना बनाई है, जो कार्यान्वित हो रही है।

इन प्रयत्नो से ही श्रमिको की कार्यक्षमता बढ सकेगी। 'भारतीय मजदूर अक्षम है' इसका यह अर्थ नही कि वह कार्यक्षम हो ही नही सकता। आवश्यकता प्रयत्नो की है। यह तभी हो सकता है जब मिल मालिक अपना वर्तमान रुख बदलकर श्रमिको के साथ सम्पर्क रखने का प्रयत्न करेंगे। इस दिशा मे सुधार करने के लिए राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं, जिनका यथास्थान विवेचन किया गया है।

अध्याय ८

भारतीय श्रमिकों की गृह समस्या

(Housing Problem of Indian Labour)

"भारतीय श्रमिकों की निवास समस्या बहुत ही जटिल है। उनके रहने के स्थान मैलीकुचैली गली (Slums) से अच्छे नहीं कहे जा सकते।"

—नेहरू

'मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास का गहरा एव महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।'

भारत एक ऐसा विशाल देश है, जिसमे समस्याओ की कमी नही है। इसलिए एक भाषण के दौरान मे श्री नेहरू ने कहा था :—"भारत मे प्रत्येक मनुष्य ही एक समस्या है।" तो फिर ऐसी स्थिति मे जहाँ हमारा औद्योगिक विकास नवीन है, वहाँ पर श्रमिको के आवास की समस्या होनी ही चाहिए। यह एक ऐसी समस्या है, जो आज केवल श्रमिको तक ही सीमित न रहते हुये प्रत्येक मध्यवर्गीय कुटुम्ब की समस्या हो गई है।

गृह-समस्या का हल आवश्यक—

गृह-समस्या का समुचित हल होना भी आवश्यक है, क्योकि गृह समस्या का अथवा निवास स्थानो की कमी एव उनकी अनुपयुक्तता का प्रभाव मानव की कार्य-क्षमता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण, जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके काम के अनुसार अच्छा तथा सुविधाजनक मकान रहने के लिए न मिले, तब तक वह एकाग्रता से काम नही कर सकता और न कौटुम्बिक वातावरण ही उसे मिल सकता है। घर के आस पास का वातावरण भी उसके लिए पोषक होना चाहिए। कारण, मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास स्थान का गहरा एव महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। भारत में औद्योगिक विकास के साथ ही शहरो का विकास होते हुए भी गृह-समस्या आज अत्यन्त जटिल है। क्योकि किसी भी शहर में आज रहने के लिए पर्याप्त एव सुविधाजनक मकान नही मिलते और यदि मिलते भी हैं तो उनका किराया इतना अधिक होता है कि जो साधारण आय वाले व्यक्ति की शक्ति के बाहर होता है। मजदूरो की हालत तो साधारण मध्यवर्गीय समाज से भी बदतर है। कानपुर में प० नेहरू ने २ अक्टूबर सन् १९५२ को श्रमिको के निवास स्थान का निरीक्षण करते हुये कहा था —"भारतीय श्रमिको की निवास-समस्या

बहुत ही जटिल है और उनके रहने के स्थान मैली-कुचैली गली (Slums) से अच्छे नही कहे जा सकते।" ऐसे मकानो मे रहने वाले श्रमिको से कभी कार्यक्षमता की आशा की जा सकती है, जिनको रहने के लिए न तो काफी जगह ही है और न स्वच्छ हवा, प्रकाश अथवा स्वास्थ्यदायक वातावरण ही। इस समस्या को सुलझाने के लिये भारतीय उद्योगो ने किंचित भी ध्यान नही दिया है। यह समस्या उन शहरो मे अधिक विकट है, जहाँ कारखानो के इर्द-गिर्द मजदूरो के उपनिवेश बनाने के लिए काफी खुली जगह अथवा मैदान भी नही है। हाँ, जहां पर मिले ग्रामीण क्षेत्रो मे अथवा अविकसित शहरो मे बनाई गई हैं, वहाँ पर इस समस्या का हल सन्तोषजनक ढग से किया जा सकता है।

बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े शहरो मे तो श्रमिको के मकानो की हालत बहुत ही खराब है, क्योकि इन शहरो का विस्तार भी इतना अधिक हो गया है कि वहाँ पर एक इ च जगह भी फालतू मिलना असम्भव है। फिर जो जगह है भी उसकी कीमतें बहुत अधिक हैं, जो मजदूर नही खरीद सकता और न उसके पास इतना धन ही है कि स्वय मकान के लिए जमीन आदि खरीद कर बनवा सके, न उद्योगपतियो ने ही इस ओर विशेष ध्यान दिया है। बम्बई मे मजदूरो की चालें अत्यन्त ही अस्वास्थ्यकर हैं, जहाँ एक-एक कमरे में ६-७ श्रमिक रहते हैं, जिन्हे न तो कौटुम्बिक वातावरण ही मिलता है और न स्वच्छ हवा एव प्रकाश ही। इस सम्बन्ध मे श्री हर्स्ट ने लिखा है :—"जिसमे से दो व्यक्ति भी एक साथ नही जा सकते, ऐसी तग गली मे घुसने के बाद इतना अधेरा था कि हाथ के ढूंढने पर दरवाजा मिला। दिन के १२ बजे कमरे की यह दशा थी कि उसमें सूर्य-प्रकाश किंचित भी नही था। दियासलाई जलाने पर मालूम हुआ कि उस कमरे में भी अनेक श्रमिक रहते हैं।" यह आंख देखी बात है। ये चाले तीन अथवा चार मजिल की बनी हुई हैं और कही-कही एक कतार मे तीन से चार तक कमरे होते हैं, जिनमे जाने के लिये २ फीट अथवा ३ फीट की गली कमरो की दो कतारो के बीच होती है। ऐसी दशा मे उन कमरो मे हवा एव सूर्य-प्रकाश न हो तो आश्चर्य नही, क्योकि मकान बनाते समय ही हवा एव प्रकाश के लिये बन्दी कर दी जाती जाती है। कलकत्ते की दशा भी बम्बई से अच्छी नही है।

ऐसी कोठरियो मे रहने वाले श्रमिक बीमारी के जल्दी शिकार होते हैं और समय-समय पर गावो मे जाते रहते हैं, जिसमे उपस्थिति में अनियमितता आती है, स्वास्थ्य खराब होता है तथा वे बुरी-बुरी आदतो मे पड जाते हैं। क्या इन श्रमिको से कार्यक्षम काम की आशा की जा सकती है ?

गृह-समस्या के हल के प्रयत्न—

श्रमिको की गृह समस्या को समुचित हल करने का प्रयत्न अनेक उद्योगो ने किया है। यहाँ पर श्रमिको की स्थिति सन्तोषजनक है तथा उनको रहने के लिए अच्छे मकानो की सुविधा भी दी गई है, जिसमे श्रमिक की हैसियत के अनुसार १ कमरा,

१ बरामदा, रसोईघर, गुसलखाना तथा खेल-कूद के मैदान की व्यवस्था है। इस दिशा में जमशेदपुर, बर्नपुर, जे० सी० मिल्स, टी० पी० टू० फैक्टरी एवं एलगिन मिल्स, कानपुर, जे० सी० मिल्स, ग्वालियर, सीमेन्ट कम्पनी, बामोर, डालमियाँ नगर तथा एम्प्रेस मिल्स एवं मॉडेल मिल्स, नागपुर का उल्लेख किया जा सकता है। टाटानगर मे तो सम्पूर्ण नगर की रचना श्री टाटा द्वारा अपनी पूँजी से की गई है। इसके अलावा बम्बई, कलकत्ता तथा कानपुर की नगरपालिकाओं तथा इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट ने भी कुछ कार्य किया है। परन्तु भारत की इस समस्या की विशालता की दृष्टि से ये प्रयत्न समुद्र में पानी की कुछ बूँदों की भाँति ही हैं, अतः इनमे सुधार के व्यापक कार्यक्रम सरकार, नियोक्ता तथा श्रम संघो द्वारा निर्धारित किये जाने चाहिए।

सरकार की गृह-निर्माण योजना—

घरो की समस्या को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने सन् १९४७ में एक गृह-निर्माण योजना बनाई थी। परन्तु पूँजी की कमी तथा अधिक खर्चीली होने के कारण इस योजना को छोड़ दिया गया।

किन्तु केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५०-५१ के बजट मे श्रमिक गृह-निर्माण के लिए बम्बई प्रान्त के लिए १६ लाख रुपये तथा पंजाब, मध्य-भारत बिहार एवं उड़ीसा के लिए १० लाख रुपए का आयोजन किया। फिर भी इस कार्य को प्रोत्साहन देकर समस्या का हल होना आवश्यक था।

इसलिए अगस्त सन् १९५२ मे केन्द्रीय सरकार ने एक नई गृह-निर्माण योजना बनाई तथा सन् १९५२-५३ के बजट मे ९ करोड़ रुपये का प्रबन्ध था। इस राशि मे से ७ १६ करोड़ रुपये औद्योगिक गृह-निर्माण तथा शेष राशि वर्तमान गन्दे श्रमिक आवासो (Slums) की स्वच्छता के लिए व्यय होना था। इस योजना के अनुसार विभिन्न राज्यो में २८,५०० औद्योगिक गृह-निर्माण होने थे, जिसके लिए इस राशि में से ऋण एवं सहायता दी जाती है। इस हेतु गृह-निर्माण का विभाजन तीन वर्गों मे किया गया था —

(अ) जो राज्य सरकारो अथवा वैधानिक संस्थाओ (जैसे इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट आदि) द्वारा बनाये जाते।

(ब) जो नियोक्ताओ द्वारा बनाये जाते।

(स) जो सहकारी गृह-निर्माण-समितियो द्वारा बनाये जाते।

पहिले वर्ग के मकानो के लिए केन्द्रीय सरकार लागत का ५०% मूल्य सहायता के रूप मे तथा शेष ५०% २५ वर्ष मे भुगतान किये जाने वाले ऋण के रूप मे देती थी। दूसरी एवं तीसरी श्रेणी में आने वाले मकानो के लिए सरकारी सहायता

कुल लागत के २५% थी तथा २५% तक ऋण के रूप मे दिया जाता था, जिसका १५ वर्ष मे भुगतान होता था। इस श्रेणी के मकानो की लागत के लिए ३७½% तक ऋण दिया जा सकता था, परन्तु २५% से अधिक राशि के लिए ब्याज की दर अधिक थी। अन्य सभी ऋणो पर "न लाभ और न हानि" आधार पर ब्याज लिया जाता, जो उस समय ४¾% था। इस सहायता का परिणाम श्रमिक आवासो के किराये कम होने मे होता, जो किसी भी दशा मे श्रमिको की आय के १५% से अधिक न होना चाहिए था। इस योजना की घोषणा काफी देर से होने के कारण सन् १९५२-५३ मे केन्द्रीय सरकार ने १८,४४६ मकानो के लिए अनुदान स्वीकृत किए। "इस प्रकार सन् १९५२ से ३१ मार्च सन् १९५३ तक ४,९१,०२,७६७ रुपए के अनुदान मध्य-भारत, सौराष्ट्र, हैदराबाद, पजाब, मध्य-प्रदेश, बम्बई, यू० पी० राज्यो को १५,९८० मकानो के निर्माण के लिए स्वीकृत किए गए। इसी प्रकार नियोक्ताओ को १,४०५ मकान बनवाने के लिए २०,५८,६३५ रुपए स्वीकृत किये गये।"*

सशोधित योजना—

इसी योजना को सरकार ने कुछ थोडे से परिवर्तनो के साथ ३१ मार्च सन् १९५६ तक के लिए लागू कर दिया है। इस सशोधित योजना मे सन् १९५३-५४ के लिए ७ ६७ करोड रुपए का आयोजन किया गया है जिसमे सन् १९५२-५३ की राशि का भी समायोजन किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत सन् १९५३ ५४ मे २२,००० मकानो का निर्माण होगा, जिसमे १४,००० राज्य सरकार तथा राज्य गृह निर्माण सभाओ द्वारा, ३,५०० सरकारी गृह-निर्माण समितियो द्वारा तथा ४,५०० नियोक्ताओ द्वारा बनाये जायेंगे। इस प्रकार यह योजना पूरे पच-वर्षीय योजना की अवधि मे लागू की गई है, जिसके अन्तर्गत कुल ३८ ५ करोड रुपए के व्यय का आयोजन है। इस सशोधित गृह-निर्माण योजना की घोषणा जुलाई सन् १९५३ मे हुई। इसके अनुसार—(१) १०% श्रमिको के मकान दो कमरे वाले होगे तथा ऐसे श्रमिको को दिए जायेंगे जिनकी मासिक आय १५० रु० अथवा इससे अधिक है। (२) मकानो के लिए अनेक नमूने दिए गए हैं, जिससे गृह निर्माण के स्थानीय साधनो का अधिकतम् उपयोग हो सके। (३) अनुदान एव ऋणो के अनुपात मे भी परिवर्तन कर दिया गया है, जिसके अनुसार राज्य सरकार एव प्रान्तीय गृह-निर्माण सभाओ को अनुदान का ६६⅔% मकान पूर्ण बनाने पर तथा ३३⅓% उसके अकेक्षित आंकडे आने पर दिया जायगा। नियोक्ता एव सहकारी समितियो को २०% मकान पूर्ण हो जाने पर तथा ८०% लागत के अकेक्षित आंकडे आने पर दिया जायगा। इसी प्रकार ऋण राशि भी तीन प्रभागो मे दी जायगी :—

---

* Report of the Ministry of Workers, Housing & Supply for 1952-53

	राज्य-सरकार एव राज्य गृह-निर्माण सभाओ को	नियोक्ता एव सहकारी समितियो को
योजना की स्वीकृति पर	३३१/३%	२५%
नीव बन जाने पर (On rising the plinth level)	३३१/३%	५०%
छत तक बन जाने पर (On reaching roof level)	३३१/३%	२५%

(४) सहकारी समितियो को गृह निर्माण काय मे प्रोत्साहन देने के लिए उनको दी जाने वाली ऋण राशि लागत के ५०% कर दी गई है, जिसका भुगतान २५ वर्ष की किश्तो मे किया जा सकेगा। पहिले यही राशि लागत के ३७१/२% तथा भुगतान की अवधि १५ वर्ष थी। (५) पहिली योजना मे मकानो के स्वामित्व के सम्बन्ध में शका थी, जिस कारण सहकारी समितियो एव नियोक्ताओ ने योजना से विशेष लाभ नही उठाया, इसलिए अब इस शका का समाधान भी कर दिया गया है। जो मकान सहकारी समितियाँ एव नियोक्ताओ द्वारा बनाये जायेंगे उन पर उन्ही का स्वामित्व रहेगा, परन्तु उनको सरकारी समझौते की शर्तें पूरी करनी होगी। (६) किराये के सम्बन्ध मे भी स्पष्टीकरण किया गया है, जिससे बम्बई एव कलकत्ते मे विभिन्न प्रकार के मकानो का किराया १०) से ३० रुपये मासिक तथा अन्य शहरो मे १०) से १६) रुपये तक होगा, जिसमे नगरपालिका एव अन्य करो का समावेश है।[1]

इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने ३१ दिसम्बर सन् १९५८ तक निम्न सहायता दी :—[2]

(करोड़ रुपये में)

माध्यम	ऋण	सहायता	योग	स्वीकृत गृहो की सख्या
राज्य सरकारें	१६ ७७	१६ ०६	३२ ८३	९६,८६२
नियोक्ता	१ ६२	१ २९	२ ९१	१६,७७२
श्रम सहकारिताएं	०.४०	० २०	० ६०	२,४६७
योग	१८ ७९	१७.५५	३६ ३४	१,४६,१०१

इनमे से दिसम्बर सन् १९५९ तक ८५,९८८ मकान बन चुके हैं तथा शेष विभिन्न निर्माण-अवस्था मे हैं।

प्रथम पच वर्षीय योजना मे औद्योगिक श्रमिको के गृह-निर्माण के हेतु ४८ २४

1 Hindustan Standard, 25-7-1953

2 India 1960

करोड रु० का आयोजन था, जिसमे केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारो का भाग क्रमशः ३८.५ तथा १०.१६ करोड रु० था। इस राशि का नियोजन केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५३-५४ से सन् १९५५-५६ के बजट में पूर्ण कर दिया है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे गृह-निर्माण के लिए १२० करोड रु० का आयोजन[1] है, जिसमे से औद्योगिक श्रमिको के गृह निर्माण के लिए ४५ करोड रुपये का १,२८,००० घरो के निर्माण मे योजना अवधि मे व्यय होगा। इसी प्रकार २० करोड रु० श्रमिको की गन्दी बस्तियो के उद्धार के लिये व्यय होगे। इस राशि से ५०,००० श्रमिक परिवारो को अच्छे मकान दिये जायेंगे तथा ५०,००० परिवारो को विकसित भूमि दी जायगी, जहाँ वे निजी मकान बना सकेंगे।

दूसरी पच-वर्षीय योजना के प्रथम ४ वर्षों मे श्रमिको के लिए ४६,५८० मकान बनाने की अनुमति दी गई थी। दिसम्बर सन् १९५९ के अन्त तक ४४,९२६ मकान बनाए गए थे।[2] इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त मे १ लाख मकान बन चुके होगे तथा २०,००० निर्माण की विभिन्न सीढियो पर होगे, ऐसा अनुमान है।[3] चूँकि योजना-काल मे योजना के अन्तर्गत अपेक्षित प्रगति नही हुई इसलिए राज्य सरकार, नियोक्ता एव श्रमिको की सलाह से इस योजना का परीक्षण एक पेनल (Panel) करेगी। तीसरी योजना काल मे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, कानपुर और अहमदाबाद की गन्दी श्रमिक बस्तियो की सफाई की जायगी, जिसके लिए सरकारी सहायता का अश ५०% से ६२½% बढाया गया। इसमें केन्द्रीय सरकार का हिस्सा २५% से बढा कर ३७½% किया गया है। तीसरी योजना मे आवास एव निर्माण कार्यों पर १,१२५ करोड रुपये व्यय की व्यवस्था है।

कोयला खान एव अन्य औद्योगिक श्रमिको के लिए—

केन्द्रीय सरकार की दूसरी योजना कोयले की खानो मे काम करने वाले श्रमिको के लिए ५०,००० मकान बनाने की है। इसके सिवा कोयला खान श्रमिको की सशोधित गृह-निर्माण योजना के अन्तर्गत ३०,००० मकानो के निर्माण की स्वीकृति दी गई है। साथ ही, एक नवीन गृह-निर्माण योजना भी लागू की गई है, जिसके अन्तर्गत ३०,००० मकानो का निर्माण होगा। इस हेतु १.१४ करोड रुपये का आयोजन कोयला खान श्रम-कल्याण निधि से किया गया है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना के अन्तगत इसी कोष से गृह-निर्माण के हेतु ८ करोड रुपया व्यय किया जायगा। इस योजना के अन्तर्गत २,०५० मकान बनाए गए हैं। तथा ११३ निर्माण अवस्था मे है। इसी प्रकार नवीन गृह-निर्माण योजना के अन्तर्गत ६,६३५ मकानो का निर्माण हो रहा है।[4]

---

1. सन् १९५८-५९ में इसे घटाकर ८४ करोड रु० किया गया।
2. भारतीय समाचार—जून १, १९६०।
3. Third Five Year Plan—A Draft Outline
4. India 1960,

प्लाटेशन लेबर एक्ट, १९५१ के अनुसार दक्षिण भारत मे सन् १९५१ मे ४,९१५ तथा उत्तरी भारत में १०,१८३ मकान ३० सितम्बर सन् १९५१ तक बनाये गए हैं, जो चाय, कॉफी आदि बगीचो के श्रमिकों को दिए गए हैं। इसी प्रकार सन् १९५६ मे १०० लाख रु० लागत की एक और औद्योगिक गृह निर्माण योजना सभी राज्यो मे लागू की गई है। इसकी पूर्ति का उत्तरदायित्व राज्य सरकारो पर है, जो इस योजना के लिए केन्द्रीय सरकार से लागत का ८०% रु० ऋण ले सकती हैं। अभी तक इस योजना का लाभ १० राज्यो ने उठाया है। ये मकान मजदूरो को किराये पर दिये जाते हैं, जो लागत के अनुसार निश्चित किया गया है। इसमे नियोक्ताओ को भी लागत का कुछ हिस्सा देना पड़ता है। दूसरी योजना में ११,००० गृह-निर्माण की योजना है, जिस हेतु केन्द्र सरकार ने सहायता के लिए २ करोड रु० का आयोजन किया है। दूसरी योजना अवधि मे इसके अन्तगत ३०० मकानो के लिए ५ ३ लाख रु० सितम्बर सन् १९५८ तक स्वीकृत किए गए, जिनमें से केवल २० मकान बने हैं। भारतीय प्लाटस सघ के ९२ सदस्यो ने सन् १९५८ मे प० बगाल की तराई क्षेत्र मे ८०४, दुआर क्षेत्र मे ५,३८६ तथा आसाम मे १,०३५ मकान बनवए हैं।*

गन्दी बस्तियो मे गृह निर्माण के हेतु राष्ट्रीय विकास परिषद् की योजना समिति ने एक योजना टोली बनाई थी, जिसने सन् १९५८ में अपना प्रतिवेदन दिया। इसकी प्रमुख बातें निम्न है —

(१) गन्दी बस्तियो की सफाई के लिए वैधानिक निगम मण्डलों की स्थापना हो, जो अपने कार्यक्रम की पूर्ति एव योजनाओ को नीति निर्धारित करने मे स्वतन्त्र हो।

(२) गृह निर्माण की योजना-राशि केन्द्रीय गृह निगम की स्थापना कर उसे दी जाय। इसी प्रकार राज्यो मे भी गृह निगम सगठित किए जायें, जिनके माध्यम से गृह-निर्माण हो। ये निगम राष्ट्रीय भवन निर्माण सगठन से सम्पर्क स्थापित करें। यदि ऐसे निगमो की स्थापना सम्भव न हो तो गृह निर्माण की सभी योजनायें एक ही केन्द्रीय मन्त्रालय के नियन्त्रण मे रखी जायें।

(३) गन्दी बस्तियो का प्रसार रोकने के लिए गाँव से शहरो की ओर जाने की प्रवृत्ति को रोका जाय। साथ ही, स्थानीय सस्थाओ की स्वीकृति के बिना किसी शहर मे नये उद्योग की स्थापना की स्वीकृति न दी जाय।

जन-सख्या का अधिक घनत्त्व रोकने के लिए नये शहर बसाए जायँ तथा नवीन उद्योग गाँवो में स्थापित हो। वर्तमान गन्दी बस्तियो की सफाई के लिए एक विशाल योजना बनाई जाय तथा इन बस्तियो के मकानो की जाँच हो।

---

* India—1960

उपसंहार—

गन्दी बस्तियो की सफाई का कार्य सामाजिक सस्थाओ को सौंपा जाय तथा देश के विद्यार्थी एव शिक्षक समुदाय का ग्रीष्म अवकाश का उपयोग इस हेतु किया जाना चाहिये। साथ ही, प्रत्येक उद्योग मे एक गृह निर्माण समिति होनी चाहिए, जिसमे सरकार, नियोक्ता एव श्रमिको के प्रतिनिधि हो, जो इस काय को तेजी से सम्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील हो।

अध्याय ६

औद्योगिक सम्बन्ध–कलह और श्रम संघ

(Industrial Relations—Disputes and Trade Unions)

'श्रमसघ का मूल हेतु सामान्य मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा साथियों में उचित सम्बन्ध प्रस्थापित करना है। क्या प्रजातन्त्र का भी प्रमुख हेतु यह नही है ?"

—श्री अर्नेस्ट बेविन (M P)।

"समाजवादी लोकतन्त्र मे देश की उन्नति मे श्रमिक पूर्ण साझेदार है। मजदूर और उद्योगपति दोनों को अपनी जिम्मेवारी समझनी है। मजदूर और शिल्पियों को प्रबन्ध में भाग लेना है। यदि हम असल औद्योगिक उन्नति करना चाहते है तो औद्योगिक शान्ति को भी कायम रखना होगा।"

—औद्योगिक नीति घोषणा सन् १९५६।

(अ) औद्योगिक कलह
(Industrial Disputes)

श्रम एव पूंजी के अच्छे सम्बन्धो से ही देश का औद्योगिक विकास तीव्र गति से होकर देश की आर्थिक नीव सुदृढ हो सकती है। औद्योगिक शान्ति के लिए औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे होने चाहिए, जो तीन पक्षो पर निभर रहता है। सरकार अपने अधिनियम, श्रम कल्याण विधान द्वारा श्रमिको की भलाई की ओर देखकर औद्योगिक सम्बन्धो को सुचारु रखने का प्रयत्न करती है। श्रम सघ श्रमिको का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा सघर्ष होने पर श्रमिको की भलाई की दृष्टि से उनको समुचित रूप से निपटाने का प्रयन्त करते हैं। नियोक्ता औद्योगिक सगठन के कुशल कर्णधार होने के नाते इनमे एव सरकार तथा श्रमिको मे अच्छे सम्बन्ध होना औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक

होता है। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्ध एव औद्योगिक शान्ति के लिए निम्न बातो का अध्ययन आवश्यक हो जाता है —

(अ) औद्योगिक कलह एव औद्योगिक कलह अधिनियम।

(ब) श्रम सघ (Trade Unionism)।

विश्व मे सबमे पहले श्रमिको ने सामूहिक रूप मे हडताल कब और कहाँ की, यह सही सही नही कहा जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि श्रमिको एव मिल-मालिको के परस्पर झगडो का प्रारम्भ इङ्गलेंड मे औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुआ, जब मजदूरो ने यन्त्रो के उपयोग के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। उनका यह विरोध स्थायी नही रहा। भारत मे सन् १८७० तक हडतालो का कोई भी उदाहरण नही मिलता। इस अवधि मे यदि श्रमिको द्वारा विरोध प्रकट किया गया होगा तो सम्भवत 'काम रोको' घटनाओ के रूप मे होगा। परन्तु श्रमिको के सामूहिक सगठन के अभाव मे श्रमिको को हानि ही होती थी, क्योंकि या तो उन पर जुर्माना अथवा उनकी मजदूरी कम की जाती थी। साधारणत आपसी सघर्ष शान्तिपूर्ण ढङ्ग से मिट जाते थे। सबसे पहली हडताल भारत मे सन् १८७७ मे एम्प्रेस मिल के मजदूरो ने की, परन्तु उसे वास्तव मे हडताल नही कहा जा सकता, क्योंकि इसमे श्रमिक अपनी नौकरी छोडकर दूसरी मिल मे नौकरी कर लेते थे।

हडतालो का वास्तविक रूप हमको तभी से देखने को मिलता है, जब श्रमिक अपनी सामूहिक शक्ति पहिचान कर श्रम सघ के झण्डे के नीचे एकत्र हुए और उन्होंने सामूहिक रूप मे अपना विरोध प्रकट करना प्रारम्भ किया तथा हडतालें सफल होने लगी। सन् १९२१ मे गाधीजी के नेतृत्व मे जो असहयोग आन्दोलन छिडा, उससे मजदूरो ने सामूहिक शक्ति का महत्त्व जाना। तभी से राजकीय और औद्योगिक अशान्ति की धारा एक ही दिशा मे प्रवाहित होने लगी।

औद्योगिक झगड़ों के कारण—

औद्योगिक झगडो में लगभग ५७% झगडे केवल आर्थिक कारणो से हुए। इन कारणो मे वस्तुओ की बढती हुई कीमतें, मजदूरी कम करने की ओर मिल-मालिको की प्रवृत्ति, प्रथम विश्व युद्ध के बाद की छँटनी आदि प्रमुख थे। इसके अलावा कुछ हडतालें काम करने की कष्टमय परिस्थिति के कारण भी हुई, जैसे—काम के घण्टे कम करना, गृह समस्या, श्रमिकों के लिए फैक्टरी मे पर्याप्त सुविधाओ की व्यवस्था आदि। इन कारणो से सन् १९१८ से सन् १९२६ तक लगभग १,१०० हडतालें हुई।

इसके बाद सन् १९२९ मे जो हडतालें हुई वे छँटनी के विरोध मे की गई थी। इस प्रकार सन् १९२९ से सन् १९३६ तक १५० हडतालें छँटनी एव आर्थिक कारणो के कारण हुई। इनका उद्देश्य छँटनी को रोकना तथा आर्थिक मन्दी के समय कम की हुई भृत्ति को पुन उसी स्तर पर लाना था।

रॉयल श्रम-आयोग के अनुसार सन् १९१८ से सन् १९३० तक हडतालो के कारणो मे आर्थिक कारण ही प्रमुख थे, परन्तु इसके बाद की हडतालो मे व्यक्तिगत

कारणो की प्रमुखता थी। जैसे—श्रम-सघो मे काम करने वाले श्रमिको का निकाला जाना, प्रबन्धको का श्रमिको के साथ बुरा वर्ताव, हडतालो मे शामिल होने वाले श्रमिको को निकाल देना इत्यादि। सरकारी विश्लेषण के अनुसार सन् १९२१ से सन् १९४२ तक ४,६६४ हडताले हुई, जिनमे ५०% हडतालें अधिक भृति अथवा बोनस देने के लिए मिल-मालिको के इन्कार करने के कारण, ९४१ हडतालें निकाले गये श्रमिको को पुन. काम पर न लेने के कारण, १९८ हडतालें छुट्टी अथवा काम के घटो मे कमी के लिए तथा ८६१ हडतालें ऐसी थी जिनमें कौनसे कारण विशेष थे, यह नही कहा जा सकता।

इस प्रकार औद्योगिक कलह के निम्न कारण हैं :—

(१) मजदूरी एव बोनस बढाने के लिए।

(२) काम के घण्टे कम करने, अधिक छुट्टियो की व्यवस्था होने अथवा काम करने की स्थिति सुधारने के लिए।

(३) श्रम-सघो से सम्बन्धित श्रमिकों को निकाल देने के कारण तथा निकाले गये श्रमिको को फिर से काम पर वापिस न लेने के कारण।

(४) प्रबन्धको का मजदूरो के साथ दुर्व्यवहार तथा काम करने की कष्टमय परिस्थिति।

(५) विवेकीकरण के विरोध के लिए।

(६) राजनैतिक कारण—(i) किसी नेता का आगमन, जन्म तिथि आदि।
(ii) नेताओ की राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि के लिए।
(iii) अन्य मिलो के हडतालियो के साथ सहानुभूति।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ, जिससे सन् १९४४ तक औद्योगिक शान्ति बनी रही, परन्तु सन् १९४५ से हडतालो का ताता फिर आरम्भ हुआ, जिसमें सन् १९४७ और १९४८ मे सबसे अधिक हडतालें हुई :—

वर्ष	झगडो की सख्या	श्रमिक सख्या	व्यक्ति दिनो की हानि*
१९४७	१,८११	१८,४०,७८४	१,६५,६२,६६६
१९४८	१,८११	१०,५०,१२०	७८,३७,१७३
१९५२	९६३	८,०९,२४२	३३,८२,६०८
१९५३	७७२	४,६६,६०७	३३,८२,६०८
१९५४	८४०	४,७७,१३८	३३,७२,६३०
१९५५	१,१६६	५,२७,७६७	५६,९७,८४८
१९५६	१,२०३	७,१५,०००	६९,९२,०००
१९५७	१,६३०	८,८९,०००	६४,२९,०००
१९५८	१,५२४	९,२९,०००	७७,९८,०००
१९५९	१ २३६	५,३२,०००	४६,८५,०००

* India 1960

इन सभी हडतालो में विशेषत. उक्त कारणो में से कोई न कोई कारण ही प्रमुख रहा है। सन् १९५४ मे औद्योगिक झगडो के निम्न कारण बताए गए थे —*

मजदूरी एव भत्ता	३०० प्रतिशत
बोनस	६७ ,,
भर्ती, छँटनी एव पदोन्नति	३७० ,,
छुट्टियो एव काम के घण्टे	१०० ,,
अन्य	१६३ ,,
योग	१००० ,,

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश झगडो का कारण छँटनी, भर्ती की पद्धति, पदोन्नति अथवा मजदूरी एव भत्ता है।

औद्योगिक शान्ति की व्यवस्था—

हडतालो को रोकने के लिए सन् १९२१ तक कोई भी सरकारी प्रयत्न नही हुए, अपितु आपसी समझौते द्वारा ही उनको रोका जा सकता था। परन्तु सन् १९२६ मे बम्बई की वस्त्र-उद्योग की हडताल ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्पित किया और इसके कारणो की जाँच के लिए बम्बई सरकार ने फॉकेट समिति नियुक्ति की। इसकी सिफारिशो के अनुसार सन् १९२९ मे ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट पास हुआ। इस कानून के अनुसार हडताल की घोषणा होने के पहिले १४ दिन की सूचना देना आवश्यक किया गया और झगडो को मिटाने एव उनके कारणो की जाँच के लिए समुचित व्यवस्था की गई। सर्वप्रथम यह कानून केवल ५ वर्ष के लिए था, परन्तु सन् १९३४ मे यह स्थायी हो गया। इस कानून के अनुसार एक स्थायी समझौता-सभा का निर्माण हुआ, परन्तु इसके निर्णय अनिवार्य रूप से लागू करने की व्यवस्था नही थी और न इसका उपयोग ही साधारणत राज्य सरकारो ने किया। विशेषत ऐच्छिक समझौते की व्यवस्था करना ही इसका उद्देश्य था।

सन् १९३७ मे बॉम्बे ट्रेड समझौता डिस्प्यूट्स एक्ट भी पास हुआ। इस कानून से झगडो के कारणो की जाँच अनिवार्य कर दी गई तथा झगडो को टालने के लिए तत्कालीन कार्यवाही की व्यवस्था की गई। जब तक यह कार्यवाही चालू रहेगी, तब तक हडताल अथवा तालेबन्दी करना अवैध घोषित किया गया। इस कानून से कोई भी स्थायी व्यवस्था नही की गई थी और न यही अनिवार्य था कि वे औद्योगिक झगडे समझौता समिति के विचारार्थ प्रस्तुत करें। अखिल भारतीय ढग पर औद्योगिक शान्ति के लिए कोई व्यवस्था नही थी।

द्वितीय विश्व युद्ध काल मे हडतालो को रोक कर औद्योगिक उत्पादन मे बाधा न आने देने की दृष्टि से भारत सुरक्षा-कानून की धारा ८१-अ लागू की गई। अखिल

* Recent Developments in certain aspects of Indian Economy, Vol II p 14

भारतीय ढग पर औद्योगिक शान्ति या यह पहला कदम था। इसके अनुसार सरकार किसी भी उद्योग से सम्बन्धित हडतालो को रोक सकती थी अथवा उन झगडो के कारणो की जाँच करने के लिए पचो को सौप सकती थी। इन पचो का निर्णय श्रमिक एव नियोक्ता दोनो पक्षो को मान्य करना अनिवार्य था। युद्ध समाप्त होते ही यह धारा समाप्त हो गई।

स्वतन्त्र भारत मे—

औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए केन्द्रीय सरकार ने दिसम्बर सन् १९४७ मे एक त्रिदल सम्मेलन बुलाया, जिसमे सरकार, श्रमिक एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधि थे। इस सम्मेलन मे औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसे सरकार ने अपनी सन् १९४८ की औद्योगिक नीति मे मान्यता दी। इस प्रस्ताव के अनुसार एक केन्द्रीय श्रमिक सलाहकार समिति बनाई गई, जिसमे सरकार, श्रमिक एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधि थे। इसके अलावा औद्योगिक झगडो की स्थायी व्यवस्था के लिये मार्च सन् १९४७ मे औद्योगिक कलह अधिनियम स्वीकृत हुआ, जो अखिल भारतीय ढग पर पहला प्रयास है।

इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स अधिनियम सन् १९४७—

मार्च सन् १९४७ मे यह अधिनियम स्वीकृत हुआ एव इसमे सन् १९४९ से सन् १९५३ तक आवश्यक सशोधन किये गये। इसकी प्रमुख बातें निम्न है :—

(१) सौ या सौ से अधिक श्रमिक काम करने वाले सभी कारखानो को लागू होगा। ऐसे उद्योगो मे वर्क्स समितियो की स्थापना होना अनिवार्य है। इन समितियो का उद्देश्य श्रम एव प्रबन्ध मे सहकारितापूर्ण सम्बन्ध रखकर औद्योगिक शान्ति बनाये रखना है।

(२) जन-उपयोगी उद्योगो में हडताल के पूर्व ६ सप्ताह की सूचना देना अनिवार्य है, अन्यथा ऐसी हडताल अवैध होगी। पचो के पास झगडा विचाराधीन होने की अवस्था में अथवा निर्णय के ७ दिन तक अथवा न्यायालयीन कार्यवाही के बीच में अथवा निर्णय होने के २ माह तक हडताल या तालाबन्दी अवैध और दण्डनीय होगी। इसमे ऐसी हडताल मे भाग न लेने वाले श्रमिको की सुरक्षा की भी व्यवस्था है।

(३) इस अधिनियम मे औद्योगिक न्यायालयो की स्थापना का आयोजन है। इसमे हाईकोर्ट जज या जिला जज के पद के दो अथवा दो से अधिक सदस्य होगे। हडताल करने के पूर्व झगडा समझौता अधिकारी (Conciliation Officer) को सौंपा जायगा। झगडे का निर्णय निश्चित अवधि मे होना चाहिये और यदि समझौते का प्रयत्न असफल होता है तो समझौता अधिकारी १४ दिन मे सरकार को अपनी रिपोर्ट देगा। सरकार को अधिकार है कि वह इस झगडे को औद्योगिक न्यायालय अथवा निर्णयात्मक सस्था के पास भेज दे, जिसका निर्णय दोनो ही पक्षो को मान्य करना होगा।

औद्योगिक कलह (अपील अदालत) अधिनियम (सन् १९५०)—

विभिन्न श्रम अदालतो द्वारा दिए गए विभिन्न निर्णयो की विविधता से जो कठिनाइयां उपस्थित होती थी उनको सुलझाने के लिए मई सन् १९५० मे एक इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (एपेलेट ट्रिब्यूनल) अधिनियम स्वीकृत किया गया। इस अधिनियम से राज्य सरकारो को जांच अदालतो के निर्णय लागू करने के अधिकार दिये गये तथा वकीलो आदि को औद्योगिक कलहो के सम्बन्ध में न्यायालय अथवा ट्रिब्यूनल के सामने प्रस्तुत होने पर प्रतिबन्ध लगाए गए। इस अधिनियम के अन्तर्गत अगस्त सन् १९५० मे बम्बई मे लेबर एपेलेट ट्रिब्यूनल की स्थापना हुई।

इसी प्रकार के अपील न्यायालय कलकत्ता, लखनऊ और मद्रास मे हैं। अपील न्यायालय का हैडक्वाटर कलकत्ते मे है। इन अपील न्यायालयो को अन्य किसी संस्था के निर्णयो के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है, परन्तु ऐसी अपील दो बातो से सम्बन्धित होनी चाहिये—(१) निर्णय मे कोई वैधानिक बात उठाई गई हो अथवा (२) निर्णय का सम्बन्ध मजदूरी, बोनस आदि कानून के अन्तर्गत बनाये गये किसी अन्य नियम से हो।

इस अधिनियम मे साधारण और जनोपयोगी उद्योगो मे अन्तर किया गया है। क्योकि जनोपयोगी उद्योगो के कलहो मे सरकार सभी स्थितियो मे हस्तक्षेप करेगी और शान्ति के लिए आवश्यक कार्य करेगी। परन्तु अन्य उद्योगो मे सरकार तभी हस्तक्षेप कर सकती है, जब सम्बन्धित उद्योग के दोनो पक्षो के बहु-सख्य व्यक्ति इस हेतु सरकार से आवेदन करें। सन् १९५५ के सशोधन से अपील न्यायालयो को भग कर दिया गया है।

अप्रैल सन् १९४९ मे इन्डस्ट्रियल बैंकिग और बीमा कम्पनी अध्यादेश लागू किया गया, जिसका विस्थापन दिसम्बर सन् १९४९ मे एक अधिनियम से हुआ। फलस्वरूप ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट सन् १९४७ का सशोधन हो गया। इस सशोधन से बैंक और बीमा कम्पनियो के आपसी झगडो के निपटारे के लिए न्यायालय, ट्रिब्यूनल अथवा सभाएं बनाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार का हो गया। इसी अधिकार के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने बैंकिग कम्पनियो के लिये सन् १९४९ मे औद्योगिक ट्रिब्यूनल की स्थापना की। सन् १९५३ के एक सशोधन से निकाले गए श्रमिको की हानि पूर्ति की व्यवस्था की गई।

सन् १९४७ के औद्योगिक कलह अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र एव राज्य सरकारो ने औद्योगिक सस्थानो को वर्क्स कमेटियां स्थापित करने के आदेश दिये हैं।

पच-वर्षीय योजना मे—

योजना आयोग ने श्रम-नीति, श्रमिक एव नियोक्ताओ के सम्बन्धो को ठीक रखने के लिए त्रिदल-सभा की स्थापना का सुझाव दिया है, जिसमे सरकार, नियोक्ता एव श्रमिको का प्रतिनिधित्व हो। यदि इस त्रिदल सभा मे औद्योगिक कलहों

के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का समझौता नही होता तो सरकार द्वारा उसका निपटारा किया जाय। ऐसे समझौतो के निर्णय औद्योगिक न्यायालयो और ट्रिब्यूनलो को सूचनार्थ भेजे जायें, जो उन पर कार्य करने के लिए बाध्य हो।

औद्योगिक कलहो को रोकने के लिए नियोक्ताओ एव श्रमिको की जिम्मेवारी तथा कर्त्तव्यो की निश्चित शर्तें बनाई जायें तथा प्रत्येक औद्योगिक सस्था मे श्रमिको की जिम्मेवारी आदि की सूची रखी जाय तथा उनकी तकलीफो को दूर करने के लिए समुचित आयोजन हो। इसके साथ ही श्रमिको को उद्योग की वास्तविक स्थिति से परिचित कराया जाय तथा उनके हितो को प्रभावित करने वाले परिवर्तनो की जानकारी उनको दी जाय। इसके अलावा नियोक्ताओ को, श्रमिको के काम करने की दशा में कौनसे सुधार किए जायें, इससे परिचित कराने के लिए समुचित आयोजन हो। इतने सुधारो के साथ यदि कोई सीधी कार्यवाही की जाती है तो वह वैधानिक रीति से दण्डनीय घोषित की जाय।

औद्योगिक शान्ति की आदर्श व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि यथासम्भव आपसी समझौतो से विवाद का प्रश्न ही मिट जाय, इसलिए योजना आयोग ने वर्क्स कमेटियो की स्थापना की सिफारिश की है—इससे नियोक्ता एव श्रमिको के परस्पर सम्बन्ध अच्छे रह सकते हैं। इस योजना के अनुसार भारत मे ३० सितम्बर सन् १९५७ को निजी उद्योगो में २,०९५ तथा केन्द्रीय उद्योगो मे ७४५ वर्क्स समितियाँ थी। इनमे श्रमिक एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधि हैं। ये समितियाँ परस्पर सद्भावना के लिए प्रयत्न करती हैं।*

द्वितीय पच-वर्षीय योजना की अवधि मे भी यही श्रम-नीति रहेगी, परन्तु समाजवादी समाज रचना के लिए इसमे कुछ परिवर्तन किये गये हैं। इस हेतु सन् १९५५ मे योजना आयोग ने श्रमिको के प्रतिनिधिक पेनल की स्थापना की है, जिसने श्रमिक व नियोक्ताओ के झगडो का निपटारा ऐच्छिक रूप से परस्पर वार्तालाप द्वारा करने का सुझाव दिया है। औद्योगिक सम्बन्धो को अच्छा बनाने के लिये प्रबन्ध मे श्रमिको का सहयोग आवश्यक समझा गया है। प्रत्येक उद्योग मे प्रबन्ध परिषद् की स्थापना की सिफारिश की गई है। इसमे श्रमिक एव नियोक्ताओ का समान प्रतिनिधित्व रहेगा। आर्थिक मामलो को छोड कर अन्य सब बातो की जानकारी इस परिषद् के उद्योग के प्रबन्धको को देनी होगी। इस नीति को प्रभावी पद्धति से कार्यान्वित करने पर आशा है कि दूसरी योजना की अवधि मे औद्योगिक सम्बन्धो मे और भी सुधार हो सकेगा।

दूसरी योजना की अवधि मे सन् १९५६ मे औद्योगिक कलह अधिनियम मे पुन सशोधन करके समझौते की कार्यवाही मे सरलता लाई गई है। इस सशोधन के अनुसार ५०० रु० से कम मासिक आय वाले सभी कमचारियो का समावेश श्रमिको

---

* India 1960

की श्रेणी में होगा। दूसरे, श्रम अपील अदालतों को भंग किया गया तथा त्रिसूची न्यायालयीन व्यवस्था की गई।—(अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय तथा (स) राष्ट्रीय न्यायालय तथा इन तीनों के क्षेत्र निर्धारित किए गए हैं। इन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार को इन निर्णयों में परिवर्तन करने का अधिकार है तथा ऐसे परिवर्तन की आज्ञाएँ केन्द्रीय सरकार को संसद के समक्ष १५ दिन में प्रस्तुत करना होगा, जिन्हें मान्यता देने, न देने का अधिकार संसद को है। इस प्रकार अन्तिम निर्णायक संसद ही है, परन्तु केन्द्रीय सरकार ऐसे परिवर्तन सामाजिक न्याय या राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित के आधार पर ही कर सकेगी।

इस संशोधन के अनुसार राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना लखनऊ में तथा औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना धनबाद और नागपुर में की गई है। नागपुर का न्यायालय श्रम न्यायालय का कार्य भी करता है। इसके अलावा दिल्ली में भी एक एड-हॉक औद्योगिक न्यायालय है। राज्य सरकारों के क्षेत्र में उनके न्यायालय तथा श्रम न्यायालय हैं।

श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा—

औद्योगिक सम्बन्धों को अधिक अच्छा बनाने के लिए प्रबन्ध में श्रमिकों का सहयोग लेने की नीति की योजना में सिफारिश की गई थी, इसलिए इसकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए एक अध्ययन दल विदेशों में भेजा गया था। इस दल की सिफारिशों पर जुलाई सन् १९५७ में भारत श्रम-सम्मेलन में विचार हुआ तथा उनको कार्य रूप में लाने के लिए सन् १९५८ जनवरी फरवरी में एक प्रतिनिधिक सेमिनार में एक आदर्श समझौता किया गया।

इस समय २३ उद्योगों में ऐसी व्यवस्था है तथा १५ उद्योग प्रयोगात्मक तौर पर इसे अपनाने के लिए सहमत हुए हैं।* इस हेतु उत्तर-प्रदेश में प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था भी की गई है।

औद्योगिक सम्बन्धों के सुधार के लिए जो विविध प्रयत्न किए जा रहे हैं उनसे यह विश्वास है कि परिस्थिति में अवश्य सुधार होगा।

(ब) श्रम-संघ
(Trade Unions)

श्रम की अनेक विशेषताओं में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि श्रम एक स्थायी वस्तु नहीं है, जिसको संग्रह किया जा सके। प्रत्येक श्रमिक को अपना श्रम प्रति दिन किसी न किसी कार्य के लिये करना ही होगा। यदि वह यह चाहे कि आज मजदूरी न करते हुए इकट्ठा कल ही कर ले तो यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि बीते हुए कल की मजदूरी खत्म हो जाती है। इस विशेषता के कारण श्रमिकों में सौदा

* India 1960

करने मे कमजोरी आती है। पूँजीपति अथवा नियोक्ता अपनी राशि का उपयोग भविष्य मे कभी भी कर सकता है। परन्तु श्रमिक को अपने प्रत्येक दिन का उपयोग करना ही होगा, अन्यथा उसके उस दिन के श्रम बेकार हो जावेंगे। इस कमजोरी को दूर करने एव उनमे सामूहिक सौदा शक्ति लाने के लिए श्रमिको का सगठन अपने लाभ के लिये होने लगा। इस कारण इनको श्रमिक सगठन कहते हैं। इस प्रकार श्रमिक-सगठन श्रमिको की काम करने की दशा सुधारने एव उनका कल्याण करने के लिये श्रमिको का बनाया हुआ सघ है, जिससे उनमे एकता की भावना पैदा हो और उन्हे सामूहिक सौदा करने की शक्ति मिले।'*

उद्देश्य—

(अ) सघ के सदस्यो मे एकता की भावना निर्माण करना।

(आ) सघ के सदस्यो मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना।

(इ) सघ के सदस्यो की काम करने की दशा मे सुधार करना।

(ई) सघ के सदस्यो का जीवन-स्तर उठाने के लिए उनके हेतु चिकित्सा सम्बन्धी, शिक्षा सम्बन्धी, वाचनालय, मनोरजन आदि सुविधाओ का प्रबन्ध करना।

(उ) श्रमिक एव नियोक्ताओ के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाना, जिससे यथासम्भव कलह न हो। यदि कलह होते भी हैं तो मजदूरो की ओर से वार्तालाप कर शान्ति प्रस्थापित करना और असफलता की हालत में हड़ताल करना।

(ऊ) श्रमिको को वैधानिक कार्यवाही करने के लिए आर्थिक सहायता देना।

(ए) श्रमिको को उचित वेतन दिलाना तथा उनकी कायक्षमता बढाने के लिए अन्य आवश्यक कार्य करना।

(ऐ) श्रमिको की सामाजिक, आर्थिक, मानसिक एव शारीरिक उन्नति करना।

स्पष्ट है कि श्रमिक-सघो का मूल हेतु श्रमिको की मजदूरी एव कार्य-दशा मे सुधार करना तथा उनकी आर्थिक एव सामाजिक उन्नति करना है। इन दो कारणो से ही श्रमिक सघ अन्य कार्य करते हैं। इस प्रकार यह विचार कि श्रमिक सघो का हेतु हड़तालें करना है, गलत है। हाँ, शान्तिपूर्ण ढग से मजदूर एव नियोक्ताओ मे समझौता न होने की दशा मे श्रमिक-सघ हड़तालो को अपनाते हैं। उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए श्रमिक सघ अन्य कार्य करते हैं, जिससे मजदूरो की सामूहिक शक्ति बढे तथा वे अपना सगठन सफल बना सकें। इसलिए श्रमिक-सघ भिन्न-भिन्न देशो के श्रमिको की स्थिति, काम करने की दशाओ का अध्ययन, श्रम सम्बन्धी आंकडे एकत्रित करना आदि कार्य करते हैं। यह कार्य करने के लिए वे सदस्य-श्रमिको से मासिक

---

* Trade Unionism by Cunnisson

अथवा वार्षिक चन्दा लेते है, जिससे संगठन का कार्य व्यय सुचारु रूप से चलता रहे तथा वे अपने सदस्यो को आवश्यक सुविधायें दे सकें।

श्रम-संघों के लाभ—

(१) श्रम संघो से श्रमिको मे एकता की भावना पैदा हो जाती है, जिससे सामूहिक सौदा करने की शक्ति बढती है। परिणामस्वरूप इस सगठन के कारण श्रमिको का नियोक्ताओ द्वारा शोषण नही होने पाता।

(२) श्रमिक संघ मजदूरो की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एव आर्थिक अवस्था की उन्नति करने के लिए प्रयत्न करते है, जिससे उनका जीवन-स्तर उन्नत होता है एव कार्यक्षमता बढती है।

(३) श्रमिक-सगठन श्रमिको को उचित मजदूरी दिलवाने का प्रबन्ध करते है।

(४) श्रमिक-सघ श्रमिको मे शिक्षा-प्रसार करते है तथा उनको सङ्गठन करने तथा अनुशासन मे रहने की शिक्षा देते है, जिससे देश को भी लाभ होता है।

(५) औद्योगिक कलह को शान्तिपूर्ण ढङ्ग से तय करने के लिये वे प्रयत्नशील रहते है, जिससे देश के औद्योगिक उत्पादन मे बाधाएँ नही आने पाती।

(६) श्रमिक-संघ श्रमिको का उनके दैनिक जीवन क्षेत्र में चिकित्सा, मनोरंजन, शिक्षा तथा अन्य सामाजिक सुविधाएँ भी प्रदान करते हैं, जिससे मजदूरो का मानसिक दृष्टिकोण विकसित होता है।

(७) राजनैतिक क्षेत्र मे श्रमिक-सगठन अपना प्रतिनिधि लोक सभा मे भी भेजते है, जिससे श्रमिको की आवाज सरकार के कानो तक पहुँचाई जाती है तथा सरकार श्रमिको को सुविधाएँ देने का प्रयत्न करती है अथवा उनके हित के लिये आवश्यक कानून बनाती है।

श्रमिक-सङ्घों से हानियाँ—

इस प्रकार जहाँ श्रमिक-सघो से इतने लाभ हैं वहाँ इनमे कतिपय बुराइयाँ भी है :—

(१) श्रमिक सङ्गठन के नेता श्रमिको को स्वार्थवश भुलावा देकर उनको हडतालें अथवा औद्योगिक कलह करने के लिए बाध्य करते हैं, जिससे देश का उत्पादन प्रभावित होता है तथा श्रमिक एव नियोक्ताओ के सम्बन्ध खराब होते हैं।

(२) श्रमिक-सङ्गठन के नेता केवल राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने की लालसा से इनका नेतृत्व करते हैं, परन्तु वास्तव मे श्रमिको के लाभ की ओर वे प्रयत्नशील नही रहते।

(३) साम्यवाद एव समाजवाद की लहर को बडी आसानी से मार्ग मिलने का श्रमिक सङ्गठन एक खुला द्वार है।

वास्तव मे देखा जाय तो ये त्रुटियाँ श्रम सघ की न होते हुए उनके नेताओ की

हैं, जो अपने सङ्गठन के उद्देश्यो मे विचलित होकर स्वार्थ साधु बन जाते हैं। श्रम-सघ तो वास्तव मे श्रमिको के लिये, देश के लिए एव उद्योग के लिए अधिक प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं, यदि वे अपने ध्येय के अनुसार उसे प्राप्त करने का वैधानिक माग अपनावें।

भारत मे श्रम सघ आन्दोलन—

श्रम-सघ श्रमिको मे एकता-भाव एव सामूहिक-शक्ति जागृत कर परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिये बनाया हुआ एक सघ है। ऐसे श्रमिक सघ देश मे कई हो सकते हैं—प्रत्येक उद्योग के अलग-अलग अथवा अनेक उद्योगो का एक। श्रम-सघो का विकास इङ्गलैंड आदि पाश्चात्य देशो में तो औद्योगिक-क्रान्ति के बाद ही होने लगा था। क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक क्षेत्र मे नई नई समस्याएं पैदा की, जिनमें से एक श्रम-सघो की भी थी। परन्तु भारत मे श्रम-सघो का उगम और विकास केवल गत ३४ वर्षो मे ही हुआ है।

श्रम-सघो का उगम एव विकास—

भारत मे श्रमिक सघो के बीज डालने का प्रमुख श्रेय श्री लोखण्डे को है, जिन्होने सन् १८८४ मे बम्बई के कारखाने के श्रमिको का एक सम्मेलन कराया तथा श्रमिको की ओर से तत्कालीन श्रमिक आयोग (Labour Commission) के समक्ष मजदूरो की माँगें प्रस्तुत की। इन माँगो मे श्रमिको का एक दिन का साप्ताहिक विश्राम, दोपहर मे आधा घण्टे का विश्राम तथा श्रमिको की हानि पूर्ति करने की माँग प्रमुख थी। इसके बाद सन् १८९० मे बम्बई मे मिलहैण्ड्स् एसोसियेशन नामक श्रमिक-सगठन श्री लोखण्डे के सभापतित्व मे बनाया गया। परन्तु इसके बाद औद्योगिक मन्दी आ जाने के कारण श्रमिक सगठनो मे शिथिलता आ गई और एक तरह से इस आन्दोलन को पूर्ण विराम ही मिला। इसके बाद सन् १९०४ मे जब औद्योगिक समृद्धि पुन होने लगी तो इस आन्दोलन को बढावा मिला और सन् १९१० में कामगार-कल्याण-सघ की स्थापना हुई। इन्होने कामगार समाचार नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित किया। इस प्रकार आरम्भ मे जो श्रमिक-सगठन हुए, उनका हेतु श्रमिक-आयोग अथवा श्रमिक समितियो के समक्ष श्रमिको की माँगें प्रस्तुत करना ही रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद श्रमिक-आन्दोलन का दूसरा युग प्रारम्भ होता है, जब श्रमिक सगठनो ने नियोक्ताओ के विरुद्ध अपनी माँगें पूरी करने के लिए सामूहिक मोर्चा लेना शुरू किया। इस समय श्रमिको की काम करने की दशाएं अच्छी नहीं थी, कीमतें बढ रही थी और मजदूरी कम थी तथा विश्व मे श्रमिक आन्दोलन का जोर था। इधर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन भी जोरो पर था। इन विशेष परिस्थितियो के कारण श्रमिको को अपनी निष्क्रियता एव अयोग्यता की जानकारी हुई और सन् १९१८ मे श्री बी० पी० वाडिया ने मद्रास मे पहला लेबर यूनियन स्थापित किया, जिसके सदस्य सूती वस्त्र उद्योग के कामगार थे। इस सगठन ने श्रमिको का दुख दर्द

मिटाने हेतु सराहनीय कार्य किया। इसके बाद श्रमिक सगठन आन्दोलन का विकास अन्य औद्योगिक केन्द्रो मे होने लगा। सन् १९२० मे अहमदाबाद मे गान्धीजी के नेतृत्त्व मे अहमदाबाद टेक्सटाइल एसोसियेशन का निर्माण हुआ तथा अन्य श्रमिक सगठन भी बने। अहमदाबाद का सगठन अपने ढग का एक ही था, जिसने अहमदाबाद मिल-ओनर्स एसोसियेशन से वार्तालाप द्वारा औद्योगिक शान्ति कायम रखते हुए श्रमिको को भी सुविधाए दिलवाई।

इसी समय भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन का सदस्य बना जिससे श्रमिक नेताओ ने सोचा कि इसमे सरकारी प्रतिनिधि ही श्रमिको का प्रतिनिधित्व करेंगे। इसलिये सन् १९२० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस का निर्माण लाला लाजपतराय के सभापतित्व मे हुआ। यह श्रमिको की केन्द्रीय सस्था थी। इसी वर्ष अखिल भारतीय रेल्वेमैन फेडरेशन की भी स्थापना हुई। अभी तक के जो भारत मे श्रमिक सम्बन्धी कानून थे वे नियोक्ताओ के हित की दृष्टि से तथा लङ्काशायर-मिल-मालिको के प्रयत्न के कारण बने थे। इस कारण सन् १९२० मे मद्रास हाई कोर्ट के इस निर्णय से कि श्रम-सघ के नेता अथवा कार्यकर्ता नियोक्ताओ और श्रमिको के सम्बन्ध मे हस्तक्षेप नही कर सकते, जनता मे भी यह जागृति हुई कि इस सम्बन्ध मे कुछ आवश्यक कानून बनने चाहिये, जिससे श्रम सघो का बचाव हो। इन प्रयत्नो मे श्री० एन० एम० जोशी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। फलत. सन् १९२१ मे बम्बई की धारा-सभा मे ट्रेड यूनियन के रजिस्ट्रेशन एव सुरक्षा के लिए कानून बनाने का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। इस प्रस्ताव के कारण ५ वर्ष बाद सन् १९२६ में ट्रेड यूनियन एक्ट पास हुआ। इस प्रकार सन् १९१८ से सन् १९२२ तक अनेक श्रम सघो का विकास हुआ, जिन्होने श्रमिको की मजदूरी बढाकर उनका जीवन-स्तर उन्नत करने का प्रयत्न किया।

सन् १९२६ का ट्रेड यूनियन एक्ट और श्रम आन्दोलन—

सन् १९२० की ट्रेड यूनियन काग्रेस के कारण श्रमिको के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन मे भेजे जाने लगे। सन् १९२६ में ट्रेड यूनियन एक्ट स्वीकृत हो जाने से श्रमिक सघो को कानूनी मान्यता दी गई तथा उनके सदस्यो को हडताल सम्बन्धी कानूनी दायित्व से मुक्त किया गया। इस एक्ट ने रजिस्टर्ड श्रम-सघो को राशि को औद्योगिक कलह तथा सदस्यो को सुविधायें देने के लिए खर्च करने की मान्यता भी दी। इन समस्त कारणो से श्रम-सघो का विकास होता गया तथा सभी श्रम सघो ने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस को मान्यता दी। सन् १९२८-२९ तक जितने भी श्रम-सघ थे उन पर कम्युनिस्टो का ही अधिक प्रभाव था। विशेषत गिरणी कामगार सघ तो कम्युनिस्टो के पूर्ण प्रभाव मे ही था, जिसकी सदस्य-सख्या ५०,००० से भी ऊपर थी। इस सघ ने सन् १९२८ में बम्बई मे जो हडताल की उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त की। परन्तु साथ ही कम्युनिस्ट सदस्यो ने कुछ बखेडे भी पैदा किये, जिससे शहर मे जातीय-दगा हो गया तथा अनेक कम्युनिस्ट नेताओ की गिरफ्तारी हुई।

(४) आज भी अधिकतर मजदूरो का जीवन ऐसा ही है कि अपने काम के अलावा उन्हे अन्य बातो को सोचने का अवकाश ही नही मिलता । इससे मजदूर-सघ के महत्त्व एव उसके कार्य को वे नही समझ पाते ।

(५) श्रम सघो का नियोक्ताओ से विरोध होता है । वे अपने श्रमिको को जो किसी श्रम सघ के सदस्य होते हैं, बहुत परेशान करते हैं एव उनकी प्रगति मे रोडे अटकाते हैं । इससे श्रम सघो मे उनकी रुचि नही रहती अथवा उनको बाध्य किया जाता है कि वे रुचि न रखें ।

(६) भारत मे श्रमिको का इतना विशाल क्षेत्र है कि अभी तक उसके पूरे-पूरे आँकडे भी उपलब्ध नही हो पाये और न इस ओर सरकार द्वारा ही विशेष प्रयत्न किया गया । इन आँकडो को प्राप्त करने का वैधानिक प्रयत्न केवल सन् १९४२ मे हुआ, जब इण्डस्ट्रियल स्टेटिस्टिक्स एक्ट पास किया गया ।

(७) श्रमिक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी एव भिन्न धर्मीय होने से उन्हे एक सूत्र में आने में कठिनाई होती है ।

(८) अच्छे मजदूर नेताओ का अभाव श्रमिक-आन्दोलन का सबसे बडा दोष है । भारतीय श्रमिक अशिक्षित होने के कारण श्रमिक सघो के नेता मध्य वर्ग से आते हैं, जो श्रम-जीवन की समस्याओ को उतनी आत्मीयता से नही समझ पाते । इतना ही नही, अपितु अनेक नेता तो केवल अपने स्वार्थ अथवा राजनैतिक उद्देश्य प्राप्त करने के लिये ही सघो का नेतृत्व करते हैं ।

(९) भारतीय श्रम सघो का नेतृत्त्व राजनैतिक दलो के हाथ मे है, जिससे अपने दल के हित की दृष्टि से वे अपनी नीति रखते हैं, श्रमिको के हित की दृष्टि से नही । यह भारतीय श्रमिक-आन्दोलन का सबसे बडा दोष है ।

(१०) श्रम-सघो मे वैमनस्य—केन्द्रीय श्रम-सघो का सगठन राजनैतिक पक्षो द्वारा किया गया है, जिससे सदस्यो और विभिन्न श्रम-सघो मे जो वैचारिक एकता होनी चाहिए वह नही है । अत केन्द्रीय श्रम सघ राजनैतिक पार्टीबन्दी से अछूते रहने चाहिए ।

इन त्रुटियो के कारण भारतीय श्रमिक-आन्दोलन इतना सुदृढ एव मजदूरो के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो सका, जितना वह विदेशो मे है । यहाँ के सघो का उद्देश्य केवल हडताले करना एव उनके सगठन तक ही सीमित रहा है, उन्होने श्रमिको की शारीरिक, आर्थिक एव मानसिक उन्नति की ओर अभी तक कोई ध्यान नही दिया है । आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिको की सार्वभौमिक उन्नति की ओर ध्यान देकर उनकी कार्यक्षमता तथा जीवन-स्तर उन्नत करने का कार्य श्रम-सघ करें, जिससे भावी औद्योगिक निर्माण मे श्रमिको का भविष्य उज्ज्वल हो ।

दूसरी पच-वर्षीय योजना मे—

श्रमिको के प्रतिनिधिक पैनल (सन् १९५५) ने श्रम-सघो के सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं —

(१) श्रम सघो मे वाहरी व्यक्तियो का प्रवेश सीमित करना।
(२) निश्चित शर्तों पर श्रम-सघो को वैधानिक मान्यता देना।
(३) श्रम सघो के कार्यकर्ताओ की उत्पीडन (Victimisation) से रक्षा करना।
(४) श्रम-सघो के निजी स्रोतो से उसके आर्थिक आधार मे सुधार करना (मजबूती लाना)। इन सुधारो से श्रम सघो के वर्तमान महत्त्वपूर्ण दोषो का निवारण हो सकेगा।

राष्ट्र-निर्माण मे श्रम-सघ—

राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक क्षेत्र मे भी राष्ट्रीय श्रम सघो का गहरा प्रभाव पडता है। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन काग्रेस ने ब्रिटेन के विकास मे काफी महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। ब्रिटिश लेवर पार्टी का एटली मन्त्रि-मण्डल वहाँ की राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काग्रेस का राजनैतिक पहलू था। इसी प्रकार अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर तथा दी फ्रेंच कॉन्फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स अपने देश के आर्थिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव डालते हैं। भारत मे भी श्रम-सघ नेता श्री जोशी के प्रयत्नो से ही सन् १९२६ में श्रम सघ अधिनियम पास हुआ। श्रम-सघो ने कुछ हद तक श्रमिको का शैक्षणिक एव शारीरिक उन्नति करने में भी सफलता प्राप्त की है तथा आज के चुनाव मे भी श्रमिको का महत्त्वपूर्ण भाग है। श्रम सघो को चाहिए कि वे श्रमिको में बचत की आदत निर्माण करने के हेतु सहकारी समितियो की स्थापना करे। वहा से उन्हे जीवनावश्यक वस्तुएँ सस्ती दरो पर दी जायँ तथा ये उनको गृह-निर्माण मे भी सहायक हो। इसी प्रकार श्रम उपनिवेशो मे श्रम-सघ विभिन्न प्रकार के मनोरञ्जनादि साधनो का आयोजन कर श्रमिको की लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, श्रमिको के मानसिक एव शारीरिक स्तर को उन्नत कर सकते हैं। ऐसे लोकप्रिय श्रम-सघ ही श्रमिको के हितो मे सरकारी नीति को भी झुकाने मे सफल हो सकेंगे।

श्रम-सघ अधिनियम सन् १९२६—

श्रमिक एव नियोक्ता अथवा नियोक्ता एव नियोक्ताओ के आपसी सम्बन्धो का नियमन करने के हेतु बनाए गए किसी सघ की रजिस्ट्री कराने का आयोजन इस अधिनियम द्वारा किया गया। दो अथवा दो से अधिक श्रमिको के फेडरेशन की रजिस्ट्री भी इस अधिनियम के अन्तर्गत हो सकती है। रजिस्टर्ड श्रम सघो को निम्न अधिकार हैं :—

(१) रजिस्टर्ड सघो का समामेलित अस्तित्व एव स्थायी उत्तराधिकार हो जाता है। ऐसे श्रम-सघ चल एव अचल सम्पत्ति रख सकते हैं तथा अनुबन्ध भी कर सकते हैं।
(२) रजिस्टर्ड श्रम-सघ किसी समझौते से सम्बन्धित किसी षडयन्त्र या

अपराध की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाता है। परन्तु ऐसा अपराध या षड्यन्त्र किसी कलह को चलाने अथवा व्यापार या उद्योग को रोकने के सम्बन्ध में नही होना चाहिये।

(३) रजिस्टर्ड सघ के सदस्यो के विरुद्ध सघ के वैधानिक उद्देश्यो की पूर्ति के सम्बन्ध मे किए गये किसी भी कार्य के सम्बन्ध मे सिविल कोर्ट दावा स्वीकार नही करेगा।

(४) श्रमिक सघ अपने सदस्यो से ऐच्छिक रूप में दिया हुआ धन सदस्यो की सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक भलाई के लिए स्वीकार कर सकता है।

श्रम-संघ अधिनियम सन् १९४७—

उक्त अधिनियम मे नियोक्ताओ द्वारा श्रम सघो की मान्यता के सम्बन्ध में कोई आयोजन नही था, अत इस अधिनियम में प्रतिनिधिक श्रम-सघो को नियोक्ताओ द्वारा मान्यता देना अनिवार्य कर दिया गया है। इस प्रकार मान्य श्रम सघो तथा नियोक्ताओ द्वारा कुछ कार्यों को करना अनुचित एव दण्डनीय घोषित किया गया है, परन्तु यह अधिनियम लागू नही किया गया।[1]

द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे इस सम्बन्ध मे जो आयोजन है उसमे यह विश्वास है कि वतमान दोपो का निवारण हो सकेगा। मई सन् १९५८ के १६वें श्रम-सम्मेलन मे यह निश्चय किया गया कि श्रम सघो को नियमित करने की व्यवस्था की जाय। इस हेतु श्रम सघो को मान्यता देने के कुछ सिद्धान्त भी बनाये गये हैं। इससे श्रमिक आन्दोलन को लाभ होगा और श्रम सघो की बाढ पर भी रोक लगेगी। इन सिद्धान्तो मे प्रमुख सिद्धान्त यह है कि केवल उन्ही श्रम-सघो को मान्यता दी जाय जो नियोक्ता और श्रमिको द्वारा अनुमोदित अनुशासन के नियमो[2] का पालन करें। इन नियमो को सन् १९५८ मे लागू किया गया है। इनमे प्रबन्ध एव श्रमिको के उत्तरदायित्वो को इस हेतु से निश्चित किया गया है जिससे सभी स्तरो पर इनके प्रतिनिधियो मे सक्रिय सहकारिता को प्रोत्साहन मिले। इनका पालन हो रहा है अथवा नही, यह देखने के लिए केन्द्र एव राज्यो मे आवश्यक व्यवस्था भी की गई है। इसी आधार पर तृतीय पंच-वर्षीय योजना के अ तर्गत कार्यक्रम एव नीति का निर्धारण किया जा रहा है।[3] श्रम-सघो की सुदृढता एव औद्योगिक शाति के लिए यह वाछनीय कदम है।

—— ——

1 Amrit Bazar Patrika, page XIX dated 15-8-1956
2 Code of Discipline in Industry
3 The Third Five Year Plan—A Draft Outline, page 88 89.

अध्याय १०

श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

(Labour Welfare and Social Security)

"मजदूरी के अलावा श्रमिकों के सामाजिक, बौद्धिक, शारीरिक एव मानसिक स्तर में सुधार करने के हेतु उनके आराम, मनोरंजन आदि की जो सुविधायें, वैधानिक अनिवार्यता के बिना उद्योग देता है उनका समावेश श्रम-कल्याण म होता है।"

"सामाजिक सुरक्षा का अर्थ इतना व्यापक है जिसमे दरिद्रता का उन्मूलन करने के किन्हीं भी प्रयत्नों का समावेश होता है।"

(१) श्रम-कल्याण

'श्रम कल्याण' की समुचित और सरल परिभाषा देना कठिन है क्योंकि इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों मे होता है। शाही श्रम आयोग के अनुसार श्रम-कल्याण की परिभाषा मे लोच होनी चाहिए, जो प्रत्येक देश मे वहा की सामाजिक स्थिति, औद्योगीकरण की स्थिति तथा श्रमिको के शैक्षणिक विकास के स्तर के अनुसार होगी। परन्तु साधारणत "श्रम-कल्याण उन क्रियाओ को कहते है जो किसी उद्योग के आस पास अथवा उद्योग के क्षेत्र मे श्रमिक स्वच्छ एव स्वास्थ्यकर वातावरण मे काम करते हुए अपने स्वास्थ्य एव नीति के स्तर को अच्छा रख सकें।"* आजकल श्रम-कल्याण कार्य केवल उद्योग की व्यवस्था मे श्रमिको को आवश्यक सुविधाएं देने तक ही सीमित नही है, वरन् श्रमिको को कारखाने के बाहर भी सुविधाएं देने तक विस्तृत है। इस अर्थ मे श्रमिको का स्वास्थ्य सुधार, शिक्षा की व्यवस्था, रहन सहन की सुविधायें, फैक्टरी मे काम करने की अच्छी स्थिति, काम करते समय उनके मनोरञ्जन की सुविधाओ का आयोजन, कैन्टीन, स्नानगृह आदि की व्यवस्था का समावेश श्रम-कल्याण कार्य मे होता है। श्रम कल्याण की मान्य परिभाषा के अनुसार —"मजदूरी के अलावा श्रमिको के सामाजिक, बौद्धिक, शारीरिक एव मानसिक स्तर मे सुधार करने के लिए उनके आराम, मनोरञ्जन आदि की जो सुविधाएं उद्योग द्वारा बिना किसी वैधानिक अनिवार्यता के दी जाती हैं, उनका समावेश श्रम-कल्याण काय मे होगा।" इस प्रकार श्रम-कल्याण कार्य वैधानिक अनिवार्यता न होते हुए श्रमिको की दशा सुधारने तथा उनको अधिक कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिए श्रमिको के प्रति नियोक्ता की सद्भावना के द्योतक हैं, जो वे स्वेच्छा से देते हैं। श्रम-सम्बन्धी कल्याण काय दो प्रकार से किया

* Report II of the I L O Asian Regional Conference, p 3

जाता है . नियोक्ताओ की इच्छा से तथा कानूनी अनिवार्यता से। इसके अलावा सरकार स्वय औद्योगिक श्रमिको के लिये सुविधाए दे सकती है तथा ऐसी सुविधाओ का आयोजन श्रम सङ्घ एव अन्य सामाजिक सस्थाओ द्वारा भी किया जा सकता है।

भारत मे आवश्यकता क्यो ?—

श्रम सुधार काय केवल भारत में ही आवश्यक नही, परन्तु यह सम्पूर्ण औद्योगिक विश्व मे औद्योगिक शान्ति, श्रमिको का जीवन-स्तर उन्नत करने तथा उनके अधिक कार्यक्षम बनाने के लिये एक आर्थिक आवश्यकता है। भारत मे श्रम-सुधार कार्य का महत्व न्यूनतम था, क्योकि सम्पूर्ण औद्योगिक क्षेत्र मे—देश एव विदेश के —यह भ्रममूलक धारणा थी कि श्रम कल्याण पर किसी प्रकार का व्यय नियोक्ताओ के निजी लाभ पर कर है अथवा उससे वस्तुओ का उत्पादन व्यय बढ जाता है। परन्तु उनकी यह धारणा गलत थी, क्योकि यदि श्रमिको की मानसिक एव शारीरिक उन्नति के लिए नियोक्ता व्यय करते है तो उनको कुशल एव स्वस्थ श्रमिक मिलते हैं। इससे उत्पादन व्यय बढने की जगह कम हो जाता है तथा ऐसी स्वेच्छात्मक सुविधाओ से श्रम एव नियोक्ताओ के सम्बन्ध अच्छे होकर औद्योगिक शान्ति का बीजारोपण होता है। भारत मे श्रम सुधार कार्य की ओर प्रथम विश्व युद्ध मे प्रयत्न किए जाने लगे, तब जनता, नियोक्ता एव सरकार ने यह पहिचाना कि सन्तुष्ट एव स्थायी श्रम शक्ति से ही देश की औद्योगिक उन्नति हो सकती है, क्योकि श्रम कल्याण कार्य से—(१) श्रमिको का मानसिक, शारीरिक एव शैक्षणिक विकास होता है, जिससे वे अपनी भलाई समझ सकते है एव जीवन का आनन्द ले सकते हैं। जितनी अधिक श्रम-कल्याण सुविधाए श्रमिको को मिलेगी उतना ही आकर्षण कारखानो के प्रति अधिक होकर कारखाना-जीवन की नीरसता कम होगी तथा श्रमिको का नैतिक स्तर उन्नत होगा। (२) सन्तुष्ट श्रमिक वर्ग ही अपनी अधिकतम् कार्यक्षमता उद्योग को दे सकता है, जिससे उत्पादन की लागत कम हो कर उपभोक्ताओ को सस्ते दामो मे वस्तुए मिल कर उद्योग का विकास हो सकता है। (३) श्रमिको मे नागरिक जिम्मेवारी की भावना जागृत हो कर वे देश के अच्छे नागरिक बन सकते है।

इन लाभो की दृष्टि से श्रम कल्याण कार्य नियोक्ताओ के लाभ पर कर न होते हुये उनके लाभ बढाने एव देश की औद्योगिक प्रगति का एक साधन है। इसीलिए टैक्सटाइल लेबर इन्कायरी कमेटी ने कहा था.—कार्यक्षमता का उन्नत स्तर केवल वही हो सकता है, जहाँ श्रमिक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एव मानसिक दृष्टि से सन्तुष्ट हो। इसका तात्पर्य यह है कि केवल वही श्रमिक जिनके लिये शिक्षा, आवास, भोजन तथा वस्त्रादि का उचित प्रबन्ध हो, कुशल हो सकते हैं। इसी दृष्टि से भारत मे बम्बई यूनिवर्सिटी ने श्रम-समस्याओ एव श्रम कल्याण कार्य के अध्ययन तथा शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया है। श्री टाटा ने स्कूल ऑफ सोशल साइंसेज, बम्बई की स्थापना केवल इसी उद्देश्य से की थी।

श्रम-कल्याण-कार्य की व्याप्ति—

श्रम-कल्याण कार्य के विस्तार का स्पष्टीकरण श्रम-जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट मे किया है। "श्रम-कल्याण कार्यों के अन्तगत श्रमिको के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक ए आर्थिक विकास के कार्यों का समावेश होना चाहिये। ये कार्य चाहे नियोक्ता, सरकार या अन्य सस्थाओ द्वारा किए जायें तथा साधारण अनुबन्धनात्मक सम्बन्ध अथवा विधान के अन्तर्गत जो श्रमिको को मिलना चाहिए, उसके अलावा किए गए हो। इस प्रकार इस परिभाषा के अन्तर्गत हम आवास व्यवस्था, चिकित्सा एव शिक्षा सुविधाएँ, अच्छा भोजन (कैन्टीन के आयोजन सहित), आराम एव मनोरजन की सुविधाएँ, सहकारी समितियाँ, प्रसूत गृह एव झूले, शौचालय, सवेतन छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, प्रॉविडेन्ट फण्ड, सेवा-निवृत्त वेतन आदि सुविधाओ का समावेश कर सकते हैं।"*

भारत में श्रम-कल्याण—

भारत मे अभी तक जितना भी कल्याण-काय किया गया है, उसमे तीन सस्थाएँ प्रमुख हैं — नियोक्ता, सामाजिक सस्थाएँ तथा सरकार। कुछ अश में श्रम-सघो ने भी कल्याण-कार्य मे हाथ बँटाया है। नियोक्ताओ की ओर से स्वेच्छा से बहुत ही कम फैक्टरियो मे श्रमिको को सुविधाएँ दी गई हैं और जहाँ वे दी भी गई हैं वे परिस्थिति से विवश हो कर अथवा वैधानिक अनिवार्यता के कारण। सामाजिक सस्थाओ ने अवश्य ही इस दिशा मे कार्य किया है, परन्तु यह कार्य केवल बम्बई, अहमदाबाद, मद्रास तक ही सीमित है।

नियोक्ता—

नियोक्ताओ के स्वेच्छापूर्ण कल्याण-कार्य मे ई० डी० ससून समूह की मिलो में तथा टाटा एण्ड सन्स की प्रबन्धित मिलो मे श्रमिको को औषधोपचार सुविधाएँ, प्रसूति, शिक्षा, तान्त्रिक शिक्षा, उम्मेदवार-पद्धति की व्यवस्था, गृह तथा मनोरजन की सुविधाएँ प्रसूति, शिक्षा, तान्त्रिक शिक्षा, उम्मेदवार-पद्धति की व्यवस्था, गृह तथा मनोरजन की सुविधायें दी गई हैं। मद्रास की बिन्नी एण्ड क० की मिलो मे, कानपुर के ब्रिटिश इण्डिया कॉर्पोरेशन के प्रबन्धित कारखानो मे श्रमिको को आवास, मनोरजन आदि की सुविधाएँ दी गई हैं। टाटा एव बिन्नी एण्ड कम्पनी का श्रम-कल्याण-काय विस्तृत एव योजनाबद्ध है, जिसके अन्तगत उन्होने अपने श्रमिको के लिए अच्छी आवास-व्यवस्था, शिक्षा, औषधालय, काम करने के बाद मनोरजन, कैंटीन, मनोरजन क्लब, खेल कूद के मैदान, गृह खेलो (Indoor games) की व्यवस्था आदि का आयोजन किया है। इसी प्रकार की व्यवस्था एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनीज की निर्माणियो में तथा जियाजीराव कॉटन मिल्स, ग्वालियर मे देखने को मिलती है। श्रम-कल्याण कार्य की योजनाबद्धता एव

---

* Labour Investigation Committee's Report, p 345

विस्तार को देखते हुए टाटा, ई० डी० ससून, विनीज, डी० सी० एम०, बी० आई० सी०, ए० सी० सी० आदि नियोक्ताओं के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन ने पटसन कारखानो के श्रमिकों के लिये अनेक सुविधाओं का आयोजन किया है तथा प्रमुख केन्द्रों में श्रम-कल्याण-केन्द्रों की स्थापना की है। इन केन्द्रों मे खेल कूद, मनोरजन आदि का प्रबन्ध है। एसोसिएशन की ओर से पाँच प्राथमिक पाठशालाएँ भी चलाई जाती है।

श्रम-सघ—

श्रम-सघो ने श्रम-कल्याण-कार्य मे अधिक सहयोग नही दिया है, यद्यपि श्रम-सघो का यह एक प्रमुख उद्देश्य होता है। श्रम-कल्याण के लिए आर्थिक साधन अच्छे होने चाहिए और उसी का अभाव भारतीय श्रम सघो के पास है, जिसके कारण वे उल्लेखनीय कार्य नही कर सके हैं। श्रम-सघो मे अहमदाबाद टेक्सटाइल वर्कर्स एसोसिएशन का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार मजदूर सभा, कानपुर तथा मिल मजदूर सभा, इन्दौर ने भी इस दिशा मे कल्याण-कार्य किये हैं। अहमदाबाद टेक्सटाइल वर्कर्स एसोसिएशन अपनी धन-राशि का लगभग ६०% कल्याण-कार्यो पर व्यय करता है, जिसमे स्त्रियो एव पुरुषो की शिक्षा व्यवस्था तथा छात्रालय का भी आयोजन है। बच्चो के लिये अध्ययन-कक्ष, वाचनालय, चिकित्सालय आदि सुविधायें एसोसिएशन देता है।

इन्दौर के मिल मजदूर सघ ने बाल मन्दिर, कन्या मन्दिर तथा महिला मन्दिर की स्थापना की है, जहाँ श्रमिको के बालक, बालिकाओ एव स्त्रियो को शिक्षा दी जाती है। यह कार्य इस सभा के श्रम-कल्याण केन्द्र के नियन्त्रण में होता है। इसके अलावा सघ ने वाचनालय, मजदूर क्लब आदि की स्थापना भी की है। कानपुर मजदूर सभा ने वाचनालय, पुस्तकालय तथा एक चिकित्सालय की स्थापना मजदूरो के लिए की है। इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर के नियन्त्रण मे उत्तर-प्रदेश मे ४८ कल्याण-केन्द्रो का सगठन हुआ है, जो श्रम सुधार कार्य करता है।

फिर भी अन्य देशो की तुलना मे भारतीय श्रम सघो का कार्य नगण्य है। इसके लिये जैसा कि ऊपर बताया गया है, आर्थिक साधनो का अभाव ही प्रमुख कारण है, परन्तु यदि अपने थोडे से साधनो से तथा चन्दा आदि एकत्रित करके श्रम सघ श्रमिको के कल्याण कार्य को गति देते हैं तो इससे श्रमिको को तो लाभ होगा ही, परन्तु साथ ही श्रम-सघो का सगठन भी सुदृढ हो सकेगा, अत. श्रम-सघो को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

अन्य सस्थाओ मे बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता नगरपालिकाओ मे श्रम-कल्याण कार्य हो रहा है, जहाँ पर प्रसूति-गृह, कल्याण केन्द्र, शिक्षालयो आदि का प्रबन्ध है।

राज्य सरकारो द्वारा कल्याण-कार्य—

प्रान्तीय क्षेत्र में सन् १९३७ मे कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलो की स्थापना के साथ ही

अनेक सराहनीय कार्य किये गये, जिनमे श्रम कल्याण भी एक है। इसी के साथ सर्व प्रथम सरकार ने श्रमिको के सार्वजनिक कल्याण की ओर सरकारी रूप मे पग उठाया।

बम्बई में—

बम्बई मे सर्व-प्रथम सन् १६३६ मे इस ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही की गई और तब सन् १६३६-४० के बजट मे १,२०,००० रुपये का आयोजन श्रम-कल्याण-कार्य के लिये किया गया। इस कार्य पर सन् १६४०-५० में कुल व्यय १०,६८,०८३ रुपये था। प्रथम पंच-वर्षीय योजना मे बम्बई राज्य ने श्रम-कल्याण कार्य के लिये ३ करोड रुपये का आयोजन किया। श्रम कल्याण कार्य का निरीक्षण श्रम-कल्याण, डिप्टी कलेक्टर करता है, जिसके नियन्त्रण मे सन् १६५० मे ५० कल्याण-केन्द्र थे, जिनमें अ, ब, स तथा द वर्ग के क्रमश ५, १०, ३३ एव २ केन्द्र थे। इनके अलावा गत वर्षो मे २० केन्द्रो की स्थापना और हो चुकी है। इन केन्द्रो का विभाजन वहाँ पर उपलब्ध सुविधाओ के अनुसार चार श्रेणियो मे किया गया है। इसी प्रकार श्रमिक वर्ग मे से ही श्रम सघो के नेताओ का निर्माण करने के लिए बम्बई राज्य ने बम्बई, अहमदाबाद तथा शोलापुर म प्रशिक्षण वर्ग खोले हैं, जहाँ श्रमिको को श्रम सघवाद एव नागरिकता की शिक्षा दी जाती है। श्रम-कल्याण केन्द्रो की क्रियाओ का सहयोग सरकारी शिक्षा एव श्रम विभाजन तथा शराबबन्दी सभा के साथ स्थापित किया गया है, जिससे इनकी क्रियाओ के सामजस्य से श्रमिक अधिकतम् लाभ उठा सकें। श्रम-कल्याण को प्रोत्साहन देने के लिये सन् १६५३ मे लेबर वेलफेयर फण्ड अधिनियम बनाया गया, जिसके अनुसार श्रम कल्याण सभा की स्थापना की गई है। जुलाई सन् १६५३ से यह सभा श्रम-कल्याण केन्द्रो की व्यवस्था के लिए जिम्मेवार है।

मध्य-प्रदेश में—

मध्य-प्रदेश मे अधिक कारखानो मे श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन तथा हिंगनघाट और बाडनेरा मे श्रम-कल्याण केन्द्रो की स्थापना की गई है। इसके अलावा सरकार ने सन् १६५३-५४ मे नागपुर, जबलपुर और अकोला मे श्रम-कल्याण केन्द्र खोले हैं। श्रमिको को श्रम सघवाद की शिक्षा देने के लिए सन् १६५३-५४ में नागपुर मे एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला है, जहाँ ६५ श्रमिको की शिक्षा का आयोजन है, जिसमे से अब नागपुर का समावेश महाराष्ट्र प्रदेश मे हो गया है।

पंजाब में—

पजाब मे महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्रो मे श्रम-विभाग के नियन्त्रण मे श्रम-कल्याण केन्द्रो का सचालन हो रहा है। ये केन्द्र अमृतसर, बटाला, लुधियाना, जालन्धर, अम्बाला, अब्दुल्लापुर और बलरामपुर में हैं। यहा पर श्रमिको को शिक्षा एव मनोरंजन की वस्तुएँ उपलब्ध हैं।

उत्तर-प्रदेश मे—

उत्तर-प्रदेश मे श्रम कमिश्नर के नियन्त्रण मे श्रम विभाग का कार्य होता है,

जहाँ पर श्रम कल्याण कार्य की देख-रेख के लिए १ स्त्री तथा १ पुरुष निरीक्षक होता है। स्त्री निरीक्षक स्त्री श्रमिको के सम्बन्ध के कल्याण कार्यो, जैसे—प्रसूति गृह, घायगृह आदि का निरीक्षण करती है। सम्पूर्ण राज्य में सन् १९५८ मे ४९ श्रम-कल्याण-केन्द्र हैं।* इसके अलावा शक्कर उद्योग के श्रमिको के लिए मोलेंसेज (Molosses) की कीमत ।)। प्रति मन निश्चित कर दी गई है, जिससे अधिक दाम पर बिक्री होने से अतिरिक्त राशि एक अलग 'निधि' में जमा होती है। इसका उपयोग इस उद्योग के श्रमिको को गृह सुविधाएँ एव श्रम-कल्याण कार्य के लिए होता है। इसके अलावा कानपुर की नई श्रम बस्तियो मे २ तथा ऐशबाग लखनऊ मे एक श्रम-कल्याण केन्द्र खोले गये हैं।

बगाल राज्य मे—

बगाल राज्य मे सन् १९३९ में श्रम-कल्याण कार्य का श्रीगणेश हुआ तथा सन् १९५४ में राज्य के विभिन्न औद्योगिक केन्द्रो में २७ कल्याण-केन्द्र थे। इसी प्रकार बिहार मे २, असम मे १९ तथा सौराष्ट्र २० कल्याण-केन्द्र हैं। इन राज्यो के अलावा अन्य प्रान्तो मे भी श्रम कल्याण के लिए विशेष आयोजन हो रहा है।

वैधानिक श्रम-कल्याण कार्य—

भारत सरकार के श्रम-कल्याण कार्य का आधार वैधानिक है, जिसमे कानून द्वारा नियोक्ताओ को श्रमिको की मानसिक, शारीरिक एव आर्थिक उन्नति के लिए उनको अन्य उचित सुविधाएँ देने का आयोजन किया गया है। इन विधानो मे कारखानो के अन्दर झूलो की व्यवस्था, प्रकाश, हवा तथा मशीनो के आस-पास तार का घेरा आदि लगाने का आयोजन, स्नानगृह, शौचालय आदि का प्रबन्ध, चिकित्सालयो का आयोजन, गृह-निर्माण योजना, रोजगार सस्थाएँ, सामाजिक बीमा, प्रॉवीडेन्ट फड आदि योजनाओ का समावेश होता है।

भारत में केन्द्रीय सरकार ने सर्व प्रथम वैधानिक अनिवार्यताओ के अलावा अपनी स्वेच्छा से सुधार-कार्य का श्रीगणेश ऑर्डीनेन्स फैक्टरियो से किया। यहाँ युद्ध-काल में श्रमिको के लिए कैण्टीन की व्यवस्था, प्राथमिक चिकित्सा आदि का आयोजन किया। इसके अलावा फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत अस्पतालो का आयोजन तो था ही। युद्धोत्तर-काल में इन सुविधाओ का विकास हुआ तथा इसी प्रकार की सुविधाओ का आयोजन अन्य सरकारी औद्योगिक सस्थाओ मे भी किया गया। फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत २५० से अधिक व्यक्ति काम करने वाले उद्योगो को कैंटीन की सुविधायें देना अनिवार्य किया गया।

फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत श्रम-कल्याण कार्य समुचित हुआ, प्रकाश एव सफाई, यन्त्रो से सुरक्षा के लिए उनके आस-पास घेरे बनाना, बनावटी नमी से श्रमिको की सुरक्षा का आयोजन, प्राथमिक चिकित्सा, झूले (Creches), शौचगृह, आरामगृह

---

* Amrit Bazar Patrika 26-1-58

की व्यवस्था नियोक्ताओं को करना अनिवार्य हो गया। श्रम कल्याण कार्य के सम्बन्ध मे प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया। श्रमिको की काम करते समय किसी भी प्रकार की दुर्घटना से क्षति हो जाने पर उसकी पूर्ति करने की जिम्मेदारी नियोक्ताओं पर डाल दी गई, जिसके लिए उससे पूर्व कोई भी आयोजन नही था। इसी प्रकार वैधानिक सुधारो मे बालक बन्धक अधिनियम, मातृत्व लाभ अधिनियम तथा सेवायुक्त सरकारी बीमा अधिनियम आदि विधानो द्वारा श्रमिको की सुरक्षा एव भावी कल्याण का प्रबन्ध किया गया।

सन् १९४४ मे कोयला खान श्रमिको के कल्याण कार्य के लिए कल्याण-कोष निर्माण किया गया। कोयला खानो के श्रमिको के लिए कल्याण केन्द्र, चिकित्सा, प्रसूतिगृह आदि की व्यवस्था के लिए इस कोष का उपयोग होता है। इसी फण्ड की सहायता से २ केन्द्रीय अस्पताल, ६ प्रादेशिक अस्पताल, २ चलते फिरते दवाखाने तथा २ टी० बी० रुग्णालय चलाये जाते हैं। प्रादेशिक अस्पतालो में प्रसूति तथा शिशु कल्याण की सुविधाएँ भी दी जाती है। इसी प्रकार कोयले की खानो के श्रमिको के लिए नौगाँव तथा पंद्रारोड सेनिटोरियम मे क्रमश ५ और ४ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। मलेरिया विरोधी और बी० सी० जी० आन्दोलन भी इसी कोष की सहायता से इन क्षेत्रो मे चलाये जा रहे हैं। झरिया खानो की स्वास्थ्य सभा के लिए 'चण्डकुइया' मे एक स्पर्शजन्य रोगियो के हेतु रुग्णालय खोलने की स्वीकृति भी दी गई है। इसी कोष से श्रमिको के गृह निर्माण की भी व्यवस्था है। इस कोष की वार्षिक आय १,७६,५५,४८४ रु० तथा व्यय १ ७० करोड रु० है।

अभ्रक खान मजदूरो के लिए कल्याण कोष सन् १९४७ मे बनाया गया है। इस निधि का लाभ बिहार, आन्ध्र, राजस्थान तथा अजमेर की अभ्रक की खानो में काम करने वाले मजदूरो को मिलेगा। इस राशि से कल्याण सुविधाओं के लिए दिये जाने वाले वार्षिक बजट की राशि आम प्रान्तो के लिए क्रमश १३ ९०, ४ ३३, १ २६ तथा ० ४४ लाख रुपये है। इन मजदूरो को कोयला खान मजदूरो की भाँति चिकित्सा, शिक्षा मनोरंजन एव आवास की सुविधाओं का आयोजन किया गया है। इस कोष से कर्मा (बिहार) और कालीचेडू (आंध्र) मे दो तथा गगापुर मे एक अस्पताल खोले गये हैं। इसके सिवा अनेक दवाखाने निर्माण अवस्था मे हैं, जिनमे प्रसूति एव शिशु कल्याण की व्यवस्था होगी, कोष द्वारा २ चलते फिरते दवाखानो का सचालन भी होता है। सन् १९५९-६० मे कोष से बिहार को १० ४२, आध्र को ४ ०० तथा राजस्थान को ४ ३७ लाख रुपये श्रम-कल्याण के लिए दिये गये।* लेबर ऑफिसर्स की शिक्षा का प्रबन्ध भी सन् १९५३-५४ से कलकत्ता विश्वविद्यालय में किया गया है।

बगीचा उद्योग मे मजदूरो को बगीचा श्रम अधिनियम के अन्तर्गत स्थायी

---

* India 1960.

श्रमिको को आवास व्यवस्था दी जाती है तथा अस्पताल और दवाखाने बगीचा उद्योग को रखना अनिवार्य है। कुछ बगीचा उद्योगो ने श्रमिको के बालको को शिक्षा, मनोरजन सुविधाए तथा दस्तकारी शिक्षा का आयोजन भी किया है। भर्ती की कागडी पद्धति का अन्त करने की कार्यवाही की गई है। दुर्घटनाओ को कम करने के लिए खान-अधिनियम सन् १९५२ का कड़ाई से पालन होने के लिए आवश्यक कार्यवाही की गई है।

इसी अनुभव के आधार पर सन् १९५२-५३ से कर्मचारी भविष्य निधि योजना प्रारम्भिक अवस्था मे सीमेंट, सिगरेट, विद्युत, लोहा एव इस्पात, कागज, कपड़ा तथा इजीनियरिंग उद्योगो मे लागू की गई थी। यह अब सभी कारखानो को जिनको ३ वर्ष पूरे हो चुके हैं तथा जहाँ ५० से अधिक मजदूर कार्य करते हैं, लागू होती है। सन् १९५८ ५९ मे इस योजना का लाभ ७,०२४ कारखानो के २५ ४३ लाख मजदूरो को मिल रहा था तथा इसी तिथि को उनके चन्दे की राशि लगभग १३२ करोड रु० थी। इस योजना के अन्तर्गत श्रमिको को आय के ८१/३% चन्दा देना पड़ता है तथा यह ऐसे सभी श्रमिको को जिनकी आय ५०० रु० मासिक से कम है, लागू होती है। कोयला खान श्रमिको के प्रॉविडेन्ट फण्ड की राशि अक्तूबर सन् १९५८ के अन्त मे १७ करोड रु० थी।*

अन्य—

इसके अलावा आम जनता के कल्याण के लिए अगस्त सन् १९५३ में एक स्वास्थ्य केन्द्रीय कल्याण सभा (Central Welfare Board) की स्थापना की गई। इसके कार्यक्रम मे बालवाड़ी, प्रसूति एव शिशु-स्वास्थ्य सेवाए, स्त्रियो की सामाजिक शिक्षा एव मनोरजन आदि की व्यवस्था है।

इसके नियन्त्रण मे ३० सितम्बर सन् १९५९ को ४३२ कल्याण-विस्तार प्रोजेक्ट चालू थे, जिनमे २,१२४ कल्याण-केन्द्र थे। इनका लाभ १०,८९२ गाँवो की १६० ७४ लाख जन-सख्या को होता है।

द्वितीय पच-वर्षीय योजना के अन्त तक केन्द्रीय कल्याण सभा का लक्ष्य ९६० कल्याण विस्तार प्रोजेक्टो की स्थापना का है, जिनमें ९,६०० कल्याण केन्द्र होगे। फलत: ६६,००० गाँवो की ५७६ लाख जनता को लाभ होगा। योजना का कुल व्यय १,५०३ लाख रुपया होगा, जिसमें केन्द्रीय कल्याण सभा का भाग ७३६ लाख रुपया होगा।

इसके अलावा सयुक्त राष्ट्र सघ के नियन्त्रण मे अन्तर्राष्ट्रीय बाल सङ्कट कोष (Unicef) भारत मे कार्य कर रहा है, जिसका सामजस्य उक्त सस्था से स्थापित किया गया है।

---

* India 1960 and भारतीय समाचार जून १, १९६०।

सामाजिक

संक्षेप में—

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत मे श्रम-कल्याण कार्य-प्रगति वैधानिक अनिवार्यता के कारण ही अधिकाश रूप मे हुई है। इसीलिए यह आवश्यक है कि नियोक्ता मजदूर कल्याण की ओर स्वेच्छा से अग्रसर हो और सरकार के वर्तमान सन्नियमो का कडाई से पालन होने के लिए आवश्यक कार्यवाही करें।

(२) सामाजिक सुरक्षा सामाजिक सुरक्षा

'सामाजिक सुरक्षा' का अर्थ इतना व्यापक है जिसमें दरिद्रता के किन्ही भी प्रयत्नो का समावेश होता है। वास्तव मे सामाजिक सुरक्षा समाज के व्यक्तिगत सदस्यो के लिये वह आयोजन है, जिससे उनकी सम्भाव्य खतरो से रक्षा हो सके तथा जिन खतरो से वह व्यक्तिगत रूप में अपनी सीमित, आर्थिक एव व्यक्तिगत साधनो से सुरक्षा नही कर सकता। ऐसे साधनो का आयोजन करने के लिए सरकार ही एक ऐसा सामाजिक सगठन है, जो समुचित आयोजन कर सकती है। कभी-कभी सामाजिक बीमा एव सामाजिक सुरक्षा इन शब्दो का प्रयोग एक ही अर्थ मे होता है, परन्तु इनमें थोडा सा भेद है। सामाजिक बीमा यह सामाजिक सुरक्षा का एक भाग है, इसलिए सामाजिक सुरक्षा शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक एव विस्तृत है।

भारत मे—

सामाजिक सुरक्षा का आयोजन अभी तक केवल औद्योगिक मजदूरो तक ही सीमित है, परन्तु वास्तव में इनका लाभ समाज के सभी सदस्यो को मिलना चाहिए। सामाजिक सुरक्षा के लिए भारत में जो आयोजन है, उसमे (1) प्रॉविडेन्ट फण्ड एक्ट, (2) कोल माइन्स प्रॉविडेन्ट फण्ड एण्ड बोनस स्कीम एक्ट, (3) मजदूर क्षति पूर्ति अधिनियम, (4) मॅटर्निटी बेनिफिट्स एक्ट तथा (5) सेवायुक्त सरकारी बीमा अधिनियम का समावेश होता है। इनमे से पहिले चार अधिनियमो का विवेचन यथास्थान किया गया है।

कर्मचारी सरकारी बीमा अधिनियम सन् १९४८ आवश्यक क्यों ?—

(i) उक्त साधन केवल मजदूरो की समस्या के विभिन्न पहलुओ को स्पर्श करते हैं, परन्तु उनसे उनका भावी जीवन आशामय नही बनता, इसलिए इस अधिनियम की आवश्यकता प्रतीत हुई। (ii) उपरोक्त अधिनियमो के अन्तर्गत मजदूरो को सुविधाएं देने का आर्थिक भार विशेष रूप से नियोक्ताओ पर होता है, जो वैधानिक दायित्व से बचने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका परिचायक मातृत्व लाभ अधिनियम तथा मजदूर क्षति पूर्ति अधिनियमो की प्रत्यक्ष कार्यवाही है। (iii) व्यक्तिगत प्रयत्नो की अपेक्षा सामूहिक प्रयत्न सदैव लाभकर एव उपयोगी सिद्ध होते हैं, क्योकि इसमें मजदूरो मे भी अपने अधिकार की भावना जाग्रत हो जाती है, जो बात व्यक्तिगत वैधानिक सुविधाओ मे नही होती, जैसा कि इन अधिनियमो की कार्यवाही की रिपोर्ट मे स्पष्ट है। मजदूर हानि पूर्ति विधान के अन्तर्गत मजदूरो को हानि पूर्ति की राशि बहुत कम मिलती है अथवा मिलती ही नही। इन अधिनियमो से (विशेषत:

स्त्री श्रम सम्बन्धी) उनको रोजगार देने की प्रवृत्ति कम हो जाती है, जिसका प्रमाण उत्तर-प्रदेश के आँकड़ो से मिलता है। सन् १९३९ मे उत्तर-प्रदेश मे स्त्री मजदूरो की सख्या ४,८०३ थी, जो सन् १९५० मे केवल २,३९७ रह गई, क्योकि नियोक्ता प्रसूति की सुविधाएँ नही देना चाहते। परन्तु बीमा अधिनियम के आयोजन से व्यय मे तीनो का हिस्सा होने के कारण नियोक्ताओ का नैतिक स्तर उन्नत होता है तथा सुविधाओ का लाभ उठाने के लिए मजदूर भी अधिकार से माँग कर सकते हैं। इसलिये सेवायुक्त सरकारी बीमा अधिनियम सन् १९४७ मे स्वीकृत हुआ तथा ६ अक्टूबर सन् १९४८ मे बीमा कॉर्पोरेशन का उद्घाटन हुआ।

शासन प्रबन्ध —

इस प्रमण्डल मे शासकीय प्रडण्डल के ३८ सदस्य हैं, जिसमे केन्द्रीय एव राज्य सरकारो, नियोक्ताओ एव मजदूरो के प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार इसमे केन्द्रीय ससद तथा डॉक्टरी पेशे के प्रतिनिधि भी हैं। कॉर्पोरेशन का शासन-प्रबन्ध स्थायी समिति करती है, जिसमे १३ सदस्य होते हैं, जो इन्ही ३८ सदस्यो में से चुने जाते हैं। इस स्थायी समिति पर मजदूर एव नियोक्ताओ का समान प्रतिनिधित्व होता है। इसी प्रकार इस अधिनियम के अन्तर्गत औषधोपचार एव चिकित्सा सम्बधी सुविधाओ का आयोजन करने तथा सलाह देने के लिए सन् १९४८ मे डॉक्टरो की भी एक परिषद् बनाई गई है। इस औषधोपचार लाभ-परिषद् के २८ सदस्य हैं। बीमा प्रमण्डल के प्रमुख अधिकारियो की नियुक्ति तथा लेखा-जोखा रखना एव उसकी जाँच कराने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। इस कॉर्पोरेशन के शासन की जिम्मेदारी प्रमुख सचालक पर है, जिसकी सहायता के लिए चार प्रमुख अधिकारी हैं। प्रमुख सचालक सम्पूर्ण शासकीय कार्यवाही प्रादेशिक तथा स्थानीय कार्यालयो के माध्यम से करता है। इस कार्य की प्रादेशिक सलाहकार सभाएँ भी हैं, जिनमे नियोक्ता, मजदूर एव प्रान्तीय सरकारो के प्रतिनिधि हैं।

अधिनियम से मिलने वाले लाभ—

यह अधिनियम उन सभी कारखानो पर लागू होता है जो १२ मास काम करते हो, बिजली से चलते हो और जिनमे २० या इससे अधिक कर्मचारी हो, जिनकी मासिक मजदूरी ४००) रु० से कम हो। सितम्बर सन् १९५१ मे औद्योगिक मजदूरो को स्वास्थ्य एव औषधि सम्बन्धी लाभ देने के लिए इस अधिनियम मे सशोधन किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति मे केवल स्वास्थ्य एव चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ दी जायेंगी, जो निम्न हैं —

(१) चिकित्सा तथा औषधि एव स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ।

(२) औद्योगिक मजदूरो के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे अधिकृत जानकारी एकत्रित करने के लिए शासकीय व्यवस्था की जायगी। इस व्यवस्था का हेतु सरकार का ध्यान मजदूरो के स्वास्थ्य की ओर आकर्षित करना तथा उसको सुधारने के लिए आव-

श्यक सलाह देने का है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक अभाव के कारण प्रत्यक्ष कार्य नहीं हो सकेगा।

सशोधित योजना के अनुसार एक बीमा-निधि बनेगा। सम्पूर्ण योजना लागू होने पर मजदूरो एव नियोक्ताओ के चन्दे से मिलाकर इस निधि की वार्षिक आय २०५ करोड रुपया होगी जिसमे से मजदूरो का चन्दा ४१ लाख तथा नियोक्ताओ का चन्दा १६४ लाख रुपये होगा।

अन्य सुविधाएँ—

अधिनियम पूर्ण रूप से लागू होने पर औद्योगिक मजदूरो को निम्न सुविधाएँ मिलेंगी —

सुविधाएँ	समय	लाभ की दर
(१) बीमारी सम्बन्धी सुविधाएँ।	प्रत्येक वर्ष मे ८ सप्ताह तक	साप्ताहिक मजदूरी का ७/१२ अश की दर से।
(२) जच्चे सम्बन्धी सुविधाएँ।	१२ सप्ताह तक।	१२ आने प्रति दिन की दर से अथवा बीमारी सम्बन्धी सुविधाओ की दर से (जो अधिक हो)।
(३) अयोग्य मजदूरो के लिए सुविधाएँ।		
(I) स्थायी अयोग्यता की दशा मे।		
(अ) सम्पूर्ण क्षति के लिए	आजीवन	साप्ताहिक मजदूरी के ७/१२ भाग की दर से।
(ब) आंशिक अयोग्यता के लिए	इस दशा मे अयोग्यता के अनुसार वर्कमैंस कम्पेन्सेशन एक्ट के अनुसार पूर्ति की राशि मजदूर को मिलेगी।	
(II) अस्थायी अयोग्यता के लिए	अयोग्यता जब तक रहे तब तक।	साप्ताहिक भृत्ति के ७/१२ अश के हिसाब से।
(४) मजदूरो पर आश्रित व्यक्तियो के लिए	(अ) मजदूर पर आश्रित उसकी विधवा स्त्री के लिए, उसकी मृत्यु तक अथवा पुनर्विवाह की अवधि तक।	उसकी भृत्ति के ३/५ की दर से। यदि मृतक की दो विधवाएँ हैं तो उन्हे इस दर का आधा-आधा।
	(य) उसके वैधानिक वारिस के लिये उसकी १५ वर्ष की आयु तक और यदि वह शिक्षा ले रहा है तो उसकी १८ वर्ष की आयु तक।	मृतक की भृत्ति के २/५ की दर से प्रत्येक लडके को।

	(स) मृतक की वैधानिक लडकी के लिये उसकी १५ वर्ष की आयु अथवा उसके विवाह होने तक (इनमे जो भी कम हो) और यदि वह पढ रही है तो १७ वष की आयु तक।	मृतक की भृत्ति के $\frac{२}{५}$ की दर से प्रत्येक लडकी को।
(५) औषधि एव इलाज सम्बन्धी सुविधाएँ।	इसके अनुसार मजदूरो को साधारण औषधालयो की सुविधा मिलेगी।	

कर्मचारी राज्य बीमा निगम का अर्थ प्रबन्ध—

कॉरपोरेशन के अन्तगत दी जाने वाली सुविधाओ पर जो व्यय होगा उसकी व्यवस्था के लिए सेवायुक्त-सरकारी-बीमा निधि बनाया गया है। इसमे नियोक्ता एव मजदूरो का चन्दा तथा प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारें सहायता के रूप में जो राशि देंगे, वह जमा होगी। इसी प्रकार धर्मार्थ सहायता की राशि भी इसी निधि मे जमा होगी। मजदूर एव नियोक्ताओ के चन्दे की दर उनकी राय के अनुसार निश्चित की गई है। मजदूरो को चन्दा देने के लिए उनकी राय के अनुसार मजदूरो का विभाजन ८ वर्गो मे किया गया है, जिसके अनुसार नियोक्ताओ का चन्दा भी होगा। चन्दे की दरें निम्न हैं।—

भृत्तिसमूह	मजदूरो का चन्दा	नियोक्ताओ का चन्दा	योग
(१) दैनिक वेतन १) से कम	—	०- ७-०	०- ७-०
(२) ,, १) से १॥) तक	०- २-०	० ७-०	०- ६-०
(३) ,, १॥) से २) तक	०- ४-०	०- ८ ०	०-१२-०
(४) ,, २) से ३) तक	०- ६-०	०-१२-०	१- २-०
(५) ,, ३) से ४) तक	०- ८-०	१- ०-०	१- ८-०
(६) ,, ४) से ६) तक	०-११-०	१- ६-०	२- १-०
(७) ,, ६) से ८) तक	०-१५-०	१-१४-०	२ १३-०
(८) ,, ८) से अधिक किन्तु ४००) मासिक से कम	१- ४-०	२- ८-०	३-१२-०

अधिनियम के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओ का वार्षिक व्यय मजदूरो एव नियोक्ताओ के चन्दे से लिया जायगा, परन्तु शासकीय व्यय की जिम्मेवारी नियोक्ताओ की है। परन्तु प्रथम पाँच वर्ष में औषधोपचार सुविधायें देने के लिये जो शासकीय व्यय

होगा वह केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारें ६६$\frac{2}{3}$% तथा ३३$\frac{1}{3}$% अनुपात मे देंगी। उपरोक्त दरो के अनुसार नियोक्ताओ को चन्दा देना अनिवार्य है।

प्रारम्भिक स्थिति मे अस्थाई रूप से नियोक्ताओ की दरो मे सशोधित अधिनियम से परिवर्तन किये गये हैं, जिसके अनुसार सभी नियोक्ताओ को अपने कारखाने मे दी जाने वाली कुल मजदूरी के ० ७५% चन्दा देना पडता है। जिन क्षेत्रो मे सुविधायें दी जा रही है वहाँ के नियोक्ताओ के लिए यही चन्दा सम्पूर्ण मजदूरी के १·२५% है। नियोक्ताओ को बीमा योजना वाले क्षेत्रो मे मजदूर क्षति पूर्ति अधिनियम तथा मातृत्व लाभ अधिनियम के अन्तर्गत सुविधायें देने की आवश्यकता नही है, इसलिए उनके चन्दे की दर $\frac{1}{2}$% से अधिक है।

कर्मचारी राज्य बीमा निगम की क्रियायें—

इसके अन्तर्गत स्वास्थ्य बीमा योजना सर्व प्रथम २४ फरवरी सन् १९५२ को दिल्ली और कानपुर में आरम्भ की गई थी। क्रमश इस योजना का विस्तार देश के अन्य औद्योगिक केन्द्रो मे भी किया गया, जिससे १४ ४३ लाख औद्योगिक श्रमिको को लाभ मिल रहा है। इस समय यह योजना दिल्ली, कलकत्ता एव हावडा के औद्योगिक केन्द्रो में, आन्ध्र राज्य के ९, उत्तर-प्रदेश के ४, मध्य-प्रदेश, केरल और मद्रास के पाँच पाँच, पजाब के ७ और राजस्थान के ६, आसाम, बिहार तथा मैसूर के औद्योगिक केन्द्रो के श्रमिको को लागू होता है। २७ मार्च सन् १९६० से आन्ध्रप्रदेश में सिरपुर, बिहार मे डालमियानगर बजारी आदि, मद्रास में डालमियापुरम तथा मैसूर मे हुबली मे इस योजना का विस्तार किया गया है, जिससे १९,४५० श्रमिको को लाभ मिलेगा।[1]

सन् १९५८-५९ वर्षान्त मे श्रमिको का चन्दा ३ ८१ करोड रुपये और नियोक्ताओ का चन्दा ८ ९० करोड रुपये रहा। इसी अवधि मे बीमित व्यक्तियो को निम्न के लाभ दिए गए .—

बीमारी सम्बन्धी सुविधायें	१८५ लाख रु०
प्रसूति सम्बन्धी सुविधायें	१० २६ ,,
अयोग्यता सुविधायें	४०·७१ ,,
आश्रित सम्बन्धी सुविधायें	९·३२ ,,
योग	२४५ २९ लाख रु०[2]

इसी वर्ष मे योजना के अन्तर्गत आन्ध्र, आसाम, बिहार, मैसूर, मध्य-प्रदेश, पजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश तथा दिल्ली के क्षेत्रो में बीमित व्यक्तियो के ४ १० लाख परिवारो को चिकित्सा सुविधाओ का विस्तार किया गया है।

---

१. भारतीय समाचार अप्रैल १५, सन् १९६०

2 India—1960

इस प्रकार राज्य कर्मचारी बीमा निगम अधिकाधिक सुविधायें देने के लिए प्रयत्नशील है। इस निगम का यही प्रयास है कि श्रमिक परिवारों को सभी राज्यों मे चिकित्सा की समान सुविधायें मिले।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O) एवं श्रमिक—

हमारे श्रमिको के लिए प्रारंभिक अवस्था मे जो भी विधान स्वीकृत हुए एवं सुधार किये गये उसका बहुत सा श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को है। इसी संगठन के वार्षिक अधिवेशनो मे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि अपने-अपने देश के श्रमिको की चर्चा कर उसमे सुधार करने के लिए प्रस्ताव स्वीकार करते हैं एवं किन देशो में उन पर कार्यवाही हो रही है, इसकी जाँच भी करते हैं। इस संगठन की स्थापना (सन् १९१९) के समय से ही भारत इसका सदस्य है एवं उसकी शासकीय सभा पर सन् १९२२ से अपना स्थायी रूप से एक प्रतिनिधि रखने का भारत को अधिकार है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के ९० प्रस्तावो (Conventions) मे से भारत ने २३ प्रस्तावो का अवलम्ब कर मजदूर-सनियमो मे आवश्यक संशोधन किये हैं।

इनमे से निम्न प्रतिज्ञा प्रस्ताव महत्त्वपूर्ण हैं :—

(अ) औद्योगिक संस्थानो के काम के घन्टे सीमित करना,
(आ) स्त्रियो एवं १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चो को रात पाली मे काम देने पर रोक,
(इ) दुर्घटना अथवा मृत्यु की दशा मे श्रमिक की हानिपूर्ति,
(ई) डॉक-श्रमिको की दुर्घटनाओ से सुरक्षा,
(उ) किसी प्रकार के अनिवार्य श्रम (बेगार) पर रोक,
(ऊ) श्रम-परीक्षण की पद्धति, तथा
(ए) न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण।

इस संस्था के दो सम्मेलन भारत मे हुए, पहिला सन् १९४७ मे तथा दूसरा नवम्बर सन् १९५७ मे। इसके सिवा इस संगठन से भारत को विशेषज्ञो की सुविधाएँ तथा प्रशिक्षण सुविधायें भी मिलती हैं।

उपसंहार—

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारत सरकार ने नये नये विधानो द्वारा गत ५ वर्षों मे पर्याप्त सुविधाएँ दी हैं और मजदूरो ने भी सरकार के हाथ मजबूत बनाने मे सहयोग दिया है। क्योंकि औद्योगिक कलहो की संख्या कम हो रही है। अब मजदूरो को यह विश्वास है कि वे नियोक्ताओ की दया पर ही निर्भर नहीं हैं, अपितु देश की औद्योगिक प्रगति मे उनका भी उतना ही हिस्सा है, जितना मिल मालिको का। भारत के औद्योगीकरण की नवीन योजनाओ के साथ मजदूरो की माँग भी बढेगी और उनका महत्त्व बढता जायगा। देश की कोई भी औद्योगिक योजना तब तक सफल नहीं होगी

जब तक कि मिल मालिक एव मजदूरो मे सहकारिता न हो। मिल मालिको ने इस बात को आवश्यकता अब पहचान ली है। ऐसे समय मजदूरो का अब परम कर्त्तव्य है कि वे औद्योगिक शान्ति स्थापित कर सरकार के हाथ मजबूत करें और राजनैतिक गुटबन्दी के चक्कर मे पड कर अपने पैर मे कुल्हाडी न मारें। इसी प्रकार सरकार को भी चाहिए कि वह अपनी विभिन्न योजनाओ एव विधानो को व्यावहारिक रूप मे कार्यान्वित करे। सरकार को गाँधीजी के इस कथन को न भूलना चाहिए कि किसी भी देश का काम उसके मुट्ठी भर लखपतियो एव पूँजीपतियो के बिना तो चल सकता है, परन्तु मजदूरो के बिना नही, जो देश की औद्योगिक शक्ति का एक महत्वपूर्ण अङ्ग होते है।

अध्याय ११

श्रम-सन्नियम

(Labour Law)

"श्रमिकों की काम करने की दशा सुधारने के लिए वर्तमान सन्नियमों का कड़ाई से पालन होना चाहिए।"

—दूसरी योजना

भारत मे श्रम सम्बन्धी जो भी कानून बनाये गए, उनका इतिहास विचित्र एव मनोरञ्जक है। १९वी शताब्दी मे सन् १८१८ तक के सन्नियम श्रमिको की सुरक्षा के लिए न होते हुए मिल मालिको को आवश्यकतानुसार मजदूरो की पूर्ति करने के लिए बनाए गये थे, परन्तु सन् १८१८ तथा सन् १८९१ मे जो फैक्टरी एक्ट बनाए गये उनसे कुछ अश मे मजदूरो की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया गया। इनका उगम भी बडी विचित्र पद्धति से हुआ।

उगम—

बम्बई का वस्त्र व्यवसाय अत्यन्त तेजी से विकास कर रहा था। इस विकास मे उनको मजदूरो का असीमित प्रदाय, कम मजदूरी तथा काम के अधिक घन्टे आदि से अत्यधिक बढावा मिल रहा था। इससे लङ्काशायर के मिल मालिको को चिन्ता

होने लगी, इसलिए उन्होने भारत-सचिव पर इस बात का दबाव डाला कि वे भारत मे कारखानो के नियन्त्रण के लिए ब्रिटिश फैक्टरी एक्ट लागू करें। फलस्वरूप सन् १८७६ मे फैक्टरी आयोग की नियुक्ति हुई तथा भारत मे सन् १८८१ मे पहला फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इस कानून की प्रमुख बातें निम्नलिखित थी . —

(१) यह अधिनियम उन समस्त कारखानो पर लागू होता था, जिनमें १०० से अधिक मजदूर काम करते हो एव शक्ति का उपयोग होता हो। [बगीचा उद्योग इसमे नही था]।

(२) ७ वर्ष से कम आयु के बच्चे फैक्टरी मे काम नही कर सकते थे तथा ७ से १२ वर्ष की आयु के बच्चो से प्रति दिन ६ घन्टे से अधिक काम नही लिया जा सकता था, जिसमे १ घन्टे का अवकाश भी सम्मिलित था। ऐसे बालको को मासिक चार छुट्टियाँ देना अनिवार्य कर दिया गया।

इस अधिनियम से किसी को भी सन्तोष न हुआ। इसके बाद सन् १८८२ मे फैक्टरी निरीक्षक श्री किङ्ग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोट मे श्रमिको की स्थिति सुधारने के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये, अतएव बम्बई सरकार ने सन् १८८४ मे एक समिति की नियुक्ति की, जिसका कार्य इन सिफारिशो को फैक्टरी मे लागू करने के सम्बन्ध में विचार करना था। इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन भी हुआ तथा मेन्चेस्टर के वस्त्र उद्योगपतियो ने भारत मे अँग्रेजी फैक्टरी विधान लागू करने के लिए ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला। फलस्वरूप सन् १८९१ में दूसरा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी प्रमुख धाराएँ —

(१) यह विधान ५० से अधिक मजदूर काम करने वाले एव शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानो पर लागू होता था। स्थानीय सरकार को यह अधिकार दिया गया था कि वह यह विधान २० व्यक्ति तक काम करने वाले कारखानो पर लागू कर सके।

(२) बच्चो की न्यूनतम् एव अधिकतम् आयु ९ से १४ वर्ष कर दी गई तथा उनके काम के ७ घन्टे प्रति दिन नियमित किये गये।

(३) स्त्री मजदूरो से प्रति दिन ११ घन्टे से अधिक काम नही लिया जा सकता था, जिसमे १½ घन्टे का विश्राम भी देना था। परन्तु स्त्रियो से प्रात ५ बजे से पूव एव सायकाल ७ बजे के बाद काम नही लिया जा सकता था।

(४) पुरुष-मजदूरो को ½ घन्टे का अवकाश एव १ साप्ताहिक छुट्टी की व्यवस्था की गई। इसके अलावा फैक्टरी के सुधार के लिए भी आयोजन किया गया था।

कुछ वर्षो बाद सन् १९०४ मे आर्थिक तेजी आई, जिससे वस्त्र-उद्योग में अधिक घन्टे अतिरिक्त काम किया जाने लगा। पटसन व्यवसाय की भी प्रगति होने

लगी। लङ्काशायर के वस्त्र-व्यवसायियो एव डडी के पटसन व्यवसायियो की दृष्टि से यह अधिनियम सन्तोषजनक नही था। इसलिए भारत सरकार ने सन् १९०७ मे एक आयोग की नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशो के अनुसार सन् १९११ का फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराए थी .—

(१) यह विधान मौसमी कारखानो पर भी लागू किया गया।

(२) बच्चो के काम के ६ घन्टे प्रति दिन नियमित किये गये तथा उनकी आयु एव शारीरिक योग्यता का प्रमाण आवश्यक कर दिया गया।

(३) पुरुष मजदूरो के काम के अधिकतम् घन्टे १२ निश्चित किये गये, जिसमे ½ घन्टे का विश्राम सम्मिलित था।

(४) स्त्री मजदूरो से धुनाई-कारखानो के अतिरिक्त अन्य कारखानो मे रात को काम नही लिया जा सकता था।

(५) इस अधिनियम से मजदूरो के स्वास्थ्य एव सुरक्षा के लिए भी काफी व्यवस्था की गई।

इस विधान को सन् १९१४-१९१९ के युद्ध-काल मे कुछ शिथिल कर दिया गया था, परन्तु युद्धोत्तर-काल मे श्रम सङ्घ आन्दोलन ने जोर पकडा तथा सन् १९२० मे भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ का सदस्य बना। इन दोनो घटनाओ से मजदूरो की स्थिति मे सुधार करने के लिए कानून की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। फलत: सन् १९२२ मे चौथा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराए —

(१) २० अथवा इससे अधिक मजदूर एव शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानो पर यह लागू होता था।

(२) स्थानीय सरकार को अधिकार था कि वह इस विधान को किसी भी वर्कशॉप पर लागू कर सकती थी, जिसमे १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हो।

(३) बच्चो की काय करने की आयु १२ से १५ वर्ष तक निश्चित कर दी गई।

(४) पुरुष मजदूरो के काम के अधिकतम् दैनिक घन्टे ११ तथा साप्ताहिक घन्टे ६० निश्चित किये गये।

(५) सभी मजदूरो के लिए एक घन्टा दैनिक विश्राम निश्चित किया गया तथा कोई भी मजदूर लगातार १० दिन से अधिक दिन बिना छुट्टी के गैर हाजिर नही रह सकता था। साराशत १० दिन की छुट्टी की व्यवस्था की गई।

(६) इसी प्रकार खतरनाक उद्योगो मे १७ वर्ष से कम आयु के बच्चे एव स्त्री-मजदूरो से काम लेना वर्जित कर दिया गया।

इस विधान मे कुछ थोडे से सशोधन सन् १९२३ एव सन् १९२६ मे किए गये। तदुपरान्त मजदूरों की फैक्टरी में काम करने की स्थिति एव तत्कालीन फैक्टरी

विधान का अध्ययन करने के उपरान्त सुझाव प्रस्तुत करने के लिए व्हिटले कमीशन की नियुक्ति हुई। इस कमीशन ने सन् १९३१ में अपनी रिपोर्ट दी। फलस्वरूप पाँचवां फैक्टरी एक्ट सन् १९३४ पास हुआ। इसकी मुख्य विशेषताएं :—

(१) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चे कारखानो मे काम पर नही रखे जा सकते थे, परन्तु जो १२-१५ वर्ष आयु के होते थे उन्हे खतरनाक उद्योगो में नियुक्त नही किया जा सकता था।

(२) बाल-मजदूरो के काम के दैनिक घन्टे ५ निश्चित किए गये तथा उनसे रात मे काम लेने पर रोक लगाई गई।

(३) वयस्क मजदूरो के काम के दैनिक घन्टे १० तथा कुल साप्ताहिक घन्टे ५४ निश्चित किए गये। परन्तु दैनिक आवश्यकता की वस्तुओ का निर्माण करने वाले कारखानो के लिए साप्ताहिक घन्टे ५६ नियत किए गये। मौसमी कारखानो के लिए साप्ताहिक काम के घन्टे ६० निश्चित किए गये। इस प्रकार इस अधिनियम से स्थायी एव मौसमी कारखानो को विभक्त किया गया।

(४) १५ से १७ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियो को 'युवा' की श्रेणी में रखा गया तथा डॉक्टरी प्रमाण-पत्र के बिना इनसे वयस्क व्यक्तियो का काम नही लिया जा सकता था।

(५) मजदूरो के स्वास्थ्य एव सुरक्षा के लिए अन्य आयोजन किए गये, जैसे—(अ) पीने के लिए स्वच्छ पानी, (ब) प्राथमिक औषधोपचार, (स) ५० से अधिक स्त्री मजदूर काम करने वाले कारखानो में झूले (Creches) लगाना, (द) कारखानो में नमी रखने (Artificial Humidity) का प्रबन्ध इत्यादि।

सन् १९३४ के फैक्टरी एक्ट मे संशोधन करने के लिए सन् १९४६ मे फैक्टरी संशोधन विधान पास हुआ। इस विधान के अनुसार :—

(१) स्थायी कारखानो के काम के साप्ताहिक घन्टे ४८ तथा मौसमी कारखानो के साप्ताहिक घन्टे ५० कर दिए गये।

(२) 'फैलाव' (Spread-over) का सिद्धान्त जो सन् १९३४ के फैक्टरी विधान द्वारा लागू किया गया था, उसका समय स्थायी कारखानो मे एव मौसमी कारखानो मे क्रमश १० और ११ घंटे कर दिया गया।

(३) अतिरिक्त मजदूरी के सिद्धान्त को मान्यता दी गई तथा अतिरिक्त मजदूरी की दर औसत मजदूरी की दुगुनी कर दी गई।

तदुपरान्त सन् १९४८ मे उन सब फैक्टरी-एक्टो को रद्द कर दिया गया, जो उस समय तक पास किये गये थे तथा उनको एकत्रित कर नया फैक्टरी विधान बनाया। इस नये विधान की प्रमुख बातें हैं :—

(१) यह विधान सभी औद्योगिक संस्थाओं को, जिनमे १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हो एव शक्ति का उपयोग होता हो तथा जहाँ २० से अधिक मजदूर कार्य करते हो, किन्तु शक्ति का उपयोग न होता हो, लागू होगा।

(२) इस विधान से स्थायी एव मौसमी कारखानो का भेद समाप्त कर दिया गया।

(३) बाल श्रमिको की न्यूनतम आयु १४ वर्ष निश्चित की गई है तथा 'युवा' के लिये अधिकतम आयु १७ वर्ष कर दी गई।

(४) वयस्क श्रमिको के लिये काम के साप्ताहिक घण्टे ४८ तथा दैनिक घण्टे ८ निश्चित कर दिये गए। 'फैलाव' दिन मे १०½ घण्टे निश्चित किया गया है।

(५) बाल एव युवा मजदूरो के लिये काम के दैनिक घण्टे ४½ तथा फैलाव ५ घण्टे निश्चित किया गया है।

(६) कोई भी वयस्क श्रमिक ½ घण्टे का विश्राम लिये विना लगातार ५ घण्टे से अधिक काम नही कर सकता।

(७) स्त्री एव बाल मजदूरो मे सायँ ७ बजे से प्रात. ६ बजे तक काम नही लिया जा सकता।

(८) अतिरिक्त काम के लिये मजदूरो को उनकी साधारण मजदूरी की दुगुनी मजदूरी देने की व्यवस्था की गई है।

(९) मजदूरो के लिये १ दिन के साप्ताहिक अवकाश की व्यवस्था की गई। इसके अलावा लगातार १२ माह की नौकरी करने वाले वयस्क मजदूर को प्रति २० दिन के पीछे १ दिन की सवेतन छुट्टी लेने का अधिकार मिला, परन्तु न्यूनतम १० दिन की सवेतन छुट्टी वह एक वर्ष मे ले सकेगा। बाल मजदूरो के लिये प्रति १५ दिन पीछे १ छुट्टी, परन्तु न्यूनतम १४ दिन सवेतन छुट्टी वह ले सकेगा।

(१०) स्वास्थ्य, सुरक्षा एव श्रम-सुधार कार्य के लिये स्पष्ट रूप से पर्याप्त प्रबन्ध किया गया।

(११) यह विधान भारत के सभी प्रान्तो एव विलीन राज्यो को लागू होगा तथा राज्य सरकारो को इस सम्बन्ध मे विशेष अधिकार दिये गये हैं।

खान मे काम करने वाले श्रमिको के लिये—

खान मे काम करने वाले श्रमिको के लिए सर्व प्रथम सन् १९०१ मे वैधानिक आयोजन किया गया, जब भारतीय खान विधान १९०१ पास हुआ। इस विधान से खान-निरीक्षको की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया। सन् १९२३ में इस विधान में मूलगामी परिवर्तन हुए, जिनके अनुसार —

(१) जमीन के नीचे १३ वर्ष से कम आयु के बच्चो को काम पर लेने के लिये रोक लगा दी गई।

(२) जमीन के ऊपर काम करने वाले वयस्क-श्रमिको से साप्ताहिक ६० घण्टे से अधिक तथा जमीन के नीचे काम करने वाले वयस्क-श्रमिको से ५४ साप्ताहिक घण्टो से अधिक काम लेने पर रोक लगा दी गई।

(३) स्थानीय सरकारो को यह अधिकार मिला कि वे स्त्री-मजदूरो को जमीन के नीचे काम कराने पर रोक लगा सकती थी।

इसके बाद ह्विटले कमीशन की सिफारिशो तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सघ के स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार सन् १९३५ मे खान विधान मे पुनः सशोधन किये गये। इसके अनुसार :—

(१) जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिको के लिए काम के साप्ताहिक घण्टे ५४ तथा दैनिक १० घण्टे निश्चित किये गये।

(२) जमीन के नीचे काम करने वाले खान-मजदूरो के दैनिक घण्टे ९ निश्चित किये गये और साप्ताहिक घण्टो की सीमा हटा दी गई।

(३) खान मे अथवा खान पर काम करने वाले बाल श्रमिको की न्यूनतम् आयु १५ वर्ष निश्चित कर दी गई। इसी प्रकार १५ से १७ वर्ष तक की आयु वाले श्रमिको को बिना डाक्टरी प्रमाण-पत्र के खानो मे काम पर लेने की रोक लगा दी गई।

इस विधान मे सन् १९३६, १९३७, १९४० तथा १९४६ मे सशोधन हुए। इन-सशोधनो के अनुसार :—

(१) यह विधान सभी खानो पर लागू होगा। इस विधान मे 'खान' की स्पष्ट परिभाषा भी दी गई है।

(२) जमीन पर काम करने वाले खान श्रमिको के दैनिक घण्टे १० तथा अधिकतम फैलाव १२ घण्टे निश्चित किया गया, जिसमे ६ घण्टे काम के बाद १ घण्टे का विश्राम भी सम्मिलित है। जमीन के नीचे काम करने वाले श्रमिको के लिये यही समय ९ घण्टे है।

(३) सभी खान श्रमिको के साप्ताहिक घण्टो की सीमा ५४ निश्चित की गई है। कोई भी व्यक्ति खान मे एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नही कर सकता।

(४) स्त्री एव पुरुष श्रमिको के लिए अलग-अलग लॉकर रूम एव स्नान-गृहो का प्रबन्ध कराने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को मिला है। तदनुसार भारत सरकार ने आदर्श नियम (Pit Headbath Rules) बनाये हैं।

इन सम्पूर्ण विधानो का एकत्रीकरण करने तथा उसको फैक्टरीज एक्ट सन् १९४८ के बराबरी में रखने के लिए, भारतीय खान अधिनियम सन् १९५२ मे स्वीकृत

हुआ। इस अधिनियम में उपरोक्त विभिन्न विधानो की सभी धाराओ का समावेश किया गया है। साथ ही :—

(१) १५ वर्ष से कम आयु के बालको को खानो मे काम करने पर प्रतिबन्ध लगाया है।

(२) कोई भी व्यक्ति, जिसकी आयु १७ वर्ष की है, खानो मे तब तक काम पर नही लिया जा सकता, जब तक उसके पास योग्यता सम्बन्धी डाक्टरी प्रमाण-पत्र न हो।

बगीचा-उद्योग —

बगीचा-उद्योग मे काम करने वाले मजदूरो के सम्बन्ध मे सबसे पहिला अधिनियम सन् १९३२ में बनाया गया। यह विशेष रूप से बगीचे पर काम करने के लिए मजदूरो की भर्ती करने के सम्बन्ध मे ही है। इस अधिनियम के अनुसार :—

(१) चाय के बगीचो मे काम करने वाले मजदूर एव उनके कुटुम्बियो को प्रत्येक तीन वर्ष के अन्त में अपने घर जाने का व्यय नियोक्ताओ से प्राप्त करने का अधिकार मिला।

(२) प्रान्तीय सरकारो को यह अधिकार दिया गया कि वे किसी भी क्षेत्र को 'नियन्त्रित क्षेत्र (Controlled Emigration) घोषित कर सकते हैं।

(३) मजदूर नियन्त्रणकर्त्ता (Controller of Emigrant Labour) की नियुक्ति का आयोजन किया गया।

(४) कोई भी १६ वर्ष से कम आयु का बालक अपने सम्बन्धियो अथवा माता पिता के साथ ही असम मे जा सकता था। इसी प्रकार विवाहित स्त्री अपने पति के साथ होने पर ही असम मे बगीचो मे काम करने के लिए जा सकती थी, अन्य नही।

इस विधान के पश्चात् दूसरा बगीचा-मजदूर-विधान सन् १९५१ मे बनाया गया, जो चाय, रबर सिनकोना आदि सभी बगीचे के उद्योगो पर लागू होता है, जिनमे न्यूनतम् ३० श्रमिक काम करते हो और जिनका क्षेत्र २५ एकड़ या अधिक हो। इस विधान के अनुसार —

(१) वयस्क श्रमिको के काम के साप्ताहिक घन्टे ५४ तथा अवयस्को के ४० घन्टे अधिकतम निश्चित किए गये।

(२) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चो की नियुक्ति नही की जा सकेगी।

(३) स्त्री श्रमिक एव बच्चो से साय ७ से प्रात ६ बजे तक काम लेने पर रोक लगा दी गई।

(४) इसके अलावा श्रमिको के स्वास्थ्य, कल्याण कार्य, शिक्षा, छुट्टियाँ तथा अवकाश के नियमन की भी व्यवस्था की गई।

यातायात-उद्योग—

रेल कर्मचारियो के काम के घण्टे तथा विश्राम का समय निश्चित एव नियमित करने हेतु इण्डियन रेल्वेज एक्ट सन् १८९० के ६वें अध्याय मे सन् १९३० मे सशोधन किया गया। इस सशोधित कानून के अनुसार फैक्टरी एक्ट तथा खान के एक्ट के अन्तगत आने वाले रेल कर्मचारियो को छोड कर अन्य सभी रेलो के कर्मचारियो के काम के घण्टे ८४ प्रति सप्ताह तथा अन्य कार्य के लिए ६० घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किए गए। इसके अनुसार मजदूरो को दो वर्गो मे बाँटा गया :—एक वे जो लगातार काम करते हैं तथा दूसरे वग मे वे जो आवश्यक रूप से पारी-पारी (Intermittant) से काम करने वाले हैं। काम के समय आवश्यक विश्राम व सुविधाएँ देने का एव उसकी देखभाल करने का भी उचित प्रबन्ध इस कानून से किया गया। सन् १९४६ से इस कानून के पालन की जिम्मेदारी प्रमुख श्रम कमिश्नर (केन्द्रीय) की हो गई है।

व्यापारी जहाजो पर काम करने वाले श्रमिको के लिए सन् १९२३ मे 'इण्डियन मर्चेन्ट शिपिंग एक्ट' बनाया गया। इस विधान मे सन् १९३१ मे सशोधन हुआ, जिसके अनुसार जहाजो एव समुद्र पर काम करने वाले बालको की, युवको की ट्रिमर्स एव स्टोकर्स के लिए भरती करने की कम से कम आयु, बेकारी की दशा मे हानि-पूर्ति, शारीरिक योग्यता की जाँच एव प्रमाण-पत्र, जहाज से माल उतारने वाले एव लादने वाले श्रमिको की सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में उचित व्यवस्था की गई।

इसके पश्चात् बन्दरगाहो पर काम करने वाले सयोगिक श्रमिको की कठिनाइयो को दूर करने के लिए सन् १९४८ मे 'डॉक वर्कर्स (एम्पलॉयमेन्ट ऑफ रेग्यूलेशन) एक्ट' बनाया गया। इस कानून से केन्द्रीय सरकार एव प्रान्तीय सरकारो को बन्दरगाहो पर काम करने वाले श्रमिको की सुविधाओ आदि के लिए तथा उनको नियमित रोजगार देने के लिए आवश्यक नियम बनाने के अधिकार मिले।

अन्य अधिनियम—

श्रमिक क्षति पूर्ति अधिनियम सन् १९२३—

सन् १९२३ में यह अधिनियम प्रथम बार बना, जिसमे क्रमश सन् १९२६, सन् १९२९, सन् १९३१ तथा सन् १९३३ मे निम्न सशोधन किये गये थे —

(१) किसी भी रोजगार पर होने वाली क्षति, रोजगार सम्बन्धी बीमारी अथवा ऐसी बीमारी एव क्षति से होने वाली मृत्यु से किसी व्यक्ति की हानि से क्षतिपूर्ति करने का दायित्व नियोक्ता पर होगा। परन्तु क्षति पूर्ति का अधिकार किसी भी व्यक्ति को तभी मिलता है, जब उसकी कोई भी चोट अथवा उसकी मृत्यु काम करने के समय हुई हो। यदि व्यक्ति को नशे की हालत मे अथवा अपने कार्य की उपेक्षा से अथवा सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था की अवहेलना से हानि होती है तो नियोक्ता उसकी क्षति पूर्ति के लिए बाध्य नही है। तीसरे, यदि चोट से अथवा बीमारी से होने

वाली क्षति ७ अथवा ७ दिन से कम हो तो उसके लिए भी कोई क्षति पूर्ति नही दी जायगी। चौथे, कोई भी व्यक्ति, मजदूर अथवा कर्मचारी, जिसकी मासिक आय ४०० रु० से अधिक है, क्षति पूर्ति का अधिकारी नही होगा।

(२) क्षति पूर्ति प्राप्त करने का अधिकार २७ श्रेणी के मजदूरो को प्राप्त है, जिनका उल्लेख अधिनियम मे है।

(३) मृत्यु, पूर्ण अयोग्यता तथा आंशिक अयोग्यता के सम्बन्ध मे वयस्क कर्मचारियो को उनकी मासिक आय के अनुसार क्षति पूर्ति की राशि दी जाती है। परन्तु अवयस्क एव वयस्क दोनो ही कर्मचारियो को अस्थायी अयोग्यता के सम्बन्ध में क्षति पूर्ति की समान राशि दी जाती है। स्थायी आंशिक अयोग्यता, अस्थायी आंशिक अयोग्यता तथा अस्थायी पूर्ण अयोग्यता के अनुसार दी जाने वाली क्षति पूर्ति की राशि भिन्न-भिन्न होती है। मृत्यु तथा स्थायी पूर्ण अयोग्यता होने पर अवयस्क एव वयस्क व्यक्ति को क्रमश २०० एव १,२०० रु० की राशि क्षति पूर्ति के रूप मे दी जाती है।

(४) क्षति पूर्ति की राशि का समायोजन नियोक्ताओ द्वारा अधिनियम मे उल्लिखित कार्यों के अलावा अन्य किसी प्रकार से नही किया जा सकता। नियोक्ता के दिवालियेपन की दशा मे भी इस अधिनियम के अन्तर्गत मिलने वाली राशि श्रमिक को देने का आयोजन अधिनियम मे है।

(५) इस सम्बन्ध मे प्रशासन की जिम्मेवारी श्रमिक क्षति पूर्ति कमिश्नरो की है, जिनकी नियुक्ति राज्य सरकारें करती हैं।

परन्तु जिन क्षेत्रो मे श्रमिक सरकारी इन्श्योरेन्स कॉर्पोरेशन की उन्नत सुविधायें दी जाती हैं वहाँ पर मजदूर क्षति पूर्ति तथा मातृत्व लाभ अधिनियमो की उन्नत सुविधायें नही मिलती।

मातृत्व लाभ अधिनियम—

इस सम्बन्ध में जो केन्द्रीय अधिनियम है, वह केवल खानो पर लागू होता है तथा अन्य राज्यो में इस सम्बन्ध में अपने स्वतन्त्र विधान हैं। इस सम्बन्ध मे राज्यो के विधान में भिन्नता है, जहाँ इस अधिनियम के अन्तर्गत योग्यता अवधि भिन्न भिन्न है—असम तथा बगाल में १५० दिन, मद्रास में २४० दिन, उत्तर-प्रदेश, केन्द्रीय तथा बिहार के अधिनियम मे ६ माह तथा शेप राज्यो के विधान मे ९ मास है।* इसी प्रकार लाभ की अवधि में विविधता है।

भृत्ति भुगतान अधिनियम सन् १९३६—

यह विधान ४००) रु० अथवा इससे कम मासिक आय होने वाले मजदूरो की भृत्ति का नियमित भुगतान तथा उनके भृत्ति के कटौती सम्बन्धी नियम निर्धारित करता है। सरकार को किसी भी औद्योगिक सस्था में यह अधिनियम लागू करने का तथा उसका पालन हो रहा है, यह देखने के लिए निरीक्षको को नियुक्त करने का अधिकार

* India 1954.

है। यह अधिनियम रेल्वे, खान, कारखाने, बगीचे तथा यातायात की कुछ श्रेणियों में लागू होता है।

न्यूनतम् मजदूरी अधिनियम सन् १९४८—

भारतीय मजदूरो के लिए समय-समय पर जो सन्नियम बने उनमे किसी भी प्रकार के मजदूरो की न्यूनतम् मजदूरी का आयोजन नही था। इस कारण मजदूरो का नियोक्ताओ द्वारा शोषण होता रहा। इस शोषण का अन्त करने तथा मजदूरो की न्यूनतम मजदूरी नियत करने के लिए सर्व प्रथ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने सन् १९२८ में प्रस्ताव पास किया। इसी आधार पर भारत में शाही श्रम आयोग (सन् १९३१) ने न्यूनतम् मजदूरी नियत करने की सिफारिश की, परन्तु विदेशी सरकार ने इस दिशा में कुछ न किया। भारत स्वतन्त्र होते ही सन् १९४८ मे न्यूनतम् भृत्ति अधिनियम पास हुआ —

(१) यह ऐसे सब कारखानो पर लागू होता है, जहाँ १,००० या इससे अधिक मजदूर काम करते हैं।

(२) अधिनियम के अन्तर्गत न्यूनतम् समय-मजदूरी, न्यूनतम् कार्य मजदूरी, गारटीड समय मजदूरी तथा उद्योग, क्षेत्र एव कार्य की विभिन्नता के अनुसार समुचित अतिरिक्त मजदूरी (Overtime wage) नियत करने का आयोजन है।

(३) यह अधिनियम अनुसूचित उद्योगो मे ही लागू होगा, परन्तु राज्य सरकारें तीन मास की सूचना देकर इसे अन्य किसी भी उद्योग मे लागू कर सकेंगी।

(४) न्यूनतम् भृत्ति निश्चित करने के लिए सरकार को समितियाँ एव उप-समितियाँ बनाने का अधिकार है। इनकी क्रियाओ मे सामजस्य लाने के लिये केन्द्रीय सरकार, केन्द्रीय सलाहकार समितियाँ नियुक्त करेगी, जिनमे सरकार, नियोक्ता एव मजदूरो के प्रतिनिधि होंगे।

इस अधिनियम के अनुसार अधिकाश अनुसूचित उद्योगो की न्यूनतम् भृत्ति दरें निश्चित की गई हैं। सन् १९५७ के सशोधन से ३१ दिसम्बर सन् १९५९ के अन्त तक कृषि तथा अनुसूचित उद्योगो के श्रमिको की प्रारम्भिक न्यूनतम् दरें निश्चित हो जावेंगी।*

उचित भृत्ति—

उचित-मजदूरी-समिति की सिफारिशो के अनुसार अगस्त सन् १९५० मे एक विधेयक भारतीय ससद में प्रस्तुत किया गया था। उचित मजदूरी की दर न्यूनतम मजदूरी से कम नही होगी। उचित भृत्ति निम्न बातो पर निर्भर रहेगी·—(१) राष्ट्रीय

---

* India—1960

आय, (२) मजदूरी की वर्तमान दरें, (३) उद्योग की उत्पादनशीलता तथा (४) मजदूरों की कार्य क्षमता, परन्तु यह विधेयक पास नही हो सका।

कुछ भी हो, राजनैतिक, आर्थिक एव सामाजिक दृष्टि से मजदूरो को न्यायोचित मजदूरी देना समय की माँग है। यह मजदूरी निश्चित करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि देश मे रोजगारी के अवसर अधिकतम् हो। साथ ही, वर्तमान मजदूरी की दरें एक दम न बढाते हुए क्रमश बढानी चाहिए, जिससे मूल्यस्तर मे स्थिरता रहे।

समुचित मजदूरी की दरें निश्चित करते समय योजना आयोग के निम्न सुझाव विचारणीय हैं :—

(१) श्रमिको को राष्ट्रीय आय का उचित अश मिले, इसलिये मजदूरी सम्बन्धी सभी सुधार सामाजिक सिद्धान्तो के अनुकूल हो तथा उनका हेतु आर्थिक विषमता अधिकतम् सीमा तक दूर करने का हो।

(२) जीवन मजदूरी निश्चित करते समय श्रमिको की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, मानसिक एव शारीरिक आवश्यकताएँ, खतरो आदि की ओर ध्यान दिया जाय।

(३) विभिन्न उद्योगो मे श्रमिको के कार्यभार का वैज्ञानिक निर्धारण किया जाय।

(४) इस सम्बन्ध मे पिछडे हुए क्षेत्रो को प्रधानता दी जाय।

(५) त्रिदल पद्धति पर केन्द्र एव प्रान्तो मे स्थायी-भृत्ति सभाएँ बनाई जायँ, जो मजदूरी सम्बन्धी समस्याओ का हल एव परिस्थिति के अनुसार मजदूरी का मिलान करें।

उपसहार—

इन सन्नियमो के होते हुए भी उनमे कतिपय दोप हैं, जैसे—एक ही विषय पर केन्द्रीय एव राज्य सन्नियमो में विषमता, सन्नियमो का कडाई से पालन न होना। अत. इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय आधार पर ही सन्नियम बनाये जायें तो अच्छा होगा तथा कम्पनी लॉ प्रशासन की तरह ही श्रम-सन्नियम प्रशासन का निर्माण किया जाय तो इन अधिनियमो का कडाई से एव पूरी तरह पालन हो सकेगा।

———

अध्याय १२

पंच-वर्षीय योजना में श्रम-नीति एवं कार्यक्रम

(Labour Policy & its Programme in Five-Year Plan)

प्रथम पच वर्षीय योजना की श्रम-नीति मे नए सन्नियम बनाने की अपेक्षा तत्कालीन सन्नियमो के प्रभावी प्रशासन पर जोर दिया गया था। औद्योगिक झगडों के निपटारे के लिए विभिन्न स्तरो पर सयुक्त परामर्श प्रस्तावित किया गया था। योजनाकाल में श्रमिको की वास्तविक मजदूरी मे सुधार करने का विचार था। इसी के साथ श्रमिक राजकीय बीमा, श्रमिको का प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा सहायक गृह निर्माण योजना आदि सामाजिक सुरक्षा की योजनाओ को कार्यान्वित करने का लक्ष्य था। कारखाने, बगीचे एव खानो के श्रमिको की काम करने की दशाओ मे भी सुधार करना था। श्रमिको की सुरक्षा एव स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्पादन की समस्याओ का यथाविधि अध्ययन करने के लिए केन्द्रीय श्रम इन्टीट्यूट की स्थापना तथा कुछ उद्योगो की उत्पादनशीलता का अध्ययन करने का निर्णय लिया गया था। साथ ही, अनेक प्रान्तो मे श्रम-कल्याण केन्द्रो की स्थापना भी करनी थी।

इस अवधि मे औद्योगिक सम्बन्धो मे सुधार हुआ है तथा इस योजना मे विभिन्न प्रस्तावो के अनुसार सरकार, उद्योग एव श्रमिको के सहयोग से काय किया गया है। नियोक्ताओ ने काम करने की दशा सुधारने की आवश्यकता के प्रति जागरूकता दिखलाई है तथा श्रमिक वर्ग ने भी राष्ट्रीय उत्पादन को बढाने मे अपना योग देने की तत्परता का परिचय दिया है।

दूसरी योजना मे श्रम-नीति—

प्रथम पच वर्षीय योजना मे निर्धारित श्रम-नीति तथा औद्योगिक सम्बन्धो के विषय के दृष्टिकोण की प्रमुख बातें दूसरी योजना की अवधि मे भी लागू होगी। यद्यपि समाजवादी पद्धति की समाज रचना करने के निश्चय के कारण इस नीति मे कुछ परिवर्तन एव अनुकूलता लाई गई थी। सरकारी क्षेत्र के विस्तार से इस क्षेत्र के मजदूरो पर अधिक जिम्मेवारी आ गई है। सरकारी क्षेत्र के कारखानो मे काम करने की दशाओ से निजी क्षेत्र के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने की यदि हम आशा करें तो सरकारी कारखानो के प्रबन्धको को मजदूरो के हित के प्रति विशेष जागरूकता रखनी होगी। अत. ऐसी श्रम नीति का निर्धारण मजदूरो के प्रतिनिधि पनेल के सुझावो के

अनुसार किया गया था, जिससे सम्बन्धित पक्षो का समर्थन प्राप्त करे तथा उक्त उद्देश्यो की पूर्ति करे। इस पनेल का निर्माण सन् १९५५ मे योजना आयोग ने किया था।

दूसरी योजना की अवधि मे श्रमनीति के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय विकास हुये। निजी एव सरकारी क्षेत्र के उद्योगो के लिए अनुशासन के आदर्श नियम (Code of discipline) बनाये गये है, जो स्वेच्छा से नियोक्ता एव श्रमिको के केन्द्रीय सगठनो ने स्वीकार किये है तथा सन् १९५८ के मध्य से लागू हैं। इन नियमो के अनुसार श्रमिक एव नियोक्ताओ की परस्पर जिम्मेवारियो को निश्चित किया गया है, जिससे सभी स्तरो पर परस्पर सहयोग एव सद्भावना बढे तथा उत्पादन मे रुकावट न आवे। श्रम कलहो का निपटारा आपसी समझौतो से हो, जिससे श्रम सघो का स्वतन्त्र गति से विकास हो सके। साथ ही मजदूर काम करने मे उपेक्षा न करें और नियोक्ताओ की ओर से श्रमिको के प्रति हिंसात्मक अथवा अनुचित दबाव-पूर्ण व्यवहार न हो। इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक सम्बन्धो मे सुधार हुआ है तथा आपसी वैमनस्य कुछ अश तक कम हुआ है। फिर भी निर्णय एव समझौतो का पालन न होने की शिकायत दोनो ही पक्षो की ओर से हैं और यदि ये चालू रहती हैं तो "आदर्श नियमो" के मूल हेतु पर ही कुठाराघात होगा। इसलिए वैधानिक अथवा आदर्श नियम एव समझौतो के कारण आने वाली जिम्मेवारियो की पूर्ति हो रही है। इसकी देख-रेख करने के लिये केन्द्र एव राज्यो मे मूल्याकन एव कार्यान्वयन के हेतु व्यवस्था की गई है।

दूसरे श्रमिको का प्रशिक्षण एव उनका प्रबन्ध मे हिस्सा दिलाने के सम्बन्ध मे पर्याप्त उन्नति हुई है। उक्त बातो की उपयोगिता दूसरी योजना मे प्रमाणित हो चुकी है, जिसका पूर्ण प्रभाव तीसरी योजना के पाँच वर्षों में होगा।

तीसरी योजना मे—

योजना मे श्रम सम्बन्धी नीति का निर्धारण श्रम एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधियो के सयुक्त समझौतो एव सलाह से किया गया है। इसी आधार पर तीसरी योजना में श्रम नीति एव कार्यक्रम के सम्बन्ध मे विचार हो रहा है और अनेक मामलो मे इस सम्बन्ध मे निश्चित हो चुका है।

औद्योगिक कलहो का निपटारा न्यायालय तथा ट्रिब्यूनल्स के माध्यम से न्यूनतम् करने के प्रयत्न होगे, जिससे झगडो के निपटारे मे अनावश्यक विलब नही होगा। आपसी झगडो के निपटारे के लिये ऐच्छिक मध्यस्थ (arbitration) के सिद्धान्तो का अधिक उपयोग करने की पद्धति का आयोजन होगा। मान्य क्षेत्रो मे श्रम सम्बन्धी मामलो के प्रजातान्त्रिक प्रशासन के लिये सक्रिय साधन बनाने के लिये वर्क्स समितियो को शक्तिशाली बनाया जायगा। साथ ही, सभी औद्योगिक सस्थानो मे लागू करने के लिये उचित शिकायत-पद्धति (Grievance Procedure) का अवलब होगा।

श्रम-सघो का आपसी वैमनस्य दूर करने के लिये कार्यवाही की जायगी। श्रमिको का स्वतन्त्र एव शक्तिशाली सघ होना ही चाहिये, जिससे सामूहिक सौदेबाजी को औद्यो-

गिक सम्बन्धो मे उचित स्थान मिले। क्योकि इसी पर देश के आर्थिक जीवन मे श्रमिक के सक्रियता की क्षमता तथा उसकी स्थिति निर्भर है।

श्रमिको के प्रशिक्षण का कार्यक्रम दूसरी योजना मे अर्द्ध-स्वायत्त सभा के द्वारा सरकार ने आरम्भ किया था, जिसमे श्रमिक एव नियोक्ताओ का पूर्ण सहयोग है। तीसरी योजना में इसका बडे पैमाने पर विस्तार होगा। इससे आशा है कि औद्योगिक प्रजातन्त्र सुदृढ होकर विकासशील अर्थव्यवस्था की उन्नति होगी।

श्रमिको का प्रवन्ध मे हिस्सा—

उद्योग हमारा है, इस भावना की वृद्धि कर उत्पादनशीलता वढाने के लिये श्रमिको को प्रवन्ध मे भाग देने की व्यवस्था की गई थी, जो इस समय २४ उद्योगो मे सयुक्त प्रवन्ध परिपदो से लागू है। इनका प्रमुख कार्य औद्योगिक सम्बन्धो को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण विपयो पर परस्पर विचार-विनिमय से निर्णय लेना है। मार्च सन् १९६० मे इस पद्धति का परीक्षण किया गया तथा इसका क्रमश. विस्तार किया जायगा, जिससे यह पद्धति औद्योगिक सगठन का एक साधारण अग बने। श्रमिको के जीवन-स्तर, उत्पादनशीलता एव औद्योगिक शान्ति की उन्नति इस पद्धति की सफलता का परिचय देगी।

उत्पादनशीलता का स्तर वढाने के लिये "श्रम-कल्याण एव कार्यक्षमता" के आदर्श नियम (Code of efficiency and Welfare of the Workers) वनाने का प्रस्ताव है। इससे इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये श्रम एव प्रबन्ध की जिम्मेवारियो का स्पष्टीकरण होगा तथा श्रम एव प्रवन्ध मे सही दृष्टिकोण का विकास होगा।

न्यूनतम् भृत्ति अधिनियम के अन्तगत न्यूनतम् भृत्ति निर्धारण करने की जिम्मेवारी सरकार पर है। दूसरी योजना मे उद्योगो के बडे क्षेत्रो के लिये भृत्ति सभाओ की स्थापना की सिफारिश थी तथा शेप क्षेत्रो में मध्यस्थता, सामूहिक सौदेवाजी आदि से भृत्ति का निर्धारण होना था। अभी तक वस्त्र, सीमेंट, एव शक्कर उद्योगो मे न्यूनतम् भृत्ति लागू की गई है तथा परिस्थिति के अनुसार अन्य उद्योगो मे इसका विस्तार होगा। श्रम एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधियो ने इस नीति की पुन. पुष्टि (re affirmed) की है तथा उनका मत है कि भृत्ति सभा की सिफारिशो को पूरी तरह लागू किया जाय। समुचित भृत्ति समिति की रिपोट में भृत्ति निर्धारण के व्यापक सिद्धान्त दिये हैं। इस सहमति के अनुसार भृत्ति सम्वन्धी कलहो के निपटारे के लिये भारतीय श्रम सम्मेलन ने आवश्यक-आधारभुत न्यूनतम् भृत्ति का विश्लेपण (Contents of need-based minimum wage) सकेत किया है। इसका परीक्षण पुन: किया गया है और यह अनुभव किया गया है कि कुशल एव अकुशल श्रमिको की भृत्ति की असमानता इतनी कम हो गई है कि कुशलता के प्रलोभन अर्थहीन हो रहे हैं। जिन पहलुओ पर अध्ययन का सगठन प्रभावित है वे हैं :—

(1) भृत्ति-विपमताएँ (Differentials),

(ii) भृत्ति को उत्पादकता से सम्बन्धित करने के उपाय,

(iii) उत्पादकता को मापने का तकनीक तथा

(iv) वह स्तर जिस आधार पर उत्पादकता के लाभो का विभाजन होना है।

सामाजिक सुरक्षा—

वर्तमान सामाजिक सुरक्षा के साधनो के समन्वीकरण की योजना बनाने की सिफारिश एक अध्ययन दल ने की है, जिसका निर्माण होना है। भविष्य निधि योजना की दर ६ १/४% से ८ १/३% करने की सिफारिश को सरकार ने मान्य किया है तथा कुछ उद्योगो मे इसे लागू भी किया है, परन्तु उद्योगो की क्षमता मे विभिन्नता होने से एक तकनीकी समिति का निर्माण किया गया है। यह समिति इस बात का निश्चय करेगी कि कौन से उद्योग इस अतिरिक्त भार को सहन नही कर सकेंगे। कर्मचारी राजकीय बीमा योजना के क्षेत्र का विस्तार किया जायगा तथा आवश्यकतानुसार विशेष अस्पतालो की सुविधाओ की व्यवस्था तीसरी योजना मे की जायगी। बीमारी रोकने की ओर अधिक ध्यान एव स्रोत दिये जायेंगे।

कृषि श्रमिको के जीवन एव कार्य करने की दशा पर सन् १९५०-५१ एव सन् १९५६-५७ की कृषि श्रमिक जाँच समितियो ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रथम पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास योजनाओ के परिणामो को दूसरी जाँच समिति ने आका है। तदनुसार कृषि श्रमिको को आर्थिक प्रगति के लाभो का उचित भाग दिलाने के लिए उनकी आवश्यकताएँ एव समस्याओ की ओर तीसरी योजना मे अधिक ध्यान दिया जायगा।

प्रशिक्षण—

तीसरी योजना मे अधिक शिल्पियो की माँग की पूर्ति करनी होगी। इस हेतु शिल्प-प्रशिक्षण सुविधाओ का विस्तार किया जायगा। दूसरी योजना के आरम्भ मे प्रशिक्षण क्षमता १०,५०० प्रशिक्षितो के लिए थी, जो सन् १९६०-६१ तक ४०,००० और तीसरी योजना के अन्त तक १ लाख प्रशिक्षितो की होगी। तीसरी योजना मे प्रशिक्षण सुविधाओ के सुधार की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा। उम्मेदवारी प्रशिक्षण के सम्बन्ध में वैधानिक आयोजन अभी विचाराधीन है।

श्रमिको की परिस्थिति एव समस्याओ को समझने के लिए तथा वर्तमान सूचनाओ मे जो कमी (gaps) है उसे दूर करने के लिए खोज-सुविधाओ का विस्तार करने की योजनाएँ विचाराधीन हैं।

उक्त श्रम-नीति से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सरकार श्रमिको को अधिकाधिक सुविधाएँ देने के लिए प्रयत्नशील है। परन्तु साथ ही उनसे वृद्धिगत उत्पादनशीलता एव कार्य-क्षमता की अपेक्षा करती है। इसीलिए तीसरी योजना में उत्पादनशीलता तथा कुशलता बढाने, औद्योगिक शान्ति आदि के लिए भी आवश्यक व्यवस्था करने का लक्ष्य है। अत श्रमिको एव नियोक्ताओं को भी अपनी कर्त्तव्यपरायणता का परिचय देकर राष्ट्रीय सरकार को प्रोत्साहन देना चाहिए।

भी इतनी ही प्राथमिकता देनी चाहिए। इसके अलावा केन्द्रीय योजना आयोग, केन्द्रीय साख्यिकीय कार्यालय, स्थायी प्रशुल्क सभा तथा प्राथमिकता सभा की स्थापना की सिफारिश की थी।"

सन् १६४७ मे देश के विभाजन से नई-नई समस्याए उपस्थित हो गई जैसे — खाद्य-समस्या की तीव्रता, रुई एव पटसन का अभाव, विस्थापितो की समस्या आदि। इसके साथ ही भारत के सविधान से केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र का विस्तार तथा प्रान्तीय एव केन्द्रीय क्षेत्र मे अनेक योजनाओ पर कार्य हो रहा था, जिनमे परस्पर सामजस्य न था। इन विभिन्न चालू योजनाओ मे दामोदर घाटी, तुङ्गभद्रा तथा भाकरा बाँध योजनाए महत्त्वपूर्ण थी।[1] इसलिए तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप योजना बनाना आवश्यक हो गया।

योजना आयोग सन् १६५०—

विभिन्न प्रान्तो तथा केन्द्रीय सरकार की चालू योजनाओ में सामजस्य लाने, बदली हुई आर्थिक परिस्थिति तथा सविधान एव सन् १६४८ की औद्योगिक नीति को ध्यान मे रखते हुए देश के विकास की योजना बनाने के लिए मार्च सन् १६५० मे श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे योजना आयोग का निर्माण हुआ। इसका निम्न कार्य था :—

(१) देश की पूंजी, वस्तु एव मानवी स्रोतो का अनुमान लगाना तथा राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार न्यून स्रोतो की वृद्धि करने की सम्भावना की जाँच करना।

(२) देश के स्रोतो के सन्तुलित एव प्रभावी उपयोग के लिये योजना बनाना।

(३) प्राथमिकता, योजना कार्यान्वित करने की सीढियाँ तथा प्रत्येक सीढी की पूर्ति के लिये साधनो का बँटवारा निश्चित करना।

(४) आर्थिक विकास मे बाधक घटको की ओर सकेत तथा योजना की सफलता के लिये वर्तमान सामाजिक एव राजकीय स्थिति मे आवश्यक शर्तें निश्चित करना।

(५) योजना की सफलता के लिए आवश्यक शासकीय प्रबन्ध निश्चित करना।

(६) योजना की सामयिक प्रगति का परिशीलन कर, आवश्यक हो तो नीति एव साधनो मे आवश्यक मिलान करने के सम्बन्ध मे सिफारिश करना।

(७) अन्य बातो पर सिफारिश करना, जो केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारें आयोग के विचारार्थ भेजे।[2]

---

1 The Five Year Plan–A criticism—Wadia & Merchant, p 7
2 The First Five Year Plan—A Summary, p (iii)

प्रथम पच-वर्षीय योजना—

इस आयोग ने जुलाई सन् १६५१ मे एक सक्षिप्त पच-वर्षीय योजना प्रस्तुत की, जिसकी अवधि मार्च सन् १६५१ से मार्च सन् १६५६ रखी गई। इस योजना मे जो कार्यान्वित योजनाए थी, उनका समावेश तथा अन्य नवीन कायक्रम भी निश्चित किये गये थे। यह सक्षिप्त योजना दो भाग मे थी —पहिले भाग मे केवल उन्ही योजनाओ का समावेश था, जिन पर काय हो रहा था तथा इनका व्यय योजना की पूरी अवधि मे १,४६३ करोड रुपये आँका गया था। दूसरे भाग में नवीन योजनाए थी, जिनका व्यय ३०० करोड रुपये आँका गया था एव ये योजनाए उसी दशा मे कार्यान्वित होती, यदि बाहरी सहायता उपलब्ध होती।

परन्तु अन्तिम (Final) पच वर्षीय योजना मे विकास कार्यक्रम दो भागो मे विभाजित न करते हुए सम्पूर्ण विकास कार्यक्रम एक ही योजना मे है तथा उनकी अवधि भी वही है। अन्तिम योजना मे योजना को अवधि मे होने वाले व्यय का अनुमान २,०६८ ७८ करोड रुपया है। इस प्रकार सक्षिप्त योजना एव अन्तिम योजना मे तुलनात्मक दृष्टि से यह व्यय विभिन्न मदो पर निम्नवत् है —

(करोड रुपयो मे*)

	१६५१-५६ मे व्यय		कुल व्यय के साथ प्रतिशत	
	सक्षिप्त योजना	अन्तिम योजना	सक्षिप्त योजना	अन्तिम योजना
कृषि एव सामुदायिक विकास	१६१ ६६	३६० ४३	१२ ८	१७ ४
सिंचाई एव शक्ति	४५० ३६	५६१ ४१	३० ०	२७ २
यातायात एव सवाद साधन	३८८ १२	५६७ १०	२६ १	२४ ०
उद्योग	१०० ६६	१७३ ०४	६ ७	८ ४
समाज सेवाए	२५४ २२	३३६ ८१	१७ ०	१६ ६४
पुर्नानवास (Rehabilitation)	७६ ००	८५ ००	५ ३	४ १
विविध	२८ ५४	५१ ६६	१ ६	२ ५
	१,४६२ ६२	२,०६८ ७८	१०० ०%	१०० ०%

वेकारो की तीव्र एव वढती हुई समस्या सुलझाने तथा कीमतो को कम करने के लिए १७५ करोड रुपये से यह राशि वढा दी गई है, जिससे सम्पूर्ण योजना की लागत २,२४४ करोड रुपये हो गई है।

योजना के उद्देश्य—

(१) विकास की ऐसी प्रणाली का आरम्भ करना, जो भावी विकास के अधिक प्रयत्नो की आधारशिला हो सके।

* The Five Year Plan—A Summary, p (v)

(२) विकास के लिए देशी स्रोतो की उपलब्धता ।

(३) निजी एव सरकारी क्षेत्रो मे स्रोतो की आवश्यकता एव विकास की गति मे घनिष्ट सम्पर्क ।

(४) योजना लागू होने के पूव केन्द्रीय एव राज्य सरकारो की विभिन्न चालू योजनाओ की पूर्ति की आवश्यकता ।

(५) युद्ध एव देश विभाजन के कारण देश की अर्थ व्यवस्था मे होने वाले असन्तुलन को ठीक करना ।

विकास कार्यक्रम मे प्राथमिकता—

प्राथमिकता का अर्थ यह है कि योजना के विभिन्न विकास कायक्रमो मे कौनसा कार्यक्रम पहिले किया जाय तथा कौनसा बाद मे । प्राथमिकता निश्चित करते समय देश की आवश्यकताओ को प्रमुख स्थान दिया जाता है । भारत की अधिकाश जनसख्या का प्रमुख व्यवसाय कृषि होने से कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है । विभाजन के कारण देश मे औद्योगिक कच्चे माल की उपज बढाने के लिए भी यह प्राथमिकता आवश्यक ही थी । प्राथमिकता के सम्बन्ध मे सामान्य क्रम निम्न हैं :—

(अ) उत्पादको के लिए आवश्यक वस्तुओ सम्बन्धी उद्योग (जैसे—पटसन एव प्लाईवुड) तथा उपभोक्ताओ की दृष्टि से आवश्यक, (जैसे—वस्त्र, शक्कर, साबुन एव वनस्पति) उद्योगो की वर्तमान उत्पादन क्षमता का पूर्णतम् उपयोग ।

(ब) पूंजीगत उत्पादको के लिए आवश्यक वस्तुओ सम्बन्धी उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि, जैसे—लोहा एव इस्पात, अल्यूमिनियम, सीमेंट, खाद, भारी रसायन, मशीन टूल्स आदि ।

(स) जिन औद्योगिक इकाइयो पर काफी मात्रा मे पूंजी व्यय हो चुकी है, उनकी पूर्ति ।

(द) औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मूलभूत वस्तुओ के प्रदाय से सम्बन्धित नए उद्योगो की स्थापना, जैसे—जिप्सम से गन्धक का निर्माण, रेयन के लिए लुगदी आदि ।*

परन्तु तत्कालीन पच-वर्षीय अवधि मे कृषि, सिचाई एव शक्ति स्रोतो के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जावेगी, जिस पर योजना की लगभग ४५% राशि का व्यय होगा । आयोग के विचार से औद्योगिक विकास की गति तब तक नही बढ सकती, जब तक देश मे पर्याप्त मात्रा में औद्योगिक कच्चा माल एव खाद्यान्न का उत्पादन न हो, इसलिए यह प्राथमिकता है । दूसरे, जिन योजनाओ पर पहिले से ही काम हो रहा है, वे योजनाए तथा कृषि के लिए पूरक योजनाओ पर काय चालू रहेगा । इस

---

* Blue Print of the Five Year Plan—Amrit Bazar Patrika, 10-12-52

प्रकार देश के उपलब्ध साधन, तत्कालीन सामाजिक एव आर्थिक अवस्था के दृष्टिकोण से प्राथमिकता का क्रम रखा गया है।

योजना की मुख्य बातें—

उत्पादन सामग्री एव अर्थ व्यवस्था—

योजना मे विभिन्न मदो पर कुल २,०६९ करोड रुपये का व्यय होगा। इस व्यय की विशेषता यह है कि भविष्य मे व्यक्तिगत एव सरकारी क्षेत्र मे पर्याप्त मात्रा म उत्पादक सामग्री उपलब्ध हो जायगी। इस व्यय का वितरण निम्न प्रकार मे होगा :—

(१) केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारो की उत्पादक पूँजी मे वृद्धि के लिए होने वाला व्यय	१,१९९ करोड रुपये
(२) व्यक्तिगत क्षेत्र मे उत्पादक पूँजी मे वृद्धि के लिए व्यय —	
(अ) ग्रामीण विकास एव कृषि पर (इसमे सामुदायिक विकास योजना के व्यय का समावेश नही है)	२४४ करोड रुपये
(ब) यातायात एव उद्योगो को ऋण देने मे	४७ करोड रुपये
(स) स्थानीय विकास को प्रोत्साहन देने मे (सामुदायिक) एव स्थानीय विकास योजनाएँ	१०५ करोड रुपये
(३) सामाजिक पूँजी के लिए व्यय	४२५ करोड रुपये
(४) अन्य व्यय* (जिसका समावेश ऊपर नही है)	४९ करोड रुपये
कुल	२,०६९ करोड रुपये

इस व्यय का वितरण केन्द्र एव राज्य सरकारो मे निम्न है:—

केन्द्रीय सरकार (रेल्वे को सम्मिलित करते हुए) १,२४१ करोड रुपये, राज्य सरकारें :—

'अ' विभाग	६१० करोड रुपये
'ब' विभाग	१७३ ,,
'स' विभाग	३२ ,,
जम्मू एव काश्मीर	१३ ,,
कुल	२,०६९ करोड रुपये

इस प्रकार विभिन्न मदो पर प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकार के व्ययो की संक्षिप्त तालिका निम्न है :—

---

* इसमें अभावग्रस्त क्षेत्रों की सहायतार्थ व्यय सम्मिलित है।

इसमे जम्मू एव काश्मीर के भाग का १३ करोड रुपये का समावेश नही है।

मद	केन्द्र	'अ' राज्य	'ब' राज्य	'स' राज्य
कृषि एव सामुदायिक विकास	१८६ ३	१२७ ३	३७ ६	८ ७
सिचाई एव विद्युत	२६५ ६	२०६ १	८१ ५	३ ५
यातायात एव सवादवाहन साधन	४०६ ५	५६ ५	१७ ४	८ ८
उद्योग	१४६·७	१७ ६	७ १	० ५
सामाजिक सेवाएँ एव पुर्नानिवास	१६१ ४	१६२ ३	२८ ६	१० ४
विविध	४० ७	१० ०	० ७	४·३
योग	१,२४० ५	६१० १	१७३ २	३६ २

अर्थ-प्रबन्ध—

योजना की सफलता समुचित अर्थ-व्यवस्था अथवा उसके आर्थिक आधार पर निभर रहती है। यह आर्थिक आधार निश्चित करते समय योजना आयोग ने देश मे उपलब्ध साधन, विदेशी सहायता तथा विदेशी ऋणो का अनुमान लगाया है। इसमे देश में बजट से १,२५८ करोड रुपये उपलब्ध होगे और १५६ करोड रुपये विदेशी ऋणो एव सहायता के रूप मे प्राप्त हो चुके हैं। शेष ६५५ करोड रुपये की राशि का प्रबन्ध आन्तरिक ऋणो से, बचत से तथा हीनार्थ प्रबन्ध से करना होगा, जिसकी राशि २६० करोड रुपये आकी गई है। इसी हेतु राष्ट्रीय योजना एव ऋण प्रमाण-पत्र बेचे गये थे। इस प्रकार योजना का आर्थिक आधार निम्न है :—

(करोड रुपयो में)

	केन्द्र	प्रान्त	कुल
योजना की कुल लागत	१,२४१	८२८	२,०६६
बजट के साधन—			
(१) वर्तमान आय से बचत	३३०	४०८	७३८
(२) पूँजीगत प्राप्ति (इसमें निधि से ली जाने वाली राशि नही है)	३६६	१२४*	५२०
(३) केन्द्रीय सहायता	–३२६	३२६	[illegible]
बाहरी सहायता जो प्राप्त हो चुकी है	१५६	—	१५१
कुल	६५३	७६१	१,४१४

इस प्रकार योजना की अर्थ-व्यवस्था मे कुल ६५५ करोड रुपये की कमी है, जिसके लिए २६० करोड रु० का आयोजन हीनार्थ-प्रबन्ध से होगा तथा शेष राष्ट्रीय-

* This includes public loans, small savings etc.

योजना-ऋण एव प्रमाण-पत्रो से तथा कर-वृद्धि द्वारा। सम्पूर्ण योजना पर केवल सरकार की ओर से २,०६६ करोड रुपये व्यय होगा। इसमे निजी क्षेत्र मे होने वाले व्यय का समावेश नही है।

योजना मे कृषि—

योजना के विभिन्न विकास कार्यक्रमो मे कृषि को प्रधानता दी गई है। यह कृषि विकास, सिचाई की योजनाओ एव विद्युत सचालन पर होने वाले व्यय से स्पष्ट है, जो कि योजना की लागत के ४१ ८% है। सिचाई एव विद्युत योजनाएँ यह कृषि का ही एक भाग है, क्योकि सिंचाई से कृषि की उन्नति होती है। इस प्रकार कृषि सिचाई एव विद्युत पर होने वाले व्यय की राशि (३६० ४३+५६१ ४१) ६२१ ८४ करोड रुपये है। कृषि को प्रधानता इसलिए दी गई है, जिससे खाद्यान्न आदि के आयात मे व्यय होने वाले विदेशी विनिमय की वचत हो सके तथा कृषि उत्पादन निर्यात के लिए उपलब्ध होकर विदेशी विनिमय प्राप्त हो सके। इस प्रकार बचाये हुए विदेशी विनिमय से औद्योगिक विकास के हेतु पूँजीगत वस्तुओ का आयात हो सकेगा, जिससे हमारे खनिज एव औद्योगिक साधनो का विदोहन सम्भव होगा।

योजना की अवधि मे खाद्यान्न का उत्पादन ७६ लाख टन से अथवा १४% से बढेगा। इसी प्रकार औद्योगिक कच्चे माल मे रुई की उपज ४२% तथा पटसन की ६३%, गन्ने की ७% एव तिलहन की उपज ८% से बढाई जावेगी। इस प्रकार रुई, पटसन, गन्ना तथा तिलहन का उत्पादन क्रमश १२ ६ लाख गाँठे, २०'६ लाख गाँठे, ७ लाख एव ४ लाख टन बढेगा।*

सिचाई एव विद्युत—

इस मद पर होने वाला कुल व्यय ५६१ करोड रुपये है, जो कुल लागत के ३०% है। इन योजनाओ मे चालू योजनाओ पर होने वाला व्यय ५ वर्ष मे ५१८ करोड रुपये आँका गया है, जिससे १,६६,४२,००० अतिरिक्त भूमि की सिचाई तथा १४,६५,००० किलोवाट बिजली का अधिक उत्पादन होगा। इन योजनाओ की कुल अनुमानित लागत ७६५ करोड रुपये है।

उद्योग—

योजना आयोग का मत है कि अभी तक उपभोक्ता वस्तुओ के उद्योगो का ही विकास हुआ है तथा आधारभूत उद्योगो का विकास बहुत कम है। इसलिए भविष्य मे पूँजीगत उद्योगो का विकास करना होगा, जिससे भारतीय औद्योगिक कलेवर मजबूत हो सके। उद्योगो मे आधारभूत उद्योगो के विकास को प्राथमिकता दी जायगी तथा अन्य आवश्यक उपभोक्ता उद्योगो की वर्तमान उत्पादनक्षमता बढाई जायगी। औद्योगिक विकास देश की औद्योगिक नीति के अनुसार ही होगा।

---

* Five Year P[illegible] Summary

योजना की रूपरेखा—

विभिन्न मदो पर व्यय का वितरण[1]

(करोड रुपये)

	पहिलो योजना	%	द्वितीय योजना	%
कृषि एव सामुदायिक विकास	३५७	१५ १	५६८	११'८
सिंचाई एव शक्ति	६६१	२८'१	९१३	१९'०
उद्योग एव खान	१७९	७'६	८९०	१८'५
यातायात एव सम्वादवाहन	५५७	२३ ६	१,३८५	२८'९
सामाजिक सेवाएँ	५३३	२२'६	९४५	१९'७
विविध	६९	३ ०	९९	२ १
	२,३५६	१०० ०	३,८००	१००'०

योजना की इस राशि मे स्थानीय सस्थाओ के विकास योजना की राशि सम्मिलित नही है, परन्तु राज्य सरकारो द्वारा इन सस्थाओ को दी जाने वाली राशि का समावेश है । इसी प्रकार स्थानीय विकास कार्यक्रमो के लिए स्थानीय जनता द्वारा दी जाने वाली राशि अथवा श्रम की लागत का समावेश नही है । यद्यपि राष्ट्रीय विनियोग की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं ।

केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारों द्वारा व्यय[2]

(करोड रुपये में)

	केन्द्र	राज्य	योग	विनियोग	चालू व्यय
कृषि एव सामुदायिक विकास	६५	५०२	५६८	३३८	२३०
सिंचाई एव शक्ति	१५०	८०८	९१३	८६३	५०
उद्योग एव खान	७४७	१४३	८९०	७९०	१००
यातायात एव सम्वाद-वाहन	१,२०३	१८२	१,३८५	१,३३५	५०
सामाजिक सेवाएँ	३९६	५४९	९४५	४५५	४९०
विविध	४३	५६	९९	१९	८०
योग	२,५५९	२,२४०	४,८००	३,८००	१,०००

राशि का बँटवारा—

उक्त तालिकाओ से विभिन्न मदो पर व्यय होने वाली राशि तथा पहली योजना

1. Second Five Year Plan, p 51
2. Second Five Year Plan, p 5,

मे व्यय की गई राशि के आंकडे हैं। इन आंकडों से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मद पर पहली योजना की अपेक्षा अधिक व्यय का आयोजन है, परन्तु विभिन्न मदो पर होने वाले व्यय तथा योजना की कुल लागत को देखने मे पता चलता है कि दूसरी योजना के ढांचे मे मूलभूत परिवर्तन है। पहिली योजना में जहा 'उद्योग एव खान' तथा 'यातायात एव सम्वादवाहन' की मदो पर क्रमश ७% और २४% राशि का आयोजन था वहा दूसरी योजना मे उनका व्यय १८% और २९% है। यह सकेत है कि इस योजना मे औद्योगिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उद्योगो के लिए ८९० करोड रु० है, उसमे से ६९० करोड रु० बडे उद्योगो तथा खानो पर और शेष लघु एव कुटीर उद्योगो के विकास के लिए हैं।

यातायात एव सम्वादवाहन साधनो के लिए १,३८५ करोड रुपए का आयोजन है, जिसमे ९०० करोड रु० अथवा १८ ८% रेल्वे पर व्यय होगा तथा अन्य मदो के अनुपात मे उल्लेखनीय परिवर्तन नही है। इससे जैसा कि योजना आयोग ने स्वय ही लिखा है कि रेल्वे विकास के लिए कम राशि का आयोजन है, जिससे रेल्वे की काय-क्षमता मे वृद्धि न होने पर नियोजित रेल्वे का विकास योजना मे नियोजित वहन शक्ति के लिए अपर्याप्त होगा, क्योकि यातायात के अन्य साधन अपर्याप्त है।

सिचाई एव शक्ति पर १९%, खाद्यान्न एव सामुदायिक विकास पर ११ ८% राशि का आयोजन है, जिससे इन पाच वर्षो मे देश में खाद्यान्न एव औद्योगिक कच्चे माल की उपज बढती रहेगी। सिचाई एव शक्ति की योजना दीर्घकालीन योजना के रूप मे है, जिससे आगामी १५ वर्ष मे सिचाई की सुविधाए दुगुनी तथा शक्ति का ६ गुना विकास होगा।

योजना में विनियोग—

सरकारी क्षेत्र—

योजना के कुल ४,८०० करोड रु० मे से ३,८०० करोड रु० का विनियोग स्थायी उत्पादक सम्पत्ति (Productive Assets) पर होगा तथा १,००० करोड रु० का व्यय तत्कालीन उपभोगी विकास कार्यों पर होगा — (करोड रुपये)

	विनियोग	तत्कालीन कार्यों पर	योग
(१) [अ] कृषि	१८१	१६०	३४१
[ब] राष्ट्रीय सेवा विस्तार एव सामुदायिक विकास	१५७	७०	२२७
(२) [अ] सिचाई एव बाढ नियन्त्रण	४५६	३०	४८६
[ब] शक्ति	४०७	२०	४२७
(३) बडे एव मध्यम उद्योग तथा खानें	६७०	२०	६९०
ग्राम एव लघु उद्योग	१२०	८०	२००
(४) यातायात एव सवादवाहन	१,३३५	५०	१,३८५
(५) सामाजिक सेवाएं	४५५	४९०	९४५
(६) विविध	१९	८०	९९
योग	३,८००	१,०००	४,८००

निजी क्षेत्र—

उक्त विनियोग के अलावा निजी क्षेत्र मे २,४०० करोड रु० के विनियोग का अनुमान लगाया गया है। द्वितीय योजना के विकास एव उत्पादन कार्य-क्रम का लक्ष्य सरकारी एव निजी क्षेत्र के सयुक्त विनियोग मे ही पूरा होगा। यह अनुमान गत पांच वर्षों मे जो विनियोग हुआ उस पर आधारित है, क्योंकि निजी क्षेत्र के विनियोग सम्बन्धी निश्चित आँकडे उपलब्ध नही है। यह विनियोग विभिन्न मदो पर निम्न प्रकार से होगा :—

(१) सगठित उद्योग एव खानें	५७५	करोड रु०
(२) बगीचा, बिजली तथा यातायात*	१२५	,,
(३) निर्माण	१,०००	,,
(४) कृषि तथा ग्राम एव लघु उद्योग	३००	,,
(५) सग्रह (Stocks)	४००	,,
योग	२,४००	,,

प्रथम योजना में ३,१०० करोड रुपये की पूंजी का विनियोग हुआ, ऐसा अनुमान है, जिसमे से लगभग आधी से अधिक पूंजी का विनियोग निजी क्षेत्र मे हुआ। दूसरी योजना मे ६,२०० करोड रु० की पूंजी का विनियोग होगा, जिसमे सरकारी क्षेत्र मे ६१% तथा ३९% निजी क्षेत्र मे व्यय होगा। अर्थात् सरकारी क्षेत्र एव निजी क्षेत्र मे पहिले की अपेक्षा क्रमशः २½ गुना एव ५०% अधिक विनियोग होगा।

कृषि एव सिंचाई—

इस योजना की अवधि मे कृषि उत्पादन मे १८% वृद्धि होगी तथा उपज को बढाने के लिये सिंचाई की सुविधायें, अच्छे बीज आदि का प्रबन्ध किया जायगा। खाद्यान्न का लक्ष्य १० मि० टन रखा गया है, अर्थात् सन् १९६०-६१ में खाद्यान्न का उत्पादन ७५ मि० टन होगा, जिससे खाद्यान्न का प्रति व्यक्ति उपभोग वर्तमान १७ २ औंस से बढकर १८ ३ औंस हो जायगा। इसी प्रकार रुई, गन्ना, तिलहन तथा पटसन मे भी क्रमश ३१, २२, २७ तथा २५% की वृद्धि करने का लक्ष्य है। सिंचाई की सुविधाओं मे वृद्धि कर लगभग १ मि० एकड गन्ने की खेती बढाई जायगी।

वर्तमान सिंचाई सुविधायें ६७ मि० एकड भूमि को मिलती हैं, जिनमे सन् १९६०-६१ तक २१ मि० एकड की वृद्धि होगी। इसमे से बडी तथा मध्यम योजनाओं द्वारा १२ मि० एकड तथा छोटी योजनाओं से ९ मि० एकड भूमि की सिंचाई होगी। सिंचाई क्षेत्र में प्रथम तीन वर्ष में २ मि० एकड की दर से तथा अन्तिम २ वर्ष मे ३ एकड प्रति वर्ष की दर से वृद्धि होगी।

बिजली का उत्पादन ३ ५ मि० किलोवाट से बढाने का लक्ष्य है, जिससे सन् १९६०-६१ मे बिजली का कुल उत्पादन ६ ९ मि० किलोवाट हो जायगा।

* इसमें रेल यातायात का समावेश नहीं है।

औद्योगिक विकास—

इस योजना की विशेषता है कि इसमें औद्योगिक एवं खान क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र को प्रधानता दी गई है और वास्तव में योजना में आयोजित ६६० करोड़ रु० की पूर्ण राशि का विनियोग आधारभूत उद्योगों के विकास के लिये होगा। इस राशि से इस्पात के १० लाख टन उत्पादन क्षमता वाले ३ कारखाने, क्रमशः रूरकेला, भिलाई और दुर्गापुर में चालू हो जायेंगे तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की उत्पादन क्षमता १ लाख टन में बढ़ेगी। चितरञ्जन की फैक्टरी में भारी स्टील फाउण्ड्री की स्थापना होगी तथा चितरञ्जन कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता १२५ इञ्जनों की जगह ३०० इञ्जन हो जायगी। पैराम्बूर (मद्रास) की कोच फैक्ट्री की वार्षिक उत्पादन क्षमता सन् १९५९ तक ३५० डिब्बों की हो जायगी। खाद बनाने के दो नये कारखाने तथा सिन्द्री कारखाने का विस्तार होगा। खनिज सम्पत्ति के उत्पादन में ५८% की वृद्धि होगी। कोयले का वर्तमान उत्पादन ३८ मि० टन है, जिसमें २२ मि० टन की वृद्धि होगी। यह वृद्धि सरकारी क्षेत्र में १२ मि० टन से तथा १० मि० टन से निजी क्षेत्र में होगी। इसके अलावा अनेक उद्योगों का विकास होगा। निजी क्षेत्र में इस्पात की वार्षिक उत्पादन क्षमता सन् १९५८ तक २ ३ मि० टन तथा सीमेन्ट की उत्पादन क्षमता १६ मि० टन हो जायगी। साथ ही, देश में कागज, टेक्सटाइल्स, पटसन, सीमेन्ट, कृषि आदि उद्योगों के लिए आवश्यक यन्त्रों के उत्पादन में वृद्धि की जायगी। उपभोग्य वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों का भी विकास होगा।

यातायात एवं सम्वादवाहन—

इस मद के अन्तर्गत रेलवे पर ९०० करोड़ रु० तथा पुरानी सामग्री के विस्थापन के लिए २२५ करोड़ रु० का व्यय होगा। इसमें १,६७० मील सवारी गाड़ियों की लम्बाई बढ़ेगी तथा २६५ मील मीटर गेज का परिवर्तन ब्रॉडगेज में होगा। ८,००० मील लम्बे मार्ग का नवकरण (Renewal) तथा ८२६ मील मार्ग की रेलों का बिजलीकरण होगा। नागपुर योजना के अनुसार सड़कों का विकास कार्यक्रम सन् १९६०-६१ में पूरा होगा। जहाजरानी का टनेज ६ लाख जी० आर० टी० से ९ लाख जी० आर० टी० होगा। डाकखानों की संख्या ५५,००० से ७५,००० तथा टेलीफोनों की संख्या २७० हजार से ४५० हजार होगी। इसी में १०० किलोवाट शक्ति का शॉर्ट वेव ट्रांसमीटर और १०० किलोवाट शक्ति का मीडियम वेव ट्रांसमीटर दिल्ली में तथा ५० किलोवाट शक्ति के ट्रांसमीटर्स कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में लगाये जायेंगे। ग्रामीण क्षेत्र में ७२,००० सामूहिक रेडियो लगाये जायेंगे।

सामाजिक सेवायें—

सन् १९६०-६१ तक ६ से ११ वर्ष की आयु के ६३% तथा ११ से १४ वर्ष की आयु के २२.५% बालकों को शिक्षा सुविधायें मिलने लगेंगी। इससे प्राथमिक स्तर एवं माध्यमिक स्तर के क्रमशः ७ ७ मि० एवं १ ३ मि० विद्यार्थियों की वृद्धि

होगी, जिनके लिये क्रमशः ५३,००० प्राथमिक शालायें तथा ३५,००० माध्यमिक विद्यालय खोले जायेंगे। बहुमुखी विद्यालयो की सख्या २५० से बढकर १,२०० होगी। शिल्पिको की शिक्षा के हेतु इञ्जीनियरिंग कॉलेजो की सख्या ४५ मे ५४ तथा इञ्जीनियरिंग विद्यालयो की सख्या ८३ से १०४ की जायगी। इसके अलावा ३ नये उच्च शिल्पिक इन्स्टीट्यूटो की स्थापना उत्तरी, दक्षिणी तथा पश्चिमी प्रदेशो मे होगी एव दिल्ली पोलिटेकनिक, खड़गपुर इन्स्टीट्यूट और धनबाद के खान विद्यालयो का विकास होगा।

स्वास्थ्य की दिशा में डॉक्टरो, नर्सों एव परिचारिकाओ की सख्या मे क्रमश. १८ ४१ और ४५% की तथा वर्तमान अस्पतालो में २४% विस्तरो की वृद्धि होगी। साथ ही, ३०० शहरी और २,००० ग्रामीण अस्पतालो की स्थापना होगी ।

योजना के अनुसार १३ लाख गृहो का निर्माण होगा, जिनके लिए १२० करोड रु० का प्रबन्ध है। रोजगार सस्थाओ की सख्या भी १३६ से २५६ की जायगी।

राष्ट्रीय आय—

प्रथम योजना काल मे सन् १९५३-५४ की कीमतो के आधार पर राष्ट्रीय आय मे ११% की वृद्धि हुई, अर्थात् आय ९,११० करोड (सन् १९५०-५१) से बढकर सन् १९५५-५६ मे १०,८०० करोड रु० तथा इन्ही वर्षो मे प्रति व्यक्ति आय २५३ रु० से २८१ हो गई। दूसरी योजना के अन्त मे राष्ट्रीय आय १३,४८० करोड रु० तथा प्रति व्यक्ति आय ३३१ रु० होगी, अर्थात् सन् १९५०-५१ की तुलना मे १८% और सन् १९५५-५६ की तुलना मे २५% से बढेगी।

राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ ही राष्ट्रीय उपभोग मे भी वृद्धि होगी, परन्तु वह उसी अनुपात में नही होगी। योजना के लिये आवश्यक ६,२०० करोड रु० की राशि प्राप्त करने के लिये बचत का वर्तमान स्तर, जो सन् १९५०-५१ मे राष्ट्रीय आय के ७% था, सन् १९६० ६१ तक १०% करना होगा। विदेशी स्रोतो से १,१०० करोड रु० मिलेगे, इस अनुमान पर बचत की यह वृद्धि आधारित है। यदि विदेशी स्रोतो से इतनी राशि नही मिली तो उपभोग पर होने वाले व्यय को सीमित करना होगा।

रोजगार—

द्वितीय पच वर्षीय योजना मे कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रो मे ८० लाख अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा। इसके अलावा भूमि की सफाई (Reclamation) आदि कार्यो से अर्द्ध रोजगारी की समस्या का हल, कृषि-उपज की वृद्धि तथा अन्य उद्योग धन्धो के विकास से कृषि श्रमिको की अर्द्ध रोजगारी की समस्या कम होगी तथा नए व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा। अनुमान है कि योजना अवधि में कुल १ करोड अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा, फिर भी बेकारी की समस्या का पूर्ण हल नही हो सकेगा। कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो से कितने अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा, यह निम्न तालिका मे है :—

	लाख
निर्माण	२१'००
विद्युत और सिंचाई	० ५१
रेल्वे	२'५१
अन्य यातायात एव सवादवाहन	१ ८०
उद्योग और खानें	७ ५०
लघु एव कुटीर उद्योग	४ ५०
वन, मच्छीमारी, राष्ट्रीय सेवा विस्तार तथा सम्बधित योजनाएं	४ १३
शिक्षा	३'१०
स्वास्थ्य	१ १६
अन्य सामाजिक सेवाए	१ ४२
सरकारी नौकरियां	४ ३४
अन्य (जिसमे वाणिज्य एव व्यापार का समावेश है)	२७ ०४
योग	७६'०३

र्थ प्रबन्ध—

योजना के अनुसार विकास कार्यक्रमो पर ४,८०० करोड रु० का व्यय सरकारी त्र मे होगा। इस राशि का प्रबन्ध निम्न साधनो से होगा :—

		(करोड रु०)
(१) चालू आय से प्राप्त अधिक राशि		८००
(अ) वर्तमान कर की दरो से	३५०	
(ब) अतिरिक्त करो से	४५०	
(२) जनता से ऋण—		
बाजार से ऋण	७००	
बचत	५००	१,२००
(३) बजट के अन्य स्रोत—		
रेल्वे का भाग	१५०	
प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा अन्य जमा	२५०	४००
(४) विदेशी सहायता से		८००
(५) हीन-अर्थ[illegible] से		१,२००
(६) निजी खातो को बढाकर अतिरिक्त साधनों से पूरी होने वाली कमी		४००
	योग	४,८००

(१) अतिरिक्त कर लगाने से प्राप्त होने वाली वार्षिक आय १६० करोड रु० आकी गई है, जो योजना मे अनुमानित आय वृद्धि की तुलना मे कम प्रतीत होती है। फिर भी अतिरिक्त करो का भार ऐसे व्यक्तियो पर अधिक पडेगा जिनकी आय में अधिक वृद्धि नही होती। कर जाँच समिति की सिफारिशो के अनुसार ४५० करोड रु० की अतिरिक्त आय का न्यूनतम लक्ष्य रखा गया है तथा इसकी पूर्ति के लिए शीघ्र ही कार्यवाही होगी। यहाँ यह ध्यान मे रखना होगा कि करो से होने वाली आय का लक्ष्य, कर जाँच समिति की अतिरिक्त कर आय की ३५० करोड रु० की सभाव्य सीमा, दूसरी योजना के अनुसार अधिक वचत तथा कर बढाने की उच्चतम सीमा तक पहुच चुकी है, इन तथ्यो से सम्बन्धित है। स्पष्ट है कि द्वितीय योजना काल में अप्रत्यक्ष करो का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा।*

(२) जनता से ऋण रूप मे जो राशि प्राप्त होगी उसमे से ७०० करोड रु० अथवा १४० करोड रु० वार्षिक ऋण बाजार मे प्रसारित करने से तथा ५०० करोड रु० जनता की वचत से प्राप्त होंगे। अब जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण से बीमा निधि का विनियोग सरकारी ऋणो से अधिक होगा। अल्प-वचत योजना का विस्तृत कायक्रम हाथ में लेना होगा। इसी प्रकार सामाजिक बीमा, प्रॉविडेन्ट फण्ड योजना आदि का पूर्ण लाभ उठाया जायगा।

(३) योजना के अर्थ-प्रबन्ध मे रेल्वे का भाग १५० करोड रुपया है। गत पाँच वर्षों मे रेल्वे का भाग ११५ करोड रुपया अथवा वार्षिक २३ करोड रुपया था। अत रेल्वे को इस योजना के लिए अपना वार्षिक लाभ ७ करोड रुपए से बढाना होगा।

अन्य बजट के स्रोतो से जो २५० करोड रुपए प्राप्त होने हैं उनमे प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो के कर्मचारियो की प्रॉविडेन्ट फण्ड की राशि है, जो सन् १९५५-५६ मे २३ ६ करोड रुपए थी। इस राशि मे योजना अवधि मे वार्षिक वृद्धि होगी, जिससे १५० करोड रुपया ५ वर्ष मे मिल सकेंगे। शेष १०० करोड रुपया प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो द्वारा दिये गये ऋणो के भुगतान से तथा अन्य पूँजीगत प्राप्ति से मिलेगा।

इस प्रकार उक्त तीन स्रोतो से २,४०० करोड रुपए की राशि मिल सकेगी। यह राशि हमारे प्रयत्न, इच्छा एव आन्तरिक स्थिति पर निर्भर है। शेप २,४०० करोड रुपए की राशि अन्य स्रोतो से प्राप्त होगी, जो अनिश्चित है।

(४) विदेशी सहायता—८०० करोड रुपये विदेशी सहायता एव स्रोतो से प्राप्त होंगे, ऐसा अनुमान है। विदेशी सहायता के रूप में गत पाँच वर्षों में ३०७ करोड रुपये मिले, जिसमे से केवल २०० करोड रुपये का उपयोग हो सका और शेप राशि इस योजना मे काम आवेगी। इसमे एशिया तथा यू० के० इस्पात कारखानो की राशि

* Amrit Bazar Patrika, Free Enterprize Supplement, Sept 56

का समावेश नही होगा, क्योकि इसकी व्यवस्था पहिले से ही हो चुकी है। अत. यह राशि हमारी योजना की आवश्यकताओ का प्रतिनिधित्व करती है, यह अनुमान है। सन् १९५६-५७ में अमेरिकी सहायता की राशि ६०० लाख डालर (२८.५ करोड रुपए) होगी, जो आगे भी रहेगी। शेष राशि का आयोजन दो बातो पर निर्भर रहेगा :—(१) सयुक्त सहकारिता के आधार पर किये जाने वाले कार्यक्रमो की सख्या एव लागत तथा (२) भारत एव अन्य प्रमुख देशो की राजकीय एवं आर्थिक स्थिति, अत: इसमे ८०८ करोड रुपए की प्राप्ति का निराशापूर्ण आशावाद है।

(५) शेष १,६०० करोड रु० की राशि मे १,२०० करोड रुपये हीनार्थ प्रबन्ध से प्राप्त होगे और ४०० करोड रुपये के लिए निजी स्रोतो मे वृद्धि होगी। हीनार्थ प्रबन्धन की राशि बहुत मालूम होती है, क्योकि कृषि मूल्य बढ रहे हैं तथा उद्योगो की उत्पादनशीलता भी पूर्ण क्षमता तक पहुँच चुकी है। इसी प्रकार अर्थशास्त्रियो ने भी हीनार्थ प्रबन्धन की अधिकतम सीमा १,००० करोड रुपए रखी है। अधिक मात्रा में हीनार्थ प्रबन्ध होने से विभिन्न आय वाले व्यक्तियो की आय प्रभावित होती है, जिसमे अल्प बचत का लक्ष्य प्रभावित होगा, अत इस ओर सतर्कता की आवश्यकता है। फिर भी योजना मे ४०० करोड रु० की कमी रहती है। इसका आयोजन किस प्रकार होगा, इस सम्बन्ध मे योजना मे कुछ नही है। निजी क्षेत्र के २,४०० करोड रु० निजी साहस द्वारा पूँजी एव विनियोग बाजार से प्राप्त किये जायँगे। इन दोनो ही बाजारो की स्थिति अच्छी होने से निजी क्षेत्रो मे १,२०० करोड रु० के विनियोग होने की आशा है।

योजना की प्रगति (सन् १९५१-१९६१)—

प्रथम एव दूसरी योजना भारत के आयोजित आर्थिक एव सामाजिक विकास के पहिले चरण हैं। योजना के प्रथम १० वर्षो मे राष्ट्रीय आय, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हुई है और भारत के जन साधन का भी विकास हुआ है। इस अवधि मे राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का काफी तेजी से विकास हुआ है। रोजगार की सुविधा बढाने, आय तथा सम्पत्ति की विषमतायें घटाने तथा आर्थिक साधनो को केवल कुछ लोगो के हाथ मे आने से रोकने पर जोर दिया गया है।

योजना व्यय एव पूँजी विनियोजन—

प्रथम दो योजनाओ मे १०,००० करोड रु० से अधिक का विनियोजन हुआ है, जिसमे से सरकारी क्षेत्र मे लगभग ६,५६० करोड रु० लगे हैं :—

	प्रथम योजना (१९५१ ५६)	दूसरी योजना (अनुमानित) (१९५६-६१)	योग (१९५१-६१)
सरकारी क्षेत्र मे व्यय	१,९६०	४,६००	६,५६०
,, ,, मे पूंजी नियोजन	१,५६०	३,६५०	४,२१०
निजी क्षेत्र मे पूंजी-नियोजन	१,८००[1]	३,१००[1]	४,९००
कुल पूंजी विनियोजन	३,३६०	६,७५०	१०,११०

राष्ट्रीय आय में वृद्धि—

पहिली योजना मे विशेषतः कृषि उत्पादन से वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय १८% बढी। दूसरी योजना में पहिली योजना की अपेक्षा आर्थिक विकास के लिए अधिक तथा व्यापक प्रयत्न किये गये। आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय मे लगभग २०% वृद्धि होगी। अर्थात् सन् १९५१ से सन् १९६१ के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय लगभग ४२% बढेगी। प्रति व्यक्ति आय मे लगभग २०% और प्रति व्यक्ति व्यय मे लगभग १६% वृद्धि होगी। कृषि उत्पादन ४०%, औद्योगिक उत्पादन १२०% बढ जायगा।

निम्न तालिका में सन् १९४९-५० से कृषि-उपज की वृद्धि है :—

कृषि-उपज का सूचक अङ्क (१९४९-५० = १००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१ (अनुमान)
सभी वस्तुयें (Commodities)	९५·६	११६ ९	१३२ ०	१३५ ०
खाद्यान्न	९० ५	११५ ३	१३० ०	१३१·०
अन्य उपज	१०५·९	१२० १	१३६ ०	१४३·०

कृषि-उपज मे वृद्धि की प्रवृत्ति होते हुए भी विभिन्न वर्षों मे पर्याप्त अन्तर रहा :

		१९५०—५१	१९६०—६१ (अनुमानित वृद्धि)
अनाज (गेहूँ, दाल आदि)	लाख टन	५२४[2]	७५०
तिलहन	,,	५१	७२
गन्ना (गुड के रूप मे)	,,	५६	७२
रुई	लाख गाठे	२९	५४
पटसन	,,	३३	५५

1 ये अनुमान पूर्ण सूचनाओं के आधार पर सशोधित हैं और प्रथम योजना के १,६०० करोड रु० और दूसरी योजना के २ ००० करोड रु० के पहिले अनुमानों के स्थान पर हैं।

2 सन् १९५६-५७ के आँकडों मे सशोधन के अनुसार उत्पादन का सही अनुमान।

प्रथम योजना मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत देश भर मे विस्तार-सेवा आरम्भ करने का निश्चय किया गया। अक्टूबर सन् १९६३ तक यह कार्यक्रम देश के सभी गाँवो मे पहुँच जायगा। दूसरी योजना के अन्त तक विस्तार कार्यक्रम के अन्तगत विकास-खण्डो तथा गाँवो मे लगभग ३१,००० ग्राम सेवक और लगभग २८,००० विकास अधिकारी, कृषि, पशु पालन तथा अन्य क्षेत्रो में विकास के लिए काम कर रहे होगे।

सन् १९५१ से सन् १९५९ तक प्रारम्भिक कृषि समितियो की सख्या १०५ हजार से १८३ हजार, इनकी सदस्य सख्या ४४ लाख से १२० लाख हो गई है। ग्राम पचायतो की सख्या लगभग दुगुनी से बढकर १७८ हजार हो गई है।

सन् १९५० ५१ मे ५१५ लाख एकड भूमि मे सिंचाई होती थी, सन् १९६०-६१ तक ७ करोड एकड भूमि मे सिंचाई होने लगेगी। दूसरी योजना मे सिंचाई-सुविधा-प्राप्त सभी क्षेत्रो को अच्छे बीज प्रदाय करने के कार्यक्रम के अनुसार ४ हजार बीज फाम खोले जा रहे हैं। सन् १९५०-५१ मे ५५ हजार टन नाइट्रोजन खाद का उपयोग हो रहा था, जो सन् १९६०-६१ तक ३६० हजार टन हो जावेगा। कृषि विकास के अन्य कार्यक्रमो मे भी पर्याप्त प्रगति हुई है, ४० लाख एकड भूमि को सुधार कर कृषि योग्य बनाया गया है, २२ लाख एकड भूमि में हरी खाद (Green manure) का प्रयोग आरम्भ किया है तथा २७ लाख एकड भूमि मे भूमि कटाव रोकने की व्यवस्था की गई है।

उद्योग और खनिज—

गत वर्षो मे आधारभूत और मशीन निर्माण उद्योग तथा उत्पादको के लिए माल तैयार करने वाले उद्योगो में काफी प्रगति हुई ह। मशीनें तथा इञ्जीनियरिङ्ग उद्योगो में यह प्रगति विशेष उल्लेखनीय है। सरकारी क्षेत्र में तीन नये इस्पात कारखानो के चालू होने से इस्पात की उत्पादन क्षमता ४५ लाख टन हो गई है, जो प्रथम एव दूसरी योजना के आरम्भ मे क्रमश १० लाख और १३ लाख टन थी। सीमेन्ट, कोयला, अल्यूमिनियम आदि आवश्यक औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। मशीन निर्माण उद्योग मे सन् १९५१ मे ११ करोड मूल्य की मशीनें बनाई गई थी, जबकि सन् १९५८ मे ७९ करोड रु० मूल्य की मशीनों का निर्माण हुआ। दूसरी योजना के अन्त तक रेलो के लिए आवश्यक अधिकांश उपकरण देश मे ही तैयार होने लगेंगे।

बिजली का भारी सामान भी देश मे बनाना आरम्भ हो गया है। रसायनिक पदाथ, दवा, खाद आदि के उद्योगो मे भी वृद्धि हुई है। दूसरी योजना-अवधि मे जूट तथा कपडा मिलो के आधुनिकीकरण कायक्रम आरम्भ हो गये हैं।

निम्न तालिका मे दूसरे उद्योगो के काम में आने वाली मुख्य वस्तुओ के सन् १९६०-६१ मे अनुमानित उत्पादन के आँकडे हैं :—

वस्तुएँ	१९५०-५१	१९६०-६१ (अनुमान)
तैयार इस्पात	१० लाख टन	२६ लाख टन
अल्यूमिनियम	३ ७ हजार टन	१७ हजार टन
डीजल इञ्जन	५ ५ ,,	३३ ,,
बिजली के तार	१,६७४ टन	१८ ,,
रेल्वे इञ्जन	३ (सख्या)	२९५ सख्या
नाइट्रोजन खाद	९ हजार टन	२१० हजार टन
गधक का तेजाब	९९ ,,	४०० ,,
सीमेन्ट	२७ लाख टन	८८ लाख टन
कोयला	३२० ,,	५३० ,,
खनिज लोहा	३० ,,	१२० ,,

इसी प्रकार सूती वस्त्र, शक्कर, साइकिल तथा मोटर गाडियो जैसी उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे भी काफी वृद्धि हुई है।

देश मे पहिली बार कुछ वस्तुओ का निर्माण प्रारम्भ किया गया। जैसे बायल-र, पिसाई की मशीनें, मशीनी-औजार, विस्फोटक पदार्थ, सल्फा और एन्टिबायोटिक औषधियाँ, डी० डी० टी०, न्यूजप्रिंट पेपर आदि।

लघु तथा ग्रामोद्योग—

इस अवधि में इस क्षेत्र मे भी काफी विकास हुआ है। सन् १९५०-५१ से सन् १९६०-६१ मे हाथकर्घे के कपडे का उत्पादन ७,४२० लाख गज से २१२ ५० करोड गज, खादी का ७० लाख गज से ८ करोड गज, कच्चे रेशम का २० लाख पौंड से ३७ लाख पौंड हो गया है। कुछ लघु उद्योगो में जैसे हाथ के औजार, सिलाई की मशीनें, बिजली के पखे और साइकिलें तैयार करने वाले उद्योगो मे भी काफी विकास हुआ है। लगभग सभी राज्यो मे लघु-उद्योग सहायक सस्थायें निर्मित की गई हैं। इनके अलावा ४२ विस्तार केन्द्र स्थापित किये गये हैं। दूसरी योजना के अन्त तक ६० औद्योगिक बस्तियाँ बस जावेंगी, जिनमे ७०० छोटे कारखाने होगे।

विद्युत—

विद्युत की उत्पादन क्षमता जो सन् १९५०-५१ मे २३ लाख किलोवाट थी, से सन् १९६०-६१ तक ५८ लाख किलोवाट हो जावेगी। इसी प्रकार सन् १९५०-५१ मे ३,६८७ गाँवो मे बिजली थी वह सन् १९६०-६१ के अन्त तक १९,००० गाँवो मे लग चुकी होगी।

यातायात—

पहिली योजना का मुख्य उद्देश्य युद्धकाल मे रेल्वे की क्षति को पूरा करना था। दूसरी मे आयोजित औद्योगिक विकास की बढती हुई यातायात आवश्यकताओ

की पूर्ति करना था। तदनुसार सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,२०० मील लम्बी रेल लाइनें बिछ जावेंगी, १,३०० मील रेल-मार्गों का दुहराकरण, ८८० मील रेल-मार्गों का विद्युतीकरण हो चुका होगा। माल यातायात मे सन् १९५०-५१ की अपेक्षा ८०% वृद्धि होगी अर्थात् सन् १९५०-५१ मे ९१० लाख टन माल यातायात हुआ था, जो सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,६२० लाख टन हो जायगा। रेलवे इञ्जनो की सख्या जो दूसरी योजना के प्रारम्भ मे ८,२०० थी, योजना के अन्त तक १०,६००, रेल-डिब्बो की सख्या १९,२०० से २८,९०० और माल-डिब्बो की सख्या १,९९,१०० से बढकर ३,५४,१०० हो जावेगी।

जहाजो का टन भार ३,९०,००० जी० आर० टी० से ९ लाख जी० आर० टी० हो जायगा।

पहिली योजना के प्रारम्भ मे ९७,५०० मील सडकें थी, जो सन् १९६०-६१ तक १४४ हजार मील तक बढ जावेंगी। रोजगार के सम्बन्ध में दूसरी योजना मे कृषि के अतिरिक्त विकास कार्यक्रमो से ८० लाख लोगो को रोजगार देने का लक्ष्य था। परन्तु अनुमान है कि इस अवधि मे ६५ लाख व्यक्तियो को ही रोजगार मिल सकेगा। क्योकि योजना अवधि मे रोजगार के साधनो मे उसी अनुपात मे वृद्धि नही हुई जितनी कि रोजगार चाहने वालो की सख्या बढी है।*

योजना का पुनर्मूल्यांकन—

मई सन् १९५८ मे विकास परिषद योजना का पुनर्मूल्याकन किया तथा योजना राशि का पुन. बँटवारा किया :— (करोड रु०)

	सशोधित राशि	कुल लागत का प्रतिशत		योजना का 'अ' भाग	(अ भाग) कुल लागत का %
		मूल	सशोधित		
कृषि एव सामुदायिक विकास	५६८	११ ८	११ ८	५१०	११·३
सिचाई एव शक्ति	८६०	१९ ०	१७ ९	८२०	१८ २
ग्राम एव लघु उद्योग	२००	४ २	४ २	१६०	३ ६
उद्योग और खानें	८८०	१४ ४	१८ ४	७९०	१७ ५
यातायात एव सवादवाहन	१,३४५	२८ ९	२८ ०	१,३४०	२९ ८
सामाजिक सेवाएँ	८६३	१९ ७	१८ ०	८१०	१८ ०
विविध	८४	२·०	१ ७	७०	१ ६
योग	४,८००	१००	१००	४,५००	१००

इसके अनुसार योजना के 'अ' भाग पर कुल व्यय ४,५०० करोड रु० होना है, जिसमें से २,५१२ करोड रु० केन्द्र एव केन्द्र-शासित प्रदेश तथा १,९८८ करोड राज्यो द्वारा व्यय किए जायेंगे।

* उद्योग व्यापार-पत्रिका—अगस्त १९६० & Third Five Year Plan.

सन् १९५६-६० की अवधि मे केन्द्र एव राज्य सरकारो के आर्थिक स्रोतो से निम्न व्यय हुआ :—

	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८ ५९ (सशोधित अनुमान)	१९५९-६० बजट	१९५६-६० (अपेक्षित योग)
योजना लागत (Outlay)	६४१	८६३	१,०६४	१,०९२	३,६६०
देशी बजट स्रोत	३६४	३२०	५३६	५१३	१,७३३
विदेशी सहायता	३८	४७	२६०	३३७	६८२
कुल स्रोत	४०२	३६७	७९६	८५०	२,४१५
हीनार्थ प्रबन्धन	२३९	४९६	२६८	२४२	१,२४५

विभिन्न मदो पर व्यय की राशि निम्नवत है :—

(करोड रुपये)

	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९ सशोधित अनुमान	प्रथम ४ वष का योग—१९५६-६० अपेक्षित
कृषि एव सामुदायिक विकास	६७	८७	१२३	४१९
सिंचाई एव शक्ति	१५५	१५८	१७१	६६६
ग्राम एव लघु उद्योग	२८	३३	४१	१४६
उद्योग एव खनिज	७५	१९४	२५७	७२५
यातायात एव सवादवाहन	२१६	२७०	२९४	१,०९२
सामाजिक सेवाएँ	८६	१०८	१५८	५६९
विविध	१३	१३	२०	७३
योग	६४१	८६३	१,०६४	३,६६०

योजना के प्रथम तीन वर्षों में ८८५ करोड रु० का हीनार्थ-प्रबन्धन किया गया तथा १३६ करोड रु० का सन् १९५८-५९ मे होगा, ऐसा अनुमान है। योजना के अन्तिम दो वर्षों में १०० करोड रु० वार्षिक हीनार्थ प्रबन्धन की सीमा रखी गई थी। साथ ही, भुगतान की विषमता योजना अवधि में २,००० करोड रु० आँकी गई थी, परन्तु सितम्बर सन् १९५९ तक यह विषमता १,२९९ करोड रु० की वास्तविक थी। इससे हमारे विदेशी विनिमय स्रोत प्रभावित हो रहे थे। मार्च सन् १९५९ तक ३५० मि०

डॉलर की विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे वायदे थे और योजना की शेष अवधि के लिए ६५० मि० डॉलर का विदेशी विनिमय लगेगा, ऐसा अनुमान है।[1]

वर्तमान स्थिति—

दूसरी योजना की समाप्ति मे केवल ६ माह शेष हैं, परन्तु निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति इस अवधि मे होने की आशा नही की जा सकती। क्योकि मुख्य बाधा विदेशी मुद्रा की है। भारत सरकार का विदेशी मुद्रा कोष न्यूनतम स्तर पर पहुँच चुका है। इसलिए जब तक पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त न हो तब तक तीसरी योजना के प्रारम्भ मे दूसरी योजना के अधूरी रहने की ही आशका है।"[2] दूसरी योजना के तीसरे वर्ष में भारत की वैदेशिक मुद्रा की आवश्यकता को कुछ मित्र देशो ने तीव्रता से अनुभव किया था। फलस्वरूप विश्व बैंक के नेतृत्व मे भारत सहायता क्लब की स्थापना हुई। इस समय के अनुमान के अनुसार हमारी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता ५३० करोड रु० थी और क्लब ने ४५० करोड रु० की विदेशी मुद्रा देने का आश्वासन दिया था। इस सबके बावजूद भी वर्तमान स्थिति यह है कि भारत को अपनी योजना की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा के लिए भटकना पड रहा है।

इस क्लब ने भारत को सन् १९५८ और ५९ वर्ष मे ६० करोड डॉलर की विदेशी मुद्रा दी, परन्तु योजना की पूर्ति के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा इस समय नही मिल पा रही है। अतः ऐसी अधूरी सहायता का क्या लाभ हो सकता है जो तीसरी योजना के लिए उपयुक्त आधार न बना सके। भारत सहायता क्लब की अगली बैठक फरवरी सन् १९६१ मे हो रही है, जिसका लाभ तीसरी योजना को ही मिल सकता है। किन्तु वर्तमान समस्या है दूसरी योजना की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता की, जिस ओर सहायता के इच्छुक राष्ट्रो को गम्भीरता से देखना होगा। साथ ही भारत को भी आगामी योजना मे विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में गम्भीरता से सोचना होगा कि कहाँ तक इस प्रकार से हम परमुखापेक्षी बन अपनी प्रगति सुदृढ आधार पर कर सकते हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि—

दो पच वर्षीय आयोजनाओ मे से एक तो पूरी हो चुकी है और दूसरी पूरी होने ही वाली है। निश्चित रूप से इन आयोजनाओ के फलस्वरूप हमारा औद्योगिक और कृषि-उत्पादन बढा है। आँकडो के हिसाब से पिछले १० वर्ष मे हमारी राष्ट्रीय आय ४२ प्रतिशत बढी है। फिर भी देश का बहु सख्यक वर्ग इस वृद्धि का लाभ उठाने से वचित रह गया है। यद्यपि इस स्थिति की जाँच के लिए एक कमीशन

---

1. India 1960
२ नवभारत टाइम्स (सम्पादकीय) १६ सितम्बर १९६०।
३ नवभारत टाइम्स सितम्बर १७, १९६०।

बैठाने का निर्णय किया गया है, तथापि कमीशन बैठाना समस्या का हल नही है, मसला उलझ जरूर सकता है ।

इस विषम स्थिति का मूल कारण है विकास-कार्यों के प्रति जन-जागरण का अभाव । और इसी से सत्तारूढ वर्ग मे सिद्धान्त और व्यवहार का आन्तरिक संघर्ष उठ खडा हुआ । लोकतन्त्र और अधिनायकवाद, दोनो एक साथ नही चल सकते । लेकिन वस्तुत हमारे देश मे लोकतन्त्र और अधिनायकवाद को परोक्ष रूप से ही सही—एक साचे में ढालने का असफल प्रयास हो रहा है । न चाहने हुए भी परिस्थितियो ने हमारे देश मे आयोजना का काम ऊपर से शुरू करने को वाध्य कर दिया । होना यह चाहिए था कि वह ग्राम-स्तर से आरम्भ होता । कुछ समय पूर्व श्री नेहरू ने कहा था कि "भारतीय जनता मे सब कुछ ऊपर से किये जाने की आशा करने की आदत सी पड गयी है । इसलिये शायद कार्यवाही ऊपर से ही करनी पडे । लेकिन साथ ही जनता का अपना काम खुद भी किया जायेगा । इस काम का श्रीगणेश गांव और पचायत से होगा ।"

वास्तव मे जिस समय हमने आयोजित आर्थिक विकास का सकल्प लिया था, उस समय परिस्थितिया कुछ ऐसी थी कि काम ऊपर से ही शुरू करना पडा । लेकिन यह भी सत्य है कि प्रथम दो आयोजनाओ के अन्तर्गत श्री नेहरू के विचार के दूसरे अश—अपना काम खुद करने के लिए जनता के प्रशिक्षण को पूरा करने की दिशा मे पर्याप्त कारंवाई नही की गयी है । वस्तुत. स्वाधीनता के प्रथम १३ वर्ष मे हमारी आयोजित अर्थ व्यवस्था का प्रभाव और कुप्रभाव इतना व्यापक रहा है कि जनता पहले से अधिक परमुखापेक्षी बन गई है । हमारे आयोजना निर्माता एक साथ अपनी सामर्थ्य से बडा निवाला काटने के प्रयास मे रहे हैं ।

पिछले दस वर्ष की अवधि मे प्राकृतिक साधनो के उपयोग, उद्योग-निर्माण, कृषि-विस्तार और सुधार, सडक तथा अन्य सचार और परिवहन सुविधाओ के उन्नयन और शिक्षा-प्रसार मे जो सफलता हमे मिली है, वह प्रशसनीय और हर्ष का विषय ही मानी जायेगी । त्रुटि सिर्फ यह रही कि यह सब कुछ अपेक्षित पद्धति से नही हुआ । जनता की आवश्यकताएं हमारी विकास योजनाओ का आधार नही बन सकी ।

यदि हमारी आयोजना का केन्द्र गाँव होता, तो इसके दो लाभ होते । एक तो यह कि आयोजना के प्रति जनता की अभिरुचि जगती, जिससे लोगो मे परिश्रम करने की जीवन्त भावना का निर्माण होता और दूसरे, योजना-प्राथमिकताओ का एक सिलसिला बंध जाता, जिससे आर्थिक विकास का एक समरूप आधार तैयार होता । उदाहरणार्थ, पहली आवश्यकता है खाद्य । यदि गाँव अथवा गाँव समूह को एक इकाई मान कर उसके लिए खाद्योत्पादन का एक लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाता, तो एक पन्थ दो काज की कहावत चरितार्थ हो जाती । जन-जन मे जागरण की लहर दौडती और उनको आत्मनिर्भरता की ओर पग उठाने का प्रोत्साहन मिलता ।

दूसरी प्राथमिकता मिलती कपडे को। उस हालत मे हाथ करघे को सरक्षण देने के लिए मिल-उत्पादन पर अंकुश लगाने की जरूरत नही पडती। बल्कि उत्पादन का करिश्मा दिखाने के लिए इन दोनो मे एक प्रकार की होड लग जाती। अमरीका, जापान, जर्मनी आदि समृद्ध देशो के सङ्गठित औद्योगिक विकास मे लघु तथा गृह उद्योगो के काम पर एक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

यह ठीक है कि गाँव को आयोजित अर्थ व्यवस्था का केन्द्र मानकर चलने पर औद्योगिक विकास की गति कुछ धीमी पड जाती। परन्तु लघु तथा गृह उद्योगो के विस्तार का सबसे बडा लाभ यह होता कि बेकारी कम हो जाती और उसका स्वरूप कुछ बदल जाता। प्रत्येक उद्योग जनता की बढती हुई आवश्यकताओ के अनुरूप आगे बढ पाता। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का लाभ गाँव-गाँव तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त होता और सरकारी तथा गैर-सरकारी क्षेत्रो के साथ-साथ एक "सार्वजनिक क्षेत्र" का आविर्भाव हो जाता और तब गैर-सरकारी क्षेत्र को दबाकर सरकारी क्षेत्र को आगे बढाने का झमेला दरपेश नही होता।

अत: यह आशा करना निरर्थक न होगा कि तीसरी आयोजना को अन्तिम रूप देते हुए देश के विकास अभियान की इस भारी त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा। देर आयद दुरुस्त आयद।*

तृतीय पञ्च-वर्षीय योजना—

तीसरी योजना की रूपरेखा मे योजना की स्थूल बातो का उल्लेख है। देश की आवश्यकताएँ क्या हैं, स्वाधीनता के बाद कितनी प्रगति हुई है और आगामी १५ वर्ष मे कितना विकास करना है, यह भी इस रूप-रेखा मे बताया गया है। इसका उद्देश्य है कि जनता, ससद एव राज्य तीसरी योजना के उद्देश्यो, लक्ष्यो और प्राथमिकताओ पर विचार कर सकें और अन्तिम रूप दे सकें। इस रूपरेखा के अनुमान प्रारम्भिक हैं और इसका अन्तिम रूप अगले वर्ष के आरम्भ मे सामने आवेगा।

प्रथम एव दूसरी योजना से देश के प्राकृतिक साधनो और जनता की शक्ति को राष्ट्रीय विकास मे लगाने के प्रयत्न किए गए हैं और इस ओर ध्यान रखा गया है कि योजना का उद्देश्य केवल उत्पादन वृद्धि से देश की आर्थिक स्थिति मे सुधार करना ही न हो कर लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता पर आधारित ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना है जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाओ को अनुप्राणित कर सके।

पहिली योजना मे दूसरे महायुद्ध और विभाजन के कारण देश की जो हानि हुई उसे पूरा करने की तथा आर्थिक व्यवस्था का सुदृढ आधार बनाने का प्रयत्न किया गया था। सविधान मे निहित निर्देशक तत्त्वो के अनुरूप दूसरी सामाजिक एव आर्थिक नीतियाँ अपनाई गई थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आरम्भ और भूमि सुधार

---

* नवभारत टाइम्स सितम्बर १७, १९६०।

इस योजना की उल्लेखनीय बातें हैं। दूसरी योजना में पहिली योजना की नीतियों को रखते हुए उत्पादन मे वृद्धि, विकास में अधिक विनियोजन और जनता को अधिक रोजगार सुविधाएं देने के प्रयत्न किए गए। इसमे आर्थिक उन्नति की गति बढाने पर, आय और धन की विषमता कम करने और इने-गिने हाथो मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण रोकने पर बल दिया गया था। पहिली योजना मे राष्ट्रीय आय में वार्षिक ३½% और दूसरी मे ५% की दर से वृद्धि हुई है।

तीसरी योजना के उद्देश्य —

(१) आगामी ५ वर्ष मे राष्ट्रीय आय मे वार्षिक ५% से अधिक की वृद्धि करना और इस हिसाब से देश के विकास में रुपया लगवाना जिसकी वृद्धि का यही क्रम आगे भी चालू रहे।

(२) अनाज की उपज मे आत्म निर्भरता प्राप्त करना और कच्चे माल की उपज को इतना बढाना कि उससे हमारे उद्योगो की आवश्यकता भी पूरी हो और निर्यात भी हो सके।

(३) इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगो को बढाना और मशीन बनाने के कारखाने कायम करना, जिससे १० वर्ष मे अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें देश मे ही बनाई जा सकें।

(४) देश की जन या श्रम-शक्ति का पूरा उपयोग करना और लोगों को रोजगार के अधिक साधन देना। तथा

(५) धन और आय की विषमता को घटाना और संपत्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना।*

स्वयस्फूर्त विकास—

स्वयंस्फूर्त विकास का अर्थ है कि देश के लोग इतना धन बचाते और विनियोजित करते रहे जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति और आय बराबर बढती रहे। इसलिए यह आवश्यक है कि देश मे पूंजीगत माल और मशीनें आदि बनाने का प्रबन्ध हो, जिससे नये उद्योग-धन्धो में पूंजी लगती रहे। तीसरी योजना मे किस उद्योग मे कितना पूंजी विनियोग हो, इसका निर्धारण इसी बात को ध्यान मे रखकर किया गया है।

स्वयस्फूर्त विकास तभी सम्भव है जब खेती और उद्योग दोनो की समुचित उन्नति हो। औद्योगीकरण के बिना न तो आय बढ सकती है और न रोजगारी के अवसर ही। साथ ही, कृषि-उपज की वृद्धि बिना औद्योगीकरण भी नही हो सकता। इसलिए तीसरी योजना मे अन्न और कच्चे माल की उपज बढाने और उद्योग का आधार सुदृढ करने पर समान रूप से बल दिया गया है। अपने देश मे लोगो को पूर्ण रोजगार नही मिलता है, इसलिए रोजगार के साधन बढाना बहुत आवश्यक है। जनता को अधिक काम देने से उत्पादन बढता है। इसलिए तीसरी योजना मे रोजगारी के

* Third Five Year Plan Page 11.

अवसर बढ़ाने पर भी बहुत जोर दिया गया है। इस प्रकार स्वयम्फूर्त विकास भी तीसरी योजना का एक उद्देश्य है।

समाजवादी ढांचा—

योजना का उद्देश्य धन और आय की विषमता को कम करने का है, जिससे समाजवादी ढंग की समाज रचना हो सके, जिसमे सब लोगो को पूरी उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिले। आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए योजना के अन्तर्गत अनेक उपाय करने पड़े गे और वर्तमान कलेवर मे परिवर्तन करने पड़े गे। इनमे राज्य के उद्योग और आर्थिक कार्य, देश मे साधन जुटाने और विकास मे विनियोजन के लिए वित्तीय उपाय, समाज सेवाओ का विस्तार, भूमि सुधार, सहकारी संस्थाओ का विस्तार आदि का समावेश है। ये उपाय ऐसे ढङ्ग से होने चाहिए कि निम्न श्रेणी की आर्थिक उन्नति हो और उन्हे अधिक अवसर मिले तथा उच्च श्रेणियो का धन और अधिकार कम हो।

योजना की लागत—

योजना की कुल लागत १०,२०० करोड रु० है, जिसमें से ६,२०० करोड रु० सरकारी क्षेत्र मे और ४,००० करोड रु० निजी क्षेत्र मे व्यय होगे। सार्वजनिक क्षेत्र की योजना की लागत ७,२५० करोड रु० होगी। इसमे १,०५० करोड रु० चालू लागत का समावेश है। २०० करोड रुपये की राशि सरकारी क्षेत्र से निजी क्षेत्र मे बदलने की सम्भावना है, जिससे निजी क्षेत्र मे पूंजी-निर्माण हो सके। निम्न तालिका मे दूसरी योजना की लागत और पूंजी के साथ तीसरी योजना के कुल व्यय और पूंजी की तुलना है —

(करोड रु०)

	सरकारी क्षेत्र			निजी क्षेत्र	कुल पूंजी
	योजना का व्यय	चालू व्यय	पूंजी		
दूसरी योजना	४,६००	९५०	३,६५०	३,१००*	६,७५०
तीसरी योजना	७,२५०	१,०५०	६,२००	४,०००*	१०,२००

तीसरी योजना में प्राय उन्ही कामो पर पूंजी विनियोजन होगा जिन पर दूसरी योजना मे हुआ था, परन्तु सहकारी क्षेत्र मे कृषि, उद्योग, बिजली और कुछ सामाजिक सेवाओ पर अधिक बल दिया जायगा। दूसरी और तीसरी योजना मे सहकारी क्षेत्र को निम्नवत बाँटा गया है :—

* सरकारी क्षेत्र से जो २०० करोड रु० निजी क्षेत्र मे दिए जायेंगे उनका समावेश इसमें नही है।

(करोड रुपये)

	व्यय		प्रतिशत	
	दूसरी योजना	तीसरी योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) कृषि और छोटी सिंचाई योजनाएँ	३२०	६२५	६.६	८ ६
(२) सामुदायिक विकास और सहकारिता	२१०	४००	४ ६	५ ५
(३) बड़ी और मध्य सिंचाई योजनाएँ	४५०	६५०	९.८	९ ०
(४) योग १, २, ३,	९८०	१,६७५	२१.३	२३ १
(५) बिजली	४१०	९२५	८ ९	१२.८
(६) ग्राम एव लघु उद्योग	१८०	२५०	३.९	३.४
(७) उद्योग और खनिज	८८०	१,५००	१९ १	२० ७
(८) परिवहन और सचार	१,२९०	१,४५०	२७ १	२०.०
(९) योग ५ से ८	२,७६०	४,१२५	६० १	५६ ९
(१०) सामाजिक सेवाएँ	८६०	१,२५०	१८.७	१७.२
(११) उत्पादन मे रुकावट न आवे इसलिए कच्चा या अर्द्धनिर्मित माल का सग्रह	—	२००	—	२ ८
(१२) सकल योग	४,६००	७,२५०	१००	१००

सरकारी क्षेत्र मे जो व्यय ७,२५० रु० का होता है उसमे से ३,६०० करोड रु० केन्द्र और ३,६५० करोड रु० राज्य सरकारे खर्च करेंगी। केन्द्र द्वारा राज्यो को २,५०० करोड रु० दिए जाने का अनुमान है।

योजना के लिए आर्थिक साधन –

दूसरी योजना की कुल ६,७५० करोड रु० लागत की तुलना में तीसरी योजना मे १०,२०० करोड रु० की पूँजी लगाने के लिए घरेलू साधन जुटाने मे गहन प्रयत्न करना होगा। तीसरी योजना मे राष्ट्रीय आय ५% वार्षिक की दर से बढने की आशा है। अधिक पूँजी विनियोजन के लिए इसी साधन से धन प्राप्त करना होगा।

योजना का उद्देश्य है कि तीसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय का १४% अर्थ व्यवस्था मे विनियोजित हो ? दूसरी योजना के अन्त मे राष्ट्रीय आय का ११% हमारी अर्थ-व्यवस्था में लगा हुआ होगा। इस समय बचत की दर राष्ट्रीय आय के ८% है, जिसे तीसरी योजना के अन्त तक बढाकर ११% करना होगा।

पहिली दो योजनाओ की भाँति तीसरी योजना के आरम्भ मे भी विदेशी मुद्रा कम रहेगी तथा विदेशी मुद्रा कोष से धन लेने की भविष्य मे गुञ्जाइश नही है। साथ ही, मूल्य-स्तर दूसरी योजना के आरम्भ की अपेक्षा अब २०% अधिक है। इन दोनो बातो को ध्यान मे रखते हुए ऐसे व्यय न किए जाएँ जिनसे मुद्रा-स्फीति हो।

इसके विपरीत ऐसी स्थिति भी है जो गत योजनाओ के आरम्भ की स्थिति से कई प्रकार से अच्छी है। पिछले १० वर्ष मे उद्योग आदि मे अधिक पूँजी विनियोग हुआ है। सिंचाई, बिजली और परिवहन में पर्याप्त प्रगति हुई है। सरकारी क्षेत्र में, दूसरी योजना के अनेक कार्यक्रम अभी पूर्ण होने थे, जो तीसरी योजना में चालू होकर लाभ देने लगेंगे। इस लाभ को पूँजी विनियोजन के लिए लेना होगा। शिक्षा और प्रशिक्षा की वर्तमान सुविधाओ का विकास होगा, जिससे भविष्य मे अधिक काम होगा। नए-नए उद्योग-धंधे आरम्भ करने की क्षमता रखने वाले और अनुभवी प्रबन्धको की संख्या भी बढ रही है।

इस बात पर बल दिया गया है कि योजना के लिए साधन प्राप्त करने की समस्या को ऐसा नही मानना चाहिए जैसे वह किसी स्थिर और निश्चित कोष से धन लेने की बात हो। अर्थ व्यवस्था के साथ ही साधन भी बढते हैं। गत वर्षों में कठिनाइयो के होते हुए भी प्रगति इतनी हुई है कि भविष्य मे पहिले से अधिक प्रयत्न करना सम्भव हो गया है। गरीबी और कम बचत, कम पूँजी विनियोजन के दुश्चक्र को तभी तोडा जा सकता है जब पूरे साधन जुटाए जायें और जो लाभ होता रहे उसे निरन्तर उत्पादन के लिए लगाया जाता रहे।

अर्थ व्यवस्था—

सरकारी क्षेत्र मे तीसरी योजना मे जो व्यय होगा उसके लिए निम्न साधनो से धन प्राप्त होगा :— (करोड रुपये)

	दूसरी योजना		तीसरी योजना	
	राशि	%	राशि	%
(अ) बजट के स्रोत				
(i) चालू आय से अधिक्य	९००	१९ ६	२,०००	२७ ६
(ii) रेलवे का अभिदान	१५०	३ ३	१५०	२ १
(iii) सरकारी उद्योगो का लाभ	—	—	४४०	६ १
(iv) सार्वजनिक ऋण	८००	१७ ४	८५०	११ ७
(v) अल्प बचत	३८०	८ ३	५५०	७ ६
(vi) भविष्य निधि एव विविध स्रोत	२१३	४ ६	५१०	७ ०
योग	२,४४३	५३ २	४,५००	६२ १
(ब) हीनार्थ प्रबन्धन	१,१७५	२५ ५	५५०	७ ६
कुल विदेशी साधन	३,६१८	७८ ७	५,०५०	६९ ७
(स) विदेशी सहायता	९८२	२१ ३	२,२००	३० ३
	४,६००	१०० ०	७,२५०	१०० ०

अतिरिक्त कर—

५ वर्ष की अवधि मे १,६५० करोड रु० के अतिरिक्त कर लगाने का लक्ष्य है। भारत मे इस समय राष्ट्रीय आय का लगभग ८.५% भाग करो से मिलता है। कर उपलब्धि में सामान्य रूप से जो वृद्धि होगी और तीसरी योजना में जो अतिरिक्त कर लगाए जायेंगे उनसे यह प्रतिशत राष्ट्रीय आय का ११% हो जायगा। विकास कार्यों की तेज गति को देखते हुए इसे बहुत अधिक भार नही माना जा सकता। फिर भी १,६५० करोड रु० के अतिरिक्त कर लगाने का लक्ष्य पूरा करने के लिए राज्यो को बहुत प्रयत्न करना पडेगा। इस कर राशि का ⅔ कर राज्य लगाएंगे।

तीसरी योजना के कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर बढाने और सरकारी उद्योगो का लाभ बढाने की जरूरत होगी। जहाँ तक आय-कर और निगम कर का प्रश्न है, कर-प्रशासन को कडा करके उनकी वसूली बढानी होगी, कम्पनियो के खर्च के ब्यौरे पर नजर रखनी होगी और ऐसे कदम उठाने होगे जिनमे वे कर बच न सकें। अप्रत्यक्ष करो एव वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि होने से निश्चय ही लागत और मूल्य दोनो बढेगे, पर यह त्याग करना ही पडेगा।

हीनार्थ-प्रबन्धन—

अप्रत्यक्ष कर और हीनार्थ-प्रबन्धन से मूल्य-स्तर पर जो प्रभाव होता है उसमे भेद किया गया है। अप्रत्यक्ष करो से मूल्य वृद्धि होने से मुद्रा-स्फीति की सम्भावना कम रहती है, जबकि हीनार्थ-प्रबन्धन से यह बढ जाती है। अत. यह विचार है कि तीसरी योजना मे केवल ५५० करोड रु० का हीनार्थ-प्रबन्धन किया जाय, जबकि दूसरी योजना मे १,१७५ करोड रु० का किया गया था।

विदेशी मुद्रा—

तीसरी योजना मे तीव्र गति से उद्योगो की स्थापना के लिए विदेशी मुद्रा की काफी आवश्यकता पडेगी। अनुमान है कि योजना में १,६०० करोड रु० की विदेशी मुद्रा व्यय होगी। साथ ही, २०० करोड रु० के पुर्जे आदि आयात करने पडेगे, जिससे देश मे मशीनरी सामान का उत्पादन बढाया जा सके। इस प्रकार २,१०० करोड रु० की आवश्यकता पडेगी।

योजना के अन्तर्गत नवीन विकास के हेतु विदेशी मुद्रा की आवश्यकता को छोड देने पर भी तीसरी योजना अवधि मे पिछले ऋणो और व्याज के भुगतान के लिए ५०० करोड रु० की विदेशी मुद्रा आवश्यक होगी। इस प्रकार तीसरी योजना मे २,६०० करोड रु० की विदेशी मुद्रा आवश्यक होगी। इसमे वह ६०० करोड रु० भी सम्मिलित किए जा सकते हैं जो पी० एल०, ४८० के अन्तर्गत अमेरिका से मिलेगे। इस प्रकार इस योजना की कुल आवश्यकता ३,२०० करोड रु० होती है।

विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे निश्चित कुछ नही कहा जा सकता। इसलिए योजना के रूप में लोच रखनी होगी। सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रो मे इसी आधार

पर कार्यक्रम आरम्भ हो सकते है कि बाहर से निश्चित रूप मे कितनी सहायता मिलेगी। इसलिए पहिले से ही कार्यक्रम तैयार रखने होगे, जिससे आवश्यक विदेशी मुद्रा मिलते ही उन्हे पूरा किया जा सके। विदेशी मुद्रा के उपयोग मे देर करने से तीसरी योजना का उत्पादन वृद्धि कार्यक्रम तितर-बितर हो जायगा।

भुगतान विषमता के विषय मे देश को जो कठिनाइयाँ हैं वे स्थायी या आकस्मिक नही है, बल्कि विकास की क्रिया का ही एक अग हैं। कुछ समय तक अत्यधिक आयात की आवश्यकता बाहरी साधनो से ही पूरी की जा सकती है। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह असन्तुलन धीरे-धीरे कम हो और कुछ समय बाद समाप्त हो जाय। इसका अर्थ यह नही कि कुछ निश्चित समय बाद विदेशो से धन की आवक रोक दी जावेगी। व्यापार मे लगी पूँजी आती ही रहेगी और आती रहनी चाहिये। परन्तु विशेष सहायता कार्यक्रमो पर निर्भरता धीरे-धीरे कम होनी चाहिए और कुछ समय बाद समाप्त होनी चाहिए।

निजी पूँजी—

निजी क्षेत्र मे पूँजी केवल सगठित उद्योगो, खान, बिजली और परिवहन में ही नही लगी है। किन्तु कृषि, ग्राम और लघु-उद्योगो, देहातो और शहरो में मकान बनाने मे भी लगी हुई है। दूसरी एव तीसरी योजना में निजी क्षेत्र का पूँजी विनियोजन निम्न तालिका से स्पष्ट होगा :—

	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) कृषि सिंचाई सहित	६७५	८५०
(२) बिजली	४०	५०
(३) परिवहन	१३५	२००
(४) ग्राम एव लघु-उद्योग	२२५	३२५
(५) बडे और मध्यम उद्योग एव खनिज	७००	१,०५०
(६) आवास और अन्य निर्माण कार्य	१,०००	१,१२५
(७) उत्पादन मे रुकावट न आने देने के लिए कच्चा या अर्द्धनिर्मित माल का सग्रह	५२५	६००
योग	३,३००	४,५००*

तीसरी योजना मे निजी पूँजी विशेषत. बडे और मध्यम उद्योगो मे बढाई जायगी। दूसरी योजना में बडे और मध्यम उद्योगो मे ७०० करोड रु० का पूँजी विनियोग हुआ, जबकि तीसरी योजना मे १,०५० करोड रु० के पूँजी विनियोजन का विचार है। अन्य क्षेत्रो मे अधिक पूँजी लगाई जायगी, परन्तु अनुपात से वह कम होगी। योजना में निजी क्षेत्र के उद्योगो के विकास का काफी अवसर है। क्योकि दो पच-वर्षीय योजनाओ के कारण उद्योगो के विकास के अवसर अधिक हो गये हैं।

* इसमें सरकारी क्षेत्र से दिए गए २०० करोड़ रु० सम्मिलित हैं।

इस विषय मे जो नीति है उसका लक्ष्य है कि इन अवसरो से छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योगपति लाभ उठावें और अधिक शक्ति थोड़े से लोगो के हाथ मे केन्द्रित होने क प्रवृत्ति पर आरम्भ से ही अकुश रहे।*"

उत्पादन एव विकास के लक्ष्य—

कृषि योजना में कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता है। अनाज मे आत्म निर्भरता और उद्योगो तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की उपज बढाना तीसरी योजना का मुख्य उद्देश्य है। योजना में कृषि एव सामुदायिक विकास के लिए सरकारी क्षेत्र मे १,०२५ करोड रु०, सिंचाई की बडी और मध्यम योजनाओ के लिए ६५० करोड रु० का आयोजन है। साथ ही, निजी ओर से भी इन कार्यों मे ८०० करोड रु० के विनियोजन का अनुमान है। कृषि की उपज मे ३० से ३३% वृद्धि की जायगी। प्रमुख फसलो के उत्पादन लक्ष्य हैं :—

		वार्षिक उत्पादन	
		१९६०–६१ (अनुमान)	१९६५–६६ लक्ष्य
अनाज (लाख टन)		७५०	१,००० से १,०५०
तिलहन	,,	७२	९२ से ९५
गन्ना (गुड के रूप मे)	(लाख टन)	७२	९० से ९२
रुई	(लाख गाठें)	५४	७१
पटसन	(,,)	५५	६५

औद्योगिक उत्पादन—

तृतीय योजना के लक्ष्यो और प्राथमिकताओ के बारे मे योजना आयोग ने कहा है कि सन् १९६१-६६ की औद्योगिक परियोजना का लक्ष्य एक ऐसी नींव रखना होना चाहिए जिससे अगले पन्द्रह वर्ष तक देश का तेजी से विकास हो सके। राष्ट्रीय आय मे अपेक्षित वृद्धि और रोजगार की सुविधाएं प्रदान करने की दृष्टि से भी यह बहुत जरूरी है।

मूल मशीनें और उपभोक्ता सामग्री तैयार करने वाले उद्योगो और आवश्यक टेक्निकल ज्ञान, डिजाइन तैयार करने की क्षमता आदि तैयार करने पर आयोग ने विशेष बल दिया है जिससे बिजली, परिवहन, उद्योग, खनिज-उत्पादन आदि के क्षेत्र मे राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का विकास हो सके और देश को विदेशो पर निर्भर न रहना पडे।

तृतीय योजना काल मे निजी और सार्वजनिक उद्योगो को परस्पर सहयोग से काम करना होगा। नेत्रजनयुक्त रसायनिक खाद तैयार करने के क्षेत्र मे यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता प्राप्त हो चुकी है, तथापि योजना काल मे निजी क्षेत्र को भी यहाँ बढने का मौका दिया जायगा।

* उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।

तृतीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे उत्पादन बढाने पर बल दिया जायगा, जिससे विदेशी मुद्रा की कम आवश्यकता पडे।

आयोग ने तृतीय योजना काल के लिए प्राथमिकताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं :—

(१) द्वितीय योजना की शेष परिकल्पनाओ को पूरा करना ,

(२) इञ्जीनियरिंग और भारी मशीनें बनाने वाले उद्योगो का विस्तार और उनके उत्पादन मे विविधता लाना तथा मिश्रित धातुओ के औजार, विशेष इस्पात, लोहा, इस्पात और लोह-मिश्रण एव रसायनिक खाद तैयार करना ,

(३) अलमुनियम, खनिज तेल, रसायन आदि तैयार करना ,

(४) मौजूदा क्षमताओ का पूर्ण उपयोग,

(५) देशी उद्योगो से अधिक मात्रा मे दवाइयाँ, कागज, कपडा, चीनी, वनस्पति तेल और घर बनाने का सामान तैयार करना।

तृतीय योजना मे उद्योग और खान-कार्यक्रमो पर २५ अरब रुपया खर्च करने की व्यवस्था है। इस राशि में १५ अरब सार्वजनिक और १० अरब रुपया निजी क्षेत्र पर खर्च किया जायगा।

नेवेली योजना—

नेवेली योजना मे उष्णता से प्राप्त बिजली के लिए ३५ लाख टन लिगनाइट प्रति वर्ष खनन की कल्पना की गयी है। इसके अतिरिक्त ७० हजार टन नाइट्रोजन के समान खाद के उत्पादन और ३ लाख ८० हजार टन के कार्बनाइज्ड ब्रिकेटस का उत्पादन भी होगा।

तृतीय योजना मे उष्णता प्राप्त बिजली उत्पादन की क्षमता चार लाख किलोवाट कर दी जायगी। बढाए गए बिजली सयन्त्र की आवश्यकता के लिये खनिज उत्पादन ३५ लाख टन से बढाकर ४८ लाख टन कर दिया जयागा।

औद्योगिक मशीनरी—

ढलाई भट्टी की क्षमता मशीनरी योजनाओ के लिए अनिवार्य है। ढलाई की कुल शक्ति का वितरण निम्नलिखित ढग से किया जायगा —(१) राची की ढलाई भट्टी में (तृतीय चरण मे) ३८ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ४५ हजार टन इस्पात की ढलाई और ६६ हजार ७ सौ टन स्टील फोर्जिग, (२) दुर्गापुर खान मशीनरी योजना मे ११ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ६ हजार टन इस्पात की ढलाई और ७ हजार टन स्टील फोर्जिग, (३) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, बगलौर मे २ हजार ५ सौ टन भूरे लोहे की ढलाई, (४) चितरजन लोकोमोटिव कारखाने मे ३ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और ७ हजार टन इस्पात की ढलाई, (५) दुर्गापुर, भिलाई और रूरकेला इस्पात कारखाने मे ७५ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और १५ हजार टन

इस्पात की ढलाई और (६) रेलवे कारखानो से सम्बन्धित ढलाई भट्टियो को छोडकर शेष अन्य कारखानो मे ६ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई।

राची मे बडे यन्त्रो के उत्पादन के लिए एक सयन्त्र है। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८० हजार टन है। इसका विस्तार होने वाला है। इसके विस्तृत हो जाने पर इस्पात तैयार करने की क्षमता प्रति वर्ष १० लाख टन करने के लिए आवश्यक प्रसाधनो में अधिकाश प्रसाधनो की पूर्ति इसी कारखाने से हो सकेगी।

फिलहाल मशीन के औजारो की माग २० करोड रुपए की कीमत तक हैं, लेकिन सन् १९६५-६६ तक यह माग बढकर ५० करोड रुपए तक की कीमत तक पहुँच जायगी।

खनिज तेल—

सन् १९५९ ई० मे खनिज तेल के बने सामानो की माग ६२ लाख ८० हजार टन थी। इसके मुकाबले मे तीसरी योजना के अन्त मे १ करोड टन से भी अधिक खनिज तेल के सामानो की माग होने की आशा है।

आयल इण्डिया लिमिटेड कम्पनी नहरकटिया की खान से तेल निकालेगी। आशा है कि यहाँ से प्रति वर्ष २७ लाख ५० हजार टन तेल निकल सकेगा। सन् १९६२ ई० मे तेल साफ करने का पहला कारखाना बनाकर तैयार हो जायगा। ऐसी आशा है कि तेल साफ करने के कारखाने की स्थापना का काम पूरा होते ही सन् १९६० ई० से कच्चे तेल की पाइपिंग शुरू हो जायगी।

और अधिक तेल की खोज के लिए तीसरी योजना मे १ अरब १५ करोड रुपये की धनराशि निर्धारित की गयी है और सार्वजनिक क्षेत्र मे तेल के वितरण की व्यवस्था के लिए भी ५ करोड रुपए की धनराशि निर्धारित की गयी है।

उर्वरक का उत्पादन—

नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन बढा कर ८ लाख टन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। यह लक्ष्य सार्वजनिक क्षेत्र के लिए है। इसी प्रकार निजी उद्योग के लिए भी २ लाख टन नाइट्रोजन उवरक तैयार करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। फिलहाल १ लाख ४४ हजार टन नाइट्रोजन उर्वरक तैयार करने की क्षमता है। करीब करीब यह सारा उत्पादन सावजनिक क्षेत्र का है। एफ० ए० सी० टी० और नगल कारखाने के विस्तार से ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दूसरी योजना के अन्त तक नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन करीब-करीब २ लाख ३४ हजार टन हो जायगा।

अन्य उत्पादन लक्ष्य निम्न हैं :—

		१९६०-६१	१९६५-६६
अल्यूमिनियम	('००० टन)	१७०	७५०
सीमेंट	(लाख टन)	८८	१३०
कागज	('००० टन)	३२०	७००

गन्धक का तेजाब	('००० टन)	४००	१,२५०
कास्टिक सोडा	('००० टन)	१२५	३४०
शक्कर	(लाख टन)	२५	३०
कपड़ा (मिलो का)	(लाख गज)	५०,०००	५८,०००
साइकिल (कारखानो में)	(हज़ार)	१,०५०	२,०००
सिलाई की मशीनें	(हज़ार)	३००	४५०
मोटरें	(सख्या)	५३,५००	१,००,०००

अन्य क्षेत्रो के विकास के लक्ष्य यथास्थान दिए गए हैं, अत. दुहराने की आवश्यकता नही है ।

आलोचनाएँ—

(१) तीसरी योजना मे विदेशी सहायता पर अधिक निभरता है, जो कुल लागत के १०% है । विशेषत ऐसी स्थिति मे जब विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे निश्चित कोई आश्वासन नही है और यदि यह सहायता न मिली तो विकास अवरुद्ध होगा, जो योजना की महान त्रुटि है ।

(२) दूसरी योजना के अन्तर्गत दिए गए ऋण एव व्याज के भुगतान की राशि जो तीसरी योजना मे चुकानी होगी, ५०० करोड रु० हैं । इससे तथा आगामी ऋणो से हमारी अर्थ व्यवस्था पर अधिक भार होगा, जिससे हमारी विकास योजनाओ को सदैव खतरा बना रहेगा ।

(३) दूसरी योजना मे अल्प बचत से ५०० करोड रु० प्राप्त होने का लक्ष्य था, परन्तु वास्तव में ३८० करोड रु० ही मिले । ऐसी अवस्था मे तीसरी योजना के अन्तगत अल्प बचत के लक्ष्य की पूर्ति के लिए गहन प्रयत्नो की आवश्यकता है ।

(४) अतिरिक्त कर बढाने का लक्ष्य १,६५० करोड रु० है । इसमे सरकारी क्षेत्र के उद्योगो का लाभ बढाने से जो राशि प्राप्त होगी उसका भी समावेश है । परन्तु कितनी राशि अतिरिक्त करो से और कितनी राशि सरकारी क्षेत्र के उद्योगो की लाभ-वृद्धि से प्राप्त होगी, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित अनुमान नही हैं । साथ ही, सरकारी उपक्रमो के लाभ की राशि ४४० करोड रु० आकी गई है, जो वर्तमान स्थिति को देखते हुए योजनाकारों का एक अव्यावहारिक आशावाद प्रतीत होता है । "कर वृद्धि में राज्यो को अधिक प्रयत्न करना होगा ।" परन्तु कुछ राज्यो ने तो अभी से "कर वृद्धि सम्भव नही" यह कहना आरम्भ कर दिया है । ऐसी अवस्था में योजना के अन्तर्गत कुछ विकास कार्यक्रम खटाई मे पड जाएगे ।"*

इन आलोचनाओ के होते हुए भी योजना के लक्ष्य समुचित हैं और यह आशा की जा सकती है कि योजना के अन्तिम रूप मे इन त्रुटियो का निवारण करने का प्रयत्न किया जायगा और साथ ही द्वितीय योजना की भूलो को सुधारने का प्रयास भी किया जायगा ।

---

* Commerce, Aug 27, 1960

अध्याय १४

यातायात : रेल-यातायात

(Transport · Railways)

"यातायात पद्धति हमारे शरीर की धमनियों की भांति है, जिनके बिना देश का आर्थिक विकास असम्भव है।"

१—यातायात का अर्थ—

यातायात अथवा आवागमन "सब तान्त्रिक साधनो एव सङ्गठनो का योग है, जो व्यक्ति, वस्तुओ अथवा समाचारो को दूरी पर अधिकार देते हैं।"* इस प्रकार सामान्य शब्दो मे, जो साधन मानव, समाचार एव वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान मे पहुँचाने मे सहायक होते है उन साधनो को हम यातायात कह सकते हैं। हमारे अध्ययन के के लिए समाचारो का सम्बन्ध विशेष रूप से नही आता, अतः हम यहाँ उन आवागमन के साधनो को देखेंगे जो वस्तु एव मानव को स्थान दूरी कम करने मे सहायक होते हैं। ये साधन विभिन्न होते हैं—स्थल यातायात, जल यातायात एव वायु यातायात। स्थल यातायात मे रेल्वे, मोटरें, बैलगाडी, खच्चर आदि सभी साधनों का समावेश होता है, जो स्थल मार्ग की दूरी कम करने मे सहायक होते हैं। जल यातायात मे नाव, जहाज, तथा स्टीमरो का समावेश होता है, जो नहरो, नदियो, समुद्र आदि द्वारा वस्तु एवं मानव के यातायात के लिए सहायक होते हैं। वायु यातायात मे हवाई जहाज का समावेश होता है, जो स्थान की दूरी हवाई उडान से कम करने में सहायक होते हैं।

२—यातायात और आर्थिक प्रभाव—

किसी भी देश का यातायात विकास वहाँ की जलवायु, स्थल रचना, नदियों की बहुलता एव समुद्र की समीपता के ऊपर निर्भर रहता है। फिर भी प्रत्येक देश मे साधारणत: सभी प्रकार के यातायात साधन उपलब्ध हैं, जिनकी अधिकता वहाँ की नैसर्गिक एव भौगोलिक स्थिति पर निर्भर होती है। यातायात के साधन देश के औद्योगिक कलेवर मे रक्त वाहिनी का काम करते हैं तथा आर्थिक विकास की किसी भी

* 'Transportations is the sum of all technical instruments and organisations designed to enable persons, commodities and news to master space"

Kurt Widenfield—Quoted from Transport by K P. Bhatnager and Others

श्रेणी मे हमको यातायात के कोई न कोई साधन दिखाई देते ही हैं। प्रारम्भिक काल मे मानव एव पशुओ द्वारा यातायात होता था तो आज के बहु-परिमाण उत्पादन के काल मे रेले, हवाई जहाज, जहाज आदि साधनो से माल एव मानव का आवागमन होता है। इस प्रकार यातायात के साधन देश की आर्थिक प्रगति का परिचय देते हैं।

यातायात के साधनो का प्रत्येक देश के औद्योगिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। क्योकि (१) यातायात साधनो के होने से देश के उद्योगो को कच्चा माल सुलभता से एव सस्ती कीमत पर उपलब्ध होकर देश के विभिन्न भागो मे उसका वितरण सुगम होता है। (२) यातायात साधनो से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क, देश का विदेशी व्यापार एव देश की सभ्यता तथा सास्कृतिक विकास होता है। (३) विभिन्न देशो के साथ सम्पर्क होने से वैज्ञानिक प्रगति को बल मिलता है, जिससे देश की औद्योगिक एव कृषि सम्बन्धी प्रगति होती है तथा सकुचित विचारधारा का अन्त होकर मानवी जीवन विकसित होता है। (४) देश के बाजार क्षेत्रो का विकास होकर पूंजी एव श्रम की गतिशीलता बढ़ती है। (५) इस प्रकार यातायात साधनो से देश के विभिन्न स्रोतो का उपयोग अधिक अच्छी तरह सम्भव होता है और शीघ्र नाशवान वस्तुओ का उपयोग भी हो सकता है। राजनैतिक दृष्टि से भी यातायात साधनो का भाग कम नही है, क्योकि सुरक्षा के लिए शीघ्र यातायात ही आवश्यक होते हैं।

रेल-यातायात—

आवागमन के विभिन्न साधनो मे रेलवे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योकि व्यापारिक एव औद्योगिक दृष्टि से यातायात का यही साधन अधिक उपयोगी है। यातायात साधनो में कितने ही वैज्ञानिक आविष्कार क्यो न हो जायें, रेलो का महत्त्व कायम ही रहेगा। यही एक ऐसा साधन है जिससे भारी माल किसी भी सख्या अथवा वजन में एव कम खर्च पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। इसीलिए स्थल यातायात मे रेलो का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भारत में रेलवे का विकास—

भारत मे रेलवे का आरम्भ वास्तव मे सन् १८४१ के लगभग हुआ, जब रेलवे योजना के सम्बन्ध में इञ्जीनियर तथा इगलैंड के व्यक्तिगत पूंजीपतियो की चर्चा हो रही थी। इसके दो वर्ष बाद ही निश्चित रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास प्रस्ताव रखे गये। रेलवे निर्माण की उपयोगिता के विषय मे इङ्गलेंड एव भारत की जनता निश्चित थी। परन्तु सवाल केवल उसके लिए आवश्यक पूंजी का था, जिसके विनियोग के लिए इङ्गलेंड के पूंजीपतियो को प्रलोभन देना आवश्यक था। सन् १८४३ मे तत्कालीन गवर्नर जार्ज आर्थर के निमन्त्रण से श्री जी० टी० क्लार्क नामक रेलवे इञ्जीनियर बम्बई आए। इनके आने का उद्देश्य रेलवे निर्माण की सम्भावना का स्थानीय अध्ययन करना था। भारत से जाने के बाद श्री क्लार्क अपनी योजना बनाने में तथा इस कार्य के लिए एक कम्पनी का निर्माण करने में व्यस्त हो गये,

जिससे सम्पूर्ण भारत मे रेलवे का जाल बिछाया जा सके । उसके बाद ७ मई सन् १८४३ को भारतीय गवर्नर जनरल ने रेलवे की आवश्यकता को शासकीय मान्यता दी, जिससे विभिन्न कम्पनियो के साथ वार्ता होने लगी । फलस्वरूप १७ अगस्त सन् १८४६ मे प्राथमिक वैधानिक समझौते पर भारत सरकार, ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला तथा ईस्ट इण्डियन रेलवेज के प्रतिनिधियो के हस्ताक्षर हो गये तथा भारत मे गारन्टी पद्धति पर रेलवे का श्रीगणेश हुआ । इस समझौते की प्रमुख शर्तें थी :—

(१) भारत के निश्चित रेलवे का आकार एव उनकी पूर्णता की जिम्मेवारी सयुक्त स्कन्ध कम्पनियो को सौप दी गई ।

(२) भारत सरकार ने कम्पनियो द्वारा प्राप्त पूँजी पर ब्याज की जमानत दी, परन्तु साथ ही कम्पनियो के खर्चों एव क्रियाओ पर नियन्त्रण रखा । यह ब्याज ९९ वर्ष के लिए ४½% से ५% की दर से देना निश्चित हुआ था ।

(३) रेल्वे कम्पनियो को भारत मे नि शुल्क जमीन दी गई ।

(४) निश्चित दर (४½% से ५%) अधिक लाभ होने पर आधा लाभ सरकार को जमानत के रूप मे ब्याज की पूर्णता के लिए दी हुई राशि के भुगतान के उपयोग में लाया जायगा तथा शेष ५०% हिस्सेदारो मे बाँटा जायगा, यह निश्चित-हुआ ।

(५) भारत सरकार २५ अथवा ५० वर्ष बाद अपनी इच्छा से यदि चाहे तो रेल्वे, रेल्वे का सामान (Rolling Stock) आदि समुचित मूल्याकन से खरीद सकती थी । इस समझौते से रेल्वे निर्माण के प्रारम्भ की ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही। आरम्भ हो गई ।

रेल्वे निर्माण—

रेल्वे में प्रयोग के लिए सबसे पहले सन् १८४५ मे कलकत्ते से रानीगज के लिए १२० मील का लौह मार्ग बनाया गया । इसके बाद,समझौता होने के पश्चात् ही अन्य मार्गों का निर्माण हुआ, जिनमे बम्बई से कल्याण का ३६ मील का फरवरी सन् १८५१ मे, दूसरा बम्बई से थाना तक २० मील का लौह मार्ग १६ अप्रैल सन् १८५३ तथा ३६ मील का तीसरा मार्ग कलकत्ता से पडुआ तक का प्रारम्भ हुआ । ये तीनो मार्ग रेल्वे की उपयोगिता एव सफलता को आकने के लिए बनाये गये थे । इसके बाद सन् १८५३ के प्रारम्भ मे तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत के विविध रेल्वे इञ्जीनियरो तथा विशेषज्ञो की रिपोर्टों के परिशीलन के बाद रेल्वे निर्माण के सम्बन्ध में अपना नोट इङ्गलैंड मे भेजा । इसमे व्यापारिक, औद्योगिक एव राजनैतिक दृष्टि से भारत में रेलवे के महत्त्व का परिचय देते हुए ट्रक रेलवे के निर्माण पर जोर दिया । इस प्रकार वास्तव में सन् १८५३ से ही रेल्वे के निर्माण का आरम्भ हुआ । तब से रेलवे का विकास काफी हुआ और आज भारत में ३४,४४६ मील के रेल मार्ग हैं, जो

देश के राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक, खनिज, कृषि एव धार्मिक जीवन के महत्त्वपूर्ण स्थानो मे हैं।

गारन्टी पद्धति के दोष—

उक्त पद्धति मे अनेक दोष होने के कारण वह सफलता से कार्य न कर सकी तथा केवल २० वर्ष ही (सन् १८४९-१८६९) कार्य में रही। इस अवधि में ४,२५५ मील के रेल मार्ग बनाए गए, जिनकी लागत ८९ करोड रुपये थी। इस पद्धति से सन् १८६९ तक सरकार को १७ करोड रुपये की हानि हुई, जिससे इस पद्धति की तीव्र आलोचना होने लगी। क्योकि "भारतीय गारन्टी मितव्ययिता को भार रूप हुई, फिजूल-खर्ची को प्रोत्साहन मिला तथा जनता की शक्ति से अधिक अथवा समय की आवश्यकता से अनुचित दायित्व को बढा दिया।"* इस नीति के दोषो की ओर सकेत करते हुए गवर्नर जनरल लार्ड लारेन्स ने कहा था — "सम्पूर्ण लाभ कम्पनियो को मिलता है और सम्पूर्ण हानि सरकार को।" इसलिए इस नीति मे परिवर्तन होना आवश्यक है। इस पद्धति के प्रमुख दोष निम्न थे :—

(१) गारन्टीड ब्याज की दर बहुत अधिक है, इससे कम्पनियो को लाभ की निश्चितता रहने के कारण वे मितव्ययिता के लिए कोई प्रयत्न नही करती और साथ ही ब्याज की यह दर इङ्गलैंड की मुद्रा मण्डी की स्थिति को देखते हुए न्यायोचित नही थी।

(२) सरकार का नियन्त्रण रेलवे कम्पनियो पर एव सूक्ष्म मामलो पर भी बहुत कठोर होता है, जिससे रेलवे की कार्यक्षमता मे बाधा पहुँचती है। साथ ही, रेल्वे कम्पनियो पर दुहरा नियन्त्रण होने से कभी-कभी तो कार्य स्थिरता भी आ जाती है।

(३) सरकार की ओर से दी गई गारन्टी अनुचित थी, क्योकि नई पूँजी के विनियोग की सरकार ने गारन्टी दी थी। इस कारण जैसे-जैसे पूँजी का विनियोग बढता जाता था, सरकार का दायित्व भी बढता था।

अत: लॉर्ड लारेन्स ने इस नीति मे परिवर्तन करना आवश्यक समझा तथा सरकार ने रेल्वे निर्माण की जिम्मेवारी एव स्वामित्व स्वय ले लिया।

सरकार द्वारा रेल-निर्माण सन् १८६९-१८७९—

सन् १८६९ से रेलो की जिम्मेवारी भारत सरकार की हो गई, परन्तु यह नीति अपेक्षित सफलता प्राप्त न कर सकी। क्योकि समय की आवश्यकता के अनुसार सरकारी पूँजी अन्य दिशाओ मे लगाना आवश्यक हो गया। इसी समय (सन् १८७४-७९ मे) भीषण एव देशव्यापी अकाल पडा, जिसके लिए खाद्यान्न की पूर्ति की ओर सरकार को ध्यान देना पडा। दूसरे, अफगान युद्ध के कारण राजनैतिक दृष्टि से रेल्वे

* Development of Indian Railways—Sanyal.

का शीघ्र निर्माण करना आवश्यक हो गया। इस अवधि मे (सन् १८६९ से सन् १८७९) भारत सरकार ने २,१७५ मील रेल मार्गों का निर्माण १०,९०० पौंड प्रति मील की लागत से किया। अकाल की जाँच के लिए नियुक्त अकाल-आयोग (सन् १८७९) ने रेलो के शीघ्र विस्तार की सिफारिश की, जिससे खाद्यान्न का यातायात दुर्भिक्ष के समय शीघ्रता से हो सके। इस कार्य के लिए उन्होने कम से कम ५,००० मील के रेल मार्ग बढाने की सिफारिश की। सरकार के पूँजीगत साधन इस कार्य के लिए अपर्याप्त होने से कम्पनियो का सहयोग आवश्यक हो गया। अतः फिर गारन्टी पद्धति अपनाई गई।

नई गारन्टी पद्धति सन् १८८०-१९००—

इस अवधि मे सरकार द्वारा सन् १८७९ मे खरीदी गई ईस्ट इण्डियन रेल्वेज उसी कम्पनी की व्यवस्था मे दी गई तथा नई शर्तों पर गारन्टी पद्धति अपनाई गई। ये शर्तें पहिले की शर्तों से सरकार को अधिक अनुकूल थी। नई गारन्टी की शर्तें निम्न थी :—

(१) पूँजी पर ३½% ब्याज की गारन्टी सरकार ने दी।
(२) कम्पनियो को ३½% से अधिक लाभ होने पर ६०% भारत सरकार को मिलेगा तथा शेष हिस्सेदारो मे बाँटा जा सकेगा।
(३) भारत मे कम्पनियो द्वारा निर्मित रेल मार्गों पर भारत सचिव का अधिकार रहेगा।
(४) सरकार २५ वर्ष के बाद या प्रत्येक १० वर्ष के बाद पूँजी की वापिसी पर अधिकार कर सकेगी। इण्डियन मिडलेंड तथा बङ्गाल-नागपुर रेल्वे कम्पनियो के लिए यही ब्याज की दर ४% रखी गई थी तथा लाभ मे सरकारी भाग ७५% रखा गया था।

इस अवधि में सदर्न मराठा रेल्वे, इण्डियन मिडलेंड रेल्वे, बङ्गाल-नागपुर रेल्वे आदि कम्पनियो का निर्माण हुआ। रेल्वे का विस्तार ७३३ मील प्रति वर्ष के हिसाब से हुआ। छोटी और बडी ३३ रेल्वे कम्पनियाँ तथा रेल-मार्गों की लम्बाई २४,७५२ मील हो गई।

सन् १८९३ तक लगभग प्रमुख रेल मार्गों का निर्माण होता रहा, परन्तु सहायक मार्गों (Branch & Feeder Lines) के निर्माण की ओर कोई ध्यान नही दिया गया था। इसलिए इनके निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने सहायक कम्पनियो को विशेष सुविधाएँ देना आरम्भ किया, जैसे बिना मूल्य के भूमि, सरकारी व्यय से भूमि की पैमाइश (Survey), सरकारी रेलो द्वारा माल के याता-मे भाडे की छूट आदि। इन सुविधाओ पर सन् १८९३ से सन् १८९६ के बीच अनुबन्ध हुए। परन्तु ये शर्तें कम्पनियो को विशेष आकर्षक न होने से सन् १८९६ मे कम्पनियो की छूट एवं ब्याज की दरें बढ़ाई गई। इस नीति की आलोचना ऑकवर्थ समिति ने

करते हुए कहा था कि ऐसे सहायक रेल मार्गों का निर्माण सरकार को स्वय अपने अधिकार मे लेना चाहिए। सरकार ने सन् १९२५ से यह काय अपने अधिकार एव स्वामित्त्व मे लिया। इस अवधि में सहायक रेल मार्गों का विस्तार सन्तोषप्रद नही था।

युद्धपूर्व काल मे (सन् १९००-१९१४)—

रेल्वे निर्माण के प्रारम्भ से ही सरकार को घाटा हो रहा था, परन्तु सन् १९०० के बाद रेल्वे कम्पनियाँ लाभकर हो गई। इसके लिए सन् १९०८-०९ का वर्ष अपवाद था, क्योकि इस वर्ष न्यूयार्क के आर्थिक सकट तथा देशी फसल खराब हो जाने से सरकार को रेल्वे से १२,४०,२०० पौड की हानि हुई। सन् १९०२ तक लगभग सभी रेल्वे सरकार के स्वामित्व मे आ गई थी, परन्तु उनका प्रबन्ध कम्पनियो द्वारा होता था, जिन पर सरकार का नियन्त्रण था। इस अवधि की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ थी :—(१) रेल्वे का निर्माण लाभकर होना, तथा (२) देश मे सरकारी एव कम्पनियो के प्रबन्ध में रेल्वे का तेजी से विकास होना।

इस अवधि में रेल्वे की प्रगति की जाँच करने के लिए सन् १९०१ मे रॉबर्टसन तथा सन् १९०७ मे मैके कमीशन की नियुक्ति हुई। इनमे से राबटसन ने रेल्वे के विकास के लिये रेल्वे कोष तथा रेल्वे-सभा की स्थापना की सिफारिश की। इन सिफारिशो के अनुसार सन् १९०५ मे वाणिज्य एव उद्योग मन्त्रालय के आधीन रेल्वे सभा की स्थापना की गई, परन्तु रेल्वे कोष का निर्माण नही किया गया। इसके अलावा रेल्वे की कार्य-क्षमता बढाने के लिए, प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण करने के लिए रेल्वे प्रबन्ध कम्पनियो के हाथ में सौपने की सिफारिश भी श्री रॉबर्टसन ने की थी, परन्तु इसे ताक मे रखा गया। सन् १९०७ मे मैके आयोग ने अपनी रिपोट मे रेल्वे का अधिक विस्तार करने पर जोर देते हुये कहा कि देश में १०,००० मील रेल माग और बनना चाहिए तथा इस कार्य के लिए १८·७५ करोड रुपये वार्षिक व्यय करने की सिफारिश की। सहायक रेल मार्गों का निर्माण छोटी-छोटी कम्पनियो द्वारा न होते हुए यह कार्य सरकार को स्वय करने की सिफारिश भी इस आयोग ने की। इन सिफारिशो से भारत में रेल निर्माण कार्य को प्रोत्साहन मिला, जिसमे सन् १९०८-१३ के ६ वर्षों मे यद्यपि सिफा-रिश के अनुसार वार्षिक व्यय नही किया गया, फिर भी ९२ करोड रुपये का व्यय हुआ और ४०,००० मील से अधिक सहायक रेल मार्गों का निर्माण किया गया। फलत. सन् १९१४ मे भारत मे कुल रेल मार्गो की लम्बाई ३४,६५६ मील तथा रेल्वे मे विनियोजित पूँजी ४९५ करोड रुपये हो गई थी। इसके साथ ही देशी रियासतो में भी रेल मार्गों का निर्माण हो रहा था।

प्रथम महायुद्ध काल से (सन् १९१४ से १९४३)—

सन् १९१४ मे प्रथम विश्व-युद्ध का प्रारम्भ होते ही रेल्वे पर युद्ध सम्बन्धी माल एव सेना के यातायात की महान जिम्मेयारी आ जाने से रेल्वे उसी कार्य मे पूर्णरूपेण व्यस्त रही। इस अवधि मे नये रेल मार्गों का निर्माण असम्भव हो गया,

क्योंकि भारत मे विदेशी आयात वन्द होने से रेल्वे के लिये आवश्यक सामग्री बाहर से आना वन्द हो गई। युद्ध सचालन के लिये पूर्वी अफ्रीका, मैसोपोटामिया, फिलस्तीन में रेलो का जाल विछाने के लिये कुछ सामान, जैसे—पटरियाँ, रेलो के डिब्बे, इञ्जन आदि भारत से भेजे गये। इस कारण जनता एव माल के आन्तरिक यातायात की सुविधाओ मे कमी आ गई। साथ ही, राजनैतिक दृष्टि से युद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण एव आवश्यक नये रेल मार्ग भी वनाये गये थे। युद्ध-काल मे रेल्वे पर काफी उत्तरदायित्व होने एव उनका अधिकतम् उपयोग होने के कारण उनका वदलना आवश्यक हो गया था, इसलिये यदि रॉवर्टसन की सिफारिशो के अनुसार कोष वनाया होता तो उसका उपयोग हो सकता था, परन्तु कोई भी आयोजन नही था, इसीलिए ऑकवर्थ समिति ने कहा था :—"अनेक पुल इतने कमजोर हो गये थे कि वे भारी वजन वाली रेलो का बोझ नही सह सकते थे। अनेक मील लम्वे रेल मार्ग, सैकडो इञ्जन तथा हजारो डिब्बे काफी समय से दुरुस्ती की प्रतीक्षा मे थे।" फलतः रेलो की कडी आलोचना हो रही थी। युद्धकाल मे सामरिक महत्त्व की दृष्टि से नये रेल मार्ग वनने से सन् १९१९-२० मे रेल मार्गों की लम्वाई ३६,७३५ मील तथा उनमें लगी हुई पूंजी ५६६·३७ करोड रुपये हो गई।

ऑकवर्थ समिति—

जनता की तीव्र आलोचना के कारण रेल्वे प्रबन्ध के सम्वन्ध में सन् १९१९ से वाद उपस्थित हो गया कि यह प्रवन्ध सरकार करे अथवा कम्पनियाँ। साथ ही, रेल्वे की आलोचना हो रही थी। इन समस्याओ की जाँच कर रेल्वे सम्वन्धी भावी नीति निर्धारित करने के लिए सन् १९२० में ऑकवर्थ समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति ने सरकार वि० कम्पनियो द्वारा रेल प्रवन्ध की समस्या का परीक्षण किया तथा सरकारी प्रवन्ध के पक्ष मे अपनी सिफारिश की। समिति के परीक्षण मे दोनो ही पक्षो ने अपनी-अपनी दलीलें दी, परन्तु फिर भी सरकारी प्रवन्व के पक्ष मे अध्यक्ष श्री विलियम ऑकवर्थ के निर्णयात्मक मत से बहुमत हुआ। फलत. सन् १९२३ मे भारतीय ससद में सरकारी प्रवन्ध सम्वन्धी प्रस्ताव स्वीकार हुआ और यह निर्णय लिया गया कि कम्पनियो के साथ अनुवन्धो का अन्त होते ही सरकार रेलो का प्रवन्ध अपने अधिकार में ले ले। इस नीति के अनुसार जनवरी सन् १९२५ तथा जुलाई सन् १९२६ मे ईस्ट इण्डियन तथा जी० आई० पी० रेल्वे का प्रवन्ध सरकार के अधिकार में आ गया और कम्पनियो के रेल-मार्गों का स्वामित्व सरकार का हो गया। सन् १९२५ मे रेल्वे में लगी हुई पूंजी ७३३ ३७ करोड़ रुपया तथा रेल मार्गों की लम्वाई ३८,२७० मील थी।

इस समिति की अन्य सिफारिशो में प्रमुख सिफारिशें निम्न थी :—(१) साधारण बजट से रेल्वे वजट अलग किया जावे तथा रेल्वे की आय का कुछ भाग साधारण आय मे दिया जावे। (२) रेल्वे तथा जनता में होने वाले कलहो के निर्णय के लिए दर-भाडा-निर्णायिक ट्रिब्यूनल की स्थापना की जाय। ऑकवर्थ समिति की

सिफारिशो ने भारत की रेलो के सरकारी प्रबन्ध एव नियन्त्रण की नीव डाली, जिनके आधार पर भविष्य मे भारतीय रेलो का विकास हुआ।

सन् १९२५-२६ की अवधि में रेल्वे अर्थ प्रबन्ध का सामान्य अर्थ प्रबन्ध से पृथक्करण किया गया, जिससे रेल्वे की अनिश्चित आय के प्रभाव से साधारण वजट मुक्त रहे तथा रेल्वे का सचालन व्यापारिक दृष्टि से सम्भव हो। साथ ही, रेल्वे की आय का एक निश्चित भाग साधारण वजट के लिए अनिवार्य रूप से मिलना भी निश्चित हुआ। इस प्रकार का पहला वजट सन् १९२७-२८ का वजट था। इसके साथ ही रेल्वे की घिसावट आदि से हानि की व्यवस्था एव पुन. स्थापना के लिए एक घिसावट-कोष के निर्माण की भी व्यवस्था की गई। सन् १९२९ की विश्व-व्यापी मन्दी से देश का आयात-निर्यात एव आन्तरिक व्यापार प्रभावित हुआ और रेल्वे की आय कम हो गई। साथ ही, रेल रोड स्पर्धा से भी रेलो को हानि होती ही थी। इस कारण रेल्वे साधारण वजट को अपनी निश्चित राशि न दे सकी, जो सन् १९३९-४० मे ३६½ करोड रुपये हो गई थी। इसके अलावा रेलो को भूकम्प एव वाढो से भी काफी हानि हुई। रेल्वे की यह स्थिति सन् १९२९ से सन् १९३५ तक रही। परन्तु सन् १९३६ में व्यापारिक समृद्धि एव कीमतो के स्तर में सुधार होते ही रेल्वे की आर्थिक स्थिति सुधरने लगी, जिससे सन् १९३६-३७ से सन् १९३९-४० के वर्षों मे रेल्वे की आय क्रमश १ २५, २ ७५, १·३७ तथा ४ ३३ करोड रुपये से व्यय की अपेक्षा वढ गई।

द्वितीय विश्व युद्ध काल (सन् १९३९-१९४५)—

द्वितीय विश्व युद्ध काल रेल्वे के इतिहास में सम्पन्नता का था। इस अवधि में व्यापारिक समृद्धि एव औद्योगिक विकास के साथ रेल द्वारा माल का यातायात वढ गया। फलत. रेलों की आय मे वृद्धि हुई, परन्तु युद्ध के पूर्वार्द्ध मे रेल्वे की कठिनाइयो एव अभावो के होते हुए भी इञ्जन, डिब्बे तथा रेलो का सामान मध्यपूर्व को देना पडा। मीटरगेज के लगभग ८% इञ्जन, १५% डिब्बे, ४,००० मील लम्बाई की पटरियाँ तथा ४० लाख स्लीपर्स मध्यपूर्व तथा सैनिक योजनाओ के लिए दिये गये। युद्ध के उत्तरार्द्ध मे जबकि जापान ने ब्रह्मा तथा पूर्वी देशो पर धावा किया तब रेल्वे का बोझ और भी वढ गया, जिससे रेल यातायात नष्ट प्राय स्थिति पर आ पहुँचा था। रेल्वे के पूँजीगत माल की काफी घिसावट हो चुकी थी और दुरुस्ती के लिए वर्कशॉप की सुविधायें कम हो गई थी। क्योकि रेल्वे के वडे-वडे वर्कशॉप युद्ध सामग्री बनाने के लिए ले लिए गये थे और विदेशों से रेल्वे निर्माण की सामग्री का आयात बन्द हो गया था। दूसरे, सैनिक यातायात वढ जाने से जनता एव माल के यातायात की सुविधाएँ कम कर दी गई थी, जिससे रेलो द्वारा दी जाने वाली भाडे मे छूट आदि को अन्त कर दिया गया। साथ ही, सरकार ने कम यात्रा (Travel-less) का प्रचार भी किया, परन्तु यात्रियो की सख्या कम न होते हुए वढ ही रही थी। रेल-सुविधाएँ समाप्त कर दी गई थी। अतः यातायात की समस्या को सुलझाने तथा

विभिन्न यातायात-साधनो मे सामञ्जस्य लाने के लिए युद्ध यातायात सभा की स्थापना हुई। इसके सामने तीन समस्यायें थी :—

(अ) रेल्वे से अधिक से अधिक युद्ध सामग्री एव सेना को भेजना।

(ब) यातायात के अन्य साधनो को प्राप्त करना।

(क) उपरोक्त शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक आयोजन करना।

इस सभा की सिफारिश के अनुसार फरवरी सन् १९४२ में केन्द्रीय-यातायात-सगठन का निर्माण किया गया तथा इसके साथ सामजस्य करने के लिए प्रान्तीय प्रादेशिक यातायात सभाओ का निर्माण भी हुआ। इन सभाओ का काम रेलो पर भीड कम करना था। इसलिये ये अन्य मार्गों से माल आदि के यातायात को भेजने का प्रयत्न करते थे। फिर भी समस्या का हल नही हुआ। इसलिए प्राथमिकता-पद्धति अपनाई गई, जिसके अनुसार केवल आवश्यक वस्तुओ को ही रेल द्वारा यातायात में प्राथमिकता दी जाती थी, फिर भी रेल्वे मे भीड कम नही हुई। माल के यातायात के दर भी बढाये गये, परन्तु इसमे भी कमी नही आई। सन् १९३९-४० में जहाँ यात्रियो की सख्या ५३ करोड थी वह सन् १९४४-४५ मे ९३ करोड हो गई। इसी प्रकार माल यातायात मे जहाँ सन् १९३९-४० मे रेल द्वारा ९ २० करोड टन भेजा जाता था वही सन् १९४४-४५ मे १० २ करोड भेजा जाने लगा। ऐसी स्थिति मे भी भारतीय रेलो ने देश की सैनिक एव अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति की, जो सराहनीय है।

युद्धोत्तर-काल मे

सैनिको का विस्थापन, अतिरिक्त सैनिक सामग्री का तथा कमी वाले प्रदेशो में अब अन्न का यातायात करने की जिम्मेवारी रेलवे पर आ गई। इससे रेल्वे यातायात की दशा और भी खराब हो गई। क्योंकि युद्धोत्तर-काल मे रेल्वे की समस्यायें ऐसी थी जिनका तत्कालीन हल सम्भव नही था, जैसे—रेल्वे के इञ्जनो का नवीनीकरण आदि। साथ ही, सन् १९४७ मे देश विभाजन ने समस्या को और भी गम्भीर बना दिया।

देश का विभाजन होने के कारण भारतीय रेल मार्गों का बहुत सा भाग पाकिस्तानी प्रदेश मे गया। जो रेल मार्ग विभाजन से विशेष प्रभावित हुए उनमे नॉर्थ-वेस्टन रेल्वे, आसाम रेल्वे, बगाल एव आसाम रेल्वे तथा जोधपुर रेल्वे थी, जिनका ७,००० मील लम्बाई का भाग पाकिस्तानी हिस्से मे गया। विभाजन से भारतीय रेलो की स्थिति निम्न हो गई :—

	भारत	पाकिस्तान
रेल्वे इञ्जन	७,२४८	१,३३९
सवारी डिब्बे	२०,१६६	४,२८०
माल के डिब्बे	२,१०,०९९	४०,२२१
रेल मार्ग	३०,०१७ मील	६,९५७ मील
रेलो मे लगी हुई पूँजी	५६७ ७३ करोड़ रु०	१३६ करोड रु०

विभाजन के पूर्व रेल्वे के सामने अनेक समस्याएं थी ही, जिनमे कर्मचारियो के वेतन वृद्धि, मँहगाई में वृद्धि आदि श्रमिको सम्बन्धी समस्याएं हैं। इन सब समस्याओ पर विचार करने, रेल्वे की कार्यक्षमता बढाने एव रेल्वे के व्यय में मितव्ययिता लाने के हेतु सिफारिशें करने के लिये सन् १९४६ मे रेल्वे जाँच समिति—कुंजरू समिति—की नियुक्ति हो चुकी थी। इस समिति के काय मे भारत विभाजन से बाधा आई तथा समिति ने अपनी रिपोट सन् १९४९ मे प्रस्तुत की।

विभाजन के कारण भारतीय रेलो के बँटवारे के साथ ही अन्य अनेक दोष भी आ गये, जैसे—(१) कर्मचारियो की अदला-बदली। इस अदला-बदली का परिणाम भारतीय रेल्वे पर बुरा हुआ। (२) तान्त्रिक कार्य मे मुस्लिम कमचारियो की सख्या ही अधिक थी। पाकिस्तान से आने वाले कर्मचारियो मे क्लर्कों की अधिकता थी, जिनको काम देने का प्रश्न उपस्थित हो गया। (३) कराँची बन्दरगाह भारत से निकल जाने से बम्बई बन्दरगाह से माल के यातायात मे वृद्धि हो गई। (४) विस्थापितो के आवागमन की जिम्मेवारी भी भारतीय रेलो पर आ गई। इन सब कारणो से रेल्वे व्यय बढ गया। (५) कञ्चनपारा और मुगलपुरा के सुसज्जित वर्कशॉप भी पाकिस्तान को मिले (६) हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही एव काश्मीर युद्ध ने परिस्थिति को और भी गम्भीर बना दिया। परन्तु सन् १९४९-५० से रेल्वे की स्थिति मे सुधार हो गया तथा यात्रियो एव माल के यातायात को अधिक सुविधाएं दी जाने लगी और प्राथमिकता पद्धति का अन्त किया गया। इसी प्रकार ३१ माच सन् १९५१ मे भारतीय रेल मार्गों की लम्बाई ३४,०७९ मील (Route Miles), कुल आय २६,४६१ लाख रुपये थी तथा विनियोग की हुई पूँजी ८३,८१७ लाख रुपये थी।*

कुंजरू समिति की सन् १९४९ की प्रमुख सिफारिशें निम्न थी —

(१) रेल्वे कमचारियो की सख्या अधिक है, परन्तु उनकी कार्यक्षमता कम है।

(२) वर्तमान रेल्वे बोर्ड द्वारा रेलो के प्रवन्ध के स्थान पर वैधानिक अधिकारी के हाथ में प्रबन्ध एव नियन्त्रण दिया जाय।

(३) रेल्वे बोर्ड की अर्थ-प्रबन्धन शाखा मे एक पृथक इकाई हो, जो रेल्वे की आय बढाने के साधनो की खोज करे।

(४) रेल्वे की कुल वार्षिक आय का 1% एक विशेष कोष मे रखा जाय, जिसकी राशि ६८ करोड रुपया हो।

(५) वतमान समय मे, रेल्वे अपनी आय का जो भाग साधारण आय मे देती है वह अस्थायी रूप से चालू रखा जाय, जब तक कि रेल्वे की भावी स्थिति के बारे मे विस्तार से कुछ नही कहा जा सकता।

* Facts About India Government of India Publication.

(६) कर्मचारियो की कुशलता बढाने के लिए उनकी शिल्पिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय तथा रेल्वे की विभिन्न क्रियाओ मे विश्लेषण (Job-analysis) द्वारा कर्मचारियो को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) रेलो की सामूहीकरण योजना ५ वर्ष के लिए स्थगित की जाय।

(८) रेल्वे कर्मचारियो को मिलने वाली खाद्यान्न सम्बन्धी सुविधाएँ बन्द कर मँहगाई भत्ता बढा दिया जाय।

(९) कोई भी पूँजी-व्यय गहन आर्थिक विचार के बिना तब तक न किया जाय जब तक महत्त्वपूर्ण बातो की दृष्टि से आवश्यक न हो।

केन्द्रीय सरकार ने रेल्वे के सामूहीकरण की तथा ग्रेनशॉप बन्द करने की सिफारिशो को छोडकर अन्य सिफारिशें स्वीकार कर ली।

रेल्वे के इञ्जनो तथा अन्य आवश्यक सामान के नवीनीकरण के लिये भारत ने सन् १९४९ मे विश्व बैंक से ३४ मि० डालर का ऋण लिया था।[1] विभाजन के कारण रेल्वे मे आये हुए दोषो को दूर करने एव तृतीय श्रेणी के यात्रियो की सुविधाएँ बढाने के लिए यातायात मन्त्रालय कटिबद्ध है। इसी दृष्टि से सन् १९५१ मे १६८ नई रेलें चालू की गई तथा ७५ रेल सेवाओ का विस्तार किया गया। इसके साथ ही केवल तीसरी श्रेणी के यात्रियो की सुविधाओ के लिए ही १८ जनता एक्सप्रेसें चालू की गई।[2] इस प्रकार ३१ मार्च सन् १९५१ को रेलो का विस्तार ३४,०७९ मील और उनकी लागत ८३८ १७ करोड रु० हो गई।

रेलो का सामूहीकरण (Regrouping of Railways)—

रेलो पर केन्द्रीय सरकार का स्वामित्व एव प्रबन्ध आ जाने से तथा रियासतो की रेलो का विलीयन केन्द्र मे हो जाने से उनकी व्यवस्था में वैज्ञानिकन (Rationalisation) की आवश्यकता प्रतीत हुई। भारत मे रेल्वे का प्रारम्भ से ही जो विकास हुआ था वह किसी पूर्व-योजना के अनुसार नही था, अपितु प्रारम्भ मे केवल ब्रिटिश औद्योगिक हितो एव राजनैतिक हितो से किया गया था। (२) रेल एव सडक प्रतियोगिता थी ही। (३) प्रबन्ध एव शासन की दृष्टि से प्रत्येक रेल्वे प्रणाली मे विभिन्नता थी और कुछ रेल्वे जो बहुत छोटी थी उनमे प्रबन्ध की मितव्ययिता एव कुशलता का अभाव था। (४) इसके साथ ही रियासतो की रेलो के विलीनीकरण के बाद उनका समन्वय किसी न किसी बडे प्रबन्ध के अन्तर्गत करना आवश्यक था। (५) विभाजन की समस्याओ से विभिन्न रेलो की यातायात दरो की विभिन्नता, कर्मचारियो की अकुशलता आदि के निवारण के लिए रेल्वे मे वैज्ञानिकन के लिए सामूहीकरण की आवश्यकता थी, अत. सन् १९४६ मे यह प्रश्न कुँजरू समिति के सामने विचारार्थ रखा गया था, परन्तु इस समिति ने पाच वर्ष के

1 Ibid

२ इसमें से ३२ ८ मि० डॉलर से इजन एव अन्य सामग्री खरीदी गई तथा शेष १ २ मि० डालर का ऋण निरस्त किया गया।

लिए सामूहीकरण को स्थगित करने का सुझाव दिया। इसके वाद सन् १६५० मे रेल्वे सभा ने इस प्रश्न का अध्ययन करने के लिए एक जांच समिति नियुक्ति की, जिसने प्रादेशिक आधार पर रेलवे का विभाजन करने की सिफारिश की। इस सिफारिश द्वारा आवश्यक सशोधनो के उपरान्त रेलों का सामूहीकरण किया गया।

प्रारम्भिक अवस्था में भारतीय रेल्वे का विभाजन ६ समूहो मे किया गया था, परन्तु रेल यातायात की बढती हुई माग, माल तथा यात्रियो का रेलो पर बढता हुआ प्रभाव एव योजना में नियोजित रेलो का विकास इन कारणो से इन ६ समूहो का पुर्नविभाजन आवश्यक हो गया। इस प्रकार वर्तमान समय मे ८ रेल्वे समूह हैं :—

नाम एव तिथि	समाविष्ट रेलें	प्रधान कार्यालय	रेल माग	
१ दक्षिण रेल्वे १४-४-१६५१	एम० एस० एम० रेल्वे	मद्रास	ब्रॉड गेज	१,८६६ १
	सदर्न इण्डियन रेल्वे		मीटर ,,	४,२०६ ८
	मैसूर रेल्वे		नैरो ,,	६५ ७
२ मध्य रेल्वे ५-११-१६५१	जी० आई० पी० रेल्वे	वम्वई	ब्रॉड गेज	३,८२० ७
	निजाम स्टेट रेल्वे		मीटर ,,	८२३·१
	सिंधिया स्टेट रेल्वे		नैरो ,,	७२५ ०
	धौलपुर रेल्वे			
३ पश्चिम रेल्वे ५-११-१६५१	वी०वी० एण्ड सी०आई० रेल्वे	वम्वई	ब्रॉड गेज	१,७६६ ६
	सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान		मीटर ,,	३,७२२ ८
	और जयपुर रेल्वे		नैरो ,,	७५६ ७
४ उत्तरी रेल्वे १४-४-१६५२	ई० पी० रेल्वे	दिल्ली	ब्रॉड गेज	४,१६६ ४
	जोधपुर, वीकानेर तथा ई०		मीटर ,,	२,०५० १
	आई० आर० के तीन		नैरो ,,	१६१ ८
	विभाग			
५. उत्तरी-पूर्वी रेल्वे १४ ४-१६५२	ओ० टी० रेल्वे	गोरखपुर		
	वी० वी० एण्ड सी० आई०		मीटर गेज	३,०७८ ८
	का फतेगढ जिले का विभाग,			
	आसाम रेल्वे			
६ पूर्वी रेल्वे १-८-१६५५	चौथे समूह को छोडकर शेष	कलकत्ता	ब्रॉड गेज	२,३०७ ३
	ई० आई० रेल्वे		मीटर ,,	—
			नैरो ,,	१७·१

७ दक्षिण-पूर्वी रेल्वे 1-8-1955	बी० एन० रेल्वे	कलकत्ता	ब्रॉड गेज	२,६५१.८
			मीटर ,,	—
			नैरो ,,	६२४.८
८. उत्तर पूर्वी सीमान्त रेलवे १५-१-१९५८	असम रेल्वे ई० आई० आर० का कुछ भाग	पाडू	ब्रॉड गेज	२.२
			मीटर ,,	१,६७६.२
			नैरो ,,	५२.०

खण्ड-स्तर पद्धति—

वर्तमान रेल समूहो का विभाजन प्रादेशिक आधार पर है, अतः रेलवे की कार्यक्षमता बढाने, विभिन्न खण्ड स्तरो पर रेलवे में सामञ्जस्य लाने तथा अधिकारो के विकेन्द्रीयकरण के लिए रेल समूहो का प्रशासकीय सगठन खण्ड स्तरीय आधार पर करने की नीति को रेलवे सभा ने अधिकारो के विस्तृत विकेन्द्रीयकरण के साथ अपना लिया है। इसका प्रारम्भ केन्द्रीय रेलवे से किया गया है, जहाँ पहिले से ही मिलती-जुलती पद्धति है। सन् १९५६ में इस नवीन नीति का आरम्भ हुआ और यह पद्धति सम्पूर्ण रेलवे मे लागू हो गई है। इसमे रेल समूह को खण्डो मे विभाजित किया जाता है। प्रत्येक खण्ड का एक प्रमुख अधिकारी होता है, जो प्रधान व्यवस्थापक की भाँति होता है, परन्तु यह समूह के प्रधान व्यवस्थापक के नियन्त्रण मे होता है। खण्ड अधिकारियो का विशेष विभागो से, जैसे—स्टोर्स और वर्कशॉप, कोई सम्बन्ध नही होता। खण्ड-स्तरीय पद्धति का सार इसमे है कि यह पद्धति एक बडे क्षेत्र की क्रियाओं तथा अन्य सम्बन्धित रेलवे की क्रियाओ पर इकहरा नियन्त्रण देती है, जिससे एक ही खण्ड के विभिन्न विभागो की क्रियाओ मे सामञ्जस्य रखा जाता है। रेलो की कायक्षमता के लिए यह आवश्यक भी है।

आलोचनात्मक दृष्टि—

सामूहीकरण को ८ वर्ष पूरे हो गये हैं, अत. उसकी उपयोगिता आक सकते हैं।

प्रथम, सामूहीकरण से बहु-परिमाण सगठन के लाभ प्राप्त होने की अपेक्षा थी, जिससे भाडा दरो एव रेल्वे के प्रशासकीय व्ययो मे मितव्ययिता होती, परन्तु व्यवहार में भाडा दरो की वृद्धि विपरीत स्थिति की ओर सकेत करती है। दूसरे, कार्य-व्यय मे मितव्ययिता की अपेक्षा वह बढ रहा है। कार्यशील खर्चो का कुल आय से प्रतिशत सन् १९५१-५२ मे ७८.८ था वह सन् १९५२-५३ से सन् १९५५ ५६ के ४ वर्षों में क्रमशः ८१ ६, ८५ ५, ८१ ७७ तथा ८१ ९९ रहा, जो अधिक है और वास्तव में रेलो के विस्तार के साथ और कम होना चाहिए था। यह व्यय वृद्धि रेलो की—असन्तोषप्रद कार्य पद्धति की परिचायक है।

आय की दृष्टि से देखें तो सन् १९५१-५२ मे रेलो की आय २९० ८२ लाख रु० थी, सन् १९५२-५३ से सन् १९५५-५६ के चार वर्षों मे क्रमश २७० ५९, २७२ ८१,

२८८·५६ एव ४१७·५१ रही, अर्थात् सन् १९५५-५६ में रेलो की आय बढी। फिर भी लाभ मे वृद्धि नही हुई, क्योकि कायशील व्यय बढते गये।

रेल समूहो का पुनवर्गीकरण भी सामूहीकरण की असफलता की ओर सकेत है। क्या पच-वर्षीय योजना-काल मे जब सामूहीकरण हुआ तब यह विदित नही था कि आगामी योजनाओ मे जो औद्योगिक एव परिवहन का विकास होगा उससे रेलो के किए जाने वाले समूह प्रशासकीय दृष्टि से बहुत बडे होगे ? अर्थात् सामूहीकरण का अवलम्ब सूझबूझ से नही हुआ। फलत. अगस्त सन् १९५५ मे पूर्वी रेल्वे का विभाजन दो समूहो मे हुआ और जनवरी सन् १९५८ को आठवां रेल्वे समूह बनाया गया।

बढती हुई रेल-दुर्घटनाएं भी रेलो की कायक्षमता मे कमी की ओर सकेत हैं। इन दुर्घटनाओ की जांच शाहनवाज समिति ने की थी, जिसकी (सन् १९५४) रिपोट के सुझावो को लागू करने पर भी दुर्घटनाओ में कोई कमी नही हुई। रेल दुर्घटनाओ की समीक्षा मे बताया गया है कि दुघटनाओ का कुछ सम्बन्ध रेल यातायात की विशालता से भी है। इन दुर्घटनाओ के कारणो मे ४१·८% दुर्घटनाएं रेल कर्मचारियो की असावधानी से, १९ ८% गाडियो या पटरियो मे खराबी से तथा ११ २% गाडी टूटने के कारण अर्थात ७२ ८% दुर्घटनाएं रेलो की प्रशासकीय अक्षमता से हुई हैं।*

यद्यपि ये तथ्य सामूहीकरण की असफलता की ओर सकेत करते हैं। फिर भी इनकी जिम्मेवारी केवल सामूहीकरण पर ही नही है। रेल्वे की कार्यक्षमता मे कमी होने का प्रमुख कारण जीर्ण-शीर्ण यन्त्र-सयन्त्रादि एव घिसे-पिटे रेल-मार्ग हैं, जिनके नवीनकरण की आवश्यकता है। साथ ही, बढते हुए रेल यातायात के साथ रेल्वे की कार्यक्षमता मे वृद्धि करने के लिए रेल सामग्री का आधुनिकीकरण होना चाहिए। परन्तु यह मार्ग जितना सोचा जाता है उतना सरल नही है, क्योकि इस समय भारत को विदेशी विनिमय स्रोतो की कमी है। सम्भवत यह कार्य तीसरी योजना मे पूरा होगा, जब रेल उद्योग साधारण स्थिति मे आ जायगा और हम उससे पूर्ण कायक्षमता की अपेक्षा कर सकते हैं। वर्तमान सीमित साधनो से जो सफलता रेल उद्योग को मिल रही है वह निसन्देह सराहनीय है।

रेलों का प्रशासन—

रेल यातायात का प्रबन्ध एव प्रशासन आरम्भ से ही केन्द्रीय जन-कार्य विभाग (P W. D) के नियन्त्रण में था। परन्तु जैसे जैसे रेलो का विकास होता गया वैसे वैसे इस विभाग के लिए उनका नियन्त्रण भार रूप प्रतीत होने लगा। इसलिए सन् १९०५ से सर्व प्रथम रेलो के प्रबन्ध को पृथक करने तथा उसे विशेषज्ञो के अधि-

* भारतीय समाचार सितम्बर १५, १९५८।

कार मे देने के हेतु सन् १६०५ रॉवर्टसन समिति की सिफारिश के अनुसार रेल सभा का निर्माण किया गया । इस सभा के सभापति सहित तीन सदस्य थे । इस सभा का सभापति गवर्नर जनरल की कौंसिल का सदस्य बनाया गया । यह सभा अपनी शासकीय कार्यवाही के सम्बन्ध में केन्द्रीय वाणिज्य एव उद्योग विभाग पर निर्भर थी । इस सभा की कायवाही मे वाणिज्य एव उद्योग मन्त्रालय का अवाछनीय हस्तक्षेप होने से सन् १६०८ में सभापति के अधिकार बढाये गये, परन्तु इससे विशेप लाभ नही हुआ । इसके वाद ग्रॉकवर्थ समिति ने इस सभा के पुनगठन के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये । इन सुझावो मे स्वतन्त्र यातायात विभाग खोलने की सिफारिश की गई थी । सभा को अधिक प्रभावी वनाने के लिए उमे विशेषज्ञो की अधिक सहायता प्रदान करने की सिफारिश भी की थी तथा सभा के प्रशासन एव प्रवन्ध को महत्त्वपूर्ण वनाने के लिए उसको स्वतन्त्रता से कार्य करने का सुझाव भी रखा गया था ।

इन सुझावो के अनुसार सन् १६२१ तथा सन् १६२४ मे सभा का पुनर्गठन हुआ, जिसमे एक चीफ कमिश्नर नियुक्त किया गया । सभा की सदस्य सख्या ३ से ४ कर दी गई । रेल नीति निर्धारण के लिए चीफ कमिश्नर जिम्मेवार था तथा इसकी सहायता के लिए प्रारम्भ मे केवल २ तथा सन् १६२४ मे वित्त-सदस्य मिलाकर ३ अन्य सदस्य थे, जो अपने अपने विपय के जिम्मेवार थे । इस सभा की अपनी कार्यवाही स्वतन्त्रता से कर सकने के लिए तथा विभिन्न कार्यों के निरीक्षण के लिए अनेक सचालक तथा उप-सचालको की नियुक्ति भी की गई, जो रेल सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं । सन् १६२६ मे श्रम सम्वन्धी समस्याओ के हल के लिए एक श्रम सदस्य और बढा दिया गया, जिससे चीफ कमिश्नर सहित रेल सभा के सदस्यो की सख्या ५ हो गई । रेल सभा के सहायक अधिकारियो की सख्या समय समय पर आवश्यकतानुसार बढा दी गई ।

इसके बाद सन् १६४६ मे कुंजरू समिति ने यातायात के प्रबन्ध एव समन्वय के लिये केन्द्रीय नियन्त्रण-अधिकारी निर्माण करने की सिफारिश को, जिसका निर्माण हो चुका है । फिर भी सन् १६५१ मे रेल-मन्त्री द्वारा रेल सभा का पुनगठन किया गया, जिसमे अव १ वित्त कमिश्नर तथा ३ कार्यकारी सदस्य हैं । सभा का एक सदस्य सभापति का कार्य करेगा और वही यातायात मन्त्रालय का सचिव रहेगा । इस सभा का काय रेल मन्त्री को रेल यातायात सम्वन्धी सलाह देना तथा प्रवन्ध सम्बन्धी आवश्यक आदेश देना है ।

रेल सभा के अलावा रेलो के शासन प्रबन्ध के लिए स्थायी वित्त समिति, केन्द्रीय सलाहकार समिति तथा रेल-भाडा-समिति है, जिनमे से वित्त समिति रेलो के अर्थ-प्रवन्ध एव रेलो की आवश्यक सामग्री के क्रय के लिए तथा रेल्वे बजट स्वीकृत कराने के लिए जिम्मेवार है । केन्द्रीय सलाहकार समिति का कार्य रेल-नीति को निश्चित करना, यात्रियो को सुविधाये देने के सम्वन्ध मे तथा कर्मचारियो आदि

सम्बन्धी सामान्य व्यापारिक समस्याओं पर सलाह देना है। इस समिति में व्यापार एवं उद्योग का प्रतिनिधित्व रहता है। इसके साथ प्रत्येक क्षेत्र की स्थानीय समस्याओं पर विचार करने के लिए स्थानीय सलाहकार समितियाँ भी हैं। रेल्वे भाडा समिति रेल के वस्तु एवं व्यक्तियों के भाडे की दरों सम्बन्धी सलाह देने, जनता की शिकायतों पर रिपोर्ट देने तथा माल भेजने की पद्धति में सुधार करने के लिये उत्तरदायी है। १ जनवरी सन् १९५८ से खंड स्तरीय सलाहकार समितियों का रेल्वे के प्रत्येक खंड में निर्माण किया गया है।

रेलों के भाड़े—

कम्पनी के प्रबन्ध में जब तक रेलों का सचालन हो रहा था तब तक कम्पनियाँ अपने भाडे की दरें निश्चित करने में स्वतन्त्र थी। सरकार केवल भाडे की न्यूनतम तथा अधिकतम दर निश्चित कर देती थी। इस कारण विभिन्न रेलों के भाडे की दरों में विभिन्नता थी, जिससे भारतीय जनता में असन्तोष था। इस असन्तोष के लिये केवल रेल भाडों की दरों की विभिन्नता ही कारण न होते हुए भाडे की दरों का इस प्रकार निश्चित करना मूल कारण था। इससे भारत से केवल कच्चे माल एवं खाद्यान्न के निर्यात को तथा विदेशी निर्मित माल के आयात को प्रोत्साहन मिलता था। इस ओर औद्योगिक आयोग तथा तटकर आयोग ने संकेत किया था तथा उनमें समानता लाने की सिफारिश की थी। इसके बाद ऑकवर्थ समिति ने इस सम्बन्ध में छानबीन कर भाडे की दरों में समानता लाने तथा भाडे सम्बन्धी पक्षपातपूर्ण नीति का अन्त करने के लिये एक स्वतन्त्र रेल्वे भाडा समिति की नियुक्ति की सिफारिश की थी। परन्तु इस ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। इस समिति में रेल्वे तथा व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधियों के एक-एक सदस्य तथा एक सभापति (कुल ३ सदस्य) रखने की सिफारिश ऑकवर्थ समिति ने की थी। इस समिति द्वारा यह सम्भव था कि सरकार को आर्थिक हानि उठानी पडती। इसलिये ऐसी स्वतन्त्र भाडा समिति का निर्माण न होते हुये सन् १९२६ में सरकार ने रेल भाडा सलाहकार समिति का निर्माण किया। फिर भी जनता का असन्तोष समाप्त नहीं हुआ और न उसने कोई उल्लेखनीय कार्य ही किया।

परन्तु सन् १९४८ में भारतीय रेल्वे की भाडा नीति में महत्वपूर्ण कदम उठाया गया, जब स्वतन्त्र रेल्वे भाडा समिति का निर्माण हुआ। यह समिति केवल रेलों के भाडों सम्बन्धी मामलों की जाँच करेगी तथा सलाह देगी। इस समिति में १ सभापति तथा २ सदस्य हैं, जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। इस समिति को वैधानिक अधिकार प्राप्त होने के कारण समिति का सदस्य किसी हाईकोर्ट का न्यायाधीश अथवा जो इस योग्य हो वही हो सकता है। अपने निर्णय देते समय समिति ऐसेसर्स की सहायता लेती है, जिनकी अधिकतम सख्या ६० हो सकती है। इसमें व्यापार, उद्योग एवं कृषि का समान प्रतिनिधित्व रहता है। इस प्रकार इस समिति

निर्माण से जनता की गत ३२ वर्ष की मांग पूरी होकर देश हित में भाडा-नीति हो सकी है।

रेलो का अर्थ-प्रबन्ध—

रेलो के विकास के प्रारम्भ से ही रेलो की वित्त व्यवस्था भारत सरकार की वित्त व्यवस्था का एक अग थी। प्रारम्भ से सन् १८९८ तक रेलवे यातायात से सरकार को गारन्टी के कारण प्रति वर्ष हानि होती रही, जिसकी कुल राशि ५८ करोड रु० थी। सन् १८९८ मे ही सर्व प्रथम रेल यातायात लाभकर साधन हुआ, जिसके बाद अपवाद के लिए सन् १९०८ और १९२१ के वर्षो के अलावा रेलें लाभकर प्रमाणित होती गई।

रेलो की वित्त-व्यवस्था के सम्बन्ध मे सर्व प्रथम ऑकवर्थ समिति ने सन् १९२१ मे जांच की और साधारण बजट से रेल-बजट को पृथक करने की सिफारिश की थी। इस सिफारिश की पृष्ठभूमि मे अनेक कारण थे, जैसे—

(१) रेलो का वित्तीय प्रशासन के लिये साधारण बजट पर निर्भर रहना, जिससे रेलो का प्रबन्ध विशुद्ध वाणिज्य सिद्धान्तो के अनुसार नही हो सकता था, फलत• उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होती थी।

(२) रेलो का वित्तीय प्रबन्ध पृथक होने से साधारण बजट में जो अनिश्चितता थी वह भी दूर हो जाती, क्योकि रेलो के लाभ का सही अनुमान लगाना असम्भव था, जो व्यापारिक एव औद्योगिक स्थिति पर निर्भर था।

(३) सरकारी वित्तीय व्यवस्था का प्रभाव रेल के वित्तीय प्रशासन पर होने से रेलो की वित्तीय नीति मे समानता नही रह सकती थी। अत उसको पृथक कर देना साधारण बजट एव रेलो के वित्तीय प्रशासन के लिए वाछनीय समझा गया।

इस सिफारिश के अनुसार सन् १९२४ मे ससद में रेलो की वित्तीय व्यवस्था के पृथकत्व का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार रेल-बजट से भारत सरकार को प्रति वर्ष एक निश्चित राशि मिलना तय हुआ। यह राशि देशी राज्यो अथवा कम्पनियो की विनियोजित पूंजी को छोडकर व्यापारिक रेलो की कुल पूंजी पर १% तथा भारत सरकार को मिलने वाली निश्चित राशि देकर जो शेष रहे उसका २०% होगी। भारत सरकार को दी जाने वाली राशि चुकाने के बाद जो राशि बच रहेगी वह रेल सचित कोष मे जमा होगी। ऐसी राशि ३ करोड रु० से अधिक होने पर अधिक राशि का ⅔ भाग सचित निधि तथा ⅓ भाग केन्द्रीय सरकार को दिया जावेगा। इस निधि को सरकार को वार्षिक निश्चित राशि का भुगतान करने, घिसावट की राशि, पूंजी की वापिसी तथा भारतीय रेलो की सुदृढता के लिये व्यय किया जा सकता है। इसके अलावा रेलो की वित्तीय व्यवस्था के लिए एक स्थायी वित्त-समिति का निर्माण होगा, जिसमें एक सरकारी पदाधिकारी सभापति होगा तथा शेष ११ सदस्य केन्द्रीय ससद के मनोनीत व्यक्ति होगे।

इस प्रस्ताव के अनुसार सन् १९२४-२५ मे रेल-वित्तीय व्यवस्था साधारण बजट से पृथक कर दी गई तथा रेल-बजट साधारण बजट से पहिले प्रस्तुत करने का आयोजन किया गया। फलस्वरूप सन् १९२४ २५ से सन् १९३०-३१ के छ वर्षों मे रेलो का कुल लाभ ५,२६३ लाख रुपया हुआ। इसमे से केन्द्रीय सरकार को साधारण बजट में ३,५९१ लाख रुपया मिला तथा शेष १,६७२ लाख रेल सचित निधि मे जमा किया गया, जो रेल्वे की वित्तीय सफलता का परिचायक है। सन् १९३०-३१ से विश्व आर्थिक मन्दी, देश मे नैसर्गिक प्रकोपो तथा रेल रोड प्रतियोगिता के कारण रेलो की आय कम होने लगी। अतः साधारण बजट की कमी पूरी करने के लिए सचित निधि से रुपया निकाला जाने लगा, जिसकी राशि सन् १९२९-३० से सन् १९३१-३२ इन तीनो वर्षों मे १७ ९६ करोड रु० थी। परन्तु इस प्रकार कब तक चलता? इसलिए सन् १९३२-३३ से सरकार को दी जाने वाली राशि स्थगित कर दी गई तथा साधारण बजट के लिए रेलो ने सन् १९३१-३२ से सन् १९३६-३७ के ६ वर्षों मे कुछ भी नही दिया। किन्तु सन् १९३७ के बाद होने वाले सबके सब लाभ सरकारी निश्चित राशि चुकाने में दिए गए।

द्वितीय विश्व-युद्धकाल मे रेलो की आय बढने से उनकी आर्थिक स्थिति मे सुधार हुआ, जिससे रेलो ने सन् १९४३ तक केन्द्रीय सरकार को दी जाने वाली जो निश्चित राशि थी वह तथा घिसावट-निधि से ली हुई ३१ करोड रुपये की राशि का भुगतान कर दिया। सन् १९४५ मे युद्ध समाप्ति के साथ ही रेलो के सामने अनेक समस्याएँ आई। जहाँ एक ओर आमदनी बढी वहाँ युद्ध के बाद रेलो का व्यय भी बढ रहा था, जिससे रेलो की आर्थिक दशा बिगड गई। सन् १९४७ मे विभाजन हुआ, जिसका प्रभाव रेलो की शिल्पिक कार्यक्षमता पर बुरा पडा तथा अराजकता के कारण आय भी कम हो गई थी। फलस्वरूप सन् १९४७-४८ मे रेल बजट में २ ७४ करोड रु० का घाटा रहा, जिसे सचित कोष से पूरा किया गया। सन् १९४६ ४७ मे यात्रियो को अधिक सुविधाएँ देने के लिये १५ करोड रु० से एक सुधार कोष बनाया गया।

इस प्रकार सन् १९२४ में साधारण बजट मे स्थायित्व तथा रेलो के वित्तीय प्रशासन मे लोच लाने के लिए रेलो की वित्तीय व्यवस्था को पृथक किया गया था। परन्तु वह हेतु पूर्ण न हो सका। इसलिए दिसम्बर सन् १९४९ मे भारतीय ससद मे रेलो की वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध मे सशोधित प्रस्ताव स्वीकृत किया, जो १ अप्रेल सन् १९५० से ५ वर्ष के लिए कार्यरूप मे आया। इस प्रस्ताव के अनुसार —

(१) साधारण बजट तथा रेल बजट के सम्बन्ध में ऐसा परिवर्तन किया गया, जिससे साधारण कर-दाता को एकमेव अशधारी के नाते सरकार द्वारा रेलो में लगाई हुई ऋण पूँजी पर ४% लाभ मिले।

(२) घिसावट निधि में प्रति वर्ष न्यूनतम १५ करोड रु० जमा किए जाएँ, जिसकी राशि सन् १९५१-५२ मे बढ़ाकर ३० करोड रु० वार्षिक कर दी गई।

(३) रेल सचित कोप के नाम मे परिवर्तन कर उसका नाम आय सचित कोप रख दिया गया। इसका उपयोग भारत सरकार को निश्चित ४% की राशि के भुगतान तथा रेल बजट के घाटे की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।

(४) सुधार कोष के स्थान पर इसी निधि की शेष राशि से विकास कोप का निर्माण किया गया। इसकी राशि यात्रियो को सुविधाएँ, श्रम कल्याण, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयोगी एव आवश्यक योजनाओ की पूर्ति में व्यय होगी।

(५) पूँजीगत तथा आय (Revenue) व्ययो के बँटवारे की नई पद्धति बनाई गई है, जिससे रेलो मे पूँजी आधिक्य (Overcapitalisation) नही हो सके। इसके लिए पहिले कोई आयोजन नही था।

(६) ऋण खाते को स्थायी सम्पत्ति खाते (Block Account) से पृथक कर दिया गया है, जिसमे से पहिला रेलो मे विनियोजित पूँजी तथा दूसरा रेलो की सम्पत्ति बताएगा, फिर वह चाहे ऋण लेकर अथवा रेलो की आय से खरीदी गई हो।

सशोधित प्रतिज्ञा प्रस्ताव सन् १९५४—

सन् १९५० के प्रतिज्ञा प्रस्ताव से साधारण वित्त मे रेलो का जो योगदान है उसमे स्थिरता आ गई है तथा यह राशि प्रति वर्ष बढ रही है। यह प्रतिज्ञा प्रस्ताव ३१ मार्च सन् १९५५ को समाप्त होता था। अत. ३० नवम्बर सन् १९५४ को नवीन सशोधित प्रस्ताव मान्य हुआ, जो १ अप्रैल सन् १९५५ से ५ वर्ष के लिए है :—

(१) रेलो द्वारा साधारण वित्त को पूँजी लागत पर जो ४% लाभांश दिया जाता था वह आगामी ५ वर्षों के लिए इसी दर पर दिया जाय।

(२) रेल्वे पूँजी आधिक्य (Over capitalisation) कितना है, इसका निश्चय रेल-सभा करे तथा ऋण-पूँजी के इस भाग पर रेल्वे साधारण वित्त को उसी दर से लाभांश दे जो औसत दर भारत सरकार अन्य व्यापारिक विभागो को दिए जाने वाले ऋणो पर लेती है। यह औसत दर सन् १९५५-५६ मे ३$\frac{1}{2}$% थी। अत. इससे रेल्वे को लगभग १ करोड रु० का लाभ होगा।

(३) नए रेल मार्गों की पूँजी लागत पर कम लाभाश लिया जाय अर्थात् इस पर लाभाश की दर उक्त २ के अनुसार हो। परन्तु नए रेल-मार्गों की विनियोजित पूँजी पर निर्माण अवधि तथा यातायात के लिए रेलमार्ग चालू होने की तिथि से ५ वर्ष तक यह लाभाश स्थगित रखा जाय। इस स्थगित राशि का भुगतान रेल्वे साधारण वित्त को नए रेलमार्गों की आय से चालू वर्ष के लाभाश सहित करे।

(४) घिसावट कोप की वार्षिक राशि आगामी ५ वर्ष के लिए ३० करोड रु० से ३५ करोड रु० तक जमा की जाय।

(५) रेल्वे सम्पत्ति की आयक्षमता को अबाधित रखने के लिए रेलो के हानि-लाभ को न देखते हुए घिसावट का प्रबन्ध सम्बन्धित सम्पत्ति के कार्य जीवन के अनुसार

किया जाय । इसी प्रकार उसका पुन सस्थापन भी स्थगित न करते हुए वास्तविक स्थिति के अनुसार घिसावट कोष से किया जाय ।

(६) रेल्वे विकास कोष का कार्य क्षेत्र वढाकर इस कोष से सभी रेल यातायात के उपभोक्ताओ को सुविधाए दी जायें । जैसे गोदामो का सुधार, व्यापारियो के लिए प्रतीक्षा स्थान आदि । इस हेतु न्यूनतम् ३ करोड रु० वार्षिक व्यय हो ।

(७) अलाभकर विभागो का निर्माण व्यय सन् १९४९ के प्रस्ताव के अनुसार पहिले विकास कोष से किया जाता था तथा वाद मे उसे पूंजी व्यय मे हस्तातरित किया जाता था । परन्तु इस प्रस्ताव के अनुसार प्रारम्भ से ही ऐसा व्यय पूंजी-व्यय मे सम्मिलित किया जायगा ।

इस प्रस्ताव से रेलो को यह लाभ है कि नए रेलमार्गों पर पूंजी लागत के साथ ही लाभाश देने का तत्कालीन भार रेल प्रशासन पर नही पडेगा और न उसका भुगतान ही अपनी आय से करना पडेगा । दूसरे, रेले जनोपयोगी होने के नाते रेल्वे के विकास कोष का उपयोग सभी रेल्वे उपभोक्ताओ के हित मे होना वाछनीय ही था ।

त्रुटियाँ—

यद्यपि उक्त सभी प्रतिज्ञा प्रस्तावो से रेलो की आर्थिक स्थिति सुधर रही है । फिर भी निम्न त्रुटियाँ देखने मे आती हैं :—

(१) सन् १९२४ की मूल प्रतिज्ञा के अनुसार रेल्वे वजट मे ही रेल्वे सम्बन्धी कर लगना चाहिए था । परन्तु सामान्य वित्त विधेयक सन् १९५७ से यात्रियो के टिकटो पर जो कर लगाया गया है वह प्रतिज्ञा प्रस्ताव का उल्लघन है, क्योकि इससे रेलो की आय न वढते हुए सामान्य आय वढती है ।

(२) रेलो को साधारण वजट में अनिवार्य रूप से पूंजी लागत पर ४% वार्षिक लाभांश देना पडता है । इसके अतिरिक्त रेल्वे प्रति वर्ष साधारण वजट मे अतिरिक्त राशि देती हैं । यह अतिरिक्त राशि सन् १९५७-५८ के लिए ६ ५७ करोड रु० थी । गत १० वर्षों से भी अधिक समय तक रेल्वे यह राशि साधारण वजट को देती रही । यह रेल्वे की आय पर अनाधिकृत प्रभार है, जो वास्तव मे रेल्वे के विकास एव विस्तार के उपयोग मे ही आना चाहिए ।*

पच-वर्षीय योजना मे रेलें—

३१ मार्च सन् १९५१ मे २७% डिब्बे, ३०% इजन तथा ३६% सवारी गाडी के डिब्बे ऐसे थे जिनका विस्थापन होना आवश्यक था, परन्तु उनका विस्थापन न हो सका, जिससे रेलो की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव हो रहा था । अतः पहिली योजना मे रेल-सामग्री के विस्थापन की ओर विशेष ध्यान दिया गया था । योजना मे ४०० करोड रु० का प्रवन्ध था, परन्तु ४२३ ७३ करोड रु० व्यय हुआ है । इसमे ३८३ ७३ करोड रु० का व्यय रेल्वे के निजी स्रोतो से तथा १४० करोड वजट से हुआ ।

* Modern Review—June 1957.

प्रगति—

इस अवधि मे ३८० मील के नए रेल मार्गों का निर्माण तथा युद्धकाल मे नष्ट ४३० मील के पुराने रेल मार्गों को चालू किया गया। साथ ही, ४६ मील के नैरोगेज के मार्गो का मीटरगेज में परिवर्तन हुआ तथा ४५३ मील नए मार्गों पर कार्य हो रहा है। इसके अलावा ६२८ रेल्वे इञ्जन, ३५,८६७ सवारी के डिब्बे और ३८,३१२ माल के डिब्बे खरीदे गये। डिब्बो की स्वय निर्भरता प्राप्त करने के हेतु इन्टेग्रल कोच फैक्ट्री मे २ अक्टूबर सन् १९५५ से डिब्बे बनने लगे। यहाँ पर सन् १९५९-६० तक वार्षिक ३५० डिब्बो का निर्माण होने लगेगा। इसमे सन् १९५६-५७ से सन् १९५९-६० के चार वर्षो मे क्रमश. ६०, १५०, २६० और ३५० डिब्बे बनेंगे। चितरञ्जन के इञ्जन कारखाने मे इञ्जनो का निर्माण आरम्भ हो गया है, जहाँ अभी तक ५०४* इञ्जन तैयार हुए। आगामी तीन वर्षों मे इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ३०० इञ्जनो तक पहुँच जायेगी। तीसरे दर्जे के यात्रियो के लिए भी अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी गई। काफी दूर जाने वाली गाडियो मे तीसरे दर्जे के यात्रियो को अधिक सोने का स्थान देने के लिए बडी लाइन की गाडियाँ बढा दी गई, जिससे इन गाडियो की सख्या ४ जोडी बडी लाइन की गाडियाँ तथा दो जोडो छोटी लाइन की गाडियाँ हो गई। साथ ही, २ अक्टूबर सन् १९५५ से कलकत्ता-दिल्ली के बीच एक दालानदार जनता गाडी चालू की गई है। १४२ स्टेशनो पर ठण्डे पानी के हेतु विद्युतचालित यन्त्र लगाए गये हैं। इसी प्रकार कलकत्ते के आसपास की रेलो के विद्युतीकरण की ११ ८४ करोड रु० की योजना का आरम्भ भी किया गया है।

दूसरी योजना मे रेल्वे विकास के लिए ९०० करोड रु० का प्रबन्ध है। इसमे से १५० करोड रु० रेल्वे की आय से तथा शेष केन्द्रीय बजट से मिलेंगे। इसके अलावा २२५ करोड रु० घिसावट कोष से व्यय किये जायेंगे, जिससे रेल्वे पर १,१२५ करोड रु० का कुल व्यय होगा। रेल्वे अपनी आय से इस राशि से अधिक व्यय कर सकती है, क्योकि रेल्वे की मूल योजना १,४८५ करोड रु० की थी। इसी अवधि में रेल्वे की माल ढोने की क्षमता सन् १९५५-५६ के १२ करोड टन से सन् १९६०-६१ तक १८ १ करोड टन बढानी होगी। सवारी गाडियो की क्षमता मे १५% की वृद्धि होगी। ८४२ मील लम्बाई के नए रेल मार्गों का निर्माण होगा। इस योजना मे २,२५८ इञ्जन, १,०७,२४७ माल डिब्बे तथा ११,३६४ सवारी डिब्बे खरीदे जाएगे, जिनमे से १,३५२ इञ्जन, २३,८५२ माल डिब्बे तथा ६,४४७ सवारी डिब्बे पुरानी सामग्री के विस्थापन के लिए हैं। साथ ही, १,६०० मील प्रति वर्ष की दर से रेल मार्गो का विस्थापन होगा। अनुमान समिति के अनुसार यह २,००० मील प्रति वर्ष की दर से होना आवश्यक है, तभी रेल्वे कार्यक्षमता मे वृद्धि कर सकती हैं। साथ ही, १,६०७ मील के रेल मार्गों को दुहरा तथा १६५ मील के मीटरगेज को ब्रॉडगेज मे

---

* April 1958 तक

बदला जायगा। १,२६३ मील के मार्ग पर डीजल इञ्जन भी चलेंगे। इस प्रकार इस योजना मे भी पुनर्वास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

दूसरी योजना में प्रगति—

दूसरी योजना में लोहा एव इस्पात, कोयला और सीमेंट जैसे आधारभूत उद्योगो के विकास की व्यापक योजनाएँ शुरू हो गई हैं। सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,२०० मील लम्बे नए रेल मार्ग बन जाएँगे, १,३०० मील रेल मार्गो का दुहराकरण तथा ८८० मील रेल मार्गो का विद्युतीकरण हो जायगा। माल यातायात जो सन् १९५०-५१ के ९१० लाख टन से बढकर सन् १९६०-६१ के अन्त मे ८०% से बढकर १,६२० लाख टन हो जायगा। रेल इञ्जनो की सख्या जो दूसरी योजना के आरम्भ मे ८,२०० थी, बढकर १०,६००, यात्री-डिब्बो की सख्या १९,२०० से २८,९०० और माल डिब्बो की सख्या १,९९,१०० से बढकर ३,५४,१०० हो जायगी।[1] इसी प्रकार १,२९३ मील रेल मार्गो पर डीजल गाडियाँ चलने लगेंगी।[2]

दूसरी योजना मे लक्ष्यो के अनुसार रेल इञ्जन, यात्री डिब्बे तथा माल डिब्बो का लक्ष्य क्रमश २,१६१, ८,७०८ और १,११,७३९ था। तदनुसार १,४९३ इञ्जन, ४,३२२ यात्री डिब्बे और ७५,६१२ माल डिब्बे ३१ मार्च सन् १९५९ तक प्राप्त हो चुके हैं। इस प्रकार सन् १९५८-५९ मे रेल मार्गो की लम्बाई ३५ ०८१ मील तथा उनमे विनियोजित पूँजी १,३६,२८९ लाख रुपए हो गई, जो सन् १९५५-५६ मे क्रमशः ३४,७३६ मील और ९७,५५० लाख रुपये थी।

सन् १९५७-५८ व १९५८ ५९ मे क्रमश १६८·१४ और १९१ १५ मील तक नये रेल मार्ग चालू किये गये।

इञ्जन, डिब्बे और अन्य उपकरणो को देश मे तैयार करने की दिशा मे भी विशेष प्रगति हुई है। चितरञ्जन कारखाना अब पूरी क्षमता से काम कर रहा है, जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता १६८ डब्ल्यू० जी० इञ्जन की है। निजी क्षेत्र में टैलको मे प्रति वर्ष मीटर गेज के १०० इञ्जन तैयार होते हैं। पैराम्बूर कोच फैक्टरी मे दूसरी पाली का काम भी धीरे-धीरे आरम्भ किया जा रहा है, जिससे इसमे वार्षिक ६०० डिब्बे तैयार हो सकेंगे। माल डिब्बो का निर्माण निजी क्षेत्र मे होता है, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० डिब्बो की है। यान्त्रिक सिगनल के सभी उपकरण भी देश मे ही तैयार किए जा रहे हैं।[3] इस प्रकार दिसम्बर सन् १९५८ के अन्त तक देश मे कुल उत्पादन निम्न रहा —

---

1 Third Five Year Plan—A Draft Outline, page 21
2 India 1960
3 आर्थिक समीक्षा, जुलाई ११, १९६०।

चितरंजन कारखाना	१,००० इञ्जन डब्लू० जी०[1]
टेलको	३७१ मोटरगेज इञ्जन
पैराम्बूर कोच फैक्टरी	५६७ सवारी डिब्बे
हिन्दुस्तान एअर क्राफ्ट	१,२८५ ,, ,,
निजी क्षेत्र से	१७,३०० माल डिब्बे (१६५७-५८)

इस प्रकार भारत रेल सामग्री के सम्बन्ध मे आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर हो रहा है।

तीसरी योजना मे—

आशा है कि सन् १६६५-६६ मे रेल्वे २३ ५० करोड टन माल-यातायात करेगी, जबकि सन् १६६०-६१ में १६ २० करोड टन अपेक्षित है। १,२०० मील के नये रेल मार्ग बनेंगे। रेल्वे के विकास के लिए योजना में ८६० करोड रु० का आयोजन है। इसके अलावा रेल्वे घिसावट कोष से ३३० करोड रु० विस्थापन के लिए उपलब्ध होगे, ऐसी आशा है। इस प्रकार तीसरी योजना मे रेलो के विकास पर १,२२० करोड रु० व्यय होगा :—

	दूसरी योजना	तीसरी योजना
१. रोलिंग स्टॉक	३८०	४८२
२. विद्युतीकरण	८०	७०
३ सिग्नल एव सुरक्षा कार्य	२५	२५
४ नई रेल लाइनें	६६	१२०
५ वकशॉप, यन्त्र एव सयन्त्र	६५	५०
६ रेल मार्गों का नवकरण	१००	१७०
७ रेल मार्ग क्षमता कार्य	१८६	२२८ (७ से १० तक)
८ पुल-निर्माण काय	३३	
९ अन्य निर्माण (Structural) कार्य	—	
१० अन्य विद्युतीकरण कार्य	—	
११ कर्मचारी आवास एव कल्याण कार्य	५०	५०
१२ रेल उपभोक्ताओ को सुविधाएं	१५	१५
१३ सडक यातायात मे योग दान	१२१ ५[2]	१०
योग	१,१२१ ५	१,२२०

पहिली मद मे नवीन आवश्यकताओ तथा वर्तमान सामग्री के विस्थापन का लक्ष्य निम्न है —

	इञ्जन	यात्री डिब्बे	माल डिब्बे
वृद्धि	१,०३१	४,६८३	८३,१६६
विस्थापन	१४	२,८५४	२६,६६७
योग	१,६४५	७,८३७	१,०६,८६६

1 April 1960, भारतीय समाचार, मई १५, १६६०।

2. इस राशि में ६ व १० मदों का व्यय भी सम्मिलित है।

रेल लाइन क्षमता कार्यक्रमो मे वर्तमान रेल मार्गों का दुहराकरण, विद्युतीकरण, डीजलाइजेशन आदि का समावेश है। साथ ही, दूसरी योजना मे जो नई रेल लाइनो का अधूरा काम है उसकी पूर्ति के साथ ही २०० मील के नये रेल मार्ग बनाये जायेंगे, जिससे तीसरी योजना के अन्तर्गत कोयला उद्योग के विकास के साथ ही उसे यातायात सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें।

तीसरी योजना के अन्तर्गत रेल-कार्यक्रम के लिए १३० करोड रु० की विदेशी मुद्रा आवश्यक होगी, जबकि दूसरी योजना मे ३२० करोड रु० की आवश्यकता थी। यह इस बात का सकेत है कि भारत ने आत्मनिर्भरता के सम्बन्ध मे कितनी सफलता प्राप्त की है।

अध्याय १५

सड़क यातायात

(Road Transport)

"किसी देश मे यदि नवीन कल्पनाए एव आशाओं का सचार है तो वहाँ की नियमित सड़कों से उसका ज्ञान हो सकता है। सम्पूर्ण सृजन क्रियाएँ चाहे वे सरकार, उद्योग विचार अथवा धर्म सम्बन्धी हों, सड़कों का निर्माण करती हैं।"

सडको की तुलना साधारणत मनुष्य के शरीर की धमनियो से की जाती है, जो सडको के राष्ट्रीय महत्त्व की ओर सकेत करता है। सडको का महत्त्व जितना ग्रामीण क्षेत्रो मे है उतना ही वह शहरो के लिए भी है। सडको के महत्त्व के सम्बन्ध मे भारतीय सडक काग्रेस मे तत्कालीन यातायात मन्त्री जान मथाई ने कहा था—"यदि देश के विपुल स्रोत एव असीमित जनशक्ति का उपयोग साधारण मानव के लिए करना है तो उनका उपयोग उत्पादन के लिए होना चाहिए, जो यातायात साधनो से—विशेषत. सडक यातायात से—प्रगतिशील बनाये जा सकें।"* "यदि आप यह जानना चाहते हैं कि समाज स्थिर है क्या तो आप वहाँ की सडको को देखकर

---

* Our Roads-Govt of India

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)—ये वे सडकें होगी, जो प्रान्तीय एव रियासती राजधानियो, बन्दरगाहो तथा विदेशी मार्गों से सम्बन्ध करेंगी तथा देश के सचार की प्रमुख धमनियाँ होगी।

(२) जिला सडके—ये सडकें उत्पादन क्षेत्र एव बाजारो को राष्ट्रीय राजमार्ग से अथवा किसी रेल से सम्बद्ध करेंगी तथा आस-पास के प्रमुख हैडक्वार्टरो के सम्बन्ध की प्रमुख कडी होगी।

(३) ग्रामीण सडके—लघु जिला सडकें एव ग्राम सडकें विशेषत. ग्रामीण जनता की आवश्यकताओ को पूरा करेंगी।

(४) प्रान्तीय राजमार्ग—ये सडकें प्रत्येक प्रान्त एव रियासत की प्रमुख सडकें होगी तथा इनमे सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सडको का समावेश भी होगा।

इस योजना मे तत्कालीन सडको क सुधार एव नवीन सडको के निर्माण का भी आयोजन है। योजना के अनुसार कुल मील लम्बाई तथा लागत निम्न हैं: —

(१)	राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)	२२,००० मी०	४७ करोड रु०
(२)	,, ,, (National Trails)	३,००० ,,	३ ,, ,,
(३)	प्रातीय राजमार्ग (Provincial Highways)	६५,००० ,,	१२१ ,, ,,
(४)	बृहद् जिला स-कें (Major District Roads)	६०,००० ,,	६२ ,, ,,
(५)	जिला सडके अन्य (District Roads other)	१,००,००० ,,	८० ,, ,,
(६)	ग्राम सडकें (Village Roads)	१,५०,००० ,,	३० ,, ,,
(७)	युद्धकालीन वर्षों का शेष (Arrears of war years)	—	१० ,, ,,
(८)	पुल निर्माण (Bridging)	—	४५ ,, ,,
(९)	भूमि प्राप्ति (Land Acquisition)	—	५० ,, ,,
	कुल	४,००,००० मील	४४८ ,, ,,

यह योजना अविभाजित भारत के लिये थी, परन्तु विभाजित भारत के लिए ३३१ हजार मील की सडको का निम्नवत निर्माण होना था .—

राष्ट्रीय राजमार्ग	१६,६०० मील	३९ करोड रु०
राष्ट्रीय सडकें	४,१५० ,,	२ ५ ,,
प्रान्तीय राजमार्ग	५३,६५० ,,	१०० ३ ,,
जिला एव ग्राम सडकें	२,५६,३०० ,,	१४२ ५ ,,

इस प्रकार भारत सघ मे १,२३,००० मील पक्की सडकें और २,०८,००० मील की कच्ची सडको के निर्माण का लक्ष्य था। इस पर कुल ३७१ ५ करोड रु० व्यय होना था।

नागपुर योजना में सिफारिश थी कि राष्ट्रीय मार्गों की मरम्मत तथा नवीन विकास का आर्थिक भार केन्द्रीय सरकार पर हो। इसका शासन प्रबन्ध एक सड़क-सभा करे, जो देश मे सड़को के सन्तुलित विकास के लिए जिम्मेवार हो। साथ ही केन्द्रीय सरकार सड़क विकास योजनाओ के सामजस्य, सड़क सशोधन तथा सड़क निर्माण मे आवश्यक सहायता दे।

इस सिफारिश के अनुसार १ अप्रैल सन् १९४७ मे भारत सरकार ने राष्ट्रीय राज मार्गों के मरम्मत तथा निर्माण की आर्थिक जिम्मेवारी ले ली है। इसी प्रकार सन् १९५० मे केन्द्रीय सड़क अनुसन्धान सस्थान की स्थापना की गई है, जो सड़कों के सम्बन्ध मे अनुसन्धान कार्य के साथ प्रान्तीय सरकारो को सलाह देती है।

नागपुर योजना की कार्य-प्रणाली का नील-पत्र तैयार होकर कार्य आरम्भ होने वाला था, उसी समय भारत का विभाजन हुआ, जिससे यातायात कठिनाइयाँ बढी तथा सरकार को आर्थिक साधनो का अभाव प्रतीत हुआ। इस कारण सरकार को योजना मे थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा, जिसके अनुसार प्रथम पाँच वर्ष में ७३ ४०० मील के राष्ट्रीय राज मार्गों के निर्माण एव विकास पर २३ ५० करोड तथा मरम्मत पर ६ ५० करोड रुपये व्यय का लक्ष्य रखा गया। इसके अलावा १,६०० मील लम्बाई की ऐसी सड़को का निर्माण होना था जिनसे विभिन्न क्षेत्रो की मुख्य सड़कें सम्बन्धित हो सकें तथा ५०० महत्त्वपूर्ण पुल निर्माण का लक्ष्य रखा गया।[1] इसके अलावा प्रान्तो ने भी प्रान्तीय राज मार्ग तथा प्रान्तीय सड़को के विस्तार एव विकास की अपनी-अपनी पञ्च वर्षीय योजनाएँ बनाई, जिससे ८०,००० मील सड़को का निर्माण १२० करोड रु० से होना था।

नागपुर योजना से सड़क विकास के सम्बन्ध मे बड़ी आशाएँ थी, परन्तु वास्तव मे इस योजना के अन्तर्गत केवल १६० मील लम्बी सड़को, १७ बड़े पुलों एव अनेक छोटी पुलियो का निर्माण तथा १,०५० मील लम्बी सड़को का सुधार किया गया।[2] इस असफलता के लिए (१) सड़क-निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री (जैसे—सीमेंट, इस्पात आदि) का अभाव था, जिससे केन्द्रीय सरकार ने सड़क-निर्माण के लिए राज्यो को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बन्द कर दी। (२) केन्द्रीय सरकार की आशा के विरुद्ध राज्य सरकारो को योजना कार्यान्वित करने के लिए ऋण भी न दे सकी। (३) सड़क-निर्माण के प्रति राज्यो की उदासीनता भी थी। (४) भारत के विभाजन के कारण उत्पन्न होने वाली अनेक कठिनाइयाँ थीं। इन कारणो से योजना को अपेक्षित सफलता नही मिली।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना में—

पहिली योजना के आरम्भ मे देश मे कुल ९७,५४६ मील पक्की तथा

---

1 Our Roads—Govt of India Publication

2 Our Plan Govt of India, Publications Division

१,५१,००० मील लम्बाई की कच्ची सडकें थी। योजना अवधि मे सभी प्रकार की लगभग २४,००० मील पक्की तथा ४४,००० मील कच्ची सडको का निर्माण हुआ। प्रथम योजना के अन्तर्गत सडको के विकास के लिए ११० करोड रु० का आयोजन था, जिसे बाद मे १३५ करोड रु० कर दिया गया।[1]

पहिली योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता की दृष्टि से राष्ट्रीय सडको की कुल लम्बाई मे १,६०० मील के जो टुकडे बीच बीच मे थे उनमे से ४५० मील टुकडो का निर्माण हुआ। दूसरे, नागपुर योजना के अन्तर्गत ३२० मील लम्बाई की सडकें पर १८ बडे पुलो का निर्माण हो रहा था उसे पूर्ण करना था। तीसरे, सडको की सतह मे सुधार किया गया, जिससे वे अधिक बोझ सहन कर सकें। योजना के आरम्भ मे ऐसी सडको की लम्बाई १,१८,००० मील थी, जिनमे से ७,५०० मील लम्बाई की सडको का सुधार करना था, परन्तु केवल २,२०० मील लम्बाई की सडको का सुधार किया गया। चौथे, पुराने पुलो को अधिक भार योग्य बनाने के लिए उनमे सुधार करना एव राष्ट्रीय सडको पर ११२ पुलो का निर्माण करना था, जिनमे से केवल ४३ बडे पुलो का निर्माण हो सका।

योजना की अवधि मे सडको पर कुल १५६ करोड रुपया व्यय हुआ, जिसमे केन्द्रीय सडक कोष से किए गये २५ करोड रुपये का व्यय भी सम्मिलित है। फलस्वरूप ३१ मार्च सन् १६५६ को सडको की लम्बाई लगभग ३,१०,५०० मील होगई, जिसमे १,२२,००० मील पक्की तथा १,६८,००० मील कच्ची सडकें थी।[2] सन् १६४७ से सन् १६५१ तक यही व्यय ४८ करोड रुपया था।

दूसरी योजना में राष्ट्रीय राज मार्गों के कायक्रम के लिए ८७.५ करोड रु० की राशि निर्धारित की गई है, जिसमे से ७,२०० मील लम्बी नई सडको का निर्माण एव ४,००० मील सडको के विकास का लक्ष्य था। दूसरी योजना के अन्त तक १,२०० मील लम्बाई की नई सडको मे से लगभग ६०० मील लम्बी सडकें तैयार हो जावेंगी और शेष तीसरी योजना के आरम्भ मे तैयार हो जावेंगी। ६०० मील की नई सडको के निर्माण से राष्ट्रीय राज मार्गो की लम्बाई १२,६०० मील से १३,८०० मील हो जावेगी। इस कायक्रम पर दूसरी योजना काल मे ५५ करोड रु० व्यय होगा।

राष्ट्रीय राज मार्गो के साथ ही पहिली योजना में भारत सरकार ने अन्य महत्त्वपूर्ण सडको का निर्माण आरम्भ किया था, जो दूसरी योजना मे भी चालू रहेगा। इस हेतु योजना में ४५६ करोड रु० का आयोजन है। इसमे पासी-बदरपुर रोड, वेस्टकोस्ट रोड तथा पठानकोट-ऊधमपुर सडक का समावेश है। इनमे से पहिली सडक लगभग

---

1 Review of the First Five Year Plan, page 235

2 India 1960 & Indian Road Congress Supplement of Hindustan Times Feb 4, 1960

पूरी हो चुकी है, दूसरी सडक योजना की अवधि मे ७५% तथा तीसरी पूरी हो जायगी । इस प्रकार इस कार्यक्रम के अनुसार १५० मील की नई सडको का निर्माण होगा तथा ५०० मील सडको की सतह ऊँची की जायगी ।

अन्तर्राष्ट्रीय सड़कें—

केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५४ में १० करोड रु० का अनुदान आर्थिक महत्त्व की एव राज्यों को मिलाने वाली सडको के लिए स्वीकार किया था । इसके अन्तर्गत दिसम्बर सन् १९५५ तक ६० मील सडको का निर्माण और १७५ मील सडको का सुधार हुआ । इसी कार्यक्रम को दूसरी योजना मे चालू रखने के लिये १८ करोड रु० का आयोजन है । इस राशि का ७५% प्रथम योजना के आरम्भिक कार्यों पर व्यय होगा । इस कार्यक्रम में पहाडी एव सीमान्त क्षेत्रो मे १,००० मील लम्बाई की सडको का निर्माण होगा, जिससे यात्री यातायात (Tourist Traffic) का विकास हो सकेगा ।

राज्यों का सड़क-विकास कार्यक्रम—

राज्यों के सडक विकास के हेतु पहिली योजना में ७३ ५ करोड रु० का आयोजन था, जिसे क्रमशः ९३ करोड रु० करना पडा । दूसरी योजना मे राज्यो मे १९४ करोड रु० के व्यय से लगभग १८,००० मील लम्बी सडको का निर्माण होगा । इस योजना की अवधि मे अविकसित क्षेत्रो की ओर विशेष ध्यान दिया जायगा । साथ ही, ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तगत बनाई गई कच्ची सडको का भी सुधार होगा ।

इस प्रकार दूसरी योजना काल मे अब तक नागपुर योजना के लक्ष्य पूरे हो चुके हैं तथा आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक कच्ची और पक्की सडको की लम्बाई क्रमश २,३५,००० और १,४४,००० मील हो जायगी । सडक विकास की कल्पना निम्न तालिकाओ से होगी —[1]

		पक्की सडकें	कच्ची सड़कें
नागपुर योजना के लक्ष्य (मील)		१,२३,०००	२,०८,०००
अप्रैल १, १९५१	,,	९८,०००	१,५१,०००
मार्च ३१, १९५६	,,	१,२२,०००	१,९८,०००
मार्च ३१, १९५८	,,	१,३३,६१०	२,२३,९६६
मार्च ३१, १९६१[२]	,,	१,४४,०००	२,३५,०००

1 India 1960
२. अनुमान

राष्ट्रीय राजमार्गों का विकास

	टूटी हुई सडको का निर्माण मील	पुलो का निर्माण (सख्या)	वर्तमान सडको का सुधार (मील)	सडको को चौडा किया गया (मील)
अप्रैल १, १६४७ से मार्च ३१, १६५६	७४६	३३	५,०००	४००
अप्रैल १, १६५६ से दिसम्बर ३१, १६५६	५२०	३१	२,६००	७७५
द्वितीय योजना की अवधि मे*	७००	४०	३,५००	८००

नागपुर योजना के अनुसार राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास का लक्ष्य (ıdoluding national trails) २०,७५० मील रखा गया था। परन्तु केन्द्र सरकार ने केवल १३,८०० मील की जिम्मेवारी ली थी, जिससे आज राष्ट्रीय राजमार्गों की लम्बाई १३,६०० मील हो गई है। राष्ट्रीय राजमार्गों में निम्न सडको का समावेश है —आगरा बॉम्बे रोड, बॉम्बे बगलोर-मद्रास रोड, मद्रास-कलकत्ता, कलकत्ता-नागपुर-बॉम्बे, बनारस-नागपुर-हैदराबाद-कुमारी अन्तरीप, दिल्ली-अहमदाबाद-बम्बई, अहमदाबाद से कांडला (पोरबन्दर शाखा सहित निर्माण अवस्था मे), अम्बाला-शिमला-तिब्बत, दिल्ली-मुरादाबाद-लखनऊ, लखनऊ-मुजफ्फरनगर-बरौनी (नैपाल सीमा तक शाखा सहित), आसाम रोड, आसाम ट्रक रोड, जिसकी एक शाखा मनीपुर होते हुए बर्मा की सीमा तक है।

राष्ट्रीय राजमार्गों पर जो महत्त्वपूर्ण कार्य चालू हैं उनमे बनिहाल सुरङ्ग उल्लेखनीय है। इससे जम्मू और श्रीनगर की दूरी १८ मील से कम होगी। इसके अलावा हिन्दुस्तान-तिब्बत राजमार्ग पर नरकडा से चीन तक राजमार्ग को मोटर योग्य बनाने का, बम्बई से अहमदाबाद सडक को सभी मौसमो के लिए योग्य बनाने का तथा गढमुक्तेश्वर मे गगा पुल और अलपुरा मे गौतमी-पुल का निर्माण कार्य चालू है। दूसरी योजना में मुकामेह गगा-पुल (Rail-cum Road bridge) का निर्माण उल्लेखनीय है।

सड़को का दीर्घकालीन कार्यक्रम—

दूसरी योजना मे नागपुर-योजना के लक्ष्यो की पूर्ति के साथ यह आवश्यकता अनुभव की गई कि तीसरी योजना के आरम्भ से लागू करने के लिए सडको के विकास का एक दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाया जाय। इस हेतु सन् १६५७ मे एक समिति बनाई गई थी, जिसने नवीन अखिल भारतीय सडक विकास कार्यक्रम २० वर्ष के लिए प्रस्तुत

* अनुमान

किया। इस योजना के अनुसार सडको की लम्बाई सन् १९६१ के ३·७९ लाख मील से सन् १९८१ मे ६·५५ लाख मील करने का लक्ष्य है। इसके अनुसार राष्ट्रीय एव प्रान्तीय राजमार्गो की लम्बाई १ लाख मील से अधिक हो जायगी तथा शेष जिला एव ग्राम सडकें होगी। इस समिति की रिपोर्ट की प्रमुख बातें निम्न है —

(१) भविष्य के सडक-कलेवर मे शहरी क्षेत्रो के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रो की ओर उचित ध्यान दिया जाय। इस हेतु ५,००० जन सख्या तक के ग्रामो का समूह बनाकर सडक कार्यक्रम चालू हो। इस सम्बन्ध मे परिवहन के ढाचे और गहनता की ओर ध्यान देना चाहिए। भारत मे मोटरो की सख्या १,२१,२८२ (१९४३) से ४,१८,०९७ (१९५५) हो गई है, जो और अधिक बढेगी। सन् १९८०-८१ में मोटरो (automobiles) की सख्या ३,७०,००० होने का अनुमान है, जबकि सन् १९६०-६१ मे ७८,००० अनुमानित है।

(२) भावी सडक-कलेवर मे अधिक विकसित एव कृषि क्षेत्रो को सेवाएँ प्रदान करने के साथ ही अर्द्ध विकसित एव अविकसित क्षेत्रो को सुविधाएँ देने का ध्यान रखना चाहिए। देश की प्रतिरक्षात्मक आवश्यकताओ की ओर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

(३) यद्यपि सडको का वर्गीकरण नागपुर-योजना पर ही आधारित है। फिर भी इस योजना मे जो निश्चित न्यूनतम स्तर की पूर्ति करें, ऐसी ग्राम सडको पर भी ध्यान दिया गया है। साथ ही, वजनी एव शीघ्र लम्बे यातायात साधनो में रुकावट न आवे, इसलिए घनी जन सख्या वाले एव अधिक औद्योगीकृत क्षेत्रो मे राष्ट्रीय एव प्रान्तीय राजमार्गों की कुछ लम्बाई मे "एक्सप्रेस मार्ग" बनाने का लक्ष्य भी रखा गया है।

(४) सीमित राशि की दृष्टि से सडको की लम्बाई का लक्ष्य नागपुर-योजना के ३,३१००० मील से बढाकर सन् १९८०-८१ मे ६,५७,००० मील करना है। इसकी ४०% पक्की सडकें होगी, जिससे प्रत्येक १०० वर्ग मील क्षेत्र मे ५२ मील सडकें हो जायेंगी। इस योजना का उद्देश्य है :—

(i) विकसित एव कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सडको के ४ मील तथा अन्य सडको के १.५ मील क्षेत्र मे हो,

(ii) अर्द्ध विकसित क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सडको के ८ मील और कच्ची सडको के ३ मील क्षेत्र मे हो,

(iii) अविकसित एव गैर-कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सडको से १२ मील तथा अन्य कोई सडक से ५ मील क्षेत्र मे हो।

(५) इस योजना की कुल लागत ५,२०० करोड रुपये है :—†

	मील लम्बाई		राशि—(सुधार एव नई सडको के लिए) करोड रुपये
	१-४-१९६१ अपेक्षित	योजना मे प्रस्तावित लक्ष्य	
१ राष्ट्रीय राजमार्ग	१३,८००	३२ ०००	९८०
२. प्रान्तीय राजमार्ग	३५,०००	७०,०००	१,५८०
३. बडी जिला सडकें	९५,२००	१,५०,०००	१,३६०
४ अन्य जिला सडकें	७८,३००	१,८०,०००	६५०
५. ग्राम सडकें (वर्गीकृत)	१,५६,७००	२,२५,०००	६३०
योग	३,७९,०००	६,५७,०००	५,२००

(६) सडको के भावी निर्माण के लिए ऐसे प्रमाप एव स्पेसिफिकेशन्स उपयोग हो जिनको सीढी दर सीढी परिवहन की वृद्धि के साथ लागू किया जा सके।

(७) भारत मे सडक-विकास पर बहुत कम व्यय होता है। अत. सडक-विकास कार्यक्रम को गति देने के लिए आगामी वर्षों मे व्यय बढाना होगा। योजना के अनुसार सडक-विकास का व्यय सन् १९६०-६१ के ८० करोड रु० से सन् १९८०-८१ मे ४४० करोड रु० करने का लक्ष्य है।

(८) सडक कायक्रम के मितव्ययितापूर्ण एव कार्यक्षम पूर्ति के लिए अग्र-योजना आवश्यक है। इस हेतु आरम्भ से ही आवश्यक राशि के सम्बन्ध मे निश्चित आश्वासन जरूरी है।

(९) सडको की मरम्मत एव कार्यक्षम कार्यान्वियन के लिए वर्गीकृत ग्राम सडको के अलावा सभी वर्गीकृत-सडकें राज्य या केन्द्रीय पी० डब्लू० डी० अथवा राज मार्ग विभाग के आधीन होना चाहिये। वर्गीकृत ग्राम सडकें पचायतो के आधीन रहे, जिनको प्रान्तीय पी० डब्लू० डी० आवश्यक तकनीकी सलाह दे।

(१०) सडक सम्बन्धी अनुसन्धान एव प्रशिक्षण कार्य को अधिक गहन किया जाय।

(११) आर्टेरियल मार्गों पर टूटे हुए पुलो के निर्माण को प्राथमिकता तथा सडकों को चौडा बनाना, ग्रामीण सडको को सभी मौसम योग्य बनाना, इन कार्यों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाय। साथ ही सडको की मरम्मत पर उचित ध्यान दिया जाय। इस हेतु वार्षिक राशि सन् १९६०-६१ के ३० करोड रु० से सन् १९८०-८१ मे १३५ करोड रु० होगी। इसलिए आवश्यक श्रमिको एव तकनीकी व्यक्तियो की सख्या सन् १९६०-६१ के क्रमश' ८ लाख और १,२०० से सन् १९८०-८१ मे ४२ लाख और

† Indian Road Congress Supplement of the Times of India, Feb 4, 1960

२,४०० हो जायगी। इसके सिवा समिति ने सडक निर्माण सामग्री, आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति एव प्रशासन के सुधार के सम्बध मे महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।[1]

यह योजना अभी विचाराधीन है।[2] लेकिन पच-वर्षीय योजना मे इस कार्य के लिए ५६० करोड रु० की व्यवस्था की गई है, जो बहुत कम है। क्योकि योजना की कुल लागत का २५% अर्थात् १,२०० करोड रु० का आयोजन होना चाहिए था।[3] तीसरी योजना के अन्त में (१९६५-६६) मे सडको की लम्बाई १६४ हजार मील हो जायगी।[4]

सड़को का शासन प्रबन्ध—

सन् १९१९ से सडको की मरम्मत एव विकास की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकारो पर थी तथा केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय सडक निधि से वार्षिक अनुदान स्वीकृत करने के लिए जिम्मेवार थी, परन्तु १ अप्रैल सन् १९४७ से राष्ट्रीय राज मार्गों की मरम्मत एव निर्माण की सम्पूर्ण जिम्मेवारी केन्द्रीय सरकार ने अपने अधिकार मे ले ली है। प्रान्तीय राज मार्गों के निर्माण, मरम्मत एव विकास की जिम्मेवारी आज भी प्रान्तीय पब्लिक वर्क्स विभागो की (प्रान्तो की) है। इसके अलावा जिला एव स्थानीय सडको की मरम्मत, विकास एव निर्माण का उत्तरदायित्व स्थानीय सस्थाओ का है, जिनके आर्थिक एव तान्त्रिक साधन कम होने तथा गत ४ वर्षों मे ग्राम सडको पर आवागमन बढ जाने मे ग्राम सडको की दशा दयनीय हो गई है, इसलिए इनकी व्यवस्था का भार प्रान्तीय पब्लिक वर्क्स विभाग को देने के प्रश्न पर विभिन्न प्रान्तीय सरकारें विचार कर रही हैं।

मोटर यातायात एव बैलगाड़ी—

भारत के प्रतिनिधिक चित्र मे बैलगाडियो को ही दिखाया जाता है, जो इस बात का प्रतीक है कि भारत मे बैलगाडियाँ प्राचीन काल से सडक यातायात का महत्वपूर्ण साधन रही हैं और आगे भी रहेगी। कारण, भारत की कृषि स्थिति मे बैलगाडियो की तब तक प्रधानता रहेगी जब तक हमारे किसानो को यातायात के अन्य सस्ते एव सुविधाजनक साधन उपलब्ध नही होते।

यद्यपि भारत के सडक यातायात मे मोटरो का महत्व बढता जा रहा है तथा वे क्रमशः बैलगाडियो का विस्थापन कर रही हैं, फिर भी भारत की बैलगाडियो का उन्मूलन नही किया जा सकता, क्योकि बैलगाडियाँ कैसे भी रास्ते पर चलाई जा सकती हैं तथा एक बैल की जोडी बैलगाडी एव कृषि-कार्य दोनो के ही उपयोग मे

---

1 Indian Road Congress Supplement of the Times of India Feb 4, 1960

2 India–1960

३ भारतीय समाचार, अप्रैल १५, १९६०।

४ उद्योग व्यापार पत्रिका, अगस्त १९६०।

आती है, जिससे कृषक को मितव्ययिता होती है। इसी कारण आज मोटर यातायात का विकास होते हुए भी बैलगाडियो की ही अधिकता है। भारत मे लगभग ८७ लाख बैलगाडियाँ हैं, जिनमे २६१ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है, जबकि मोटर लॉरियो की सख्या १७६ हजार तथा उनमे लगी हुई पूँजी केवल ६६ करोड रुपए है। इसके साथ ही बैलगाडियो से लगभग १ करोड व्यक्ति तथा दो करोड पशुओ की उपजीविका चलती है और वे प्रति वर्ष १० करोड टन माल का यातायात करती हैं। यह उनके महत्त्व की ओर सकेत करता है। बैलगाडियो का ग्रामीण क्षेत्र से उन्मूलन कभी भी सम्भव नही है, जैसा कि मोटर यातायात के विकास के समय धारणा थी, क्योकि थोडी दूरी के लिए बैलगाडियो द्वारा यातायात साधन सस्ता होता है, जहाँ मोटरे मध्यम दूरी के लिए तथा रेलें अधिकतम दूरी के लिए सस्ती होती हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि वर्तमान ढाँचे की बैलगाडियो से सडकें बहुत जल्दी खराब होती हैं, इसलिए सडको की सुरक्षा की दृष्टि से बैलगाडियो मे सुधार के प्रयत्न होने चाहिए।

रेल एव मोटर प्रतियोगिता—

रेल यातायात का देश मे इतना विकास होते हुए भी आज रेल सेवाएँ देश को पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही हैं और इसीलिए रेल यातायात के साथ ही सडक यातायात भी देश के लिए आवश्यक है। भारत मे सडक यातायात का सबसे बडा दोष यह है कि रेल यायायात के विकास के साथ ही सडक यातायात का भी विकास हुआ। परन्तु उसके विकास मे सामजस्य का अभाव रहा है। फलतः भारत की लगभग $\frac{1}{3}$ सडकें रेल मार्गों के समानान्तर हैं तथा लगभग ४८% सडकें १० मील तक लौह मार्गों के समानान्तर हैं।* इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रो मे विशेषतः समृद्ध कृषि क्षेत्रो मे सडको का विकास ही नही हुआ है। वास्तव मे सडक यातायात एव रेल यातायात, ये दोनो परस्पर पूरक होने के साथ ही प्रतियोगी भी हैं। रेल यातायात के लिए स्टेशन तक यात्रियो एव माल ढोने के लिए पूरक सडको की आवश्यकता होती है और किसी भी क्षेत्र मे रेल यातायात का विकास तब तक सम्भव नही है जब तक उस क्षेत्र में सडको का अच्छा जाल न बिछा हो।

परन्तु भारत में जिस परिस्थिति मे एव जिस प्रकार सडक यातायात का विकास हुआ है उस कारण उनमे परस्पर प्रतियोगिता अधिक रहती है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि मोटर यातायात मध्यम दूरी के लिए सुविधाजनक एव सस्ता होता है, क्योकि रेलो की भाँति उसमे न तो अधिक स्टेशनो, स्टेशन कर्मचारियो एव अन्य कर्मचारियो की जरूरत होती है। यह प्रतियोगिता प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही क्रमश बढने लगी परन्तु इसकी तीव्रता का प्रभाव सन् १६२६ की आर्थिक मन्दी मे रेल यातायात पर विशेष हुआ। इस काल मे रेलो की आय इतनी कम हो गई कि वे साधारण बजट को दी जाने वाली राशि का भुगतान करने में असमर्थ हो गई। रेल सडक प्रतियोगिता

* Report of the Wedgewood Committee

का निवारण करने एव उनमें सामजस्य लाने की दृष्टि से सन् १९३२ मे मिचेल ककनेस समिति की नियुक्ति की गई थी । इस समिति का कथन है '—"रेलो मे अधिक भीड़-भाड होने का दोष सत्य है । हमे ऐसे बहुत कम स्थान मिले जहाँ से इस सम्बन्ध की शिकायतें न हो ।" इसके साथ ही समिति ने प्रतियोगिता निवारण के लिए मोटर यातायात में सामजस्य लाने के लिए यातायात केन्द्रीय सलाहकारी सभा के निर्माण करने की सिफारिश की । इसके अलावा समिति ने यह भी सिफारिश की कि ये दोनो सामाजिक सेवाएँ होने के नाते इनमे सामजस्य रखा जाय तथा सडको का विकास समुचित रीति से होने के लिए सडक यातायात का नियन्त्रण हो ।

इसके बाद सन् १९३७ में वेजवुड समिति ने भी इस प्रश्न पर विचार किया तथा मोटर यातायात के लाइसेंसिंग, निरीक्षण एव नियन्त्रण की सिफारिश की, जिससे रेल यातायात के साथ अनुचित प्रतियोगिता का अन्त हो जाय । इस सिफारिश के अनुसार सन् १९३९ में 'मोटर वेहिकल्स अधिनियम' बनाया गया, जिसका उद्देश्य सडक यातायात का नियन्त्रण एव सामजस्य करना है । इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक राज्य के २ अथवा अधिक प्रादेशिक विभाग बनाए गये हैं तथा प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक प्रादेशिक यातायात अधिकारी है । साथ ही, प्रत्येक प्रान्त मे प्रान्तीय यातायात अधिकारी है, जो प्रादेशिक यातायात अधिकारियो के साथ सामजस्य रखता है । इस अधिनियम से प्रत्येक मोटर का बीमा कराना अनिवार्य है । प्रत्येक मोटर को प्रादेशिक अधिकारियो से निश्चित क्षेत्रीय यातायात का परमिट लेना होता है तथा उन पर निश्चित यात्री अथवा माल तथा गति के सम्बन्ध मे शर्तों का पालन अनिवार्य है ।

रेल सडक सामजस्य—

रेल एव सडक यातायात की परस्पर प्रतियोगिता समाप्त कर उनको परस्पर पूरक बनाने के लिए उनका सामजस्य ही एक मात्र साधन है । इस दृष्टि से सडको का भावी निर्माण एव विकास योजनाबद्ध रीति से इस प्रकार हो कि रेलो को सडक यातायात पूरक हो सके । अत रेल मार्गों के समानान्तर सडकें नही बनाना चाहिये, अपितु उनका विकास अन्य क्षेत्रो मे हो, जहाँ यातायात सुविधाओ की कमी है । इससे देशी यातायात साधन बढकर सडक यातायात रेलो के लिये पूरक सडको का कार्य करेंगे एव अधिक यात्री तथा माल के आवागमन की पृष्ठ-भूमि का विकास करें । साथ ही, यातायात सुविधाओ के दुहरेपन का यथासम्भव निवारण किया जाय । यद्यपि आजकल यातायात साधनो का राष्ट्रीयकरण हो रहा है, जिससे विभिन्न यातायात साधनो का विकास योजनाबद्ध एव विभिन्न साधनो में सामजस्य रखने की दृष्टि से होगा । फिर भी देश के सम्पूर्ण साधनो का राष्ट्रीयकरण असम्भव ही नही अपितु वर्तमान स्थिति मे कठिन है । अत विभिन्न साधनो में सामजस्य के लिए उन पर सरकारी नियन्त्रण आवश्यक है, जिस ओर सरकार ने आवश्यक कार्यवाही की है ।

रेल एव सडक यातायात मे प्रभावी सामजस्य लाने के लिए रेल एव महत्त्व-पूर्ण यातायात उपक्रमो की वित्तीय व्यवस्था को एक साथ लाने की ओर आवश्यक प्रयत्न किये जा रहे है। बम्बई, उडीसा तथा मध्य-प्रदेश के मोटर उपक्रमो मे रेले भी हिस्सा ले रही है। योजना आयोग ने सामजस्य स्थापित करने के लिए जहाँ प्रान्तीय मोटर यातायात है वहा निगम बनाने की सिफारिश की है। इस प्रकार के यातायात निगम बम्बई, दिल्ली तथा बिलासपुर (मध्य-प्रदेश) में हैं। इस कार्य की प्रगति के लिये सडक यातायात निगम अधिनियम सन् १९५० में बनाया गया था, जो अब बिहार, हैदराबाद, मैसूर तथा कच्छ मे लागू कर दिया गया है, जिससे वहाँ ऐसे यातायात निगमो का निर्माण हो सके। इसके साथ ही रेल एव सडक यातायात मे सामजस्य लाने एव सडक यातायात के पुनर्गठन कार्य मे काफी प्रगति हो चुकी है, क्योकि मद्रास, बम्बई, मध्य-भारत तथा उत्तर प्रदेश आदि राज्यो मे सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है।

सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—

रेल-सडक प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण ही एक मात्र मार्ग है, जिसको भारत के लगभग सभी बडे राज्यो मे मान्यता दी गई है। इतना ही नही, प्रत्युत अनेक राज्यो मे सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, जिसमें बम्बई, मध्य-प्रदेश, पजाब, मद्रास, उडीसा, पश्चिमी बङ्गाल तथा दिल्ली हैं, परन्तु इन प्रान्तो मे राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्तो मे समानता नही है, जैसे—बम्बई एव मध्य-प्रदेश मे मोटर यातायात का सचालन अर्द्ध सरकारी निगम के रूप में होता है तो उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत क्षेत्र तथा मद्रास मे इनका सचालन सरकारी विभागो द्वारा होता है। इसके अलावा अन्य प्रान्तो में सरकार मोटर बसो का सचालन कर रही है, परन्तु अभी तक मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण यात्रियो के यातायात तक ही सीमित है तथा माल ढोने का कार्य निजी मोटर वाले ही करते हैं।

राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे योजना आयोग के विचार माननीय हैं। यातायात सचिवालय के परामर्श मे योजना आयोग ने सडक यातायात की विकास समस्याओ का अध्ययन एक विशेष दल से कराया था। इस आधार पर ही योजना आयोग ने देखा कि वर्तमान समय मे लगभग सम्पूर्ण माल का यातायात तथा लगभग २५% यात्रियो का मोटर यातायात निजी मोटर चालको द्वारा होता है। वर्तमान मोटर यातायात सेवाएँ अपर्याप्त हैं और गत कुछ वर्षों मे उनका विकास भी धीमी गति से हुआ, जिसका प्रमुख कारण राष्ट्रीयकरण का भय, मोटर यातायात पर करो का उच्च स्तर, अन्तर्राज्य मोटर सेवाओ पर प्रतिबन्ध, थोडे समय के लिए परमिटो की स्वीकृति आदि है।

पहिली योजना मे सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण के लिए १० करोड रु० व्यय किए गए तथा दूसरी योजना मे १३.५ करोड़ रु० का आयोजन है। राज्य सर-

ारो को यह सलाह दी गई है कि वे इस हेतु निगमो की स्थापना करें। रेल्वे भी इन निगमो में साझेदार हो सकती है, जिसके लिए १० करोड रु० का प्रबन्ध योजना मे है। इसके अतिरिक्त तीन करोड रु० दिल्ली ट्रान्सपोर्ट सर्विसेज के लिए भी हैं। इस प्रकार दूसरी योजना मे कुल २७ करोड रु० की व्यवस्था है, जिससे ५,००० अतिरिक्त गाडियाँ खरीदी जायेंगी तथा आवश्यक वर्कशॉपो की स्थापना होगी। तीसरी योजना के अंतर्गत मोटर यातायात का विकास निजी क्षेत्र मे होगा। राष्ट्रीयकृत मोटर यात्री यातायात के लिए तीसरी योजना मे १८ करोड रु० का आयोजन है, जिससे यात्री-गाडियो की संख्या मे ५,००० से वृद्धि होगी। रेल्वे द्वारा मोटर यातायात मे योगदान देने के लिए तीसरी योजना में १० करोड रु० की व्यवस्था है।

सडक द्वारा माल यातायात का राष्ट्रीयकरण वर्तमान अवस्था मे न करने का विचार है। इसलिए मसानी समिति (सडक यातायात पुनर्गठन समिति) की सिफारिशें मान ली गई हैं, जिनमें से प्रमुख सिफारिशें हैं —

(१) सडक यातायात एवं सडक निर्माण मे सामंजस्य।
(२) राज्य यातायात अधिकरण का निर्माण।
(३) राज्य-अपील न्यायाधिकरणो का निर्माण।
(४) लाइसेंस देने की नीति मे उदारता।
(५) ट्रक के साथ ट्रेलरो के उपयोग को प्रोत्साहन देने के लिए वेहीकिल कर मे ट्रेलर के सम्बन्ध मे छूट दी जाय।

इन सिफारिशो का अनुमोदन राज्य यातायात कमिश्नरो के सम्मेलन मे किया गया।* इस प्रकार देश मे सडक निर्माण एवं सडक यातायात के विकास को सीमित साधनो से प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

---

* Journal of Trade & Industry Nov 1959.

अध्याय १६

जल यातायात

(Water Transport)

"प्रत्येक प्रकार के यातायात का विशेष क्षेत्र एव कार्य होता है। यह मान्यता है कि जल मार्ग और रेल मार्ग एक दूसरे के प्रतियोगी नही बल्कि पूरक हैं।"

प्राचीन काल में भारत समुद्री यातायात मे बहुत प्रगति पर था। पश्चिम मे ग्रीस तथा मेसीडोनिया तक एव पूर्व मे जावा तक भारत का सम्बन्ध था। इतना ही नही, प्रत्युत भारतीय जहाजी कला विश्व के ईर्ष्या का विषय थी। 'युक्तिकल्पतरु' नामक सस्कृत ग्रन्थ मे नदी तथा समुद्री यातायात साधनो का निर्माण करना एव विज्ञान का वर्णन मिलता है, जो प्राचीन भारत में नौवहन (Navigation) कला के महत्त्व का परिचायक है।

जल यातायात को हम दो भागो मे बाँट सकते हैं—(१) आन्तरिक अथवा नदी द्वारा यातायात, (२) समुद्री यातायात।

(१) नदी यातायात—

भारत मे प्राचीन-काल मे नदी यातायात का आन्तरिक आवागमन एव माल ढोने के लिए काफी महत्त्व था। इसका प्रमाण सांची स्तूप आज भी दे रहा है, जो ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का है। इसी प्रकार मैगेस्थनीज, जिसने भारत का २,००८ वर्ष पूर्व भ्रमण किया था, ने गगा एव उसकी १७ सहायक नदियो तथा सिंध एव उसकी १३ सहायक नदियो में नौवहन का उल्लेख किया है। १४वी शताब्दी मे नदी, नहरें तथा अन्य जल स्रोतो मे नौवहन भारत का समृद्ध व्यापार था, जिनमे गगा एव सिंध उसकी सहायक नदियो द्वारा नदी यातायात का महत्त्वपूर्ण साधन था। इसके साथ ही सुरक्षा की दृष्टि से भी नदी यातायात महत्त्वपूर्ण साधन था।* इतना ही नही, अपितु आज भी हम बडी नावो द्वारा गगा के आस-पास माल का यातायात देखते हैं।

* "It opens a communication between the different posts and serves in the capacity of a *military way* through the country and infinitely surpasses the celebrated inland navigation of North America where the carrying places not only obstruct the progress of an army but enable the adversary to determine his place and mode of attack with certainty'—Map of Hindoosthan or the Moghul Empire by Rennell

नदी यातायात का विकास एवं अवनति*—

आधुनिक ढंग पर भाप चालित स्टीमर का प्रयोग भारत में सर्व प्रथम सन् १८२३ मे हुआ। जब 'डायना' नामक स्टीमर ने कुलपी रोड से कलकत्ते तक की हुगली नदी पर यात्रा आरम्भ की। इसके बाद सन् १८३४ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माल एवं अधिकारियो के यातायात के लिए कलकत्ता तथा गगा नदी के स्टेशनो पर नियमित रूप से मासिक यात्रा चालू की गई। इसी समय गगा तथा ब्रह्मपुत्र नदी पर यातायात सुविधाएँ देने के लिए नौवहन कम्पनियो की स्थापना हुई, परन्तु आज भारत तथा पूर्वी पाकिस्तान के जल मार्गों की लम्बाई ५,००० मील है, जबकि ३० वर्ष पूर्व घाघरा नदी से अयोध्या तक जल यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध थी। फिर भी अधिकतर माल का यातायात देशी नावो (Cargo boats) से होता था, जिनकी सख्या कलकत्ता, हुगली तथा पटना मे क्रमश १,७८,६२७, १,२४,५३७ तथा ६१,५७१ थी।

सन् १८५४ में रेल यातायात के विकास के साथ जल यातायात की अवनति होने लगी। प्रारम्भ मे प्रमुख रेल मार्ग के कारण जल यातायात रेलो को पूरक रहा, परन्तु जैसे ही जलमार्गों के समानान्तर रेल मार्ग बनाये गए वैसे ही जल यातायात की अवनति होने लगी, क्योकि जल मार्गो द्वारा होने वाला यातायात रेलो ने छीन लिया। दूसरे, जल यातायात असगठित एव असुरक्षित होने के कारण रेलो द्वारा माल के यातायात को प्रोत्साहन मिला। तीसरे, आन्तरिक जल मार्ग के महत्त्व एव विकास की ओर सरकार ने किसी प्रकार का ध्यान नही दिया। इसके बाद रेलो के साथ ही सिचाई योजनाओ का आरम्भ हुआ, जिससे जल यातायात को गहरा धक्का लगा, क्योंकि नहरो आदि सिचाई के साधनो के निर्माण से नदियो मे नौवहन के लिए पानी की कमी हो गई।

जल यातायात की वर्तमान स्थिति—

रेलो के विकास के साथ जल मार्गो का भारत मे महत्त्व कम होता गया तथा उसके विकास की ओर तत्कालीन सरकार ने विशेष ध्यान नही दिया। फलत सन् १९०५ मे गगा एव उसकी सहायक नदियो पर चलने वाली नावो (Cargo boats) की सख्या १,५०० के लगभग रह गई। यद्यपि इनकी सख्या मे अब वृद्धि हो चुकी है, फिर भी जल मार्ग देश के केवल ईशान्य भाग मे अर्थात् गगा ब्रह्मपुत्र तक ही सीमित रह गए है। बडे-बडे स्टीमर्स आज भी गगा नदी मे पूर्वी पाकिस्तान से पटना तक ६२० मील की दूरी पर चलते हैं। पूर्वी भारत मे कलकत्ते से डिब्रूगढ तक १,१७५ मील दूरी तक स्टीमरो से यातायात होता है, परन्तु स्टीमरो तथा बडी नावो के लिए स्थायी एव बारहमासी जल मार्गों की लम्बाई ४,००० मील है। इसके अलावा छोटी नौकाओ से यातायात के अन्य जल मार्ग उपलब्ध है। गगा ब्रह्मपुत्र पर वार्षिक

---

* Water Transport in India—C W P C Publication पर आधारित।

यातायात ६,२५० टन मील होता है और लगभग इससे दुगुना यातायात देशी नौकाओ द्वारा किया जाता है। सन् १९४९ के आँकडो के अनुसार कलकत्ते से होने वाले कुल यातायात का १२वाँ हिस्सा जल मार्गों द्वारा ढोया जाता है। इससे जल यातायात का महत्त्व स्पष्ट होता है।

जल यातायात के विकास की ओर—

रेल यातायात की अपेक्षा जल यातायात भारी से भारी माल ढोने का सस्ता साधन है, परन्तु इसके आवागमन मे अधिक समय लगता है। इस कारण जल यातायात एव रेल यातायात एक दूसरे के प्रतियोगी न होते हुए यदि ठीक रीति से इनका विकास किया गया तो सहायक है। कारण, रेल यातायात ऐसी वस्तुओ के लिए सुविधाजनक है जिनके यातायात मे नियमितता एव शीघ्रता की आवश्यकता हो तथा जो वस्तुएँ कम भारशील हो। इसके विपरीत कम कीमत वाली, किन्तु अधिक भारशील वस्तुओ के यातायात के लिए, जिनमे समय का विशेष महत्त्व नही है, जल यातायात ही एकमेव साधन है। फिर भी भारत विभाजन तक इसके विकास की ओर कोई ध्यान नही दिया गया था।

इसके बाद भारत की राष्ट्रीय सरकार ने इस ओर ध्यान दिया तथा देश के जल यातायात का विकास एव योजना का भार केन्द्रीय जल एव शक्ति आयोग को सौपा गया। आन्तरिक जल यातायात सम्मेलन मे नियुक्त यातायात सर्वे समिति ने यह राय दी थी :—"भारत में कलकत्ते से होने वाला सब आयात का उत्तर-प्रदेश को होने वाला यातायात जल मार्गों से ही किया जाय।" इस समिति ने जल यातायात की उन्नति के लिये जल मार्गो के आस-पास अधिक औद्योगिक विकास करने की सिफारिश भी की थी। आन्तरिक जल मार्गो के विकास के लिए भारत सरकार के निमन्त्रण पर नौवहन विशेषज्ञ श्री ऑटो पॉपर सन् १९५० मे भारत आए थे, जिन्होने यह सम्मति दी कि यदि भारत के जल मार्गो का सगठित ढग पर विदोहन होता है तो वे रेल यातायात के समान हिस्सेदार होकर सिंचाई के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं।

आन्तरिक जल मार्गों के विकास के लिए केन्द्रीय जल एव शक्ति आयोग ने काफी काम किया है, जिसके अनुसार दामोदर घाटी योजना के अन्तगत हुगली का रानीगज कोयले की खानो से सम्बन्ध करने के लिए एक नहर का निर्माण होगा। बम्बई मे काकरपारा योजना के अन्तगत सूरत से काकरपारा बाँध तक जल माग बनाया जायगा। इसी प्रकार हीराकुण्ड बाँध योजना की पूर्ति पर महानदी योजना ३०० मील लम्बाई तक जल यातायात के लिए उपयुक्त बनाई जायगी। इसके अलावा गगा-बराज योजना के निर्माण का अनुसन्धान कार्य भी पूर्णता पर है, जिससे मुर्शिदाबाद जिले से उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की गगा पद्धति मे जल मार्ग उपलब्ध हो सकेंगे। इस योजना से कलकत्ते से बिहार की दूरी ५०० मील से कम हो जायगी। इन योजनाओ के अलाव गगा, सोन, रिहन्द तथा नर्मदा नदी पर बाँध तथा तानो

(Locks) द्वारा एक नहर पद्धति से भारत के पूर्वी एव पश्चिमी तट के जोड़ने की दीर्घकालीन योजना है। इसके अतिरिक्त वर्तमान जल मार्गों की उपयोगिता बढाने के लिये वर्तमान नदियो की गहराई बढाई जायगी तथा उनमे नौवहन की दृष्टि से सुधार किया जायगा।

इन योजनाओ के साथ जल सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाने के लिए पूना मे एक केन्द्रीय जल सशोधन केन्द्र की स्थापना हो चुकी है।

देश के आन्तरिक जल यातायात के विकास की ओर गगा-ब्रह्मपुत्र जल यातायात सभा की सन् १९५२ मे स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस सभा का कार्य जल यातायात एव नौवहन सुविधाओ का विकास एव सुधार करना, पजीयन एव अनुज्ञापन सम्बन्धी शासकीय समस्याओ को सुलझाना, यात्रियो एव माल के भाडे की दरें निश्चित करना तथा देशी नौकाओ (रस्से से खीचे जाने वाली) के सचालन के लिए प्रमुख योजना (Pilot Project) बनाना है। इसके लिए सयुक्त-राष्ट्र तान्त्रिक सहायता प्रशासन से भारत ने सहायता प्राप्त की है।

पच-वर्षीय योजनाएँ—

यह अनुमान है कि भारत मे आधुनिक नावो के योग्य ५,००० मील, मशीन-चालित जहाजो योग्य १,५५७ मील तथा बडी देशी नावो के योग्य ३५७ मील के जल मार्ग है। इन जल मार्गों को आधुनिक नावो के योग्य बनाने की सम्भावना है। यह नदी की गहराई बढाने, नहर बनाने या मिट्टी साफ करने से सम्भव होगा, परन्तु यह अधिक खर्चीला है, अत. इनमें चलाने योग्य विशेष नावो के निर्माण पर ही विशेष ध्यान दिया जायगा। पहिली योजना में स्थापित गगा-ब्रह्मपुत्र सभा ने प्रयोगात्मक दृष्टि से तीन कार्यक्रम हाथ मे लिए हैं। इनमे से दो ऊपरी तथा असम की सहायक नदियो पर हैं तथा तीसरा असम में ब्रह्मपुत्र नदी पर यात्री एव माल यातायात योग्य जहाज बनाने का है।

दूसरी योजना मे आन्तरिक जल यातायात के विकास पर ३ करोड रु० व्यय होगा। इसमें ११५ लाख रु० बकिंघम नहर पर व्यय होगे, जिसे मद्रास बन्दरगाह से जोडा जायगा। ४३ लाख रु० पश्चिमी तट की नहरो पर तथा शेष गङ्गा-ब्रह्मपुत्र सभा के लिए एव पाडु मे आतरिक बन्दरगाहो के विकास के लिए थे। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के स्टीमर-चालको ने सयुक्त रूप से अपने स्टमरो के आधुनिकीकरण की योजना भी बनाई है। साथ ही माल-जहाजो के आधुनिक डिजाइनो के निर्माण के लिए दूसरी योजना की शेष अवधि मे १५ लाख रु० ऋण सहायता के लिए रखे गए हैं।*

तीसरी योजना मे आतरिक जल यातायात के विकास के लिए ६ करोड रु० की व्यवस्था है। आतरिक जल यातायात की समस्याओ का अध्ययन हाल ही मे आतरिक जल यातायात समिति ने किया था, जिसने "देश के प्रमुख जलमार्गों की

* भारतीय समाचार, मई १, १९६०।

सुरक्षा एव सुधार की जिम्मेवारी केन्द्र सरकार पर हो" यह सिफारिश की। इसके साथ ही जल यातायात के विकास के लिए कुछ योजनाएँ भी दी थी। तदनुरूप तीसरी योजना के विस्तृत कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं। इनमे से जिन पर अभी विचार हो रहा है वे निम्न हैं :—

महत्त्वपूर्ण नदियो का हायड्रोग्राफिक सर्वेक्षण, ब्रह्मपुत्र नदी एव सु दरवन क्षेत्र के लिए ड्रेजर (Dredgers), आसाम में जहाज मरम्मत सुविधाएँ, कुछ राज्यो की, विशेषत: आसाम और केरल की नौवहन योग्य नदियो का सुधार तथा सुन्दरवन मे देशी नौकाओ को बाधने (Towing) की योजना।[1]

नवीन विकास—[२]

(१) भारत की नदियो मे जल परिवहन की क्षमता का पता लगाने के लिए केन्द्रीय जल और विद्युत आयोग गगा, यमुना, नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा, गोदावरी और महानदी मे गहराई, बहाव आदि सम्बन्धी जाँच करेगा।

(२) अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास के लिए एक केन्द्रीय शिल्पिक सगठन की स्थापना सरकार के विचाराधीन है।

(३) इस समय २,६०० मील लम्बी नहरो मे नाव या स्टीमर से माल यातायात हो सकता है। इसमे दामोदर घाटी नहर और तुङ्गभद्रा की बाई नहरो का समावेश है। महानदी के डेल्टा की नहरो के सुधार की योजना बनाई गई है। राजस्थान नहर मे भी परिवहन व्यवस्था करने पर विचार हो रहा है।

(४) नर्मदा-सोन गगा, नर्मदा-वेन, गगा-गोदावरी, नर्मदा-यमुना गगा का तटीय जलमार्ग बनाने का कार्यक्रम तैयार हो चुका है। इसके सिवा कुछ और नदियो को एक दूसरे से मिलाने का प्रश्न भी विचाराधीन है।

इससे आशा है कि भारत की पूर्वी और पश्चिमी नदियो मे जल-परिवहन का बहुमुखी विकास होगा। इससे शताब्दियो पुरानी जल परिवहन परम्परा का पुनरुद्धार होगा और समुद्र से जल मार्ग द्वारा देश मे काफी दूर तक माल का यातायात हो सकेगा।

(२) समुद्री यातायात—

अतीत सामुद्रिक यातायात प्राचीन काल मे बहुत बढा-चढा था। जहाजी शक्ति के विकास के कारण ही भारतीय सभ्यता अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी, जिसका प्रभाव विदेशी सभ्यता पर भी अधिकाश मे पडा।[3] हमारे जहाजी उद्योग की विकसित स्थिति का प्रमाण इतिहास से मिलता है, जहाँ सिकन्दर का भारत से लौटते समय २,००० भारतीय जहाजो के उपयोग का लेख है। मुगल एव मराठा

1 A Draft Outline—Third Five Year Plan.
२ भारतीय समाचार जुलाई, १५ सन् १९६०।
3 History of Indian Shipping—Radhakumud Mukherji

शासन काल मे भी यहाँ की जहाजी शक्ति सुदृढ थी एव जहाजी उद्योग अत्यन्त उन्नति
स्थिति पर था। इतना ही नही, प्रत्युत इसके बाद "सन् १७८६ मे भी भारतीय
व्यापारियो के पास इतने जहाज थे, जितने ईस्ट इण्डिया कम्पनी, डच, फ्रास तथा
अमेरिका के पास कुल मिला कर होगे। १८वी एव १६वी शताब्दी तक भारतीय
व्यापारिक जहाजी कला मे तथा उसके निर्माण मे निपुण थे। इस सम्बन्ध मे लॉर्ड
वेलेजली ने ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को लिखा था —"हमारा विश्वास है कि कलकत्ता का
बन्दरगाह अंग्रेज व्यापारियो की उन सभी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है, जो
लन्दन तक भारतीय माल ढोने के लिए अपेक्षित हैं। बम्बई के बने हुए सागवान
के जहाज इङ्गलैंड के ओक लकडी के जहाजो से अच्छे हैं।" इस पत्र से वेलेजली
चाहता था कि इङ्गलैंड की जहाजी आवश्यकताओ की पूर्ति भारत से हो। परन्तु यह
ब्रिटिश शासको को हानिकर था, इसलिए उन्होने यहाँ की समुद्री शक्ति एव जहाज
निर्माण कला को समाप्त करने के लिए इङ्गलैंड मे भारतीय जहाजो के विरुद्ध नियम
बनाए। इसके साथ ही १६वी शताब्दी मे भाप-चालित जहाजो के निर्माण से भार-
तीय जहाज निर्माण कला को धक्का लगा, जो क्रमश समाप्त हो गई। इस प्रकार
ब्रिटिश कूटनीति से यहाँ का जहाज उद्योग तथा सामुद्रिक यातायात भारतीयो के पास
से निकल गया।

इसके अलावा भारत सरकार की कोई भी राष्ट्रीय जहाजी नीति नही थी।
इस कारण ब्रिटिश जहाजी उद्योगो की प्रगति होती गई तथा भारतीय जहाजी उद्योग
की अवनति। फिर भी कुछ भारतीय उद्योगपति भारतीय व्यापारिक जहाजी बेडा
बनाने के लिए विपरीत परिस्थिति मे भी अथक प्रयत्न करते रहे, परन्तु भारतीय
व्यापारिक जहाजी बेडा अत्यल्प रहा, जिसको सन् १६४४ मे भारत सरकार ने भी
कबूल किया। बगाल के दुर्भिक्ष मे भारत सरकार को व्यापारिक जहाजी बेडे का महत्त्व
प्रतीत हुआ, जिससे आगे उसके विकास के लिए प्रयत्न किए जाने लगे।

जहाजी उद्योग के विकास की ओर—

भारत मे राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पूर्व भारतीय जहाजी उद्योग की
उन्नति के लिए कुछ प्रयत्न किये गये थे। सन् १८२३ में भारतीय व्यापारिक सामुद्रिक
(Indian Merchantile Marine) समिति ने भारत का समुद्रतटीय व्यापार
भारतीयो को सुरक्षित रखने की सिफारिश की थी, परन्तु इस सम्बन्ध मे कोई कार्य-
वाही नही की गई। यही सन् १६३७ में भी हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध मे ब्रिटिश
जहाजी बेडे युद्ध मे लगे होने के कारण भारतीय जहाजी उद्योग की दयनीयता का
परिचय भारत सरकार को मिला। इस कारण युद्ध समाप्त होने पर सन् १६४५ में
जहाजी उद्योग के लिए पुनर्निर्माण नीति उप-समिति भारत सरकार ने नियुक्त की।
इस समिति ने अपनी रिपोर्ट (सन् १६४७) मे—(१) ५ से ७ वर्ष की अवधि में

भारतीय जहाजी उद्योग की क्षमता २० लाख टन करने की सिफारिश की तथा यह वेडा सम्पूर्ण रूप से भारतीय स्वामित्त्व एव सचालन मे होना चाहिए। (२) भारत के तटीय व्यापार का १००% निकटवर्ती देशो के साथ होने वाले व्यापार का ७५% (जैसे—अफ्रीका, मध्य-पूर्वी देश, थाइलैंड, इन्डोचायना, मलाया तथा पूर्वी द्वीप समूह), दूरवर्ती देशो के साथ होने वाले व्यापार का ५०% तथा जर्मनी आदि देशो के शत्रु राष्ट्रो के खोये हुए व्यापार का ३०% भाग भारतीयो के हाथ मे ५ से ७ वर्ष तक आ जाना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्ध मे भारत सरकार ने कोई उल्लेखनीय कार्यवाही नही की।

सन् १६४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के साथ भारत सरकार ने उपरोक्त लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जहाजी कम्पनियो को सहायता देने का निर्णय किया। तदनुसार भारतीय जहाजो के लिए समुद्रतटीय व्यापार सुरक्षित रखने के लिए कदम उठाये गये तथा शिपिंग एक्ट सन् १६४७ से जहाजो का लाइसेंसिग अनिवार्य किया गया। इसके अलावा भारतीय जहाजी हितो की सुरक्षा के लिये श्री भाभा, तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री, के सभापतित्व मे एक जहाजी सम्मेलन हुआ, जिसमे दो अथवा तीन जहाजी निगमो (Shipping Corporations) की स्थापना का निर्णय लिया गया। इन निगमो मे सरकार ५१%मे अधिक पूंजी नही खरीदेगी तथा शेष कोई जहाजी कम्पनी अथवा कुछ जहाजी कम्पनियाँ तथा जनता खरीदेंगी। इन निगमो का उद्देश्य भारतीय जहाजो की टन-क्षमता तथा जहाजी यातायात मे वृद्धि करना होगा। ईस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन अब पूर्ण रूप से सरकारी स्वामित्त्व एव नियन्त्रण मे है। इसके पास २,२६३ जी० आर० टी० टन क्षमता के ६ जहाज है, जो आस्ट्रेलिया, पूर्वी अफ्रीका, मलाया और जापान को नियमित रूप से चलते हैं। जून सन् १६५६ मे इसी प्रकार वेस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन (प्राइवेट) लि० की स्थापना १० करोड रुपये की पूंजी से हुई है। इसके जहाज भारत से फारस की खाडी एव लालसागर के बन्दरगाहो तक पोलैण्ड और रूस तक जाते हैं। ये मार्ग व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। तीसरे निगम की स्थापना अभी तक नही हो सकी है।

इसके अलावा सरकार देशी जहाजी उद्योग के विकास को निम्न रीति से सहायता देती है :—

(१) सरकारी माल अथवा सरकार के नियन्त्रण मे आयात-निर्यात होने वाले माल के यातायात का समुद्र पार व्यापार मे लगी हुई जहाजी कम्पनियो में बँटवारा करना।

(२) ब्रिटिश जहाजी हितो के साथ वार्तालाप के फलस्वरूप भारतीय जहाजी उद्योग को नया व्यापार मिला है, जैसे—भारत-सिंगापुर व्यापार तथा भारत-सयुक्त-राज्य महाद्वीप व्यापार।

(३) विशाखापट्टम मे बने हुए जहाजो को भारतीय जहाजी कम्पनियो को किश्तो पर बिक्री करना ।

(४) योजना-प्रायोग के अनुसार जहाजी कम्पनियो को अपनी टन-क्षमता बढाने के लिए ऋण देना ।

(५) भारत सरकार भारतीय जहाजी कम्पनियो को शिपिंग कान्फ्रेन्सो का पूर्ण सभासदत्व दिलाने के लिए भी प्रयत्न कर रही है तथा अपने दूतावासो का उप-योग इस काय के लिए कर रही है ।

इसी प्रकार सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी भारत-संयुक्त राज्य महाद्वीपीय व्यापार एव भारत-उत्तरी अमरीका व्यापार में तथा इण्डिया स्टीमशिप कम्पनी भारत सयुक्त राज्य महाद्वीपीय व्यापार में भाग ले रही हैं । इसके अलावा ईस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन और वेस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन भारत आस्ट्रेलिया, भारत-मलाया, पोलैण्ड-भारत, रूस-भारत आदि व्यापार में सलग्न है । यह अल्पकालीन प्रगति इस ओर सकेत करती है कि भारत सरकार इस उद्योग की उन्नति के लिए सक्रिय प्रयत्न कर रही है, जिससे इस उद्योग का भविष्य उज्जवल है ।

जहाज-निर्माण—

सामुद्रिक यातायात के विकास के लिए देश मे ही जहाज बनना आवश्यक होता है । इस हेतु सन् १९३१ मे विशाखापट्टम मे हीराचंद वालचन्द के अथक प्रयत्नो से एक कारखाना—हिन्दुस्तान शिपयार्ड—खोला गया । इसमे सरकार और सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन का भाग २ १३ के अनुपात मे है, परन्तु सन् १९५२ मे यह कारखाना पूर्ण रूप से सरकारी स्वामित्व मे लिया गया है, जिससे इसकी उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हो सके । द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे इसी कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता ४ आधुनिक जहाज निर्माण तक बढाने का लक्ष्य है । साथ ही, एक और जहाज निर्माण कारखाने की पूर्ण तैयारी भी इसी योजना मे की जावेगी । दूसरे जहाजी कारखाने की स्थापना के हेतु स्थान निर्धारित करने के लिए जुलाई सन् १९५७ मे कोलम्बो योजना तथा ब्रिटिश जहाज निर्माण सम्मेलन के सयुक्त तत्त्वाधान मे एक तान्त्रिक दल बुलाया गया था । इस दल ने अपना प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत कर दिया । दल ने २९ स्थानो का निरीक्षण कर कोचीन, काडला, ट्राम्बे, ज्ञानखाली और माझगाँव इन पाच स्थानो को दूसरे जहाजी कारखाने के लिए उपयुक्त बताया है । इस हेतु नियुक्त अन्तर्विभागीय समिति ने कोचीन को जहाज-निर्माण कारखाने के लिए उपयुक्त बताया है ।

पच-वर्षीय योजनाओं में—

पहिली योजना मे जहाजी उद्योग की टन शक्ति ३,९०,७०७ टन से ६ लाख टन तक बढानी थी । जहाजो कम्पनियो को अपनी टन क्षमता बढाने के हेतु जहाज खरीदने के लिए १९ ५ करोड रु० की सहायता देने का प्रबन्ध था । कलकत्ता, बम्बई,

मद्रास, विशाखापट्टम और कोचीन बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता (२ करोड टन) बढाने के लिए १२ करोड की व्यवस्था थी। इसके अलावा बन्दरगाहो के अधिकारियो को निजी साधनो से १५.५ करोड रु० व्यय करने थे। कराची बन्दरगाह की हानि पूर्ति के हेतु काडला बन्दरगाह के विकास के लिए योजना की अवधि मे १२.०५ करोड रु० तथा तेल कारखानो को बन्दरगाह सम्बन्धी सुविधाओ का विकास करने के लिए ८ करोड रुपये व्यय होने थे।

प्रथम पच-वर्षीय योजना की पूर्ति से जहाजी उद्योग की टन क्षमता ४,८०,००० टन हो गई। इस हेतु योजना की अवधि मे व्यय २६.३ करोड रु० होना था, परन्तु वास्तव में १८ करोड रु० ही खर्च हो सके तथा शेष दूसरी योजना कार्य मे व्यय होगे। इसके अलावा १,२०,००० टन के जहाज तैयार हो रहे थे,* जो सन् १९५७ तक आ जावेंगे, जिससे ६ लाख टन शक्ति का लक्ष्य पूरा होगा। भारतीय जहाजी कम्पनियो को नए जहाज खरीदकर टन क्षमता बढाने के हेतु २३.७२ करोड रु० के ऋण सुविधाजनक शर्तो पर दिए गए। काडला बन्दरगाह भी तैयार हो गया है, जिससे बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता २६ करोड टन हो गई है। समुद्र-तटीय व्यापार अब पूर्ण रूप से भारतीय कम्पनियो के अधिकार में है।

दूसरी पच-वर्षीय योजना के विस्तृत हेतु निम्न हैं :—

(१) तटीय व्यापार की आवश्यकताओ को पूर्ण करना। इसमें रेल्वे के कुछ ट्रैफिक का तटीय व्यापार मे अपवर्तन करने का समावेश भी है।

(२) भारत के समुद्री (Overseas) व्यापार का अधिक भाग भारतीय जहाजी उद्योग को प्राप्त करने योग्य बनाना। वर्तमान अवस्था मे यह भाग केवल ६% है। इसी प्रकार पडोसी देशो के व्यापार का ४०% भाग भारतीय जहाजी उद्योग को मिलता है। यह अनुपात दूसरी योजना के अन्त तक क्रमश. १२ से १५% और ५०% तक बढाना।

(३) तडाग (Tanker fleet) जहाजी बेडे के लिए केन्द्र का निर्माण करना।

इसके साथ ही दूसरी योजना मे भारत की जहाजी क्षमता मे ३,९०,००० टन की वृद्धि करने का लक्ष्य है। इसमें ९०,००० टन के जहाजो के विस्थापन का भी समावेश है। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक भारत के पास ९ लाख टन का जहाजी बेडा हो जायगा। इस हेतु योजना मे ३७ करोड रु० का आयोजन है। इस लक्ष्य के अनुसार तटीय व्यापार की जहाजी क्षमता १ लाख टन से, विदेशी व्यापार के हेतु जहाजी क्षमता १७० हजार टन से तथा तडाग जहाजी बेडे की शक्ति ३०,००० टन से बढाई जावेगी।

---

* Article by Shri Raj Bahadur, Minister for Shipping, in Amrit Bazar Patrika,'Shipping Supplement April, 1958

मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, कोचीन और विशाखापट्टम बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता में ३०% वृद्धि होगी, जिसके लिए ४० करोड रु० तथा अन्य बन्दरगाहो के विकास पर ५ करोड रु० व्यय का आयोजन है।

भारत के व्यापारिक बेडे मे १,८०० नावें (Sailing Vessels) है, जिनकी परिवहन क्षमता १५० हजार टन है। इनमे से २०० नावो का ४० लाख रु० की लागत से सन् १९६० ६१ तक यन्त्रीकरण किया जावेगा।

दूसरी योजना मे प्रगति—

योजनाकालीन प्रगति की कल्पना निम्न तालिका से होगी .—

(सकल रजिस्टर्ड टन G R T)

जहाजो के प्रकार	पहिली योजना के पूर्व	पहिली योजना के बाद	दूसरी योजना के अन्त मे
समुद्रतटीय तथा पडौसी	२,१७,२०२	३,१२,२०२	४,१२,२०२
समुद्री (Overseas)	१,७३,५०५	२,८३,५०५	४,०५,५०५
ट्रैम्प	—	—	६०,०००
तडागपोत (Tanker)	—	५,०००	२३,०००
साल्वेजटग	—	—	१,०००
योग	३,९०,७०७	६,००,७०७	९,०१,७०७

दिसम्बर सन् १९५९ के अन्त मे भारतीय जहाजी बेडे मे ७ ३९ लाख टन क्षमता वाले १५७ जहाज थे, जिनमे से २ ७४ लाख टन के ८९ जहाज समुद्रतटीय व्यापार में तथा ४ ६५ लाख टन के ६८ जहाज समुद्री (Overseas) व्यापार में थे। ८०,८०० टन के जहाज निर्माण अवस्था मे थे, जो दूसरी योजना की समाप्ति के पूर्व ही प्राप्त हो जावेंगे, जो हमारे लक्ष्य से कुछ कम रहेगा। इसका प्रमुख कारण विदेशी मुद्रा की दुर्लभता एव आन्तरिक आर्थिक साधनो की कमी थी।*

तीसरी योजना के लिए राष्ट्रीय जहाजी सभा ने कुल टन क्षमता का लक्ष्य १४ २ लाख टन रखने की सिफारिश की है, जिसमे से १० ८ लाख टन समुद्री व्यापार तथा ३ ४ लाख टन तटीय व्यापार के लिए हो। इस हेतु टन क्षमता मे ५ २ लाख की वृद्धि सन् १९६५-६६ तक करनी होगी। साथ ही १ ७ लाख टन क्षमता के जहाजों का विस्थापन करना होगा। इस कार्यक्रम की कुल लागत ११९·८ करोड रु० होगी। इसमे १४ करोड रु० जहाजी कम्पनियो के निजी साधनो से दिए जायेंगे। इस समय जहाजी क्षमता बढाने के लिए केवल ५५ करोड रु० का आयोजन है। इसके सिवा ४ करोड रु० जहाज-विकास कोष से उपलब्ध होगे। इसी के अनुरूप जहाजी कम्पनियों का अभिदान ७ करोड रु० अनुमानित है। इस प्रकार ६६ करोड रु० की राशि से

* India 1960,

टन क्षमता में २ लाख टन की वृद्धि हो सकेगी। यह जहाजी क्षमता के विस्थापन के अतिरिक्त है। जहाजी-विकास कार्यक्रम विदेशी सहायता की राशि पर निर्भर रहेगा। योजना को अन्तिम रूप देने के पूर्व और अधिक राशि के आयोजन के प्रश्न पर विचार किया जायगा।

दूसरी योजना मे प्रमुख बन्दरगाहो की लदान क्षमता का लक्ष्य २५ मि० टन था। परन्तु कलकत्ता, मद्रास, विशाखापट्टम और कोचीन बन्दरगाहो की लदान क्षमता मे वृद्धि की जो योजनाएँ दूसरी योजना में कार्यान्वित की गई थी उनकी पूर्ति पर इनकी लदान क्षमता तीसरी योजना मे ४१ मि० टन हो जायगी। तीसरी योजना का प्रमुख हेतु लदान क्षमता मे वृद्धि न होते हुये बन्दरगाह सुविधाओ का विकास करना है। इस हेतु कलकत्ता के पास सहायक बन्दरगाह हल्दिआ का विकास, बम्बई गोदी का आधुनिकीकरण, मद्रास मे भीगी गोदी की पूर्ति तथा मद्रास वर्कशॉप का सुधार एव पुर्नियोजन (re-modelling) किया जायगा। साथ ही काडला मे प्रशिक्षण सुविधायें तथा विशाखापट्टम मे अतिरिक्त बर्थ का निर्माण एव खनिज के लदान के लिए यन्त्रीकरण करने की योजना है। इस हेतु ८५ करोड रुपए का आयोजन है, जबकि दूसरी योजना मे कुल व्यय ६० करोड रु० हुआ है।[1]

नवीन विकास—

(१) जहाज मरम्मत समिति की नियुक्ति भारत सरकार ने वतमान जहाज मरम्मत सुविधाओ की जाच कर उनमे सुधार एव विस्तार की सिफारिशें करने के लिये की थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट मे कहा है कि सरकार व बन्दरगाह अधिकारियो को यह सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि जहाज मरम्मत उद्योग की आवश्यकताओ की पूर्ति की जिम्मेवारी लें। क्योकि इस सम्बन्ध में विदेशो पर निर्भरता सकट के समय खतरनाक सिद्ध हो सकती है। इसलिए समिति ने इस उद्योग के ऐसे पुनगठन की सिफारिश की है जिससे कि वह विदेशी स्पर्धा मे टिक सके।[2] इस समिति के अध्यक्ष भूतपूर्व यातायात एव रेल्वे के डिप्टी मन्त्री ओ०वी० अलगासेन थे।

(२) हिन्दुस्थान शिपयार्ड ने पहिला सर्वेक्षण जहाज भारत मे बनाया, जिसको अक्टूबर सन् १९५९ में पानी में उतारा गया। इसका नाम आई० एन० एस० दर्शक है तथा इसकी क्षमता २,७५० टन है। यह पूर्ण होने पर भारतीय नौ सेना का आधुनिकतम् जहाज होगा। इसमे समुद्री सर्वेक्षण के लिये ओशनोग्राफिक, थर्मोग्राफिक और हायड्रोग्राफिक आदि सामग्री होगी। इसको लम्बाई व चौडाई ३२१ फीट और ४४ फीट तथा गति १६ नॉट होगी। साथ ही वायु-छाया चित्रण के लिए हेलीकोप्टर, जीप, ट्रेलर, क्रेन तथा ६ नौकाएँ (launches) ये विशेष सामग्री होगी। इस पर

---

1 Third Five Year Plan—A Draft Outline
2 Journal of Trade and Industry, Nov. 1959,

२४० अधिकारियो की सुविधा का प्रबन्ध है, जो अभी तक भारतीय नौसेना या व्यापारिक बडे के किसी जहाज पर नही है।*

(३) जहाज बनाने और उनकी मरम्मत के काम आने वाले पुर्जे बनाने के सहायक उद्योगो की सलाहकार समिति ने अपनी पहिली रिपोर्ट में निम्न मुख्य सिफारिशें की हैं :—

(i) इस्पात के नये कारखानो मे सुयोजित कार्यक्रम बनाकर देशी सामान मे ही जहाजो के लिए इस्पात की प्लेटें और सेक्शन बनाने को उच्च प्राथमिकता दी जाय।

(ii) यन्त्र आदि बनाने का कार्यक्रम बनाकर प्रत्येक यन्त्र बनाने की प्राथमिकता निश्चित की जाय।

(iii) यन्त्रो की किस्म, सूक्ष्मता आदि के भारतीय मानक तैयार करने का प्रबन्ध किया जाय। मालवाहू जहाज के डिजाइन के मानक तैयार करने पर भी विचार किया जाय।

(iv) भारतीय मानक संस्था मे जहाज सम्बन्धी विशेषज्ञो की अलग समिति बनाई जाय और उसमे जहाजरानी, जहाज-निर्माण उद्योग, जहाज सम्बन्धी यन्त्रो के निर्माता, जहाजरानी से सम्बन्धित संस्थाओ और सम्बन्धित सरकारी विभागो के प्रतिनिधि हो।

(v) निर्माताओ के लिए बम्बई और कलकत्ता मे जहाजी-यन्त्रो के प्रदर्शन-कक्ष बनाये जायें। जहाजरानी के महानिदेशक देश मे ही यन्त्र आदि बनाने, आयात कम करने और निर्माताओ को तकनीकी सलाह देने की उचित व्यवस्था करें। इस हेतु महानिदेशक को (अ) जहाजरानी, (आ) जहाज-निर्माण और मरम्मत उद्योग तथा (इ) सहायक उद्योगो के लिए आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा का कोटा सौंपा जाय। महानिदेशक ही कोटे के लिए आयात-नियन्त्रण अधिकारियो को सिफारिशे भेजे और उनसे कोटा प्राप्त करें।

(vi) जहाजी सामान बनाने का कार्यक्रम तैयार करने और उसकी पूर्ति में महानिदेशक को सहायता देने के लिए एक सलाहकार समिति का निर्माण हो। इसमे जहाजी कम्पनियो, जहाज मरम्मत उद्योगो, जहाजी सामान निर्माताओ, आयात-नियन्त्रण अधिकारियो, वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय की विकास शाखा, नौसेना तथा अन्य सम्बन्धित संगठनो के प्रतिनिधि हो।

इसके अलावा समिति ने डीजल इञ्जन, सेंट्रीफ्यूगल पप, बिजली का सामान,

---

* Journal of Trade & Industry, Nov. 1959.

तार के रस्से, आग बुझाने के उपकरण आदि आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की हैं।* ये अभी विचाराधीन हैं।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जहाजी उद्योग की उत्तरोत्तर प्रगति होकर उसकी नीव सुदृढ हो गई है। अत: विश्वास है कि भविष्य मे जहाजी व्यवसाय एव जहाज निर्माण उद्योग गत गौरव को प्राप्त करने मे सफल होगा।

अध्याय १७

वायु-यातायात

(Air Transport)

"यह केवल वायु यातायात की ही विशेषता है कि उसके वर्तमान स्तर के विकास का श्रेय दो महायुद्धों को है।"

भारत के विभिन्न यातायात साधनो मे हवाई यातायात का विकास नया है, फिर भी उसकी प्रगति नियमितता, समय एव सुरक्षा के सम्बन्ध मे अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। भारत मे हवाई यातायात के पर्याप्त विकास के लिए काफी गुञ्जाइश है, क्योंकि भारत पूर्व-पश्चिम वायु मार्गों का मिलन स्थान होने से पूर्व-पश्चिमी वायु मार्गों मे भारत को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। दूसरे, उसकी विस्तृत दूरी तथा सम्पूर्ण वर्ष अनुकूल जलवायु के कारण वायु मार्गों के विकास के लिए भारत एक आदर्श देश है। साथ ही, व्यापारिक, राजनैतिक एव सुरक्षा की दृष्टि से नागरिक वायु यातायात का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण आजकल सभी उन्नत देशो मे वायु-यातायात की कार्यक्षम व्यवस्था है। यद्यपि हवाई यातायात अन्य यातायात साधनो की तुलना मे अधिक खर्चीला है, फिर भी देश एव समाज के लिए उसकी विशेष उपयोगिता है। वायुयानो के लिए न तो सडको और रेल मार्गों की आवश्यकता होती है और उडान मे उसके मार्ग मे मौसम के अलावा अन्य किसी भी प्रकार की बाधाएँ न होने से वह कहीं भी जा सकता है। अन्य सब यातायात साधनो की अपेक्षा आकाश यातायात मे उसकी अधिक गति के कारण किसी भी स्थान पर पहुँचने मे कम समय लगता है। परन्तु आकाश यातायात की कुछ सीमाएँ भी हैं :—सञ्चालन व्यय

---

* भारतीय समाचार, मई १५ १९६०।

की अधिकता, कम माल ढोने की शक्ति तथा इसमे मौसमी बाधाओ का भय बना रहता है। हवाई मार्गो से रात मे सफर नही किया जा सकता और उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना पडता है।

उगम एव विकास—

भारत मे सबसे पहिली उडान सन् १९११ मे हुई, जब भारत के सैनिक अधिकारियो को प्रयोग के लिए भेजा गया ब्रिस्टल एरोप्लेन कम्पनी का वायुयान उडाया गया। इस प्रकार भारत में वायु मार्गों का उपयोग सर्व प्रथम सन् १९११ मे हुआ, फिर फरवरी सन् १९११ मे एम-पिकेट नामक फ्रेंच चालक प्रयोग के लिये भारत में शासकीय डाक की पहली थैली प्रयाग से नैनी तक वायुयान मे ले गया। इसी प्रकार सन् १९११ मे ही हवाई जहाज से जाने वाला यात्री सर सेफ्टन ब्रेन्कर था। इसलिए भारत मे हवाई यातायात का आरम्भ सन् १९११ मे हुआ, यह कहना अनुचित न होगा।

सन् १९११ के बाद वायु यातायात के सगठन के लिए कोई भी प्रयत्न नही हुए, जिससे वायु यातायात का विकास न हो सका। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध मे यह अनुभव हुआ कि योरोप, सुदूरपूर्वी देश तथा आस्ट्रेलिया से सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिए भारत मे वायु-यातायात का सगठन होना आवश्यक है। फलत. प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ही सन् १९१८ मे भारत मे नागरिक वायु-यातायात के सगठन एव प्रगति का इतिहास आरम्भ हुआ। इसी समय भारत मे वायुयानो को उतरने तथा ठहरने के लिए हवाई अड्डो की व्यवस्था की गई। इसके अलावा सन् १९१९ मे भारत ने विश्व के ३० प्रमुख देशो के साथ हवाई यातायात सम्बधी समझौते पर पैरिस मे हस्ताक्षर किये। इसका उद्देश्य था कि समझौते के सदस्य देश परस्पर देशो के वायुयानो को अपनी सीमा से न उडने देंगे तथा इन सभी देशो मे वायु यातायात के नियन्त्रण सम्बन्धी नियमो मे समानता रहेगी। यह समझौता होने के बाद यह अपेक्षा थी कि भारत सरकार हवाई यातायात के सगठन के लिए कुछ कार्य करेगी, परन्तु इस सम्बन्ध मे कोई कार्यवाही नही की गई।

इसके बाद जनवरी सन् १९२० मे बम्बई के गवर्नर लॉर्ड लॉयड के प्रयत्नो से भारत मे पहिली नियमित हवाई डाक का सगठन हुआ। इसके सिवा इस बीच नागरिक यातायात के विकास एव सगठन के लिए कोई प्रयत्न नही हुए, अपितु केवल उडान क्लबो की व्यवस्था की गई, जहाँ विदेशी वायुयान ठहर सकते थे।

सन् १९१८ मे कॅप्टन रॉश स्मिथ ने इजिप्त से भारत की पहिली उडान ली, परन्तु सन् १९२५ तक भारत में नियमित वायु सेवा के सगठन के लिए कोई उल्लेखनीय कार्यवाही नही की गई। वास्तव मे सन् १९२५ मे ब्रिटिश वायु मन्त्रालय ने इम्पीरियल एअरवेज लिमिटेड को इङ्गलैंड से भारत तक की हवाई उडान करने का अनुबन्ध दिया। इस कम्पनी का भारत इङ्गलैंड की उडान का पहिला वायुयान क्रॉयडन

से ३० मार्च सन् १९२९ को उड कर ६ अप्रैल सन् १९२९ को करांची पहुंचा। इसी प्रकार करांची से ७ अप्रैल सन् १९२९ को उडा, जो एक सप्ताह मे क्रॉयडन पहुँचा। यही लन्दन-करांची के ५,००० मील वायु मार्ग पर नागरिक वायु सेवा का पहिला सगठन था, जिसने भारत को सर्व प्रथम विश्व के वायु-नक्शे मे विठाया।

वायु यातायात परिषद् सन् १९२६ (Air Board)—

इसी समय सन् १९२६ मे वायु-यातायात के सगठन एव विकास की दृष्टि से भारत की स्थिति की जांच करने तथा सरकारी नीति के निर्धारण पर सुझाव देने के लिए एक वायु परिषद् का आयोजन हुआ। इस परिषद् ने भारत की सभी दृष्टि से वायु यातायात की अनुकूलता तथा आस्ट्रेलिया, सुदूर पूर्वी देश आदि देशो की केन्द्रीय स्थिति को देखते हुए वायु यातायात के विकास एव सगठन पर जोर दिया तथा निम्न सिफारिशें की —

(१) वायुयानो के ठहरने के लिए हवाई अड्डे बनाना चाहिए तथा उन पर एव उनकी आवश्यक वस्तुओ पर सरकारी अधिकार हो। वायु-मण्डल सम्बन्धी सूचनाओ की सुविधाओ के लिये वेतार के तारो की व्यवस्था भी हो।

(२) इस कार्य के सगठन के लिए नागरिक उडान-विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की जाय।

(३) वायु-यातायात के विकास के लिए भारत सरकार नई कम्पनियो को आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन दे।

(४) वायु-यातायात सम्बन्धी भावी समझौते करते समय भारत सरकार की सम्मति अवश्य ली जाय तथा ऐसे समझौतो में भारत सरकार मध्यस्थ की हैसियत से भाग ले।

विकास की ओर—

इन सिफारिशो को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा सन् १९२७ मे आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेवाओ के सगठन के लिए नागरिक वायु-सेवा विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की गई। इसके साथ ही भारत मे नागरिक हवाई अड्डो एव उडान क्लबो की स्थापना की गई। भारतीय अधिकारियो को विदेशो मे वायु-सेवा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। इन उडान-क्लबो मे वायुयानो को चलाने की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया, जिन्होने नागरिक वायु-सेवाओ के विकास मे तथा जनता को वायु-मार्गो से परिचित कराने में उल्लेखनीय काय किया। सन् १९२९ अप्रैल मे, भारत-इङ्गलैंड नियमित साप्ताहिक वायु-सेवा का सगठन हो चुका था। इसी समय भारत के अन्य प्रान्तो मे भी युवको को वायुयान सम्बन्धी साधारण शिक्षा देने के लिए उडान क्लबो की स्थापना की गई। इसके बाद भारत सरकार ने इम्पीरियल एअरवेज कम्पनी के साथ समझौता करके सन् १९३० मे करांची-दिल्ली वायु-सेवा का आरम्भ किया। परन्तु एक साल बाद इस कम्पनी का

समझौता समाप्त होने से दिसम्बर सन् १९३२ से यह वायु-सेवा बन्द हो गई। फिर सन् १९३१ के आरम्भ से दिल्ली उडान क्लब ने इस सेवा को १८ मास तक चालू रखा।

वायु यातायात सुविधाएं देने के उद्देश्य से सबसे पहिला भारतीय सगठन टाटा एअरलाइन्स लिमिटेड था, जिसने १५ अक्टूबर सन् १९३२ से कराची, मद्रास, अहमदाबाद, बम्बई तथा बेलरी को वायु सेवाएं देना आरम्भ किया। इसके साथ ही इस कम्पनी ने कलकत्ता और कोलम्बो के बीच भी वायु सम्बन्ध स्थापित किये। इसकी सफलता से सन् १९३३ में इण्डियन नेशनल एअरवेज लिमिटेड की स्थापना हुई, जिसने कलकत्ता-रगून तथा कलकत्ता ढाका के बीच वायु-सेवा का आरम्भ किया। इसी कम्पनी ने दिसम्बर सन् १९३४ मे करांची से सक्कर एव मुलतान होते हुये लाहौर तक हवाई-सेवा प्रारम्भ की। इस प्रकार सन् १९३३ तक भारत में वायु सेवाओ का सगठन सफलता से होने लगा तथा उनका महत्त्व भी बढा। इसी समय सन् १९३३ मे ब्रिटिश सरकार ने इम्पीरियल एअरवेज से समझौता किया कि वह क्रॉयडन-कराची वायु सेवा को सिंगापुर तक लागू करे, जिससे इङ्गलैंड और आस्ट्रेलिया के बीच सम्बन्ध स्थापित हो सके। इसी समय इण्डियन ट्रासकॉंटिनेन्टल एअरवेज लिमिटेड की स्थापना हुई, जिसमे इम्पीरियल एअरवेज लिमिटेड, इण्डियन नेशनल एअरवेज लिमिटेड तथा भारत सरकार का हित क्रमश. ५१%, २५% तथा २४% था। यही से भारत सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से वायु-सेवाएं देने मे हाथ बँटाया। इससे भारत को लाभ हुआ, परन्तु इस कम्पनी का प्रबन्ध एव नियन्त्रण इम्पीरियल एअरवेज कम्पनी के हाथ मे ही था। इसके बाद सन् १९३७ मे एअर सर्विसेस ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिससे बम्बई तथा काठियावाड रियासतो मे वायु सेवाएं उपलब्ध हो गई।

साम्राज्य वायु-डाक योजना—

नागरिक वायु-सेवाओ के विकास का दूसरा चरण सन् १९३८ मे आरम्भ होता है, जब भारत से साम्राज्य हवाई-डाक योजना का आरम्भ हुआ। इस योजना से साम्राज्य देशो की पहिली श्रेणी की डाक सयुक्त राज्य आस्ट्रेलिया तथा सयुक्त राज्य अफ्रीका के बीच वायु मार्ग से भेजने का प्रबन्ध किया गया। इस योजना को कार्य रूप मे लाने के लिए यात्रियो एव माल के वायु यातायात मे विकास करने की दृष्टि से बडे वायुयानो का उपयोग किया गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे—

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होने से सम्पूर्ण नागरिक वायु यातायात सगठन पर सामरिक जिम्मेवारी आ गई तथा टाटा एअरलाइन्स और नेशनल एअरवेज को वायुसेना-यातायात-आदेशक (Airforce Transport Command) के अनुसार कार्य सचालन करना पडा। इसकी वायु-यातायात क्षमता बढाने के लिए उधार-पट्टे के आधार पर नये वायुयान भी दिये गये। इस कारण इन

कम्पनियो को जो सेवा शुल्क मिला उससे इन कम्पनियो की आर्थिक स्थिति मे काफी सुधार हो गया तथा भारत मे वायु यातायात का विकास भी काफी हुआ। फलस्वरूप भारत मे अनेक स्थानो पर नये हवाई अड्डे बने तथा वायु उडान का नया तन्त्र विकसित हुआ। इससे वायु मार्गों की सुरक्षा बढी एव जनता को उनकी उपयोगिता का अनुभव मिला। साथ ही, अनेक भारतीयो को हवाई-उडान की यान्त्रिक एव तान्त्रिक शिक्षा तथा अनुभव मिला, जो भारत के भावी वायु मार्गों के विकास के लिए आवश्यक ही था।

युद्ध समाप्त होने पर जनता का वायु मार्गों की सुरक्षा एव उपयोगिता मे विश्वास बढने के साथ साथ यात्रियो एव माल के यातायात का परिमाण बढा। इसके साथ अनेक डाकोटा वायुयान जो अब सैनिक दृष्टि से अनावश्यक थे वे मिट्टी मोल बेचे गये। फलतः भारत मे अनेक नई वायु-सेवा कम्पनियो की स्थापना हुई तथा ऐसी ११ कम्पनियो को लाइसेन्स दिये गये।* यद्यपि यात्रियो एव माल यातायात का परिमाण बढ रहा था, फिर भी बढते हुए सचालन व्यय के कारण अनेक कम्पनियो की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई तथा उन्होने सरकारी सहायता की प्रार्थना की। फलस्वरूप १ मार्च सन् १९४८ से वायु यातायात कम्पनियो को सरकारी सहायता मिलने लगी, जिसका सशोधन १ अक्टूबर सन् १९५१ मे किया गया।

वायु यातायात जॉच समिति सन् १९५०—

इसी समय बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस श्री राजाध्यक्ष की अध्यक्षता मे वायु सेवाओ की कार्य प्रणाली की जाँच तथा वायु यातायात उद्योग की सुदृढता के हेतु सिफारिशे करने के लिए एक जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने यह राय दी कि वर्तमान वायु कम्पनियो का प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है। यात्री एव माल के यातायात को देखते हुये कम्पनियो की सख्या अधिक है। इसलिए समिति ने उनके कार्य व्यय मे कमी तथा उनका पुनर्गठन कर उनको चालू रखने की सिफारिश की। इसके साथ ही समिति ने राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अपनी सिफारिश की। परन्तु राष्ट्रीयकरण के लिए वह समय उपयुक्त न होने से ५ वर्ष के लिए उसे स्थगित किया जाय, यह भी कहा।

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे इस समिति ने निम्न दलीले दी —

(१) देश की विभिन्न वायुयान कम्पनियो के नियन्त्रण के लिए एक कॉर्पोरेशन बनाया जाय, जिससे वर्तमान साधनो का अधिकतम् उपयोग हो सके। यह कॉर्पोरेशन व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार अपनी नीति व्यवहार में लाये, किन्तु प्रमुख नीति पर सरकारी नियन्त्रण रहे।

(२) राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त हित-कर है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत वायुयानो की सेवाएँ सस्ती दरो पर एव किसी भी समय उपयोग मे ली जा सकती हैं।

---

* Hindustan Year Book—1954

(३) सरकारी वायुयान कॉर्पोरेशन की स्थापना होने से उसका हेतु केवल लाभ कमाना नही रहेगा, जिससे जनता को सस्ते दरो पर आकाश यातायात की सेवाएँ मिल सकेंगी। कारण, प्रबंध एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण होने से दुहरी क्रियाएँ नही रहेंगी एवं व्यय मे मितव्ययिता होगी।

(४) व्यक्तिगत वायु यातायात कम्पनियो की सफलता के लिए सरकारी सहायता देनी होगी (जो उस समय सरकार दे रही थी) ऐसी दशा मे इनका राष्ट्रीय-करण करना ही अधिक वांछनीय होगा।

वायु मार्ग कॉर्पोरेशन योजना (Airways Cooperative Scheme)—

इसके बाद सन् १९५२ मे योजना आयोग ने वायु यातायात प्रमण्डलो को आवश्यक आर्थिक सहायता तथा उसको प्रति वर्ष दी जाने वाली ४० लाख रुपए की अप्रत्यक्ष सहायता, इन दोनो पहलुओ पर विचार कर यह निर्णय लिया कि वायु यातायात कम्पनियो की अधिकता देश के हित में नही है। इसलिए आयोग ने एक एअरवेज कॉर्पोरेशन का निर्माण कर उसमें वर्तमान वायु यातायात कम्पनियो के एकीकरण की योजना बनाई। इस योजना के अनुसार वर्तमान कम्पनियो के अंशधारियो को उनकी पूँजी के बदले नवनिर्मित एअरवेज कॉर्पोरेशन के अंश देने का प्रस्ताव रखा। सरकार इस कॉर्पोरेशन पर अपना प्रबन्ध एवं नियन्त्रण रखने में सफल हो, इसलिए सरकारी अंश सबसे अधिक परिमाण मे रहेंगे। इस कार्य के लिए तथा १३ वायुयानो के क्रय के लिए ९.५० करोड रुपए का आयोजन भी किया गया।

राष्ट्रीयकरण हो गया—

फलस्वरूप यातायात मन्त्री एवं वर्तमान वायु यातायात प्रमण्डलो के साथ अनेक बार विचार-विनिमय होकर वायु यातायात राष्ट्रीयकरण अधिनियम सन् १९५३ बना। इस अधिनियम से १ अगस्त सन् १९५३ को वायु यातायात उद्योग का राष्ट्रीय-करण हो गया। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप १ अगस्त सन् १९५३ मे आन्तरिक वायु सेवाओ के लिए 'इण्डियन एअरलाइन्स कॉर्पोरेशन' तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु सेवाएँ प्रदान करने के लिए 'एअर इण्डिया इन्टरनेशनल कॉर्पोरेशन' का निर्माण हुआ।

इन वैधानिक निगमो के निर्माण से लाभ—

(१) वायु-यातायात सम्बन्धी उत्कृष्ट सामग्री, वर्कशॉप क्षमता तथा तान्त्रिक विशेषज्ञो का देश हित मे अधिकतम् उपयोग होगा।

(२) सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण निश्चित रूप मे वांछनीय ही था, जो अब सरकारी निगमो के निर्माण से पूर्ण हो गया है।

(३) वायु-यातायात जन-उपयोगी साधन होने से उसका विकास देश हित मे एवं जन-हित मे होगा।

(४) वर्तमान यन्त्र-युग मे वायु यातायात क्षेत्र मे तीव्र गति से तान्त्रिक

इसी राशि मे से इण्डियन एअर लाइन्स के लिए ५ वाइकाउंट वायुयानो की खरीद का आयोजन था, जिसमे से ४ दिसम्बर सन् १९५७ तक आ गए हैं। इसी प्रकार एअर इण्डिया इन्टरनेशनल की बढते हुए ट्रैफिक की मांग पूरी करने तथा नवीन वायु सेवाओ को चालू करने के लिए टर्बोप्रॉप या जेट वायुयानो के क्रय की भी व्यवस्था है। इस योजना के अनुसार ३ बोइङ्ग जेट वायुयानो का आदेश दिया गया है, जो अब (सन् १९६०) आ गए हैं। इनका वेग ६०० मील प्रति घण्टा तथा १२० यात्री ले जाने की क्षमता है।[1]

वायु परिवहन निगम—

इन्डियन एअर लाइन्स कार्पोरेशन के पास इस समय (जनवरी सन् १९६०) ५७ डाकोटा, २२ विकिंग्ज, ६ स्काय मास्टर, ८ हेरोन तथा १४ वाइकाउन्ट वायुयान हैं, जो देश के प्रमुख केन्द्रो को १९,९८५ मील वायु मार्गों से सम्बन्धित करते हैं।

एअर इन्डिया इन्टरनेशनल के पास ९ सुपर कॉंस्टेलेशन, २ कॉन्स्टेलेशन तथा १ डाकोटा हैं। यह निगम २३,४७३ मील वायु मार्गों द्वारा विश्व के १९ देशो से सम्बन्ध प्रस्थापित करता है। सन् १९५९ की दूसरी छमाही मे इण्डियन एअर लाइन्स कॉर्पो-रेशन के विमान अनुसूचित मार्गो पर १,३६,३५,११५ किलोमीटर उडे और इनमे ३,१६,९७९ यात्रियो ने यात्रा की। इसके साथ ही इस निगम ने १,४९,९१,७९१ माल तथा २९,८६,७०४ किलोग्राम डाक का परिवहन किया। इसी प्रकार एअर इण्डिया इन्टरनेशनल के विमान अनुसूचित मार्गो पर ६०,९३,५२९ मील उडे, जिनमे ४७,१६३ यात्री, १४,५८,५९९ किलोग्राम माल तथा ४,३५,८०९ किलोग्राम डाक का यातायात हुआ।[2] इस प्रकार कार्यशीलता की दृष्टि से दोनो ही निगम प्रगति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

दूसरी योजना मे शाताक्रूज, दमदम तथा पालम हवाई अड्डो का विकास जेट वायुयानो की दृष्टि से किया गया तथा इण्डियन एअर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने १० वायकाउन्ट वायुयान प्राप्त किए। इसके सिवा ५ फॉक्कर-फ्रेंडशिप वायुयानो के आदेश दिए हैं। इसी प्रकार एअर इण्डिया इन्टरनेशनल ने ५ सुपर कॉन्स्टेलेशन वायुयान तथा ४ बोईङ्ग जेट वायुयान खरीदे। इन वायुयानो से १९ अप्रेल को ब्रिटेन तथा १४ मई को अमेरिका के लिए एअर इण्डिया इन्टरनेशनल ने जेट सेवा का उद्‌घाटन किया।[3]

तीसरी योजना मे नागरिक वायु परिवहन के लिए ५५ करोड रु० का आयोजन है, जिसमें से २२ से २५ करोड रु० हवाई अड्डो के विकास एव आधुनिकीकरण के लिए तथा ३० से ३३ करोड रु० वायु-परिवहन निगमो के लिए हैं।[4]

---

१ भारत में यातायात—पी० एल० गोलवलकर।
२ भारतीय समाचार मई १५, १९६०।
३ भारतीय समाचार जून १, १९६०।
4 Third Five Year Plan—A Draft Outline.

अध्याय १८

भारत का विदेशी व्यापार

(India's Foriegn Trade)

"बहुत प्राचीन काल से ही भारत एक व्यापारिक देश रहा है। न केवल प्राकृतिक सम्पत्ति और उसके विस्तीर्ण समुद्रतट के कारण बल्कि निवासियों की औद्योगिक कुशलता के कारण इसको एशिया के अन्य देशों से अधिक मान प्राप्त था"—

—विलियम हन्टर

प्राचीन काल से ही भारतवासी अपने विभिन्न प्रकार के कला कौशल के लिए ससार मे प्रसिद्ध रहे हैं। उपलब्ध प्रमाणो से ज्ञात होता है कि ३० शताब्दियो तक भारत पुरानी दुनिया के मध्य मे विश्व की प्रमुख सामुद्रिक शक्ति रहा है। इसके व्यापारिक सम्बन्ध न केवल एशियाई देशो से ही थे, किन्तु उस समय की ज्ञात दुनिया के सभी देशो से थे, जिसमे पूर्व और पश्चिम के सभी उन्नत देश सम्मिलित थे। इसी व्यापारिक क्रिया के कारण ही भारत का नाविक शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे महत्त्व बढा।

भारतीय व्यापार का अध्ययन हम निम्न काल खण्डो मे करेंगे :—

(१) मुस्लिम काल (सन् ११००–१७००)।
(२) अंग्रेजी काल का प्रथम युग (सन् १७००–१६००)।
(३) प्रथम महायुद्ध के पूर्व का काल (सन् १६००–१६१४)।
(४) प्रथम महायुद्ध काल (सन् १६१४–१८)।
(५) महायुद्ध के पश्चात् का काल (सन् १६१८–२६)।
(६) विश्व व्यापारिक मन्दी का काल (सन् १६२६–३५)।
(७) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का काल (सन् १६३५–३६)।
(८) द्वितीय महायुद्ध काल (सन् १६३६–४५)।
(६) महायुद्ध के पश्चात् का काल (सन् १६४५–१६६१)।

मुस्लिम काल मे भारतीय व्यापार—

मुसलमानी शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण विदेशी व्यापार को गहरा धक्का लगा। १३वी शताब्दी के प्रारम्भ मे अफगानिस्तान, मध्य एशिया तथा ईरान को जाने वाले उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग मगोलो के आक्रमण से कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गये। किन्तु पुन व्यापार के लिए सकट

रहित हो गये। इस समय दक्षिणी भारत से मसालो (इलायची, लोग, काली मिर्च, जाविश्री) और कपूर का निर्यात पश्चिमी देशो को बडी मात्रा मे होता था। इसके अतिरिक्त भारत के मोती, अनेक प्रकार के वस्त्र, सिन्ध के बढिया फर्श, गलीचे, हाथी दात और उसकी बनी चीजे, गैडे के चमडे व उससे निर्मित वस्तुएँ, नारियल, कस्तूर, नील, काला नमक, अनेक प्रकार की औषधियाँ तथा मेवे ईरान, मिश्र और अरब को भेजे जाते थे। इनके बदले मे अरब से घोडे, लोहा, सोना, चाँदी, मिस्र से पन्ने की अंगूठियाँ, हीरा, मूँगे, और मिश्री शराब तथा ईरान से ऊनी वस्त्र, केवडा और गुलाबजल तथा मिट्टी का तेल आता था।[1] सोलहवी शताब्दी मे भारत से उत्तर-पश्चिम को जाने वाले मुख्य मार्ग थे—पहला, स्थल मार्ग और दूसरा, जल मार्ग। पहला लाहौर और मुलतान से पेशावर तथा कधार को जाता था। कन्धार से एक मार्ग चीन और दूसरा मध्य एशिया को जाता था। जल मार्ग भी दो थे—एक, फारस की खाडी होकर और दूसरा, लाल सागर होकर। भारत से भेजा जाने वाला माल पहले फारस की खाडी पर स्थित उरमुज बन्दरगाह को भेजा जाता था, जहाँ से जहाजो पर माल लाद कर फारस की खाडी होकर बसरा पहुँचता था और बसरे से दजला, फरात नदियो के मार्ग से ईराक के उत्तरी भाग मे पहुँचता था। वहाँ से ऊँटो और खच्चरो आदि पर लाद कर पहिले दमिश्क और फिर वहाँ से एशिया माईनर तथा दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप को पहुंचाया जाता था।[2]

सत्रहवी शताब्दी के मध्य तक एशिया का व्यापार मुख्यतया अरब, आरमेनिया, गुजराती, मलाबारी तथा बङ्गाली व्यापारियो के हाथ मे था। इन सबमें भी अरब वालो का प्राधान्य था। १६वी और १७वी शताब्दी मे भारत मे सूरत, कालीकट, मछलीपट्टम, सतगांव, चिटगांव आदि निर्यात के मुख्य केन्द्र थे। इन स्थानो से छींट, कीमती सूती वस्त्र, कपास, रेशम, चावल, शक्कर, नील और काली मिर्च आदि का विदेशो को भारी मात्रा मे निर्यात होता था।[3] सूती कपडे पूर्व मे हिन्द चीन, थाईलैंड, मलक्का, जापान, वोर्नियो, सुमात्रा, जावा आदि को जाते थे। पश्चिम मे ये वस्त्र ईरान, अफगानिस्तान, दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका, मिस्र तथा पश्चिमी अरब को भेजे जाते थे। टैवर्नियर लिखता है कि टर्की, पोलैड आदि मे दक्षिण भारत के छपे हुए कपडो की माँग बहुत थी। पश्चिमी यूरोप को गुजरात, कारोमण्डल तथा बगाल की छींट और रेशम का अधिक निर्यात होता था। १७वी शताब्दी का भारतीय निर्यात यह सूचित करता है कि यहाँ के कारीगर कितनी सफलता के साथ विदेशो के विभिन्न वर्गों के लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। एक ओर शासक वर्ग और अमीरो की और दूसरी ओर साधारण निम्न वर्ग के लोगो की रुचि के अनुकूल वस्तुएँ तैयार करने मे वे बडे कुशल थे। सत्रहवी शताब्दी के अन्त तक भारत ससार के व्यापार का केन्द्र

१ कृष्णदत्त बाजपेयी भारतीय व्यापार का इतिहास (१६५२), पृ० २१४-२१५।
2 Moreland India at the Death of Akbar, p 299
3 Petermundy Travelees in Asia, Vol II, pp 154-156.

रहा। फरैरी लिखते हैं —"सारे भारत का सोना, चाँदी घूम-फिर कर अन्त मे भारत मे पहुँचता है।"

श्री विलियम हन्टर के अनुसार पूर्व मे मलाया प्रायद्वीप, पश्चिम मे अरब प्रायद्वीप अथवा चीन के उपजाऊ राज्य की अपेक्षा भारत का ही व्यापार यूरोपीय देशो से अधिक होता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सोलोमन राजा के जहाज मलाबार तट से ही बहुमूल्य माल भर कर लाते थे। प्राचीन काल के रोम साम्राज्य को आवश्यकता की अधिकाश वस्तुएँ भारत से ही प्राप्त होती थी। इसी व्यापार में भाग लेने के उद्देश्य से ही कालम्बस ने अमेरिका और वास्कोडिगामा ने उत्तम आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) का चक्कर लगाकर भारत का पता लगाया। भारत के मसाले, दवाइयाँ, रग, उत्तम लकडियाँ, सूती वस्त्र, जवाहरात, सोना, चाँदी और वस्तुओ ने ही यूरोप वासियो को भारत की ओर आकृष्ट किया।"

१५वी शताब्दी के अन्त मे सबसे पहले पुर्तगाल वाले भारत मे आये। धीरे-धीरे उन्होने भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर गोआ, डामन, ड्यू आदि स्थानो पर अधिकार कर लिया। १६वी शताब्दी मे पुर्तगाल वालो को पूर्वी देशो के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त हो गया, परन्तु पुर्तगालियो के अत्याचार के कारण भारत तथा पश्चिमी देशो के मुसलमान उनसे नाराज हो गए थे और उन्हे भारतीय समुद्र तट से निकालने की चेष्टा करने लगे। जनता की सहानुभूति खो देने से उनकी शक्ति बहुत घट गई, जिससे पुर्तगाल के व्यापार को बडा धक्का लगा। पुर्तगालियो की शक्ति को तोडने मे डचो का भी बडा हाथ था। १६वी शताब्दी के अन्त तक इनका प्रभुत्त्व पूर्वी द्वीपो मे हो गया। डच लोग मसाले, रेशमी और सूती वस्त्र, चावल, अफीम और शोरा बाहर भेजते थे। डचो की बढती हुई व्यापारिक शक्ति को पुर्तगाली, अग्रेज और फ्रासीसी लोग सहन नही कर सके, अत. तीनो मे झगडे होने लगे। अग्रेज और फ्रासीसियो के साथ युद्ध होने से डचो ने भारत मे काफी हानि उठाई। फ्रासीसियो और डचो के परस्परिक युद्धो से इङ्गलैंड ने बडा लाभ उठाया। अग्रेजो ने धीरे-धीरे भारत मे अपना अधिकार बढाना आरम्भ किया और ३१ दिसम्बर सन् १६०० को इङ्गलैंड की रानी एलिजाबेथ ने पूर्वी देशो से व्यापार करने के लिए रायल चार्टर दिया। डा० सरकार का अनुमान है कि ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना के प्रथम ६० वर्षों मे भारत से प्रति वर्ष औसतन एक लाख पौंड (लगभग ८० लाख रु०) का माल इङ्गलैंड भेजा गया। सन् १६८१ मे २२,३४,५१६ पौंड का माल इङ्गलैंड भेजा गया।

ईस्ट इन्डिया कम्पनी की नीति आरम्भ मे भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन देने की थी, क्योकि उसका निर्यात व्यापार इसी बात पर निभर था। किन्तु थोडे समय बाद ही ब्रिटिश पूँजीपतियो के विरोध के कारण उसे यह नीति छोडनी। ब्रिटिश पूँजीपति यह चाहते थे कि कम्पनी ब्रिटिश कारखानो के लिए आवश्यक कच्चा माल भारत

* W W Hunter The British Empire

से निर्यात करने पर जोर दे, अतः कम्पनी ने अपनी नीति बदली और भारत से तैयार माल की अपेक्षा अधिक मात्रा मे कच्चा माल निर्यात किया जाने लगा, जिसकी जगह भारत में इङ्गलैंड के कारखानो का बना हुआ तैयार माल आने लगा। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत औद्योगिक देश से कृषि प्रधान देश बना दिया गया। इसका घातक प्रभाव हमारे व्यवसायो और व्यापार दोनो पर ही पडा। श्रीमती नौल्स के शब्दो मे—"भारत अब इङ्गलैंड मे हुई औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उन्नत कारखानो के लिए कच्चा सामान, रुई, चमडा, तिलहन, रग, जूट आदि निर्यात करने लगा और बदले मे अधिकाधिक मात्रा मे इङ्गलैंड से लोहे और सूत का तैयार माल खरीदने लगा, जबकि अन्य यूरोपीय देशो की क्रय शक्ति फ्रांसीसी युद्धो के कारण कमजोर पड चुकी थी।"

सन् १८६९ मे स्वेज नहर मार्ग खुलने से भारत के विदेशी व्यापार मे नये युग का प्रारम्भ हुआ। भारत और यूरोप के बीच ५,००० मील की दूरी कम हो गई। अन्य कारणो से हमारे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला :—

(१) भारत मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने से देश को शासन व्यवस्था के विचार से एक सूत्र मे बांधा गया, जिससे देश के विभिन्न भागो की राजनैतिक अशांति समाप्त हो गई और व्यापारियो को व्यापार करने में बडी सुविधा मिली।

(२) यातायात के साधनो का देश में काफी विकास हुआ। देश के आन्तरिक भागो से बन्दरगाहो तक आना-जाना सुगम हो गया तथा वहाँ से स्वेज नहर द्वारा यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, फारस, इटली, मिस्र, आस्ट्रिया आदि देशो को माल भेजने की सुविधा हो गई। यात्रा मे अब समय कम लगने लगा, जिससे अनाज आदि काफी मात्रा मे निर्यात किये जाने लगे।

(३) बम्बई और स्वेज नहर के बीच मे समुद्री तार से सम्बन्ध स्थापित हो गया और जहाज-निर्माण उद्योग मे काफी प्रगति होने से व्यापारिक जहाजी बेडो का भी इसी समय विकास हुआ।

फलस्वरूप भारत से कम कीमत की, किन्तु भारी वस्तुएँ विदेशो को जाने लगी —गेहूँ, चावल, तिलहन, चमडा, जूट आदि। उसके बदले मे सूती वस्त्र, मशीनें, रेलो का सामान, कांच का सामान आदि पहले इङ्गलैंड से और फिर जर्मनी, सयुक्त राज्य तथा जापान से आने लगा। यद्यपि कहने के लिये भारत से व्यापार करने की सब देशो को स्वतन्त्रता थी, पर वास्तव मे इङ्गलैंड का भारत के विदेशी व्यापार पर बडा प्रभुत्व था। इसके कई कारण थे—(१) भारतीय रेलो मे ब्रिटिश पूँजी लगी थी तथा उन पर अंग्रेजो का ही अधिकार था, जो केवल अंग्रेज व्यापारियो को ही परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप मे उत्साहित करती थी। (२) बैंकिंग तथा जहाजी कम्पनियाँ अंग्रेजो के ही अधिकार मे थी, तथा (३) देश मे अर्थ नीति निर्धारण करने का काम भी इन्ही के हाथ मे था। १९वी शताब्दी के अन्त तक इङ्गलैंड की यह प्रभुता बनी रही, क्योंकि हमारा ५०% आयात और २५% निर्यात अब भी इङ्गलैंड से ही था। अमेरिकन गृह युद्ध के समय भारत के रुई निर्यात मे काफी वृद्धि हुई।

ब्रिटेन से आने वाले सूती वस्त्रो के आयात में कमी हो गई। इसके अतिरिक्त भारत मे ही १९वी शताब्दी के अन्त मे अकाल आदि की अधिकता के कारण व्यापार में काफी कमी हुई।

इस काल मे भारत का आयात की अपेक्षा कुल निर्यात अधिक रहा और प्राय: प्रति वर्ष कुछ न कुछ शेष रहता था, जो भारत के नाम इङ्गलैंड मे जमा होता था। इसका अधिकाश भाग इण्डियन ऑफिस के खर्च, इण्डियन सिविल सर्विस के नौकरो की पेंशनो, ब्रिटेन को व्याज वाली रकमो, अग्रेज व्यापारियो की जहाजी किरायो और बीमा तथा विनिमय के अनेक प्रकार के खर्चों मे काटा जाता रहा। जो थोडी सी रकम बाकी बचती थी उसका भुगतान सरकारी हुँडियो द्वारा किया जाता रहा। नीचे विभिन्न वर्षों मे भारतीय आयात निर्यात तथा व्यापारिक शेष के आंकडे हैं —*

(लाख रुपयो मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	बाकी
१८५४-५५ से १८५८-५९	२,६८५	२,५८५	—
१८६९-७० से १८७३ ७४	३,३०४	५,६८५	२,३२१
१८८४ ८५ से १८८८ ८९	७,५१३	९,७२८	१,५१५
१८९९ १९०० से १९०३ ०४	८,४६८	१२,४९२	४,०२४

इस काल मे विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएं निम्न थी :—

(१) स्वेज नहर के खुल जाने एव देश में यातायात के साधनो तथा सिचाई क्षेत्रो मे वृद्धि होने से भारत के आयात और निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई।

(२) पहले जहाँ भारत से बहुमूल्य धातुये तथा हल्के वस्त्र आदि निर्यात किये जाते थे, वहाँ केवल भारी कच्चा माल ही अधिक जाने लगा और पक्का माल आयात होने लगा।

(३) व्यापार की दिशा भारत के अनुकूल रहने लगी।

(४) आयात और निर्यात दोनो में ही ब्रिटेन का भाग अधिक रहने लगा।

(५) इस काल मे निर्यात की मुख्य वस्तुएं—चावल, गेहूँ, चाय, जूट, तिलहन, कपास, चमडा आदि थी। आयात की मुख्य वस्तुएं—सूती, ऊनी वस्त्र, मशीनें और लोहे का सामान तथा कांच का सामान था।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व—

इस काल मे भारत का विदेशी व्यापार काफी चमका, क्योकि विश्व मे आर्थिक उन्नति की लहर चल पडी। सोने का उत्पादन और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो मे वृद्धि होने से समस्त विश्व मे व्यापारिक कार्यो मे प्रगति हुई। यह प्रगति

---

* कृष्णादत्त वाजपेयी Principles of Planning, पृ० ३१२-३१३।

केवल सन् १६०८-६ मे कुछ कमजोर पड गई, क्योंकि इस समय मानसून फेल हो गये तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे कई बैंको की स्थिति बिगड गई। किन्तु यह परिस्थिति अधिक काल तक न रह सकी और पश्चिमी देशो की आर्थिक स्थिति सुधरने तथा रुपये और पौंड का विनिमय निश्चित हो जाने से भारतीय व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला।*"

(करोड रुपयो में)

वर्ष	आयात	निर्यात	जोड
१६००-०१	७६ २७	१०४'१६	१८०'४३
१६०७-०८	१०७ ५०	१४८ ४५	२५५ ६५
१६१३-१४	१५० ३५	१६६ ६२	३४६ ६७

इस काल मे भारतीय विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषतायें निम्न थी :—

(१) भारत से निर्यातो मे कच्चे माल की और आयातो मे तैयार माल की अधिकता।

(२) हमारा निर्यात व्यापार आयात व्यापार से मात्रा और मूल्य मे अधिक होता था, जिससे व्यापार की बाकी हमारे अनुकूल रहती थी। किन्तु भारत को बहुत बडी रकम प्रति वर्ष अदृश्य आयात और गृह व्यय के लिये भी चुकानी पडती थी।

(३) भारत के कच्चे माल और अनाज के निर्यात मे इङ्गलेंड का हिस्सा सबसे ज्यादा रहता था।

(४) इङ्गलेंड के अतिरिक्त भारत का व्यापारिक सम्बन्ध गैर साम्राज्य के देशो से क्रमश. बढ रहा था, जो योरोप महाद्वीप के इटली, जर्मनी, फ्रास आदि देशो से भी होता था।

(५) इङ्गलेंड के प्रभाव से भारत ने भी मुक्त व्यापार नीति को अपनाया, जिससे इङ्गलेंड के तैयार माल को भारत मे बेचने के लिए एक बडी मन्डी प्राप्त हो सके।

(६) इस काल के पिछले वर्षों मे विदेशी व्यापार में कुछ कमी आई। इसके प्रमुख कारण थे—महाद्वीप मे औद्योगिक झगडे, बाल्कन युद्ध के आरम्भ होने से भारतीय माल की अमेरिका मे मॉग न होना, मानसून का अनिश्चित होना और देश में बैंकिग सकट होना।

(७) इस काल मे कच्ची रुई और जूट का निर्यात इङ्गलैण्ड को बढने लगा।

वास्तव मे इस काल मे जैसा कि वीरा ऐन्सटी ने लिखा है—बीसवी शताब्दी के पहिले १४ वर्षों मे भारतीय व्यापार में बडी उन्नति और वृद्धि हुई, किन्तु व्यापार मे कोई परिवर्तन नही हुआ। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत का अधिकाश व्यापार

* Parimal Pay India's Foreign Trade Since 1870, p 79.

इङ्गलैंड से होता था, किन्तु जापान और संयुक्त-राज्य अमेरिका का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा था। यही हाल मध्य योरोपीय देशो का था।"[1]

प्रथम महायुद्ध काल (सन् १६१४-१८)—

प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही भारत का विदेशी व्यापार कम हो गया। सन् १९१३-१४ के आधार पर आयात मे ६७% और निर्यात मे ३४% की कमी हो गई। दोनो में ४८% की कमी हुई। जहाँ सन् १९१४ में कुल विदेशी व्यापार ४२७ करोड रुपये का था (आयात १८३ करोड और निर्यात २४४ करोड), वहाँ सन् १९१६-२० मे कुल व्यापार २२३ करोड रुपये का ही रह गया (आयात ६३ करोड रुपये और निर्यात १६० करोड रुपये[2])। इस काल मे कच्चे माल का निर्यात सन् १९१३-१४ मे ३६ ९% से बढकर सन् १९१९-२० मे ५१'७% हो गया तथा इसी अवधि मे तैयार माल के आयात मे ७९ ५% से ७० ४% की कमी हो गई। युद्धकाल में व्यापार कम होने के मुख्य कारण थे—

(१) पडौसी देशो अथवा महाद्वीप के देशो के यातायात मे युद्ध के फलस्वरूप बडी गडबडी उत्पन्न हो गई, जिससे भारत का व्यापार इन देशो से कम हो गया।

(२) महायुद्ध के पूर्व भारत का व्यापार जर्मनी के साथ बढ गया था, किन्तु युद्ध प्रारम्भ होने के साथ शत्रु देश घोषित हो जाने से हमारा व्यापार जर्मनी से प्राय. नष्ट ही हो गया। रूस आदि देशो से यातायात की कठिनाइयो के कारण ही हमारा व्यापार रुक गया।

(३) शत्रु देशो से व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया तथा मध्य यूरोप के देशो से युद्ध के कारण व्यापार कठिन हो गया।

(४) बहुत से देशो ने विदेशो से माल लेना बन्द कर अपने देशो मे ही युद्ध सामग्री उत्पादन करना प्रारम्भ किया, जिससे भारतीय माल की माँग इन देशो में कम हो गई।

(५) यद्यपि युद्ध के समय भारतीय कच्चा सामान विदेशो को कम जाने लगा, किन्तु भारत परतन्त्र था और विदेशो से मशीनें आदि मगवाने की भी सुविधा नही थी। अत. भारत इसको तैयार माल मे परिणित नही कर सकता था।

(६) आयात व्यापार पर पहले से अधिक कर लगा दिया गया था, इससे भी भारतीय व्यापार को धक्का पहुँचा। भारत सरकार ने चाय और जूट पर निर्यात कर भी लगा दिया, जिससे इन वस्तुओ का निर्यात युद्ध काल तक के लिए कम हो गया।

(७) युद्ध-काल में माल ले जाने के लिए जहाजो की भयकर कमी हो गई। जो जहाज भारतीय समुद्रो मे माल ले जाने पर नियुक्त थे अब वे अंग्रेजो के लिए युद्ध

---

1. Vera Anstey Trade of Indian Ocean
2. P C Jain Industrial Problems of India, p 175

सामग्री ले जाने लगे। वाल्टिक तथा काला सागर मे मित्र राष्ट्रो के जहाजो का भी जाना बन्द कर दिया गया तथा बहुत से जहाज जर्मन सेनाओ द्वारा नष्ट कर दिए गये। इस प्रकार भारतीय व्यापार का माल ले जाने के लिए जहाजो की नितान्त कमी पड गई।

(८) युद्ध-काल मे जहाजो की कमी होने तथा सामान भेजने की अधिक माग होने के कारण जहाजी-भाडे मे वृद्धि हो गई तथा समुद्री बीमे का व्यय भी अधिक पडने लगा, इससे हमारा विदेशी व्यापार घट गया।

(९) बहुत से देशो मे अन्धाधुन्ध कागजी मुद्रा छापी गई। इस मुद्रा स्फीति का परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्तुएँ वहाँ बहुत मँहगी पडने लगी।

प्रथम महायुद्ध के अन्त तक भारत के व्यापार की दिशा—

पहले महायुद्ध के पूर्व भारत के निर्यात और आयात में ब्रिटेन का बहुत बडा भाग था, जिसमें भारत कुल आयात का ४०% ब्रिटेन से मँगवाता था। क्रमशः ब्रिटेन से आने वाले माल का प्रतिशत घटने लगा और सन् १९३९ मे वह ३०% ही रह गया। फिर भी ब्रिटेन का हिस्सा अन्य देशो की तुलना मे अधिक था। इसका मुख्य कारण ब्रिटेन का भारत पर आधिपत्य था। जहाँ तक भारत के निर्यात का प्रश्न था, सन् १९१४ के पूर्व कुल निर्यात का केवल २५% ब्रिटेन को जाता था। क्रमशः यह प्रतिशत बढता गया और सन् १९३६ मे ३४% हो गया। ब्रिटेन ने भारत के उद्योग धन्धो मे बहुत अधिक पूँजी लगा रखी थी। ब्रिटेन की जहाजी कम्पनियाँ, बैंक, बीमा कम्पनियाँ भारत की अदृश्य सेवा करती थी, अत. ब्रिटेन को प्रति वर्ष अपनी पूँजी पर लाभ तथा अपनी अदृश्य सेवाओ का मूल्य मिलता था। इसी कारण ब्रिटेन को भारत से अधिक निर्यात होता गया। सन् १९१४ के पूर्व जर्मनी का भारत के आयात व्यापार मे २·४%, सयुक्त राज्य अमेरिका का १ ७%, जापान का ० ६% भाग था, किन्तु सन् १९१४ मे बडा परिवतन हुआ। न केवल ब्रिटेन के भाग मे ही कमी हो गई, वल्कि जर्मनी के व्यापार मे ६ ९% वृद्धि और जापान तथा सयुक्त राज्य के प्रत्येक के साथ व्यापार मे २·६% की वृद्धि हुई। वेल्जियम का व्यापार ३ ९% से २·३% रह गया।

निर्यात व्यापार की दशा मे भी इसी प्रकार से परिवर्तन हुआ। इस शताब्दी के आरम्भ में इङ्गलेंड का भाग २९%, योरोपीय देशो का २५%, पूर्वी देशो का २४% और सयुक्त राज्य का ७% था, किन्तु सन् १९१३-१४ मे यह भाग क्रमश. १४%, २९%, १०% और ९% ही रह गया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक इङ्गलेंड का भाग क्रमशः घटता गया, किन्तु अन्य देशो के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध बढते गये। सुदूर पूर्व के देशो के साथ व्यापार मे हुई कमी छोटे-छोटे देशो के साथ व्यापार बढाकर दूर की गई। वैयक्तिक देशो के साथ भारत के व्यापार मे वृद्धि हुई। फलस्वरूप जर्मनी, जो सन् १९०० मे भारत का तीसरा बडा खरीददार था, सन् १९१४

मे उसका स्थान दूसरा हो गया। जापान की स्थिति भी छठे से तीसरी हो गई और चीन का स्थान दूसरे से हट कर छठा हो गया।*

सन् १६१४-१८ की अवधि मे इङ्गलेंड का व्यापार भारत के साथ कम होता गया। इसका मुख्य कारण उसका युद्ध मे व्यस्त रहना तथा अंग्रेज सरकार द्वारा निर्यात व्यापार पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाना था। इसीलिए आयात व्यापार मे उसका भाग सन् १६१३-१४ मे ६४.१% से घटकर सन् १६१८-१६ मे ४५.५% रह गया। सम्पूर्ण युद्ध काल का विचार करें तो कहा जा सकता है कि युद्ध पूर्व काल के औसत ६२.८% से युद्ध काल का औसत ५६.५% ही रह गया। इसी समय भारत के बाजार से हट जाने के कारण जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ होने वाले व्यापार मे वृद्धि हुई। पहले लोहे की मशीनें जो इङ्गलैण्ड से आती थी वे इन दोनो देशो से आयात होने लगी। इसके अतिरिक्त जापान से काच का सामान, कागज और सूती ,वस्त्र तथा अमेरिका से रंग आदि भी मँगवाया जाने लगा। इन दोनो देशो ने अपने व्यापारिक संगठन स्थापित करने के भरसक प्रयत्न किये।

निर्यात व्यापार में इङ्गलेंड और अंग्रेजी साम्राज्य के देशो के साथ वृद्धि हुई, क्योंकि युद्ध काल मे अधिकाधिक माल भारत से खरीदा गया। इस कारण हमारे निर्यात व्यापार मे इङ्गलेंड का भाग सन् १६१३-१४ मे २३.४% से बढकर सन् १६१८-१६ मे २६.२% हो गया। इङ्गलेंड और ब्रिटिश साम्राज्य दोनो को मिलाकर युद्ध पूर्व के २५.१% और ४१.१% औसत मे युद्धकाल का औसत ३१.१% और ५१.७% होगया। भारत मे जर्मनी का व्यापारिक सम्बन्ध प्रायः टूट सा गया। जर्मनी का फ्रान्स तथा बेल्जियम के कई भागो पर अधिकार होने से इन दोनो देशो से भी हमारा व्यापार कम हो गया। किन्तु जापान और संयुक्त राज्य से निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई, जो क्रमशः ६.२% से १२.१% और ८.६% से १३.८% हुई। इसका मुख्य कारण था कि ये देश युद्ध की विभीषिका से दूर थे तथा मित्र राष्ट्र होने के नाते वे भारत की वस्तुयें खरीदने मे समर्थ थे। इस प्रकार युद्ध काल मे भारत का विदेशी व्यापार बहुत ही थोड़े देशो के साथ सीमित था। यद्यपि निर्यात व्यापार से अधिक प्राप्ति होती थी, किन्तु आयात की कीमतें बढ जाने से हमें चुकाना भी अधिक पड़ता था।

सन् १६१६ से सन् १६२६ के वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार मे अनेक उतार-चढाव आये। प्रथम वर्ष मे भारत का व्यापारिक शेष अनुकूल रहा, किन्तु सन् १६२०-२१ और सन् १६२१-२२ मे यह प्रतिकूल हो गया। युद्ध के तुरन्त बाद ही युद्ध-कालीन प्रतिबन्ध हटने से जहाजो का किराया कम होने और युद्ध के समय जिन राष्ट्रो से व्यापार बन्द हो गया था वह फिर से चालू होने से यद्यपि व्यापार बढा, पर

---

* R M Joshi India's Export Trade, p 159 160

यह स्थिति शीघ्र ही समाप्त हो गई। देश के निर्यात व्यापार में निम्न कारणों से कमी आ गई :—

(१) क्रय-शक्ति के अभाव मे योरोपीय देश विशेष मात्रा मे भारतीय माल नही खरीदते थे।

(२) ब्रिटेन, अमेरिका और जापान मे भी पहले से ही इतना भारतीय माल खरीद लिया गया था कि उनके पास अधिक माल खरीदने की गुञ्जाइश नही थी, क्योंकि इन देशो के बाजार भारतीय माल से पटे पड़े थे।

(३) भारत मे लगातार वर्षा की कमी होने (सन् १६१८-२१) से अनाज की कमी हो गई और अनाज के भाव चढ गये। अतः अनाज का निर्यात रोकना पड़ा।

(४) जापान भी आर्थिक सकट मे फँस जाने से अधिक माल नही मगा सकता था।

(५) भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को बढ़ा देने (१ शि० ६ पेंस से बढ़ा कर २ शि० कर दिया गया) से भारतीय निर्यात पर बुरा असर पड़ा।

(६) स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ होने से विदेशी माल का बहिष्कार होने लगा, जिससे इङ्गलैंड से आने वाले माल मे कमी हो गई और भारतीय उद्योगो की प्रगति हुई।

इस प्रकार हमारा निर्यात व्यापार कम हुआ, किन्तु उधर आयात व्यापार मे वृद्धि होने लगी। युद्ध के कारण जो आयात रुका हुआ था, वह अब सुगमता से होने लगा। रुपये का विदेशी विनिमय बढ जाने से भी आयात को प्रोत्साहन मिला और विदेशो से तैयार माल अधिकाधिक मात्रा मे आयात होने लगा। सन् १६२०-२१ मे भारत के निर्यात से आयात ७६·८ करोड़ रुपये का अधिक था, परन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति बदली और सन् १६२२-२३ तक निर्यात-आयात अपनी सामान्य स्थिति मे पहुँच गये। योरोपीय मुद्राओ मे अब स्थिरता आ गई थी और योरोपीय देशो की आर्थिक स्थिति मे सुधार हो गया था, जो कि सन् १६२६ तक सन्तोषजनक रही।

विश्व मन्दी का काल सन् १६२६-३५—

सन् १६२६ मे विश्व-व्यापी मन्दी आरम्भ हो गई। विभिन्न देशो ने अपनी-अपनी आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से विदेशी व्यापार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध (निर्यात प्रतिबन्ध, ऊँची दरें तथा कोटा पद्धति) लगाना शुरू कर दिये। दुनियाँ के विदेशी व्यापार की मात्रा घटने लगी। भारत कृषि प्रधान देश था और कृषि पदार्थों का मूल्य अधिक गिरा था, अत भारत के विदेशी व्यापार को विशेष हानि हुई। सन् १६२६-३० मे हमारा कुल निर्यात ३१८ करोड़ रुपए का ही हुआ, पिछले वर्ष के निर्यात से यह २० करोड़ रुपए से कम था। जब इसी काल मे आयात २५० करोड़ रुपये का था। यह आयात पिछले वर्ष के आयात से १५ करोड़ रुपये कम का था। सन् १६३१-३२ मे जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान को छोड़ा तब सारा सोना अमेरिका,

फान्स आदि देशो को जाने लगा । इसका प्रभाव भारत पर भी पडा । भारत से सोना अत्यधिक मात्रा मे (चूँकि उसकी कीमत मे वृद्धि हो गई थी) विदेशो को जाने लगा, किन्तु फिर भी हमारे निर्यात-आयात व्यापार मे कोई लाभ नही हुआ । पिछले वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष निर्यात-व्यापार मे ६५ करोड रुपये की कमी हुई । इसी प्रकार आयात व्यापार मे भी ४३ करोड रुपए की कमी हुई । इस काल मे विदेशी व्यापार की बाकी ३०·५६ करोड रुपए से भारत के पक्ष में रही । निर्यात व्यापार के मूल्य मे कमी होने का मुख्य कारण कृषि वस्तुओ की कीमतो मे कमी होना था । सन् १६३२-३३ मे जब सयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वर्णमान पद्धति को छोडा तो विश्व के देशो मे आर्थिक सुरक्षा आन्दोलन की एक लहर सी चल पडी, जिसका असर भारत पर भी पडा । विश्व के प्रमुख देशो ने मिलकर अपने आपको कई व्यापारिक सङ्गठनो मे बाँटा, किन्तु भारत अपनी पराधीनता के कारण किसी भी सङ्गठन में सम्मिलित होने मे असमर्थ रहा । फिर भी इस वर्ष भारत के आयात २५ करोड रुपए से बढे और निर्यात २५ करोड रुपए से कम हुए और व्यापारिक शेष १ ०६ करोड रुपये रहा । आयात मे वृद्धि होने का एक मात्र कारण देश मे राजनैतिक स्थिति मे सुधार तथा भारत का ब्रिटेन के साथ पहिला व्यापारिक (ओटावा) समझौता होना था । इस वर्ष सयुक्त राज्य अमेरिका से हमारा व्यापार कम हुआ, किन्तु इङ्गलेंड के साथ हमारे व्यापार में वृद्धि हुई ।

सन् १६३३-३४ मे हमारे व्यापार में कुछ प्रगति हुई । निर्यात १३६ ०७ करोड से १५०·२३ करोड रुपये तक पहुँच गया और आयात मे १७ करोड रुपये की कमी हो गई । विश्व-मन्दी का प्रभाव सन् १६३२-३३ तक रहा । सन् १६३३-३४ से स्थिति मे सुधार होने लगा । इसका मुख्य कारण यह था कि सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशो ने अपनी आर्थिक मन्दी का सुधार करने की योजनायें कार्यान्वित की । भिन्न-भिन्न देशो मे कच्चे माल की उत्पत्ति पर नियन्त्रण लगाये गये, युद्ध के भय के कारण शस्त्रो पर अन्धाधुन्ध व्यय होने लगा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के देशो ने जो ओटावा पैक्ट किया, उसमे भारत के विदेशी व्यापार को थोडा लाभ हुआ । सन् १६३४ मे भारत-जापानी व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे हो गये ।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व विदेशी व्यापार की विशेषतायें—

(१) भारत विदेशो से मुख्यत पक्का माल मँगवाता था, जिसमे वस्त्र, लोहे का सामान, यन्त्र, घडियाँ, चमडे का सामान, शीशे का सामान, मोटरें, साइकिल, कपडा, सीने की मशीनें, बिसात खाने का सामान, तेल, साबुन, दवाइयाँ, कागज, शक्कर, दियासलाई मुख्य था । जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, भारत मे कारखाने स्थापित होते गये, जिससे पक्के माल का आयात कम होता गया । सन् १६२० तक भारत अपने कुल आयात का ८४% पक्का माल विदेशो से मँगवाता था । इसके उपरान्त सरकार ने धन्धो को सरक्षण देने की नीति स्वीकार की । फलस्वरूप वस्त्रो के

(२) युद्ध काल मे भारत का व्यापार ब्रिटिश साम्राज्य से तथा मध्य-पूर्वी देशो से ही अधिक रहा । आस्ट्रेलिया, कनाडा, मिस्र, ईराक तथा मध्य-पूर्व के देशो से भारत का व्यापार बहुत बढ गया । सन् १९४३ और सन् १९४४ ४५ में ईरान और वहरीन टापू से हमारे यहाँ ३१ करोड और ५३ करोड रुपये का मिट्टी का तेल आया। सन् १९४४-४५ मे सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत का व्यापार ९५ करोड रुपए का था, जबकि ब्रिटेन के साथ केवल १०५ करोड रुपए का व्यापार हुआ ।

(३) युद्ध काल मे भारत के विदेशी व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में रहा, जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :—

करोड रुपये मे

	व्यापारिक शेष		व्यापारिक शेष
१९३८–३९	+१७ ५	१९४२–४३	+८४
१९४०–४१	+४२·०	१९४३–४४	+९२
१९४१–४२	+८० ०	१९४४–४५	+४२

निर्यात नियन्त्रण—

युद्ध काल मे आयात और निर्यात पर सरकार का नियन्त्रण था, जो अब तक चला आ रहा है । जब तक युद्ध चलता रहा, विदेशी व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण का उद्देश्य यही रहा कि युद्ध सचालन में सरकार को अधिकतम सहायता मिले । यातायात और निर्यात दोनो पर नियन्त्रण लगाए गये । निर्यात पर जो नियन्त्रण थे उनका उद्देश्य —(1) शत्रु राष्ट्रो को माल भेजने पर रोक लगाना, (11) कुछ चीजो को जो शत्रु राष्ट्र नही थे, उनको भी भेजने से मना करना, (111) कुछ चीजें जो शत्रु राष्ट्र नही थे, उनको लाइसेन्स द्वारा ही माल भेजने की स्वीकृति देना और कुछ देशो को कुछ चीजें विना लाइसेन्स या मुक्त लाइसेन्स (O G L) के अन्तर्गत भेजने की स्वीकृति देना । मार्च सन् १९४० से विदेशी विनिमय पर सरकार का नियन्त्रण होने से निर्यात पर भी नियन्त्रण हो गया । जब तक निर्यात से मिलने वाले विदेशी विनिमय का सरकार के नियन्त्रण सम्बन्धी नियमो के अनुसार उपयोग करने का प्रमाण पत्र पेश नही किया जाता था तब तक निर्यात करने की स्वीकृति नही दी जाती थी । इसका प्रयोजन यही था कि निर्यात के कारण जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो उस पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रह कर वह युद्ध कार्य में उपयोगी हो सके ।

आयात नियन्त्रण—

युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् आयात पर नियन्त्रण किया गया । शुरू-शुरु में मित्र राष्ट्रो को छोड कर किसी भी देश से माल मँगाने की पूरी स्वतन्त्रता नही थी । पहले ऐसी वस्तुओ के आयात पर प्रतिवन्ध लगाये गये, जिनका उपभोग बिना कठिनाई के कम किया जा सकता था अथवा जिनका प्रयोग देश में निर्मित वस्तुओ द्वारा ही किया जा सकता था अथवा ऐसे देशो से आयात किया जाता था,

जहाँ विदेशी विनिमय की समस्या इतनी विकट नही थी । आयात नियन्त्रणो का मुख्य उद्देश्य यह था.—(१) विदेशो से आयात में दी जाने वाली रकम का अभाव किया जा सके । (२) जहाजो की सख्या में किफायत की जा सके, जिससे युद्ध सामग्री अधिक ले जाई जा सके और (३) अधिक से अधिक युद्ध सामग्री का उत्पादन करने मे मित्र राष्ट्र समर्थ हो । मई सन् १९४० में विदेशी विनिमय और खास तौर से दुर्लभ मुद्रा के सचय की दृष्टि से आयात के लाइसेन्स देने की व्यवस्था चालू की गई । आयात लाइसेंस प्राप्त किए बिना विदेशो को माल का भुगतान करने पर रिजर्व बैंक ने प्रतिबन्ध लगा दिया था । मई सन् १९४० मे ६८ वस्तुओ के आयात पर नियन्त्रण लगाया गया । बाद में यह सख्या बराबर बढती गई । जनवरी सन् १९४२ तक लगभग आयात की सब वस्तुओ पर नियन्त्रण लगाया गया ।

इस प्रकार युद्ध काल मे कन्ट्रोलरो की आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई भी व्यापारी न तो कोई वस्तु विदेशो को भेज सकता था और न मँगवा ही सकता था । व्यक्तिगत व्यापारियो को जाँच-पड़ताल के बाद ही लाइसेंस दिया जाता था । तटस्थ राष्ट्रो मे बहुत सी फर्मो का नाम काली सूची मे रख दिया गया, जिन पर यह सन्देह था कि उनके द्वारा वस्तुयें शत्रुओ को पहुँच सकती थी, उन फर्मो से व्यापार करने की मनाई थी । जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, ये नियन्त्रण तथा बन्धन और भी कठोर होते गये, अस्तु सरकारी नियन्त्रण की कडाई अथवा ढिलाई का सीधा प्रभाव हमारे आयात-निर्यात पर पडता था । जब नियन्त्रण ढीला होता था तो विदेशी व्यापार की मात्रा बढ जाती थी और अगर नियन्त्रण कठोर होता तो मात्रा कम हो जाती थी ।

युद्धोत्तर काल (सन् १९४५-६१)—

भारत के युद्धोत्तर विदेशी व्यापार की विशेषता थी कि हमारा व्यापारिक सन्तुलन हमारे विपक्ष मे रहा । इसका प्रमुख कारण खाद्यान्नो की कमी होने से खाद्यान्न का अधिक मात्रा मे आयात होना था । साथ ही, युद्ध काल मे उपभोक्ता वस्तुओ का देश में अकाल होने से सरकारी आयात नीति मे उदारता आते ही उनका सुलभ मुद्रा वाले देशो से भारी मात्रा मे आयात होने लगा । फलस्वरूप सन् १९४४-४५ से सन् १९४६ ४७ के तीन वर्षो में हमारा व्यापारिक सन्तुलन क्रमशः २ ६६, २५ ७१ तथा ५१ २ करोड रुपए से हमारे विपक्ष मे था । यही स्थिति सन् १९४७ और सन् १९४८ मे थी, जिन वर्षों मे हमारा व्यापारिक शेष क्रमश. ५१ २ करोड तथा १०२ ७ करोड रुपए से भारत के अनुकूल रहा । परन्तु सन् १९४६-४७ मे विपक्षीय व्यापारिक सन्तुलन के कारण हमारे सामने कोई गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न नही हुई । क्योकि हमारे पौंड पावने को दूसरे देशो की मुद्रा में बदलने पर कोई प्रतिबन्ध न होने से उसका उपयोग इस विपक्षीय व्यापारिक सन्तुलन को ठीक करने मे कर सकते थे । परन्तु सन् १९४८ के प्रारम्भ मे ही स्टर्लिंग प्रदेश के केन्द्रीय कोष मे कमी आ जाने के कारण यह प्रतिबन्ध लग गया । सन् १९४९ के मई के महीने तक हमारी स्थिति और भी

बिगड़ गई। विदेशी व्यापार सम्बन्धी इस बिगड़ती हुई स्थिति की ओर भारत सरकार का ध्यान गया। उसने सन् १९४९ में आयात के बारे मे जुलाई सन् १९४८ मे जो उदार नीति स्वीकर की थी उसे रद्द करके अब कड़ी नीति बरतने का निर्णय किया मई सन् १९४९ मे ४०० वस्तुओ के खुले साधारण लाइसेंस के बजाय थोड़ी वस्तुओं को खुले साधारण लाइसेंस की श्रेणी में मन्जूर किया। जून सन् १९४९ मे दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात को स्वीकृति देना स्थगित कर दिया गया। जुलाई सन् १९४९ मे लन्दन में कामनवैल्थ के वित्त मन्त्रियो का सम्मेलन हुआ, उसमे दुर्लभ मुद्रा प्रदेशो से सन् १९४८ के मुकाबले मे २५% आयात मे कमी करने का निश्चय किया गया और भारत ने इस निश्चय को मन्जूर किया। भारत-इङ्गलैंड के बीच आर्थिक समझौते पर जब अगस्त सन् १९४९ मे विचार किया गया तब फिर आयात पर और अधिक नियन्त्रण करने का निश्चय किया गया।

एक तरफ तो आयात को कम करने के पयत्न किये गये तो दूसरी ओर निर्यात को बढ़ाने का भी सरकार ने प्रयत्न किया। सन् १९४९ की जुलाई मे निर्यात प्रवर्तक समिति की नियुक्ति की गई, जिसने देश के निर्यात बढ़ाने सम्बन्धी कई सिफारिशें की। जैसे—(१) निर्यात कर हटायें जायें, (२) निर्यात माल सम्बन्धी अत्यधिक सट्टे पर नियन्त्रण किया जाय, (३) निर्यात होने वाले माल का देश मे उत्पादन बढ़ाया जाय। सरकार ने कमेटी की सिफारिशो के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप आयात पर रोक लग गई और निर्यात मे थोड़ा सुधार हुआ, पर सन् १९४९ मे फिर भी विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे विपक्ष मे हो रहा। इसके बाद हमारी स्थिति सुधरने लगी और सन् १९५० में कई वर्षों के बाद पहली बार विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में रहा। इस सुधरती हुई स्थिति के मुख्य कारण रुपये का अवमूल्यन, निर्यात को प्रोत्साहन, निर्यात की वस्तुओ की बढ़ी हुई कीमतें तथा कोरिया युद्ध के कारण उत्पन्न हमारे माल की युद्ध की तैयारी की दृष्टि से बढ़ती हुई माँग हैं। नीचे की तालिका मे युद्ध के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति बताई गई है —

(करोड़ रुपयो मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल	व्यापार का सन्तुलन
१९४६	३१६ ३८	३०५ ७१	६६२ ०९	— १० ६७
१९४७	४४५ ८१	४०८ २४	८५४ ०५	— ३७ ५८
१९४८	५४२ ९१	४२३ ३८	९६६ २३	—११९ ५३
१९४९	५६० ५१	४८५ ८०	१,०८६ ७१	— ७४ ७१
१९५०	५६५ ४६	५८५ ८८	१,१५१ ३४	+ २० ४२
१९५१	३८४ ००	४०८ ००	८०२ ००	+ ३४ ००
१९५२	८६२ २५	७१५·५५	१,५७७ ८०	—१४६ ७०
१९५३	६३२ ९५	५५६ ७८	१,१८९ ७३	— ७६ १७

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सन् १६४६ और सन् १६४७ के पहले सात महिनो मे भारत सरकार ने नरम नीति का पालन किया। दुर्लभ मुद्रा के बारे मे भी सरकार की नीति नरम ही रही, लेकिन अगस्त सन् १६४७ के बाद सरकारी नीति मे कड़ाई हो गई, यहाँ तक कि भारत व इङ्गलैंड के बीच हुए समझौते (जनवरी-जून सन् १६४८) के अनुसार हमारे पौंड पावने के कोष मे से जो पौंड पावने की रकम खर्च करने के लिए हमे मिली थी वह भी हम खर्च न कर सके। दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से आने वाले माल के बारे मे विशेष कड़ी नीति बरती गई। डालर क्षेत्र से कुछ माल के आयात को बिल्कुल ही रोक दिया गया। उन पूँजी पदार्थों के आयात की भी स्वीकृति नही दी जाती थी,जो इङ्गलैंड मे उपलब्ध थे। परिणामस्वरूप देश मे माल की तङ्गी आ गई और आयात बहुत गिर गये। आयात सम्बन्धी इस कड़ी नीति का कारण डालर की कठिनाई को हल करना था, पर उसका प्रभाव मँहगाई बढने में हुआ। यह वह समय था जब देश के विभाजन के फलस्वरूप देश मे बहुत अव्यवस्था फैली हुई थी। यातायात की कठिनाई के कारण उत्पादन घट रहा था और नियन्त्रण हटाने की नीति का प्रयोग किया जा रहा था। इन सब बातो का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि देश मे माल की हर तरह से कमी हो गई और थोक कीमतो का मूल्यांकन जो नवम्बर सन् १६४७ मे ३०२ था वह सन् १६४८ की जुलाई मे ३८६ ६ हो गया।

आयात मे नरम नीति बरतने का यह उपयुक्त समय था। इस विपरीत अनुभव के कारण जुलाई सन् १६४८ मे भारत सरकार की आयात नीति मे फिर से नर्मी आई। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तगत आने वाली चीजो की संख्या मे काफी वृद्धि की गई और वह ४०० के लगभग पहुँच गई। कई चीजें जिनका आयात बिल्कुल बन्द था उनको उस श्रेणी से हटा लिया गया। इस नीति से हमारा आयात बहुत बढ गया और व्यापार का सन्तुलन हमारे विपक्ष मे जाने लगा। यद्यपि मँहगाई पर इसका अच्छा असर हुआ, पर विदेशी विनिमय की कठिनाई हमारे सामने उपस्थित हुई। जो पौंड पावना हम पहले खर्च नही कर पाते थे वह सब खर्च हो गया और इसके अलावा जितना हमने कमाया था उससे कही अधिक स्टर्लिङ्ग और डालर हमने खर्च किये। फलत फरवरी सन् १६४६ में भारत सरकार की आयात-निर्यात नीति मे फिर कठोरता आ गई। डालर प्रदेश से आयात कम करने की कोशिश की गई। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत आने वाली चीजो की संख्या बहुत कम कर दी गई। एक अगस्त सन् १६४६ से भारत इङ्गलैंड के बीच मे फिर आर्थिक समझौते मे संशोधन हुआ और इङ्गलैंड ने भारत को जो डालर का घाटा हो रहा था उसे पूरा करने का वचन दिया। इसके बदले मे भारत साम्राज्य डालर निधि का सदस्य बन गया। सरकार ने अपनी आयात नीति को फिर कड़ा करने का निश्चय किया। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत वस्तुओ की संख्या अब केवल २० ही रह गई। सितम्बर सन् १६४६ मे जो आयात नीति सरकार ने घोषित की, उसके अनुसार आयात को तीन श्रेणियो मे बाँटा गया,—

(१) वे चीजें जिनके लिए साधारण लाइसेंस नही दिये जावेंगे।

(२) वे चीजें जिनके लिए एक निश्चित परिणाम के आधार पर लाइसेंस दिए जायेंगे।

(३) वे चीजें जिनका समय-समय पर लाइसेंस दिया जा सकेगा, बशर्ते कि उनके आयात का हर समय उचित कारण बताया जा सके। दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात करने की स्वीकृति तभी दी जाती थी जबकि स्टर्लिङ्ग प्रदेश मे वह या उसकी जगह काम मे आने वाला दूसरा माल न मिले। अगर किसी चीज की आयात की व्यवस्था किसी द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते मे की जा चुकी है तो उनको दूसरी जगहो से आयात करने की स्वीकृति दी जा सकती थी।

रिजर्व बैंक ने जनवरी सन् १९४८ से अनाधिकृत आयात का भुगतान करने के लिए विदेश को रुपया भेजने की जो सुविधा दे रखी थी वह भी अब वापस ले ली गई। इसके बाद भी जैसी-जैसी आवश्यकता पडी, अलग-अलग चीजो के आयात के बारे मे कुछ फेर फार होता रहा, पर मूल नीति मे कोई परिवर्तन नही हुआ। इस बीच रुपये का भी सितम्बर सन् १९४९ मे अवमूल्यन हो चुका था और इसका हमारे विदेशी व्यापार के सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड रहा था।

भारत सरकार की निर्यात नीति पहले तो प्रतिबन्धात्मक थी, परन्तु जब विदेशी व्यापार का सन्तुलन बिगडने लगा और विदेशी विनिमय की तङ्गी आ गई तो भारत सरकार की नीति निर्यात को प्रोत्साहन देने की हो गई। बढी हुई कीमतें, बढी हुई देश के अन्दर की माँग और देश का विभाजन हमारे निर्यात व्यापार मे बाधक हुए, परन्तु भारत सरकार ने इन सब बाधाओ के बावजूद भी सन् १९४८-४९ मे निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति जारी रखी। कई चीजो को नियन्त्रण से मुक्त किया गया और बहुतो को आसानी से लाइसेंस मिलने वाली श्रेणी में ले लिया गया। इन सबके बावजूद भी सन् १९४९ के पहले ६ महीनो मे हमारे निर्यात व्यापार की स्थिति पहले से भी गिर गई। जुलाई सन् १९४९ मे भारत सरकार ने निर्यात व्यापार प्रवर्तक समिति की नियुक्ति की।

सन् १९५०-५१ मे आयात नीति मे फिर परिवर्तन हुआ। सामान्य लाइसेंस प्रणाली (O G L X) जिसके अनुसार पाकिस्तान से आयात की अनुमति दी गई था, सितम्बर सन् १९४९ मे रद्द कर दी गई, परन्तु अब पाकिस्तान से पुनः व्यापार लागू किया गया। उद्योगो को कच्चे माल की आवश्यकता पूरी करने के लिए बहुत सी वस्तुओ के लिए दीर्घकालीन आयात नीति बनाई गई। खाद्यान्न और कच्चे माल इत्यादि के लिए सामान्य लाइसेंस २० और २१ लागू किये गये, क्योंकि प्रति-बन्धित आयात नीति से देश को हानि पहुँच रही थी। इसलिए उनमे संशोधन किया गया और आयात के प्रति उदार नीति अपनाई गई। सामान्य लाइसेंस २३ मे लोहा तथा इस्पात, तारो के रस्से, पीतल के सामान, तांबे का तार, बोतल, लिखने का कागज इत्यादि शामिल करके फ्री लाइसेंस देने का क्षेत्र बढ गया।

आयात नियन्त्रण जाँच समिति की सिफारिशो के अनुसार आयात नियन्त्रण मे काफी सुधार किया गया है। जाँच समिति का मत है कि आयात नियन्त्रण का आधारभूत उद्देश्य हो कि उतना ही आयात किया जाय जितनी विदेशी मुद्रा है। विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनो का कृषि तथा उद्योग के लिए और उपभोक्ताओ की आवश्यकता को पूरी करने के लिए आवश्यक वस्तुओ मे समान रूप से वितरण हो। विशेष वस्तुओ की कीमतो के उतार चढाव पर नियन्त्रण रखा जाय। समिति ने सुझाव दिया है कि व्यावसायिक वस्तुओ का ४०० करोड रुपए तक आयात किया जाना चाहिए, जो शान्ति काल का निम्नतम स्तर है। विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनो की दृष्टि से समिति ने आयात को ६ भागो में विभाजित किया है।

सरकार ने समिति की आम सिफारिशो को मान लिया है, परन्तु ४०० करोड रुपए की सीमा को स्वीकार नही किया है। साथ ही, सरकार ने अपनी आयात नीति के आधारस्वरूप आयात के ६ नही, किन्तु सुविधा की दृष्टि से कम भाग किये हैं। समिति की सिफारिशो के आधार पर आयात लाइसेंस प्रणाली को सरल बनाया गया है और व्यर्थ समय नष्ट होने से बचने के लिए यह व्यवस्था की गई कि—(अ) पहले जितने लाइसेंस दिये गये थे अब उसके कई गुने लाइसेंस दिये जायेंगे। (ब) लाइसेंस कार्य का विकेन्द्रीयकरण किया गया है। अब बन्दरगाह वाले शहरो से आयात लाइसेंस प्राप्त किया जा सकता है। चुङ्गी अधिकारियो को व्यापक अधिकार दिये गये हैं। (स) चुङ्गी अधिकारियो तथा आयात नियन्त्रण अधिकारियो के कार्यो में सम्बन्ध स्थापित हो गया है। अतीत मे चुङ्गी अधिकारी आयात लाइसेंस देने वाले अधिकारियो द्वारा किये गये सामान के वर्गीकरण को सदैव स्वीकार नही करते थे। इससे इस कार्य मे काफी देर लग जाती थी और व्यापारियो को हानि होती थी। परन्तु वित्त और वाणिज्य मन्त्रालय के बीच उचित सम्बन्ध करने से और चुङ्गी अधिकारियो की सहायता के लिए बन्दरगाह सलाहकार समिति नियुक्त करने से स्थिति काफी सुधर गई है। इससे व्यापारियो का काय बहुत कुछ आसान हो गया है।

आयात नीति की आलोचना—

(१) सरकार की कोई दीर्घकालीन नीति नही है। वस्तुओ के वर्गीकरण, आयात नियन्त्रण अनुसूची और अनेक सामान्य लाइसेंसो के अन्तगत आने वाली वस्तुओ मे बार-बार परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन करते समय व्यापारियो के हित का ध्यान नही रखा जाता। परिवर्तनशील विश्व में समय के अनुसार सरकार को भी अपनी आयात नीति बदलनी चाहिए, परन्तु इस कारण सरकार की आयात-नीति मे किसी प्रकार की अनिश्चितता और दुर्बलता नही आनी चाहिए। सरकार ने लाइसेंस की अवधि ६ महीने से बढाकर एक वर्ष कर दी है। साथ ही, सरकार ने कुछ आयात-कर्त्ताओ के लाइसेंस की निर्धारित अवधि को बढाया है, परन्तु इससे स्थायी आयात नीति का जन्म न हो सका। वास्तव मे उपभोक्ताओ और उत्पादको के हितो की तभी रक्षा की जा सकती है जब आयात नीति स्थायी हो।

(२) आयात नीति देश के उपलब्ध विनिमय साधनो के आधार पर निर्धारित की जाती है। इसके निर्धारण मे देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के आधार पर विचार नही किया जाता। आय और भुगतान में सन्तुलन स्थापित करने की नकारात्मक नीति उपयुक्त नही है। वास्तव मे ऐसी ठोस नीति की आवश्यकता है जो उद्योग की आवश्यकताओ का विदेशो से प्राप्त होने वाली मशीनो इत्यादि से उचित सम्बन्ध स्थापित करे और जिसका उद्देश्य भारतीय उद्योग के लिए अधिक मशीनें और कच्चा माल प्राप्त करना हो।

(३) आवेदन पत्रो पर शीघ्र कार्यवाही करने के लिए, कार्य की विधि को अधिक सरल बनाने के लिए और आयात नियन्त्रण अनुसूची का अधिक वैज्ञानिक ढङ्ग से वर्गीकरण करने के लिए अभी काफी सम्भावना है। जो आयात लाइसेंस आयात-कर्त्ता द्वारा स्वय माल खर्च मे लाने के लिए दिये जाते है, उनका दुरुपयोग किया जाता है। आयातकर्त्ता सामान को स्वय खर्च मे नही लाता, परन्तु बाजार मे बेच देता है। नये आयातकर्त्ताओ को लाइसेंस दिये जाते हैं, उनका उचित उपयोग नही होता। यद्यपि इन तीन प्रकार के आयातकर्त्ताओ के हितो की रक्षा करने के निमित्त लाइसेंस प्रणाली में सुधार किया गया है, परन्तु इस दिशा मे अभी बहुत सुधार करने की आवश्यकता है।

(४) कच्चे माल का आयात कर सकने वाले वास्तविक आयातकर्त्ताओ का कार्य सरल करने के लिए इन्हे लाइसेंस देने की आवश्यकता है और आयात व्यापार मे प्रतियोगिता की भावना बनाये रखने के लिए नये आयातकर्त्ताओ के लिए विदेशी माल का कोटा निश्चित कर देना चाहिए। वास्तव मे पुराने आयातकर्त्ताओ को लाइसेंस दिया जाना चाहिए, क्योकि उनको इसका अनुभव है और इस कार्य को करने के लिए उपयुक्त सङ्गठन भी है, परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि तीनो प्रकार के आयातकर्त्ताओ के हित परस्पर न टकराए और उनमे उचित सन्तुलन स्थापित हो।

निर्यात नीति—

कमेटो की सिफारिशो के अनुसार कई चीजें जिनका निर्यात मना था, लाइसेन्स के बाद निर्यात होने वाली वस्तुओ की श्रेणी मे आ गई। खुले साधारण लाइसेन्स के अन्तर्गत, जो बिना लाइसेन्स के सब देशो को निर्यात की सुविधा देता है, चीजो की सख्या बढ गई। लाइसेंस देने की पद्धति को पहले से सरल बनाने का प्रयत्न किया गया और व्यापार मन्त्रालय से ही निर्यात लाइसेन्स मिलने की व्यवस्था की गई। पहले जो खाद्य पदाथ के लाइसेंस खाद्य मन्त्रालय से मिलते थे वे अब व्यापार मन्त्रालय से मिलने लगे। जो कर निर्यात मे बाधक थे उन्हे कम किया गया या हटाया गया। कोरिया के युद्ध के कारण आगामी युद्ध की तैयारी की दृष्टि से दुनियाँ के देशो ने कच्चे माल का सचय करना शुरू किया, उसका भी निर्यात पर असर पडा। इन सब कारणो का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि हमारे निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई और सन् १९५०-५१ मे गत महायुद्ध के बाद पहली बार व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में हुआ, किन्तु सन् १९५१-५२ में यह फिर उल्टा हो गया। इस वर्ष हमने ७६३ करोड रुपए का माल

निर्यात किया और ८५० करोड रुपये का आयात किया, इस वर्ष हमें ८७ करोड रु० का घाटा रहा।

सन् १६५२ मे देश से अधिक निर्यात व्यापार हो सके, इसके लिए निर्यात कर में कमी कर दी गई। टाट पर प्रति टन निर्यात कर घटाकर २७५ रुपये और बोरो पर केवल १७५ रु० कर दिया गया। इसी प्रकार मूंगफली के तेल, जीरा, कच्चे ऊन पर से तो निर्यात कर बिल्कुल ही हटा दिया गया तथा अलसी के तेल और तम्बाकू पर निर्यात कर मे यह कमी की गई। बगाली देशी कपास पर यह कर ४०० रु० प्रति गांठ से घटाकर २०० रु० कर दिया गया और अन्त में यह कमी १२५ रु० तक हो गई। तैयार कपडे पर १ जनवरी सन् १६५३ से मूल्य के अनुसार यह कर २५% से घटाकर १०% कर दिया गया।

निर्यात व्यापार को वृद्धि के लिए लाइसेन्स प्रणाली मे ढिलाई बरतना आरम्भ किया गया। पहले जिन वस्तुओ के निर्यात के लिए विशेष प्रमाप नियत था अब अधिकतर खुले लाइसेन्स मे आ गई। अस्तु सूती वस्त्र, जूट के वस्त्र, सूती सूत और कच्चा ऊन आदि अपरिमित मात्रा मे निर्यात किये जाने लगे। इस प्रकार अब ९०% वस्तुओ के निर्यात पर ढीलापन हो गया।

इसके अतिरिक्त इस बात की भी कोशिश होने लगी कि देशी निर्मित माल भी अधिक मात्रा मे निर्यात किया जाये। बिजली के पखे, मीनाकारी के सामान, अल्यूमीनियम के बर्तन, दवाइयाँ, साबुन, कपडे धोने का सोडा, हाथ का बना कागज, प्लाइवुड की पेटियाँ, फर्नीचर, घडियो आदि के निर्यात पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही है। ऐसी वस्तुओ का निर्यात भी किया जा सकता था जिसमें विदेशी आयात की हुई मशीनें लगाई गई हैं। टायर व ट्यूब के अलावा अन्य प्रकार के रबड के सामान पर भी छूट दी गई।

भारत सरकार ने सन् १६४६ मे गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति की स्थापना की और उसकी निम्न सिफारिशो को कार्यान्वित किया —

(१) जूट तथा अन्य वस्तुओ के सट्टे को रोक दिया, जिसकी प्रवृत्ति जुए मे गतिशील होती थी।

(२) निर्यात नियन्त्रणो में, विशेषकर निर्मित वस्तुओ से सम्बन्धित उदारता कर दी गई और लाइसेन्सो का तरीका सरल कर दिया गया। कोटे की समाप्ति तक नियत कोटे के भीतर स्वतन्त्रतापूर्वक वस्तुओ का निर्यात होता था।

(३) निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के निर्माण के लिए नियन्त्रित कच्चा माल, पैंकिंग का सामान और यातायात की सुविधाएँ दी गई थी।

(४) इस बात का विश्वास दिलाने के लिए प्रबन्ध किए गये थे कि भारतीय वस्तुओ मे कोई शिकायत न हो और यदि कोई हुई तो उस पर तत्काल कार्यवाही की जायगी।

(५) यदि आवश्यकता हुई तो सरकार निर्यात करो का संशोधन करेगी और निर्यात होने वाली वस्तुओ पर प्रान्तीय बिक्री टैक्स भी नही लगाये जायेंगे।

सरकार ने निर्यात नियन्त्रण नीति के विषय में राय देने के लिए परामर्शदाता कौंसिल की स्थापना की। प्रत्येक ६ मास के बाद निर्यात नीति का सिंहावलोकन किया जाता है और प्रचलित अवस्थाओ के अनुसार वस्तुओ के निर्यात पर रोक लगाई जाती है या प्रोत्साहन दिया जाता है। घरेलू खपत के लिए आवश्यक कच्चे मालो के निर्यात पर रोक लगा दी गई है।

निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार काफी प्रयत्नशील है। इस हेतु विदेशो को व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल भेजना और निर्यात बढाने वाली योजनाओ को कार्यान्वित करना, ये विशेष हैं। साथ ही, निर्यात व्यापार बढाने के लिए स्टेट ट्रेडिंग कॉर्पोरेशन की स्थापना भी की है और विदेशी जहाजी कम्पनियो की विवेकात्मक भाडा नीति की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए भी प्रयत्न किए गए हैं।

पंच-वर्षीय योजना मे—

पिछले कुछ वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार की प्रवत्ति पर विचार करके उपयुक्त व्यापार नीति निर्धारित करने के लिए पहिली योजना मे पाँच सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है .—(१) योजना से निर्धारित उत्पादन उपभोग के लक्ष्यो को पूरा किया जाय। (२) निर्यात का उच्च स्तर रखा जाय। (३) निर्यात व्यापार को जो घाटा हो उसको देश के विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनो से पूरा किया जा सके। (४) निर्यात और आयात को सरकार की वित्त तथा मूल्य सम्बन्धी नीति के अनुरूप किया जाय। और (५) निश्चित व्यापार की नीति निर्धारित की जाय। पंच-वर्षीय योजना की अवधि मे भारत के व्यापार पर दो बातो का प्रभाव पडेगा —(अ) कृषि सम्बन्धी कच्चे माल तथा अन्य वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि और (ब) उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने के लिए बडी-बडी मशीनो और शोधित कच्चे माल की आवश्यकता।

विदेशी व्यापार की वर्तमान दशा—

आजकल भारत का व्यापार विशेष रूप से सीलोन, इटली, नीदरलैंड, कनाडा, मिस्र, पाकिस्तान, जापान, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी, बर्मा, अमेरिका तथा ब्रिटेन इन बारह देशो के साथ है। यह इस बात को संकेत करता है कि विभाजन के पश्चात् हमारे विदेशी व्यापार का ढाँचा काफी बदल गया है। फिर भी हमारे विदेशी व्यापार के परिमाण मे कोई उल्लेखनीय वृद्धि नही हुई है, तथापि हमारे विदेशी व्यापार के मूल्य, स्वरूप एवं दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

सन् १९५८-५९ के बाद भारत का व्यापार सतुलन

(करोड रुपये)

वर्ष	आयात (कुल)	कुल निर्यात	व्यापारिक सतुलन
१९४८–४९	६४३·८५	४५८ ७२	– १८५·१३
१९४९–५०	६४७ ९५	५०६ ०२	– १४१ ९३
१९५०–५१	६५०	६०१	– ४९
१९५१–५२	९७०	७३३	– २३७
१९५२–५३	६६७	५७७	– ९०
१९५३–५४	५६७	५३१	– ३६
१९५४–५५	६५६	५९८	– ६३
१९५५–५६	७०५	६०९	– ९६
१९५६–५७	८३२	६१३ ५२	– २१९ ९३
१९५७–५८	९९३	६२१·३१	– ३७२ २७
१९५८–५९	८५६ १८	५८० ३०	– २७५ ८८
जनवरी जुलाई १९६०	५३० ८९	३५३ ०४	– १७७ ८५*

भारत के सामने एक भयङ्कर समस्या यह रही है कि भारत मे खाद्यान्न की कमी हो गई, जिसको पूरा करने के लिए भारत सरकार को प्रति वर्ष विदेशो से अधिकाधिक मात्रा मे अनाज मँगवाना पडता है।

युद्ध के पश्चात् से भारत में व्यापारिक सम्बन्धो मे क्रमश बहुत ही परिवर्तन होता जा रहा है। यद्यपि ब्रिटेन का स्थान अब भी बहुत ऊँचा है, परन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका उसके बराबर पहुँच गया है। आस्ट्रेलिया, ब्रह्मा, पाकिस्तान, कनाडा और मिस्र का भी हमारे विदेशी व्यापार मे अच्छा स्थान बन गया है। युद्ध-काल मे भारत का मध्य पूर्व के देशो से जो नया व्यापारिक सम्बन्ध हुआ है उसमे उन्नति की अधिक सम्भावना है। सुदूर-पूर्व से भारत के व्यापार का भविष्य भी उज्ज्वल है। युद्ध के उपरात हमारे विदेशी व्यापार मे एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह हुआ कि जहाँ पहले भारत के विदेशी व्यापार मे ब्रिटिश साम्राज्य के देशो का भाग अधिक रहता था वहाँ वह अन्य देशो के लगभग बराबर पहुँच गया है।

भारत के विदेशी वर्तमान व्यापार की विशेषताएँ—

(१) अधिकाश भारतीय व्यापार समुद्र के द्वारा होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत के पडोसी देश अफगानिस्तान, तिब्बत, मध्य-एशिया बहुत पिछडे हुए है। कलकत्ता, मद्रास, विजगापट्टम, कोचीन, काण्डला और बम्बई भारत के मुख्य व्यापारिक प्रदेश द्वार हैं।

* Commerco—17 Sept 1960

(२) हमारे निर्यात व्यापार मे तैयार माल का स्थान बढता जा रहा है। देश के विभाजन से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। इसका मुख्य कारण देश मे औद्योगिक उन्नति होना है।

(३) हमारे विदेशी व्यापार मे युद्ध के वाद के वर्षो में जहाँ तक आयात का सम्वन्ध है, कामनवैल्थ राष्ट्रो और इङ्गलैंड का भी अनुपातिक भाग कम हुआ है तथा कामनवैल्थ के वाहर के देशो में, विशेपकर अमेरिका का महत्त्व वढ रहा है। इसी प्रकार निर्यात के सम्वन्ध मे भी कामनवैल्थ राष्ट्रो का महत्त्व घट रहा है।

(४) भारत के विदेशी व्यापार का सतुलन बहुत समय तक भारत के पक्ष मे था, किन्तु गत वर्षों से वह भारत के विपक्ष मे है। इसका प्रमुख कारण देश मे आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सामग्री का आयात अधिक मात्रा में होना है, जैसे—लोहा एव इस्पात, यन्त्र सामग्री आदि।

इस स्थिति के कारण देश की आयात नीति को गत कुछ वर्षो मे एक विशेष रूप दिया गया है, जिसमे देशी वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। गत वर्षो के आयात के विश्लेपण से स्पष्ट होगा कि ऐसी वस्तुओ के आयात मे कटौती की गई या रुकावट लगाई गई है जिन्हे तैयार करने मे देशी कृपि एव उद्योग उत्तरोत्तर समथ होते जा रहे हैं। साथ ही, यह प्रयत्न भी किया गया है कि उद्योगो में यथा-सम्भव विदेश से आयात किए गए कच्चे माल की जगह देशी कच्चे माल का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार हमारे आन्तरिक और विदेशी व्यापार की आवश्यकताओ मे सन्तुलन कायम रखने के लिए देश मे सन् १९५७ के आरम्भ मे पचसूत्री आन्दोलन का श्रीगणेश किया गया है।

पचसूत्री आन्दोलन—*

(१) आयात मे अधिकतम कटौती—आयात मे यथासम्भव अधिकतम कटौती की जा रही है, इससे अल्पावधि मे कुछ कठिनाइयाँ निश्चय ही उपस्थित होगी और कही-कही आयातो के मूल्य मे वृद्धि होगी। सरकार इस दिशा मे काफी सतर्क है और व्यापक रूप से मूल्य स्तर को यथासम्भव स्थिर रखने के लिए प्रयत्नशील है। आयात नियन्त्रणो से देशी उत्पादन के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। इञ्जीनीयरिंग वस्तुओ, रसायन, दवाइयो, उपभोक्ता एव उत्पादक वस्तुओ और मध्यम तथा भारी मशीनो के उत्पादन के सम्वन्ध मे इस वात का विशेप ध्यान रखा जायगा।

(२) देशी उत्पादन को प्रोत्साहन देकर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना—इस हेतु यथासम्भव (अ) अधिक पालियो मे काम करने पर, (आ) उपकरणो की वर्तमान क्षमता तक उत्पादन करने मे वढावा देने पर, (इ) वर्तमान उपकरणो को आधुनिकतम अवस्था मे लाने के प्रयत्न पर, (ई) देशी और विदेशी कच्चे मालो,

* आर्थिक समीक्षा नवम्बर ५, १९५७ पृष्ठ ७, श्री मनुभाई शाह के 'विदेशी व्यापार' पर आधारित।

उपकरणो, पूंजीगत और उत्पादक वस्तुओ का अधिकतम उपयोग करने पर देशी उत्पादन बढाने को प्रेरणा दी जा रही है। उपक्रमो ऐसी वस्तुओ के उत्पादन की दिशा में आगे बढ रहे है जिनका उत्पादन पहिले कभी नही हुआ था। उद्योग, व्यापार, उपभोक्ता और सरकार के सहयोग तथा निरन्तर सावधानी के कारण ऐसी वस्तुओ की किस्म मे भी सुधार हो रहा है। अनेक विकास समितियां, भारतीय प्रमाप सस्था, किस्म निर्माण योजना, निर्यात प्रोत्साहन समिति और उत्पादन से सम्बन्धित सभी सस्थाएं वस्तुओ के गुणो पर अधिक ध्यान दे रही हैं और उनके प्रमाप निर्धारित किए जा रहे है।

(३) निर्यातो क प्रोत्साहन—यह एक प्रत्यक्ष कदम है, क्योकि इससे विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है। इसके विपरीत अन्य चार उपायो से विदेशो विनिमय की बचत होती है। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए देश मे २१४ निर्यात प्रोत्साहन समितियां काम कर रही हैं। ये समितियां अपने प्रतिनिधि मन्डल विदेशो मे भेजती हैं तथा विदेशी बाजारो का सर्वेक्षण कर नए बाजारो की खोज करती हैं। निर्यात प्रोत्साहन के लिए सन् १९५७ मे एक विदेशी व्यापार बोर्ड की स्थापना भी की गई है, जो निर्यात को प्रोत्साहन देने वाले उपायो पर अपना प्रयत्न केन्द्रित करता है तथा अन्य आवश्यक कार्यवाही करता है। इसके साथ ही निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए राजकोषीय उपाय भी अपनाये जा रहे है, जैसे—निर्मित वस्तुओ के आयात किए गये हिस्सो पर ली गई चुङ्गी की वापिसी। ऐसी चुङ्गियो का सम्बन्ध उन्ही वस्तुओ से हैं जिन्हे मंगाने के बाद पुन: निर्यात करना पडता है। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओ के सम्बन्ध में उत्पादन कर वापिस करने की व्यवस्था की गई है, यदि इन वस्तुओ का निर्यात हो। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए एक निर्यात जोखिम बीमा निगम की स्थापना की गई है तथा विदेशो से व्यापारिक समझौते भी किए जा रहे हैं।

(४) मशीनो और उपकरणो के आयात के सम्बन्ध मे स्थगित भुगतान का आधार—इसका सम्बन्ध मशीनो के पुर्जे और महगे कच्चे मालो के आयात से भी है। यह योजना अब काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी है और सन् १९५७ के आरम्भ से ही ५ से ७ वर्ष की अवधि के स्थगित भुगतान समझौते लागू हो चुके हैं। इसके अन्तर्गत ३१ अगस्त सन् १९५७ तक ५६ २७ करोड़ रु० की १३७ स्थगित भुगतान योजनाओ पर स्वीकृति दी गई है।

(५) आवश्यक विदेशी ऋण की व्यवस्था—अभी तक भारत मे ऋण के साधन निम्न रीति से प्राप्त किए जा रहे हैं—

(अ) योजना बनाम योजना के आधार पर लिखा-पढी द्वारा,

(आ) द्विपक्षीय समझौतो द्वारा,

(इ) विभिन्न देशो से राज्य व्यापार निगम के माध्यम से पारस्परिक लाभ समझौतो द्वारा,

(ई) विभिन्न विदेशो नौकरो और साख सस्थाओ द्वारा दिए गए ऋण।

भुगतान सन्तुलन की स्थिति को ठीक करने के लिए यह पच-सूत्री कार्यक्रम बहुत ही व्यापक, सामजस्यपूर्ण एव एकीकृत नीति के परिचायक हैं, जो निश्चय ही भारत के विदेशी व्यापार की नीव को सुदृढ करेंगे।

राजकीय व्यापार निगम—

देश के विदेशी व्यापार मे राज्य द्वारा हिस्सा लेने के लिए मई सन् १९५६ में राज्य व्यापार निगम की स्थापना एक निजी लिमिटेड कम्पनी के रूप मे की गई है। इसका प्रमुख उद्देश्य ऐसी वस्तुग्रो के भारत से निर्यात श्रौर भारत मे श्रायात को सगठित करना है जिनके सम्बन्ध मे समय समय पर निगम निश्चित करे श्रौर इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अन्य सभी कार्य करना है, किन्तु निगम का प्रमुख कार्य व्यापार सम्बन्धी कठिनाइयो श्रौर समस्याश्रो को सुलझाना है, जिससे अनिवार्य श्रायात की वस्तुए मितव्ययिता के साथ मिल सकें श्रौर भारत के निर्यातो का क्षेत्र बढ सके। इस निगम के प्रादेशिक कार्यालय कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कालीमादा, मछलीपट्टम, विशाखापट्टम, काडला, भावनगर तथा नागपुर मे हैं। इस निगम की निर्यात की प्रमुख वस्तुग्रो मे कास्टिक सोडा, सोडा एश, जिप्सम, श्रमोनियम सल्फेट, कच्चा रेशम, मशीन, चावल, सीमेंट, कॉफी, चाय, तम्बाकू, चटाई, हाथ करघा एव हाथ के बने सामान, जूते, पटसन, लोहा श्रौर मैंगनीज की धातुए हैं। अधिकाश निर्यात व्यवसाय रूस, जेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, श्रमरीका, इङ्गलैंड, चीन श्रौर जापान के साथ तथा श्रायातो के क्षेत्र मे इङ्गलैंड, श्रमरीका, यूगोस्लाविया, जापान श्रौर पाकिस्तान से सौदे किए हैं। निगम को सन् १९५८-५९ मे २ ३९ करोड रु० का लाभ हुश्रा, जो इसकी सफलता का परिचायक है।[1]

निर्यात जोखिम बीमा निगम—

इस निगम की स्थापना जुलाई सन् १९५७ मे पूर्णत: सरकारी स्वामित्व मे की गई तथा इसने अपना कार्य श्रक्टूबर सन् १९५७ में श्रारम्भ किया। यह निगम उस माल का बीमा करता है जो माल भारत से विदेशो को उधार भेजा जाता है श्रौर अन्य बीमा कम्पनियाँ जिसका बीमा नही करती। इस निगम ने अपने दूसरे वर्ष मे ९·८७ करोड रु० देनदारी के ३०२ बीमे जारी किए, जबकि पहिले वर्ष मे ७ ५२ करोड रु० के १४६ बीमे दिए थे। बीमित निर्यातको ने इसी वर्ष १३ ७९ करोड रु० के निर्यात घोषित किए, जहाँ गत वर्ष मे २ २१ करोड रु० के घोषित किए थे। इन निर्यातो मे "साख-श्राधार पर" ७ ३५ करोड रु० के निर्यात हैं, जबकि पिछले वर्ष केवल १ ३० करोड रु० के ही थे। बीमित निर्यातो में ६७ वस्तुयें ९४ देशो को निर्यात की गई।[2]

निर्यात प्रोत्साहन समिति—[3]

निर्यात प्रोत्साहन के सभी विषयो का विस्तृत अध्ययन करने के लिए फरवरी सन् १९५७ मे एक निर्यात प्रोत्साहन समिति नियुक्त की गई थी, जिसकी रिपोर्ट श्रगस्त सन् १९५७ में प्रस्तुत हुई। इसमे नीति विषयक निम्न बातो की सिफारिश की गई .—

(१) सभी क्षेत्रो में उत्पादन (विशेषत. कृषि) मे निरन्तर वृद्धि होनी चाहिए।

(२) मूल्यो को प्रतिस्पर्धात्मक स्तरो पर कायम रखा जाय।

(३) घरेलू उपभोग रोक कर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाय।

---

1 सपदा, मई सन् १९६०।

2 Journal of Trade & Industry, March 1960

3 India 1958, p 356-357.

(४) निर्यात एव निर्यात बाजारो मे विविधता लाई जाय।

(५) निर्यात किये जाने वाले पदार्थों के नये उपयोग पता लगाना और इन नये उपयोगो के अनुकूल ही आन्तरिक उत्पादन का सगठन करना।

उपरोक्त उपायो के द्वारा, कमेटी का यह मत है कि भारत के निर्यात काफी बढ जायेंगे और द्वितीय योजना की समाप्ति पर ६१५ करोड रु० का जो लक्ष्य रखा गया है उसकी पूर्ति तो होगी ही, लेकिन निर्यात इमसे भी अधिक ७००-७५० करोड रुपया प्रति वर्ष हो सकते हैं। निर्यात को प्रेरणा देने के लिए कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि निर्यात कर न केवल कम रखे जायें, अपितु उनमे बार-बार परिवतन भी नही होना चाहिए। अन्य सिफारिशें निम्न थी —

(१) एकाकी एजेन्सी प्राइवेट या पब्लिक के द्वारा निर्यातो को सगठित किया जाय।

(२) भारत का 'बन्दरगाह से बन्दरगाह का व्यापार' (Entrepot Trade) प्रोत्साहित करना चाहिए।

(३) रिजव बैंक एव स्टेट क व्यापारिक बैंको के द्वारा निर्यात साख सम्बन्धी अधिक सुविधायें प्रदान करें।

(४) विदेशो से व्यापार समझौते किये जायें और ऐसी व्यवस्था कराई जाय कि कुछ में भुगतान रुपयो मे भी सम्भव हो।

(५) भारतीय व्यापार कमिश्नरो और अन्य व्यापार अधिकारियो के लिए, जिनकी नियुक्ति विदेशो मे की जाय, व्यापार सम्बन्धी विशेष प्रशिक्षा दी जाय।

(६) विदेशो मे भारतीय माल का अधिक अच्छा विज्ञापन और प्रचार करना चाहिए। सरकार विदेशी व्यापार की एक साप्ताहिक पत्रिका निकाले और कोई प्राइवेट सस्था भारतीय आयातको एव निर्यातको की विस्तृत एव तिथि तक पूर्ण डाइरेक्टरी का प्रकाशन करे।

(७) भारतीय व्यापार मे भारतीय जहाजी कम्पनियाँ अधिकाधिक भाग लें, ताकि अप्रत्यक्ष निर्यातो मे वृद्धि हो।

(८) निर्यात वस्तुओ की किस्म का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण हो।

(९) निर्यातको के लिए अनिवार्य रजिस्ट्री की व्यवस्था की जाय, ताकि उनकी अहितकारी प्रवृत्तियाँ वन्द हो जायें।

इन सिफारिशो के अनुसार जून सन् १९५७ मे विदेशी व्यापार-सभा का निर्माण हुआ। इसकी शासकीय अभिकर्त्ता के रूप मे निर्यातिक सम्वद्ध क निदेशालय की स्थापना भी जून सन् १९५७ मे की गई। इसके कार्यालय मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई मे हैं। इनके प्रमुख कार्य निम्न हैं —

(१) अपने-अपने कायक्षेत्र मे निर्यात-सम्वर्द्धक परिषदो की निर्यात-सम्वर्द्धन क्रियाओ मे प्रशासकीय सहायता देना एव उनमे सामञ्जस्य लाना,

(२) विशेष वस्तुओ के निर्यात बढाने के लिए ठोस कदम उठाना तथा निर्यातको को उनके लक्ष्यो की पूर्ति मे सहायता देना, तथा

(३) विदेशी व्यापार की प्रशासकीय एव काय-पद्धति सम्बन्धी कठिनाइयो मे सहायता देना।

इसके अलावा निर्यात सम्वर्द्धन के वि .न उद्योगो के लिए निर्यात सम्वर्द्धन परिपदो की स्थापना की गई है। ऐसी ११ परिषदें देश मे कार्य कर रही हैं। ये क्रमशः वस्त्र उद्योग, स्पोट उद्योग, सिल्क एव रेयन वस्त्र, प्लास्टिक एव लायनोलियम, काँफ्यू एव काली मिर्च, तम्बाकू, रसायन एव रसायनिक द्रव्य, लाख, चमडा, इञ्जीनियरी सामान तथा अभ्रक उद्योग के लिए हैं।

अगस्त सन् १९५९ मे निर्यात सवर्द्धक सलाहकार सभा का पुनर्गठन किया गया है, जिससे व्यापार एव सम्बन्धित हितो को प्रतिनिधित्व दिया गया है। इसकी स्थायी सभा का निर्माण २६ अगस्त सन् १९५९ को किया गया, जो भारत सरकार की निर्यात सम्बन्धी समस्याओ पर सलाह देती है। इन परिषदो को चालू वित्तीय वर्ष में १३'६७ लाख रु० सहायता की व्यवस्था है।[1]

प्रदर्शन निदेशालय भारतीय वस्तुओ का दृश्य (Visual) प्रचार करता है। इसने सन् १९५९ मे इटली, टोकियो अन्तर्राष्ट्रीय मेला, कैनाडा के राष्ट्रीय प्रदर्शनो आदि मे भाग लिया। इसके सिवा सेगॉव, बुडापेस्ट, वगदाद आदि विदेशी शहरो में भारतीय प्रदशनो का आयोजन किया। साथ ही, भारतीय वस्तुओ के प्रचार द्वारा निर्यात बढाने के लिए भारत सरकार के प्रदर्शन कक्ष फ्रेंकफर्ट, न्यूयार्क, काहिरा, वगदाद, कोलम्बो, जद्दा, वकाक, जकार्ता और तेहरान मे है तथा रगून मे भी खोला गया है।[2] इस वप २८ अगस्त से २ सितम्बर सन् १९६० तक फ्रेंकफर्ट (जर्मनी) के अन्तर्राष्ट्रीय मेले में भाग लेने का निश्चय किया गया है।

भारत सरकार विदेशो मे व्यापारिक शिष्ट मण्डल भी भेजती है। इस प्रकार का एक शिष्ट मण्डल सितम्बर अक्टूबर सन् १९५९ मे इटली, फान्स, स्विटजरलैण्ड, वेल्जियम और प० जमनी को गया था। इसकी रिपोर्ट से स्पष्ट है कि गत कुछ वर्षों में भारत मे पश्चिम यूरोपीय देशो (इङ्गलैड छोड कर) से आयात मे वृद्धि हुई है, परन्तु निर्यात मे कोई विशेप कमी या अधिकता नही। उनका कथन है कि पश्चिम यूरोप मे वहुत से कच्चे माल की खपत है, जो भारत से निर्यात हो सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध मे ठोस प्रगति तभी हो सकती है जबकि उन देशो के और भारत के व्यापारियो के आपसी सम्बन्ध दृढ हो। साथ ही, यदि पश्चिमी यूरोप के उपभोक्ताओ की आवश्यकतानुसार माल बने और उन्हे उपयुक्त दामो पर दिया जाय। अतः शिष्ट मण्डल का मत है कि भारतीय माल की किस्म पर नियन्त्रण रखा जावे, पैकिङ्ग अच्छा हो तथा व्यापारिक झगडो के सन्तोषजनक हल की व्यवस्था हो।[3]

इन विविध प्रयत्नो के कारण हमारे निर्यात स्तर मे सुधार हुआ है। फलस्वरूप सन् १९५९ मे कुल निर्यात ६२६ करोड रु० के हुए, जो सन् १९५८ की अपेक्षा १०% अधिक है।[4] आयात मे विकासशील उद्योग तथा निर्यातक उद्योगो को कच्चे माल आदि के आयातो मे अधिक सुविधा दी जा रही है, जो वास्तव मे विकासशील एव नियोजित आर्थिक नीति के अनुरूप है। इससे निश्चय ही हमारे भुगतान सगठन की स्थिति मे सुधार होगा।

... BEGUM ... COLLEGE ...

---

१ उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।
२ भारतीय समाचार—जुलाई १५, १९६०
३ भारतीय समाचार—मई १५, १९६०
४ उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०